वेद-मीमांसा

मूल लेखक : श्री अनिर्वाण:
हिन्दी अनुवादक : छविनाथ मिश्र

महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान उज्जैन के द्वारा प्रायोजित ग्रन्थमाला

वेद-मीमांसा

मूल लेखक : श्री अनिर्वाण:

हिन्दी अनुवादक : छविनाथ मिश्र

नाग पब्लिशर्स

महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान उज्जैन के द्वारा आयोजित ग्रन्थमाला

वेद-मीमांसा

मूल लेखक : श्री अनिर्वाण:

हिन्दी अनुवादक : छविनाथ मिश्र

नाग प्रकाशक

वेद-मीमांसा

(द्वितीय-खण्ड)

महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन
के द्वारा प्रायोजित ग्रन्थमाला

वेद-मीमांसा

(द्वितीय-खण्ड)

मूललेखक:

श्री अनिर्वाण

हिन्दी अनुवादक:

छविनाथ मिश्र
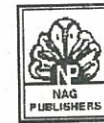
नाग पब्लिशर्स

११ए, यू. ए. जवाहर नगर
दिल्ली ११०००७
भारत

महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन के वित्तीय सहयोग से प्रकाशित।

नाग पब्लिशर्स

(i) ११ ए, यू. ए. जवाहर नगर, दिल्ली - ११०००७

(ii) जलालपुर माफी, चुनार, मिरज़ापुर, यू.पी.

दूरभाष: २३९५७४४०, २३९१५८८३, २३९६७९७५

ISBN ८१-७०८१-५७६-२ (सेट)

ISBN ८१-७०८१-५७९-७ (भाग-II)

प्रथम संस्करण : संवत् २०६० विक्रमाब्द, सन् २००३ ई.

मूल्य: रूपये २४५.००

श्री सुरेन्द्र प्रताप द्वारा नाग पब्लिशर्स, ११ए, यू.ए., जवाहर नगर, दिल्ली - ११०००७ द्वारा प्रकाशित तथा जी. प्रिंट प्रासेस, ३०८/२, शहजादा बाग, दया बस्ती, दिल्ली - ११००३५ द्वारा मुद्रित तथा मोहन कम्प्यूटर प्वाईन्ट ८ ए. यू. ए./३ जवाहर नगर, दिल्ली - ११०००७ अक्षर योजक।

सङ्केत-परिचय

AV.	AVESTA
अवे.	अवेस्ता
ऐ. आ.	ऐतरेय आरण्यक
ऐ उ.	ऐतरेय उपनिषत्
ऐ ब्रा.	ऐतरेय ब्राह्मण
क.	कठोपनिषद्
काठ.	काठक संहिता
गी.	गीता
छा.	छान्दोग्योपनिषद्
जै उ ब्रा.	जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
टी.	टीका
टीमू.	टीका मूल, टीका और मूल
DR	GELDNER'S DER RIGVEDA
ता.	ताण्ड्य ब्राह्मण
तु.	तुलनीय
तै आ.	तैत्तिरीय आरण्यक
तै ब्रा.	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै सं.	तैत्तिरीय संहिता
द्र.	द्रष्टव्य
नि.	निरुक्त
निघ.	निघण्टु
पपा.	पदपाठ
पा.	पाणिनी सूत्र
पाम.	पाणिनी सूत्र महाभाष्य

पृ.	पृष्ठ
प्र.	प्रश्नोपनिषद्
प्रतितु.	प्रतितुलनीय
विण.	विशेषण
विद्र.	विशेष आलोचना द्रष्टव्य
वृदे.	वृहद्देवता
वेमा.	वेङ्कट माधव
वैप.	वैदिक पदानुक्रम कोष
व्यु.	व्युत्पत्ति
ब्रसू.	ब्रह्मसूत्र
भा.	भागवत पुराण
मसं.	मनुसंहिता
महा.	महाभारत
मा.	वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता
माण्डू.	माण्डूक्य उपनिषद्
मु.	मुण्डक उपनिषद्
मैसं.	मैत्रायणी संहिता
ल.	लक्षणीय
श., शब्रा.	शतपथ ब्राह्मण
शौ.	अथर्ववेद शौनक संहिता
श्रौ.	श्रौतसूत्र
सं.	संस्करण
सा.	सायण
साभा.	सायण भाष्य
सिकौ.	सिद्धान्त कौमुदी
सू.	सूक्त
स्म.	स्मरणीय

अनुक्रम

(द्वितीय-खण्ड)

तृतीय अध्यायः

वैदिक देवता

(क) भूमिका

वैदिक साहित्य आर्य भावना का संवाहक है। शुरू में ही हमने बतलाया है कि यह साहित्य विदग्ध मन की सृष्टि है। बहुत पहले ही इसके भीतर भाव और भाषा दोनों सुविन्यस्त तथा ठोस रूप ले चुके थे। इसकी रचना कैसे हुई थी? उसके पूर्वकालीन इतिहास से हम अपरिचित हैं। उसे लेकर पुरातत्त्व का मन्थन करते हुए अनेक प्रकार की बातें कही जा सकती हैं, किन्तु किसी भी सुनिश्चित सिद्धान्त तक पहुँचना सम्भव नहीं[११४३]। किन्तु इस साहित्य के प्रभव अथवा स्रोत के अदृश्य होने पर भी इसका प्रभाव अब तक जाग्रत एवं जीवन्त है। अतएव आर्य भावना के इतिहास के अनुसन्धान की दिशा में गङ्गोत्री के हिमनद की तरह वैदिक साहित्य को ही उसके ध्रुवपद या फिर प्रस्थान बिन्दु के रूप में स्वीकार करना पड़ता है; वहाँ से हम नीचे की ओर ही उतर सकते हैं, किन्तु वहाँ से ऊपर की ओर नहीं जा सकते। फलस्वरूप वेदार्थ के आविष्करण के लिए हमारे निकट मुख्य रूप से दो रास्ते खुले रहते हैं – प्रथम वेद को स्वतः प्रमाण जानकर उसे समझने के लिए उसके भीतर ही अवगाहन करना; द्वितीय वेदोत्तर भावना के प्रकाश में उसके तात्पर्य को उद्भासित करने, उजागर करने

११४३. इण्डो. यूरोपीय संस्कृति के परिचायक दो प्राचीन साहित्य–यूनानी (ग्रीक) एवं ईरानी उपलब्ध हैं। किन्तु दोनों ही वैदिक साहित्य से अर्वाचीन हैं। ईरानी अध्यात्म भावना के साथ वैदिक भावना का बहुत कुछ मेल है, किन्तु यूनानी भावना के साथ उसकी असमानता बड़ी आसानी से दिख जाती है।

का प्रयास करना। अर्थात् प्राचीन परिभाषा के अनुसार आन्तर उपलब्धि की उद्‌बोधिका श्रुति ही यहाँ मुख्य प्रमाण है, स्मृति उसकी अनुगामिनी है, अनुमान का प्रकार शेषवत् अर्थात् कार्य को देखकर कारण में जाना; और उसकी अवधि आपातत: पूर्वोक्त वेद तक है, जिसके ऊपर जाने की समीचीनता संशय रहित नहीं।

हमने पहले ही बतलाया है कि सुसम्बद्ध, सुसङ्गत और प्रासङ्गिक होने के कारण ही वैदिक साहित्य को आदि मानव के अस्पष्ट मनन के साथ कभी भी उपमित नहीं किया जा सकता। इस साहित्य में हम दीर्घकाल से प्रवाहित संयत सुनियन्त्रित भावना और साधना का परिनिष्ठित रूप पाते हैं, जो विश्व मानव के चित्तोत्कर्ष, ज्ञानोत्कर्ष अथवा संस्कृति के विकास के कुछ अनतिवर्तनीय सङ्केतों का वाहन है। प्राण धर्म से जुड़े होने के कारण ये सङ्केत सचमुच ही 'सनातन' हैं। अतएव मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में उनकी उपयोगिता अब भी समाप्त नहीं हुई है और होगी भी नहीं। ऐसी स्थिति में इन सनातन सङ्केतों को यथायथ उपयुक्त परिप्रेक्ष्य में उपस्थापित करना ही हमारी मुख्य भूमिका होगी।

वैदिक साहित्य का मुख्य उपजीव्य देववाद है। उपासना एवं यजन उसके दो अङ्ग हैं। देवता की उपासना में भाव का और यजन में क्रिया का प्राधान्य है। प्रत्यक्षत: चेतना क्रिया में बहिर्मुख और भाव में अन्तर्मुख होती है। तथापि क्रिया में भाव की ही अभिव्यक्ति है, भाव ही उसका धारणकर्ता एवं पोषक है। यह भाव संहिता में 'धी' अथवा 'दीधिति' अर्थात् ध्यान चित्तता है। ध्यान देवता का प्राण है, ध्यान में ही वे यजमान अथवा उपासक को दिखाई देते हैं[११४४]। प्रज्ञा

और वीर्य या शक्ति रूप में देवता साध्य है; साध्य और साधक के बीच हेतु सेतु हैं। 'निदिध्यासन' अथवा ध्यान तन्मयता के फलस्वरूप देववाद आत्मा, विश्व और परमदेवता के सायुज्य में पर्यवसित होता है। जिसका परिचय हमें संहिता की आत्मस्तुतियों में प्राप्त होता है। इसी देवता का स्वरूप एवं विभूति अब हमारा अनुध्येय है।

११४४. निघण्टु में 'धी' के दो अर्थ – कर्म (२।१) एवं प्रज्ञा (३।९)। स्पष्ट है कि आर्यभावना में ये दोनों सहचारी हैं। संहिता और ब्राह्मण में इस सहचरता का परिचय प्राप्त होता है– तु. ऋ. 'तं ते जुहोमि मनसा वषट् कृतम्' १०।१७।१२, देवहूतिं....वषट् कृतिं जुषाण: ७।१४।३, वषड् वषल्, इत्य ऊर्ध्वासो अनक्षन् १०।११५।९; ऐतरेय ब्राह्मण. यस्यै देवतायै हविर् गृहीतं स्यात् तां ध्यायेद वषट् करिष्यन्, साक्षाद् एव तद् देवतां प्रीणाति प्रत्यक्षाद् देवतां यजति ३।८, अग्नि में आहुति देने के पहले याज्या मन्त्र का पाठ करना पड़ता है, उसके अन्त में 'वषट्' (= वौषट्) यह मन्त्र रहता है। अर्थ, 'अग्नि वहन करें अथवा जल उठें।' इस मन्त्र का उच्चारण है 'वषट्कार'। यह कर्माङ्ग है, लेकिन मनन और ध्यान के साथ युक्त है। ब्राह्मण में 'वषट्कार को विशेष महत्त्व दिया गया है (तु. ऐब्रा. ३।५८)। कहीं-कहीं मुख्य तैंतीस देवताओं में वषट्कार अन्तिम देवता (ऐ ब्रा. १।१०, ताण्ड्य ब्रा. ६।२।५)। इसके अतिरिक्त 'धी' जिनका स्वभाव, वे 'धी-र'। उपनिषद् में धीर ध्यान सिद्ध की संज्ञा। ऋक्संहिता में विश्व-भुवन के जो रक्षक, वे भी धीर– अप्राज्ञ के भीतर जिनके आविष्ट होने पर ही प्रज्ञा का उन्मेष होता है : 'इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपा: स मा धीर: पाकम् अत्रा विवेश १।१६४।२१ इसलिए कर्म एवं प्रज्ञा दोनों ही समान रूप से देवता का वैभव।

(ख) साधारण परिचय

१. देवता का स्वरूप

निरुक्ति के द्वारा हम देवता का परिचय शुरू करते हैं, क्योंकि 'देव' शब्द यौगिक एवं पारिभाषिक है। इसके अतिरिक्त, वैदिक साहित्य में इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग की प्रचुरता के कारण उनके तात्पर्य-निर्णय में निरुक्ति या निर्वचन एक प्रधान अवलम्बन है।

'दिव' से 'देव'। किन्तु वेद में प्रातिपदिक रूप में ही दिव् का प्रयोग है, धातु रूप में नहीं। उसकी जगह 'दी' धातु है, जिसका अर्थ है 'दीप्ति देना, दिपना, चमकना'[११४५]। प्रातिपदिक 'दिव्' द्युलोक अथवा आलोक दीप्त आकाश। जितनी देर तक आकाश में आलोक, उतनी देर तक 'दिवा'। दिव, दिवा, देव इन तीन शब्दों में एक ही भावना की व्यञ्जना है। वह भावना है आलोक की। अतएव देवता का स्वरूप आलोक है, वही अन्तर में 'बोध' अथवा जाग उठना 'चित्ति' अथवा विवेक है; जिसके फलस्वरूप 'प्रज्ञान', संज्ञान, और 'संवित्'[११४६]। इस प्रकार साध्य देवता एवं साधक में तादात्म्य स्थापित होता है।

११४५. यास्क ने देवता की निरुक्ति इस प्रकार दी है – देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा, (७।१५)। इसमें प्रथम केवल अर्थ की दृष्टि से। √ दी का निकटवर्ती √ द्युत् ऋक्संहिता में ही पाया जाता है, √ दिव् के साथ उपजन रूप में 'त्' जोड़कर उसकी व्युत्पत्ति सिद्ध हो सकती है (तु. √चि ॥ चित्, नृ ॥ नृत्, कृ ॥ कृत्...। √दीप् केवल यजुः और अथर्व संहिता में है। 'देव' तु. Lat. deus, Lith. devas, OHG. Zio, OE.Tiw, GK. dios, daiteai 'shines,....।

११४६. ऋक्संहिता में √ बुध् (जाग उठना) धातु के प्रयोग के बावजूद बोध शब्द नहीं है, 'बुध्न' है। यास्क ने उसका अर्थ किया है अन्तरिक्ष अथवा प्राण (नि. १०।४४)। साधारणतः यह शब्द 'मूल' या 'उत्स' के अर्थ में

रूढ़ है। तु. ऋ. उपरिबुध्न एषाम् १।२४।७, अग्नि 'रायोबुध्नः' १।९६।६ (१०।१३९।३), बुध्ने नदीनां ७।३४।१६, ऋतस्य बुध्ने ३।६१।७; आनुषङ्गिक अर्थ 'गहरा स्थान' जैसे– 'अपः प्रेरयं सगरस्य बुध्नात्'– अर्थात् अप् (वाणी की धाराओं) को सागर की गहराई से भेजा १०।८९।४ (सागर यहाँ हृद्य समुद्रं, तु. ४।५८।५, ११, १०।५।१, १७७।१; चेतना का अनुषंग द्रष्टव्य) निर् यद् ईं बुध्नात्....अक्रन्त (गहराई से अग्नि का उत्सारण) १।१४१।३ 'अग्र' एवं 'बुध्न' अग्रभाग एवं मूल पास-पास ३।५५।७, १०।१११।८ अग्नि जिस वेदि (वेदी) में उत्पन्न हो, अथवा आग उठे, वह 'रजसो बुध्नः' १।५२।६, २।२।३, ४।१।११; वह इस पृथिवी का ही परम अन्त है (तु. इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः, १।१६४।३५), अतएव वह भी 'क्षाम बुध्न' जिसे इन्द्र प्राणोच्छ्वास से क्षोभित करते हैं (४।१९।४, सर्वमूल निश्चलता के भीतर चञ्चलता का सञ्चार करते हैं; तु. यथा नः पितरः परासः...क्षामा भिन्दन्तो अरुणीर अप व्रन' – हमारे परम पितृपुरुषों ने पृथिवी को भेद कर उषा की अरुण आभा अपावृत की थी ४।२।१६। अग्नि तपोदेवता हैं, उनका यह जागरण 'तपुषो बुध्नः' २।३९।३ अन्तरिक्ष में मरुद्गण का बुध्न अथवा जागरण जलप्लावन जैसा लगता है (अपां न याम) १०।७७।४ वेदि में अग्निशिखा साँप के फन की तरह फनफना उठती है, अतएव अग्नि-अहिर्बुध्न्यः' (तु. अहिर्बुध्नेषु, बुध्न्यः १०।९३।५; 'अब्जाम् उक्थैर अहिं गृणीषेबुध्ने नदीनां रजुःसुषीदन्, मा नो अहिर्बुध्न्यो रिषे धात' – अप् से उत्पन्न उस अहि का मैं ऋक् द्वारा प्रशंसन करता हूँ, जो नदियों के उत्स अथवा गहराव में रजोभूमि पर, बैठा है, बुध्न्य अहि मुझे रिष्टि अथवा पाप में न फँसाएँ ७।३४।१६।१७ तु. हठयोग में वर्णित मूलाधार स्थित सर्वरूपिणी कुण्डलिनी)। बुध्न का अर्थ चेतना यहाँ अत्यन्त स्पष्ट है: 'पुरस्तात् बुध्न आततः' १०।१३५।६ आधुनिक भाषा शास्त्रियों की व्युत्पत्ति: **Lat.** fundus, for fnd ✲ no-s 'botttom of anything', but also piece of land, Farm, estate'; **GK.** piethme'n for ✲ Phuthmen' foundation of the sea, of cup'. Inspite of some what various meanings of the above cognate, the root idea preserved in Gmc., **Lat** & Sert. seems to be 'earth, land'. It is suggested that Aryan 'Bhudhn-' meant the place of growth ultimately and the base in connected with that of **Lat.** fui 'I was'

देवता की एक साधारण संज्ञा 'वसु' है जिसका अर्थ है 'दीपक, ज्योतिर्मय'[११४७]। संहिता में देवता की मुख्य विभूतियाँ– अग्नि, इन्द्र, सोम, रुद्र, मरुद्गण, उषा, सूर्य, पूषा, आदित्यगण सभी वसु हैं[११४८]

(Wyld)। मूल जो भी हो किन्तु संस्कृत में √ बुध् (जागना, सचेतन होना) के अर्थ की ध्वनि इस शब्द के भीतर आ गई है। ऊपर के सभी उद्धरणों में यह ध्वनि है। जहाँ चेतना नहीं, वह असंज्ञ लोक राजा वरुण का 'अबुध्न' है (१।२४।७)। शीर्ष अथवा मस्तक सात शीर्षण्य प्राण या चेतना का आधार है, वह देखने में औंधे उलटे रखे घड़े जैसा लगता है– जिसका तला या पेंदा ऊपर हो, और छिद्र या मुँह नीचे। संहिता में उसका वर्णन: 'तिर्यगबिल्श (बृ. अर्वाग बिल: २।२।३) चमस ऊर्ध्व बुध्नस् तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्, तद् आसत ऋषय: सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवु: शौनक संहिता १०।८।९....बोध अथवा चेतना के जागरण से 'चित्ति' अर्थात् अव्यक्त के भीतर व्यक्त का ज्ञान: तु. 'देवासो अग्निं जनयन्त चित्तिभि:' – देवताओं ने चित्ति द्वारा अग्नि को व्याकृत किया ऋ. ३।२।३; 'चित्तिम् अचित्तिं चिनवद् वि विद्वान्' प्रचेतना और अप्रचेतना में विद्वान् अन्तर कर सकें ४।२।११ (तु. १।१६४।२९)। प्रथम विवेक 'पूर्वचित्ति' (तु. १।८४।१२, ८।३।९, ९।९९।५)। चित्ति के फलस्वरूप 'प्रज्ञान'। फिर 'संज्ञान' अथवा सायुज्य बोध (तु. सज्ञानाना उपसीदन् अभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन्, – अग्नि के साथ स्वयं को एक जानकर वे उस नमस्य देवता को प्रणाम करके पत्नी सहित पालथी मार कर उनके निकट बैठ गए ऋ. १।७२।५; संज्ञान ही परम अयन है १[illegible]९।४, १९१।२)। उसके फलस्वरूप 'संवित्' अथवा पूर्णप्रज्ञा (ऋ. ८।५८।१, १०।१०।१४; तु. अगन्म ज्योतिर् अविदाम देवान् ८।४८।३।

११४७. (√ वस् (प्रकाश देना) > उच्छ् (वस्+छ विकरण)। व्युत्पन्न, शब्द: उषस्, उस्र, वासर, विवस्वेत्...। तु. **AV.** vanhus 'good', किन्तु IE √ ves 'to shine'।

११४८. द्र. ऋ. अग्नि (१।३१।३, ३।१८।२, ५।३।१२....), रुद्र (२।४३।५), मरुद्गण (२।३४।९१, ५।५५।८....), इन्द्र (१।१०।४, ३०।१०, २।१३।१३, ३।४१।७..), अश्विद्वय (१।१५८।१-२), उषा (६।६४।१), सूर्य ४।४०।५), पूषा (वसो: राशि: ६।५५।३), आदित्यगण (७।५२।१, ८।१८।१५, १७) सोम (९।९८।५)।

उषा और वसु एक ही धातु से व्युत्पन्न हैं। विश्वदेवगण भी साधारणतया वसु हैं[११४९]। इसके अतिरिक्त सारे वसु एक देवगण हैं[११५०], संहिता में उनका बहुत उल्लेख है। धनवाची क्लीब लिङ्ग वसु भी सामान्यत: आलोक वित्त का बोधक है[११५१]। वसु होने के कारण ही देवता 'वसिष्ठ' अथवा ज्योतिषमत्तम[११५२], 'विवस्वान्' अथवा आलोकदीप्त[११५३] हैं।

अनुभव की दृष्टि से भी देवता 'ज्योति:'। यह शब्द वेद में बहु प्रयुक्त है। व्युत्पत्ति में 'देव' और ज्योति: सगोत्र[११५४] हैं। बाहर ज्योति का सर्वोत्तम प्रकाश या प्राकट्य सूर्य में है। ऋक् संहिता के सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन के अनुसार[११५५] 'अथवा एक महान् आत्मा ही देवता हैं, जिन्हें सूर्य कहा जाता है वे ही सर्वभूत के आत्मा हैं।

११४९. 'वस्ववो वसवाना:' द्र. ऋ. १।९०।२; तु. १।१०६।१-६, ४।५५।१, ६।५०।१५, ५१।७, ८।२७।२, ९, १०।१००।७

११५०. द्र. नि. वसवो यद् विवसते सर्वम्; अग्निर् वसुभिर् वासव इति समाख्या तस्मात् पृथिवी स्थाना:। इन्द्रो वसुमिर् वासव इति तस्मात् मध्यस्थाना:। वसवो आदित्य रश्मय: विवासनात् तस्माद् द्युस्थाना: १२।४१ ऋक् संहिता में वसु क्या ग्यारह हैं? (तु. १।१३९।११) किन्तु ब्राह्मण में छन्द के अक्षरसाम्य से अष्टावसु (द्र. ऐ. १।१०, ३।२२१; तु. ऐ. २।१८, श. ११।६।३।५, तै. ३।१।२।६, ताण्ड्य. ६।२।५।१

११५१. निघ. पुंल्लिङ्ग बहुवचन में 'वसव:' रश्मि १।५, क्लीब, लिङ्ग 'वसु) धन २।१०

११५२. तु. ऋ. २।९।१, १०।९५।१७; इसके अलावा सप्तम मण्डल के ऋषि वसिष्ठ। तु. फारसी 'बिहिश्व' (< **AV.** स्वर्ग Vahiśtā स्वर्ग Vahiśtā परम पुरुष की संज्ञा।

११५३. द्र. नि. 'विवासनवान् (तमसाम्)' ७।२६ 'विवस्वान्' परम देवता की प्राचीन संज्ञा, जिनका प्रतीक सूर्य– दिन और रात उनकी विभूति 'उभे अहनी सुदिने विवस्वत: ऋ. १०।३९।१२, सारे देवता 'विवस्वतो जनिमा' (१०।६३।१)। उनकी उपासना में उपासक भी विवस्वान् (८।६।३९, १।४६।१३, २।१३।६)। अन्याय विवरण 'विवस्वान्' द्रष्टव्य'।

११५४. दिव् > द्युत् > ज्युत्।

११५५. द्र. २।१४।१०

अतएव ऋषि कहते हैं कि [१]जो कुछ चल रहा है, जो कुछ अचल-स्थिर है, उन सब के आत्मा सूर्य हैं। उनकी ही विभूति अन्य देवतागण हैं। वही इस ऋक् में व्यक्त किया गया है; [२](जो पक्षवान् या पङ्खधारी दिव्य सुपर्ण) उसे ही वे इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं; (एक सत् को ही विप्रों ने अनेक रूपों में व्यक्त किया है, जिसे अग्नि यम और मातरिश्वा कहते हैं)।'

देवता के प्रति आर्यों के हृदय में जो ललक है वह इसी ज्योति की ललक है, वसिष्ठ कहते हैं, जिन्होंने ज्योति को अपना अगुआ या नेता बनाया है, वे ही आर्य हैं। यही आर्य का लक्षण है[११५६]। आदित्यायन के छन्द में उनका जीवनायन अर्थात् आदित्य की गति के छन्दानुगमन में उनका जीवन लयबद्ध होता है। ज्योति की पिपासा उनका दिशा-निर्देशन करती है। ऋषि गौरवीति के हृदय के तारों पर इसलिए तीव्र ध्वनि में झङ्कृत यह ऋक् सुनते हैं : 'अप ध्वान्तम् ऊर्णुहि पूर्धि चक्षुर् मुमुग्ध्य् अस्मान् निधये: व बद्धान्' – हे देवता अपावृत, करो, यह अन्धकार, भर दो इन आँखों में उजास, मुक्त करो हमें, पाश में बँधे हुए हैं हम तो[११५७]! फिर जीवन के प्राची मूल में उषा के आलोक में जब प्रातिभ: संवित् की आभा फूटती है, तब ऋषि कुत्स के कण्ठ से उद्बोधिनी वाणी का यह उल्लास सुनाई पड़ता है : 'उठो, उद्यत करो स्वयं को! जो हमें लोगों का जीवन, जो हम लोगों का प्राण है, वही आया है। दूर चला गया अँधेरा, देखो

१. ऋ. १।११५।१

२. १।१६४।४६

११५६. ऋ. तिस्त्र: प्रजा आर्या ज्योतिरग्रा: ७।६३।७ तीन प्रजा तु. ८।३५।१६-१८ फिर तीन वाक् भी ज्योतिरग्रा ७।१०१।१ (तु. गुहानिहित तीन वाक् पद, जिनका तत्त्व मनीषी ब्राह्मणों को ज्ञात है १।१६४।४५)। वैदिक आर्यों के कवि हृदय का उल्लास वाक् की साधना में (तु. १०।७१।४)।

११५७. ऋ. १०।७३।११

उजाला आ रहा है। खोल दिया सूर्य का यात्रा-पथ। उसी जगह पहुँचे हैं हम सब, जहाँ सब की आयु का प्रतरण।'[११५८]।

सारे देवता 'सुज्योति:'[११५९] हैं; तम से ज्योति में उत्तरण ही जीवन की दिव्य निति है। [१]इस ज्योतिर्भावना के अनुकूल ऋक् संहिता से कुछ मन्त्रों के अभिप्राय एवं अनुशीलन की भूमिका में आशा है, हमारे निकट देवताओं के स्वरूप का परिचय प्राप्त होगा।

पहले ही हमने बतलाया है कि अध्यात्म सिद्धि की एक प्रतिच्छवि सूर्योदय में अन्धकार से आलोक के उत्सारण में है। देवता आकाश में सूर्य को उद्भासित करते हैं, इसका उल्लेख हमें अनेक मन्त्रों में प्राप्त होता है[११६०]। बाहर में जो भूताकाश है, वहीं अन्तर में

११५८. ऋ. उद! ईर्ध्वं जीव असुर् न आगाद् अप प्रागात् तम आ ज्योतिर एति, आरैक पंथमां यातवे सूर्याया. गन्म यत्र प्रतिरन्त आयु: १।११३।१६ 'प्रतरण' सारी बाधाएँ दूर कर आगे बढ़ना।

११५९. तु. सुज्योतिषो न: शृण्वन्तु देवा: सजोषसो अध्वरं वावशाना: (३।२०।१; देवताओं में एक दूसरे से कोई विरोध नहीं, वे तृप्ति में सुषम – सुसङ्गत होते हैं, और मनुष्य की उत्सर्ग साधना के लिए उतावले, उद्विग्न रहते हैं); ६।५०।२

१. तु. बृ. तमसो माज्योतिर्गमय १।३।२८

११६०. तु. ऋ. १।७।३, ३२।४, ५१।४ ('वृत्र' अथवा आवरण शक्ति के निधन के बाद सूर्योदय), ५२।२८; २।१२।७, १९।१३; ३।३१।१५, ३२।८, ४२।२; ४!१३।२; ५।२७।६, ६७।७, ८५।२; ६।१७।३, ५, ३०।५, ७२।१, २; ७।७८।३, ८२।३, ९९।४; ८।३।६, १२।३०, ८९।७, ९८।२; ९।२३।२, २८।५, ३७।४, ४२।१, ६३।७, ८६।२२, ९७।३१, १०७।२, ११०।३; १०।६५।११, ८८।११, १५६।४...।, सूर्यलाभ की बात है : १।१००।६, १८; ३।३४।९, ३९।५; १०।६७।५; अत्रि 'गूल:हं सूर्थं तमसा पव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणा:विन्दत्' (५।४०।६ सूर्य ग्रहण का रूपक; तु. तैत्तिरीय संहिता २।१।२।२, ताण्ड्य. ६।६।८ : प्रथम में तुरीय परिणाम वशा अथवा वन्ध्या भेड़ में, द्वितीय में शुक्लता में – क्रमानुसार असम्भूति एवं सम्भूति के उपासक का सूचक); ६।७२।१, १०।४३।५, अङ्गिरोगण द्वारा सूर्य को

चिदाकाश है; वहाँ सूर्योदय ही उपासक का परम आकाङ्क्षित है। देवता उसकी उस आकाङ्क्षा को सार्थक करते हैं[११६१] 'अपनी ज्योति द्वारा अन्धकार के विवर से किरण रेखाओं को दोहन करके निकालते हैं।'

जिस तम ने 'वृत्र' होकर उपासक की चेतना को आवृत कर रखा है, उसे देवता ज्योति द्वारा (ज्योतिषा) निर्जित, पराजित करते हैं[११६२] : [१]**अग्नि** जन्मते ही दमकने लगते हैं, दीप्तिमान् हो उठते हैं, वध करते हैं दस्युओं का, ज्योति द्वारा तमिस्रा को करते हैं अपसारित, खोजकर प्राप्त कर लेते हैं किरण, प्राण एवं सूर्य की; तमिस्रा से निकल कर आते हैं वे ज्योति के साथ; अथर्वा ऋषि की तरह दिव्य ज्योति द्वारा वे तो जलाकर मार डालते हैं उस अविवेकी को, जो सत्य को करता है विकृत; द्यावा. पृथिवी के अन्तराल में है जो तमिस्रा, वैश्वानर रूप में उसे वे निराकृत करते हैं ज्योति द्वारा।[२] उषा जिस प्रकार अरुण प्रकाश से रात्रियों को करती हैं अपावृत, उसी प्रकार **मरुद्गण** अन्धकार को अपावृत करते हैं लहरीली दूधिया उज्ज्वल ज्योति की महिमा द्वारा। [३]विश्व.नायक **इन्द्र** द्यावा. पृथिवी को ढँके हुए हैं ज्योति द्वारा, जिस तमिस्रा को दूर करना कठिन है, उसे समेट लाए हैं ग्रथित करके; गुहा के अन्तराल में थीं जो पयस्विनी आलोक धेनुएँ, उन्हें हाँक कर बाहर ले आए वे, एक साथ संवृत अन्धकार को ज्योति द्वारा किया विविवृत।. [४]शोभना, सुन्दरी नारी की तरह अपने तनु को

द्युलोक में चढ़ाना ६२।३। यह सूर्य स्थावर-जङ्गम के शीर्ष. शीर्ष में (७।६६।१५; तु. ऊर्ध्व बुध्न, सूर्य द्वार, सहस्रार द्युति)।

११६१. इन्द्रो निर् ज्योतिषा तमसो मा अदुक्षत् १।३३।१०

११६२. अनुवाद सर्वत्र मूल का अनुगामी है, केवल विवृति की धारावाहिता की रक्षा करने के लिए कहीं-कहीं पुरुष वचन एवं काल का व्यत्यय करना ज़रूरी होगा।

१. ऋ. ५।१४।४; १०।१।१; ८७।१२; ६।८।३ (द्र. ६।९।१)।

२. उषा न समीर् अरुणैर् अपोर्णुते महो ज्योतिषा शुचता मो अर्णसा २।३४।१२

३. २।१७।४, ५।३१।३

४. एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्, अप द्वेषो बाधमाना तमांस्य उषा दिवो दुहिता ज्योतिषा.गात् ५।८०।५; ७।७८।२; एषा

जानती हैं **उषा**, उन्नता होकर खड़ी हैं, देखो हमारी आँखों के सामने स्नानरता, विद्वेषियों को, तमिस्राओं को, अभिभूत करके दिवो दुहिता आई हैं ज्योति लेकर; देवी उषा जा रही है ज्योति द्वारा पराजित अपसारित करके समस्त अन्धकार, समस्त दुरित, अनिष्ट; तमिस्रा को ज्योति से निगूहित या प्रच्छादित करके आगे बढ़ती जा रही हैं अकुण्ठिता यौवन_वती, प्रचेतना लेकर आई हैं सूर्य की, यज्ञ की, अग्नि की। [५]जो **सूर्य** स्थावर– जङ्गम के आत्मा हैं, वे हमारी समस्त तेजोहीनता, अनाहुति अस्वास्थ्य और दुःस्वप्न अपनी उस ज्योति द्वारा दूर कर दें जिससे तमिस्रा को वे करते हैं अभिभूत, जिस प्रभा से विश्व जगत् को करते हैं उद्यत।

पृथिवी में **अग्नि** वही ज्योति है जिसे मनु ने निहित या स्थापित किया है विश्व जन के लिए[११६३]; [१]वे पुञ्जीभूत ज्योति हैं, [२]वे बृहत् ज्योति हैं [३]वे महाज्योति हैं– देवताओं ने जिनको उत्पन्न किया है 'चित्ति' अथवा विवेक द्वारा; [४]आवेग कम्प्र वाणी में जिस ज्योति का उल्लास है, वे उसके **भर्ता** हैं, प्रतिपालक हैं।

अन्तरिक्ष में द्युलोक के अन्तिम छोर पर इन्द्र वही आदित्य हैं[११६४] जो उपासक को उस विराट् अभय ज्योति में उत्तीर्ण करते हैं, जहाँ

स्यानव्यम् आयुर् दधाना गूढ़वी तमो ज्योतिषो.षा अबोधि, अग्र एति युवतिर अह्रयाणा प्रा. चिकितत् सूर्यं, यज्ञम्, अग्निम् ८०।२ (द्र. ४।४२।६, ७।७८।३)।

५. येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो जगच च विश्वम् उदियर्षि भानुना, तेना.स्मद् विश्वाम् अनिराम् अनाहुतिम् अपा.मी वाम् अप दुष्ष्वप्न्यं सुव १०।३७।४

११६३. ऋ. नित्वाम् अग्ने मनुर् दधे ज्योतिर् जनाय शश्वते' १।३६।१९

१. ज्योतिरनीकः ७।३५।४

२. ५।२।९

३. देवासो अग्निं जनयन्त चित्तिभिः....ज्योतिषा महाम् ३।२।३

४. ३।१०।५

११६४. तु. ऋ. शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस् तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः २।२७।१ (सूक्त के देवता आदित्य गण हैं; इन्द्र का उल्लेख नहीं, किन्तु उनके विशेषण 'तुविजात' का उल्लेख है; ऋक् संहिता में अन्यान्य

दीर्घ तमिस्रा उन तक नहीं पहुँचती[११६५]। अन्धतमस में जिस ज्योति को वे प्रस्फुटित करते हैं यजमान के लिए, उसे कोई छीन कर ले नहीं सकता (अवृकम्); यह ज्योतिरुच्छ्वास वे आहरण करते हैं उसके लिए ही जो प्राण और मन का साधक है (आयवे मन वे च); अंधेरे के साथ लड़ाई में प्रस्फुटित करते हैं ज्योति, ले जाते हैं और भी प्रकाश की ओर[११६६]।

उसके बाद द्युलोक में **अश्विद्वय** की ज्योति[११६७] वे ज्योति प्रस्फुटित करते हैं विश्वजन के लिए, आर्यों के लिए और प्रवक्ता विप्र के लिए। इसके अलावा है **उषा** की ज्योति; [१]सुन्दरी उषा ज्योति प्रस्फुटित करती है; वे जब झिलमिलाती हुई उठती हैं तब हम उनमें ही देखते हैं विश्व का प्राण और जीवन; समस्त ज्योति की श्रेष्ठ ज्योति हैं वे; दिवोदुहिता हैं वे, ज्योति-वस्त्रा हैं; अङ्ग-अङ्ग में विचित्र वर्णों की छटा बिखेरती हैं नर्तकी की तरह, **खोल** देती हैं वक्ष, विश्व-भुवन के लिए ज्योति प्रस्फुटित करके अपावृत करती हैं तमिस्रा; देखो यह वही पूर्णतम ज्योति आँखों के सामने तमिस्रा से जागी है पथ का सन्धान लेकर, देखो दिवो दुहिता लोगों के सामने आकर कल्याणी नारी की तरह निर्झरित करती हैं रूप की धारा... फिर

देवताओं के लिए प्रयुक्त होने पर भी इसका सबसे अधिक प्रयोग इन्द्र के लिए किया गया है। आदित्य सात हैं, किन्तु मार्तण्ड को लेकर आठ द्र. १०।७२।८, ९); इन्द्र आदित्य ७।८४।४; ८५।५; द्र. ४।१८ सूक्त। सूर्य के साथ इन्द्र की एकात्मकता: विभ्राजञ्ज्ञ ज्योतिषा स्वर् अगच्छो रोचनं दिव: ८।९८।३

११६५. ऋ. उर्व अश्याम् अभयं ज्योतिर् इन्द्र मा नो दीर्घा अभिनशन् तमिस्रः २।२७।१४

११६६. ऋ. १।१००।८।५५।६; ८।१५।५ (१०।४३।८); १६।१०

११६७. तु. ऋ. १।९२।१७, ११७।२१, १८२।३

१. १।४८।८, १०; ११३।१ (पूरा सूक्त ही द्रष्टव्य); १२४।३ अधि पेशांसि वपते नृतुर. इवा. पो.र्णुते वक्ष:....ज्योतिर् विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती...व्य उषा आवर् तम: ९२।४; इदम् उ त्यत् पुरुतमं पुरस्ताज् ज्योतिस् तमसो वयुनावद् अच्छात्, नूनं दिवो दुहितरो विभातीर् गातुं कृण्वन्त उषसो जनाय ४।५१।१, ५।८०।६ (तु.१।१२४।७); ७।७९।२; ८।७३।१६

पहले की तरह ही यौवनवती प्रस्फुटित करती हैं ज्योति; उनकी आलोक धेनुएँ तमिस्रा को समेट कर लाती हैं, ज्योति को उद्यत करके सविता की दो बाँहों की तरह; अरुणवर्णा उषा ने दर्शन दिया, फूट पड़ी ज्योति ऋतम्भरा। है **सूर्य** की ज्योति, : [२]आपूरित कर रखा है द्युलोक पृथिवी और अन्तरिक्ष को सूर्य ने अपनी रश्मि द्वारा चिन्मय होकर; सूर्य ज्योतिस्वरूप हैं, गतिशील हैं अपरूप आयुध के रूप में अपनी महिमा से वे देवताओं के असुर्य पुरोहित हैं, वे वह विभु ज्योति हैं, जिसे कोई प्रवञ्चित कर सकता नहीं; महाज्योति वहन करके लाते हैं, वे सर्वदर्शी हैं,- दीप्तिमान हैं, आँखों के आनन्द हैं, अजर-जरा रहित नक्षत्र हैं, वे सर्वजन की ज्योति हैं; द्युलोक के धर्म और धृति में निवेशित असुरघाती शत्रुघाती ज्योति हैं वे; ये ही ज्योति. समूह की श्रेष्ठ और उत्तम ज्योति हैं, ये ही विश्वजित् हैं, धनजित् हैं, इन्हें ही कहते हैं बृहत्; इन्होंने ही विश्व-भुवन को धारण कर रखा है विश्वकर्मा होकर, विश्व देवता की महिमा में; ये बन्धु हैं, ज्योति इनका आवरण है जरायु जैसा; इन्द्र जब अहि रूपी वृत्र का वध करते हैं अपने प्राणोच्छ्वास से, उसी समय इस सूर्य को द्युलोक में आरूढ़ करवाते हैं दर्शन के लिए; सूर्य आत्मा हैं जङ्गम के और स्थावर के भी। फिर हैं **अदिति के पुत्रगण**, [३]जो जीवन के लिए अजस्र ज्योति प्रदान करते हैं मर्त्य मानव को। है **सौम्य** ज्योति', [४]जिसे प्राप्त करना

---

२. ४।१४।२; ५।६३।४ युद्ध अन्धकार के साथ; ८।१०१।१२ ('असुर्य' प्राणोच्छल, तु. ३।५५ सूक्त); १०।३७।८; १५६।४; १७०।२;

३. (धन, जिसके पीछे सभी भागते हैं, पुरुषार्थ); ४; अयं वेन: .... ज्योतिर्जरायु: १२३।१ (इस सूक्त में सूर्य और सोम अथवा चित् और आनन्द की एकता दिखाई गई है) १।५१।४, ११५।१।३ यस्मै पुत्रासो अदिते: प्रजीवसे मर्त्याय ज्योतिर् यच्छन्त्य् अजस्रम् १०।१८५।३

४. द्र.९।११३।७।९, ११४।३; ९।४।२; ३५।१; ६१।१६; पवमान ऋतं बृहच् छुक्रं ज्योतिर् अजीजनत् कृष्णा तमांसि जङ्घनत् ६६।२४, ६१।१८; तन नु सत्यं पवगानास्या. स्तु....ज्योतिर् यद् अह्ने अकृणोद उ लोकम् ९२।५ (माध्यन्दिन द्युति की विपुलता अथवा विष्णु का परमपद ही पुरुषार्थ); ९४।५; ९७।४१ (शक्ति, चेतना और आनन्द का समाहार); ८६।२९;

ही याज्ञिक परम पुरुषार्थ है; सोम देते हैं शाश्वत ज्योति, शाश्वत सौरदीप्ति....हमें करते हैं और भी ज्योतिर्मय, हमारे लिए उनकी धारा करती है, ज्योति आहरण; परिशोधित होते-होते जन्म देते हैं वे द्युलोक से सुदर्शन वज्र जैसी वैश्वानर बृहत् ज्योति को; जन्म देते हैं वे ऋतु को बृहत् का शुक्ल ज्योति को कृष्ण तमिस्राओं का हनन करके; उनका रस विशिष्ट शक्ति के रूप में विराजता है झिलमिलाकर विश्व ज्योति के रूप में सूर्य के दर्शन के लिए; वही तो उनका सत्य....कि उन्होंने दिन के लिए रची ज्योति और लोक की विपुलता; विपुल ज्योति रचते हैं वे, मत्त कर देते हैं देवताओं को; इन्द्र में वे आहित करते हैं ओजस्विता, सूर्य में ज्योति उत्पन्न करते हैं इन्दु होकर; ज्योतियाँ उन्हीं की हैं, उनका ही सूर्य; आदिम हैं वे, हमारे लिए ही प्रदीप्त करती हैं ज्योतियों को; देते हैं वे हमें शान्ति, महाभूमि और ज्योति, दीर्घ काल हमें देते हैं – सूर्य को देखने के लिए। पुनः [५]जो आलोक धेनुएँ गोपित रहीं अमृत के बन्धन में, तमिस्रा के भीतर ज्योति के अन्वेषण में **बृहस्पति** ने उन आलोकमयी धेनुओं का उद्धार किया नीचे के दो और ऊपर के एक द्वार से अर्थात् तीनों द्वारों को ही किया विवृत।

इस प्रकार हमने देखा कि ज्योति ही देवता का स्वरूप है और अन्धकार से ज्योति का उत्सारण उत्क्षेपण ही उनके वैभव का परिचय है। यह ज्योति[११६८] हम सब की नित्य काम्य वस्तु है; [१]यह जिस प्रकार परम व्योम में महाज्योति है उसी प्रकार देवकाम की समिद्ध अग्नि में

३६।३; ९१।६ (उरुक्षेत्र, उरुक्षय, उरुक्षिति, उरुलोक = उपनिषद् की महाभूमि-क. १।१।२४)।

५. १०।६७।८ तीन द्वार, तु. वल के ६।१८।५; आप्रीसूक्त में 'देवीर्द्वारः'; उससे अलग १०।१२०।८ अन्यत्र वरुण के तीन पाश १।२५।१; ऐउ. तीन 'आवसथ' १।३।१२ नीचे के दो द्वार हैं हृदय और भ्रूमध्य, ऊपर का एक द्वार मूर्द्धा।

११६८. तु. ऋ. गूहता गुह्यं तमः....ज्योतिष् कर्ता यद् उश्मसि १।८६।१०

१. ४।५०।४, ६।३।१ (७।५।६), ६।४७।८

विपुल ज्योति है तथा इन्द्र प्रदिष्ट सौरदीप्तिमय अभय ज्योति है। [२]यह उस प्रथम **बीज** की झिलमिलाती ज्योति है, जो अन्धकार में निगूढ़ है– सत्यमन्त्रे पिताओं ने जिसे पाकर उषा को जन्म दिया है। [३]ज्योति के भीतर यह ज्योति [४]तीन आवर्तों में उठ गई है ऊपर की ओर, [५]द्युलोक में नित्य जाग्रत वह उत्तम ज्योति हुई है जो तमिस्रा के उस पार उत्तर ज्योति को भी पार कर गई है। [६]इस ज्योति से प्रवासी होना या दूर होना हम नहीं चाहते। [७]दायाँ-बायाँ हम पहचानते नहीं, आगा-पीछा भी नहीं पहचानते; मूढ़ता से हो चाहे धीरता से ही हो, उस अभय ज्योति का हम उपभोग करना चाहते हैं, जिसे आलोक के देवता आदित्य गण हमारे पास ले आएँगे। [८]जीवित रहते हुए ही हम अवश्य इस ज्योति का आस्वाद प्राप्त करें।

२. प्रत्नस्थ रेतसो ज्योतिः ....वासरम् ८।६।३०+गूल.हं ज्योतिः पितरो अन्व. विन्दन्त् सत्य मन्त्रा अजनयन्न् उषा सम ७।७६।४

३. १०।५४।६

४. ७।१०१।२ (तु. शौ. ९।५।८, १०।७।४०; वा. ८।३६; शौ. ९।५।११)। तु. ऋ. 'इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व, संवेशने तन्वश्चारुर् एधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे'–तुम्हारी यह एक ज्योति (आधार में अग्नि रूप), तुम्हारी वह एक ज्योति (द्युलोक में सूर्य रूप में), एक हो जाओ तृतीय ज्योति के साथ (जो परम व्योम में अदृश्य रूप में है); उस समत्व प्राप्त एक रूप तनु में चारु या सुदर्शन बनो, देवताओं के प्रिय बनो परम उत्स में १०।५६।१ Geldner का कहना है कि तृतीय ज्योति के साथ 'प्रेत' अथवा मृत व्यक्ति एक हो जाता है; किन्तु प्राकृत या स्वाभाविक मृत्यु के अतिरिक्त वैवस्वत मृत्यु भी है।

५. ८।८९।१+१।५०।१०

६. 'मा ज्योतिषः प्रवसथानि गन्म' २।२८।७

७. न दक्षिणा विचिकिते न सव्या न प्राचीनम् आदित्यानो.त पश्चा, पाक्या चिद् वसवो धीर्या चिद् युष्मानीतो अभयं ज्योतिर् अश्याम् २।२७।११ (धीरता=ध्यान चित्तता)।

८. जीवा ज्योतिर् अशीमहि ७।३२।२६

यह ज्योति सब के लिए है :[११६९] वैश्वानर रूपी इस देवता को, इस ज्योति को देवताओं ने जन्म दिया है आर्यों के लिए; [१]इन्द्र ने इस आर्य ज्योति को, इस सौर-दीप्ति को खोजकर प्राप्त किया है मनु के लिए; [२]विश्व_जनीन है यह अमृत ज्योति, विश्वमानव के देवता सविता इसका आश्रय लेकर उदित हुए हैं।

यह ज्योति सर्वत्र है :[११७०] हंस रूप यही ज्योति निषण्ण है शुचि में– आलोक के रूप में, अन्तरिक्ष में, होतृरूप में वेदि में, अतिथि रूप में द्रोण में, निषण्ण है नर में, वरेण्य में, ऋत में, व्योम में; उनका जन्म हुआ है अप् से, गो से, ऋत से, अद्रि से; वे ऋत (एवं बृहत्) हैं। अग्नि में इस विश्वरूप वैश्वानर ज्योति का दर्शन करके ऋषि भरद्वाज कहते हैं: [१]"देखो यही प्रथम होता या आवाहन कर्ता हैं,

---

११६९. ऋ. १।५९।२ (७।५।६, २।११।१८)

१. १०।४३।४ अतएव समस्त मानव जाति के लिए

२. ७।७६।१

११७०. ऋ. हंसः शुचिषद् वसुर् अन्तरिक्षसद् होता वेदिषद् अतिथिर् दुरोणसत्, नृषद वरषद् ऋत सद् व्योमसद् अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम् ४।४०।५ (यजुः संहिता का पाठ है– 'ऋतं बृहत्' ता. १०।२४, १२।१४; तै. १।८।१५।२। 'शुचि' आकाश अथवा हृदयः 'दुरोण'।। द्रोण, सोमपात्र– ब्राह्मण में अग्नि की तरह सोम भी अतिथि, अग्नि का प्रसङ्ग पहले ही है; 'नृषद्' सभी मनुष्यों में और 'वरषद्' प्रवक्ता में तु. क. १।३।१४) 'अप्' कारण सलिल तु. ऋ. १।१६४।४१; 'गो' अन्तर्ज्योति; 'अद्रि' सोम कूटने का पत्थर, अन्धतामिस्र का प्रतीक।

१. अयं होता प्रथमः पश्यते. मम् इदं ज्योतिर् अमृतं मर्त्येषु, अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽ मर्त्यस् तन्वा वर्धमानः। ध्रुवं ज्योतिर् निहितं दृशये कं मनोजविष्ठं पतयत्स्वन्तः, विश्वेदेवाः समनसः सकेता एकं क्रतुम् अभिवियन्ति साधु। वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर् वी. दं ज्योतिर् हृदय आहितं यत, वि मे मनश् चरति दूर आधीः किं स्विद् वक्ष्यामि किम् उ नू मनिष्ये। विश्वेदेवा अनमस्यन् भियानास् त्वाम् अग्ने तमसि तस्थिवांसम्, वैश्वानरोऽवे [illegible] तये नो ऽमर्त्यो अवतू.तये नः, ६।९।४-७। इन कई मन्त्रों में वैदिक [illegible]शन का सार मर्मस्पर्शी भाषा में व्यक्त हुआ है। साध्य, साधन, साधक और साधना का परिचय अत्यन्त स्पष्ट है। ब्राह्मण और उपनिषद्

इन्हें तुम ध्यान पूर्वक देखो। मर्त्यों में वे ही अमृत ज्योति हैं। देखो, वे जन्मे हैं, ध्रुव रूप में निषण्ण हैं वे– अमर्त्य रूप में तनु के साथ उत्तरोत्तर बढ़ते जा रहे हैं। ध्रुव ज्योति के रूप में सब के भीतर निहित हैं वे– दर्शन देने के लिए; उड़ने वालों में मन हैं वे– द्रुततम। सारे विश्वदेवता एक मन एक चेतना के साथ सुछन्दित स्वच्छन्दता के साथ एक क्रतु की दिशा में यात्रा-रत हैं। उद्यत रहें मेरे दोनों कान, फड़कते रहें मेरे चक्षु, फरफराती रहे ज्योति–हृदय में जो आहित है, स्थापित है। मेरा मन तो सुदूर की भावना में विचरण कर रहा है; क्या कहूँ?, क्या सोचूँ? हे अग्नि! विश्व देवताओं ने तुम्हें प्रणाम किया डरते-डरते, जब तुम तमिस्रा में थे। वैश्वानर हम सब की रक्षा करते रहें कल्याण के लिए, अमर्त्य हम सब की रक्षा करते रहें कल्याण के लिए।

इस ज्योति का साधन जिस प्रकार बाहर में याग है, उसी प्रकार अन्तर में योग है;[११७१] [१]मनन और ज्योति का प्रज्ञान हृदय द्वारा होता है...उस समय द्युलोक और भूलोक का सब कुछ दिखाई देता है। [२]मन को धारण कर रखा है जिन, सुकर्माओं या सुकृतात्माओं ने, वे ही द्युलोक को रूप देते हैं त्वष्टा की तरह। [३]ज्योति को प्राप्त करते हैं वे, ध्यान द्वारा जब वे उसे रूप देना चाहते हैं। इसलिए हमारे लिए

में बहुउल्लिखित ब्रह्म के द्वारपालों में चक्षु, श्रोत्र, मन और हृदय को यहाँ पाते हैं। परमपदे का वर्णन 'एक क्रतु' के रूप में किया जा रहा है, जो उपनिषद् की भाषा में 'ज्ञानमयं तपः' अथवा ब्रह्म का चिन्मय सृष्टि वीर्य या रचना सामर्थ्य है (तु. मु. १।१।९)।

११७१. ऋ. में क्रमानुसार 'यज्ञ' एवं 'धी' अथवा 'धीति'। निघ. में 'धी' कर्म (२।१) एवं प्रज्ञा (३।९) दोनों ही।

१. हृदा मतिं ज्योतिर् अनुप्रजानन्....आद् इद् द्यावा पृथिवी पर्य् अपश्यत् ३।२६।८ (यज्ञ के फलस्वरूप मन ही ज्योति हो जाता है)।

२. मनोधृतः सुकृतस् तक्षत द्याम् ३।३८।२ (द्युलोक साध्य है, उसका साधन मन की धृति एवं कर्म का सौष्ठव दोनों ही; अव्याकृत को व्याकृत करना तक्षण है, तु. १।१६४।१, १०।१८४।१)

३. विदन्त ज्योतिश चक्रि पन्ति धीभिः ४।१।१४

यह आर्ष अनुशासन है; [४]यज्ञ के तन्तु को वितत करके अनुसरण करो (प्राण-) लोक की भाति अथवा दीप्ति का; ध्यान द्वारा रचा है जो ज्योतिर्मय पथ उसकी रक्षा के लिए सन्नद्ध रहो। इस तरह बुनो गायकों के कर्म को, कोई गाँठ न पड़े; मनु अर्थात् मननशील बनो, जन्म दो दिव्य जनों को। क्योंकि [५](हमारे पितृ पुरुषों ने) ध्यान करते-करते ही विपुल ज्योति को प्राप्त किया था। इसलिए हम कह सकते हैं: [६]हमने सोम पान किया है, हम अमृत, अमर हो हो गए हैं और प्राप्त किया है देवताओं को।

इस ब्रह्मघोष में ज्योति की एषणा की परिसमाप्ति है[११७२]।

देवता का स्वरूप ज्योति है। आकाशस्थ सूर्य उसका प्रतीक है। सूर्य में जिस प्रकार प्रकाश है, उसी प्रकार ताप भी है। प्रकाश से उजाला होता है और ताप अथवा तप: से सृष्टि होती है। आध्यात्मिक दृष्टि से एक प्रज्ञा है और एक शक्ति है। दोनों अभिन्न हैं। दोनों को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त सूर्य आदित्य अर्थात् अदितिपुत्र हैं। अदिति संज्ञा का अर्थ है अखण्डिता,

---

४. तन्तु तन्वन् रजसो 'भानुम् अन्विहि ज्योतिष्मत: पथो' रक्ष धियाकृतान्, अनुल्बणम् वयत जोगुवाम् अपो मनुर् भव जनया दैव्यं जनम् १०।५३।६ (इस तन्तु के तनन से ही परवर्ती काल में तन्त्र, द्र. वेमी. ११३६) 'मनु' १।३६।१९, ८०।१६, ११४।२, २।३३।१, ४।२६।१...; वे आदि पिता एवं मनुष्य धर्म के प्रवर्तक हैं; देवजन्म ही यज्ञ का लक्ष्य है, द्र. ऐब्रा. ३।१९

५. उह ज्योतिर् विविदुर् दीध्याना: ७।९०।४

६. अपाम सोमम् अमृता अभूमा. गन्म ज्योतिर् अविदाम देवान् ८।४८।३ (लक्षणीय. विश्वदेव = ज्योति)। इस प्रसङ्ग में, तु. यहाँ असन्वतो वधो भूरि ज्योतींषि सुन्वत:' जो सोमयाजी नहीं, उसकी महती विनष्टि और सोमयाजी को विपुल ज्योति की प्राप्ति ८।६२।१२

११७२. द्र. ऋक् संहिता. ९।११३, ११४ सूक्त। प्रकाश और प्रकाश देने के अर्थ में संहिता में इस संज्ञाओं का ही प्रयोग अधिक है– स्व:, हिरण्य, रश्मि, दीधिति, गमस्ति, मरीचि, विभा, द्योतना, भानु, हरि, गो, तप:, द्युम्न, अर्चि: मह: केत, केतु, त्वेष, धाम....;√ मर्, ह, घृ, अर्च्, द्युत्, उष्, काश्, दीप्, भा, भ्राज्, रुच्, शुच्....विशेष रूप से प्राणिधान योग्य।

अबन्धना। वे आनन्त्य रूपिणी हैं, आकाश उनका प्रतीक है। उनकी चर्चा आगे चलकर करेंगे। आकाश में आदित्य ज्योति एवं ताप का प्रसारण कर रहे हैं– देवता का यह प्रत्यक्ष दृष्ट वैभव वैदिक अध्यात्म भावना का उद्दीपक अथवा प्रेरणा स्रोत है। आकाश, ज्योति एवं तप ये तीनों भावनाएँ अभिन्न रूप से देवभावना की सहचर हैं। ज्योति की चर्चा के बाद अब हम आकाश की चर्चा करेंगे।

ऋक्संहिता में आकाश की दो प्रधान संज्ञाएँ हैं– एक 'दिन' और एक 'व्योमन्'। पहली में 'रूप की द्योतना है, दूसरी में नहीं, उसमें केवल व्याप्ति और तुङ्गता का सङ्केत है।[११७३] संहिता में लोक अथवा चेतना की भूमि की साधारण संज्ञा 'रज:' है। [१]व्योम उससे भी परे है अर्थात् व्योम लोकोत्तर है। प्राय: सर्वत्र इस शब्द के साथ 'परम' 'विशेष' दिया गया है। तो फिर परम व्योम वह लोकोत्तर शून्यता है, जिसके उस पार और कुछ भी नहीं। इसलिए यह फिर [२]'प्रथम' व्योम है जो देवताओं का सदन है। जहाँ तीन-तीन बार सोम

११७३. पदपाठ 'वि. ओमन्' <√ अव्, धातुपाठ में उसके उन्नीस अर्थ हैं। प्रसाद, परिरक्षण और संवरण – साधारणत: इन तीन अर्थों में संहिता में इस धातु और धातुज का प्रचुर प्रयोग है। उणादि सूत्र 'व्योम' निपातने सिद्ध <√ व्येञ् संवरणे (५९०)। पद पाठ में ओम् के साथ सुस्पष्ट सम्बन्ध सूचित होता है। ओम् वही गौरी अथवा एक_पदी वाक् है जो परम व्योम में सहस्राक्षरा है (ऋ. १।१६४।४१)। तो फिर अधिदैवत एवं अध्यात्म दोनों दृष्टियों से ही यह व्योम ब्रह्म है एवं वाक् अथवा ओम् उसका अविनाभूत, अभिन्न परिस्पन्द है (तु. या वद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् १०।११४।८

१. ऋ. ना. सीद् रजो नो व्योमा परो यत् १०।१२९।१ (जो कुछ सत् है, उसकी स्थिति रज में है, उसके ऊपर व्योम अथवा असत् है; किन्तु आदि अव्याकृत को सत् अथवा असत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता–'ना. सद् आसीन् नो सद् आसीत् तदानीं' १)। तु. इन्द्र 'अस्य पारे रजसो व्योमन: १।५२।१२। एक जगह अन्तरिक्ष अर्थ में प्रयुक्त है 'ज्येष्ठासो न पर्वतासो. व्योमनि' ५।८७।९

२. ८।१३।२

के लिए सप्त धेनुएँ सत्य आशीः क्षरण करती हैं, वह [3]'पूर्व्य' है। [4]परम व्योम प्रत्न पिता का पद अथवा धाम है। [5]वह अक्षर परम व्योम है, जहाँ विश्व देव गण निषण्ण हैं, ऋचाएँ वहाँ ही हैं; उस परमव्योम में ही गौरी वाक् सहस्राक्षरा है। [6]इसी परम व्योम में मित्र-वरुण सत्यधर्मा रूप में हैं, यहाँ ही सबसे पहले महाज्योति से बृहस्पति का जन्म।[7] इसी परम व्योम में इन्द्र रोदसी को धारण किए हुए हैं, जिस प्रकार भग ने धारण किया है अपनी दोनों पत्नियों को। [8]जो विश्वभुवन के अध्यक्ष हैं, वे हैं इसी परमव्योम में; यहाँ ही विश्वदेव गण स्वराट् इन्द्र और सम्राट् वरुण में ओज और बल का आधान कर रहे हैं।

---

३. त्रिर् अस्मै सप्तधेनवो दुदुह्रे सत्याम् आशिरं पूर्व्ये व्योमनि ९।७०।१ (तु. ८६।२१)। अप् की सात धेनुएँ अथवा प्राण की ऊर्ध्वस्रोता सात धाराएँ, तु. ५।४३।१, ९।८६।२५, ६६।८ सोम में जो मिलाया जाता है, वह 'आशीः' है– जौ का सत्तू, दूध और दही मिलाने से सोम यवाशीः, गवाशीः एवं दध्याशीः अर्थात् क्रमानुसार तारुण्य, ज्योति एवं प्रज्ञानघनता का वाहन है।

४. ९।८६।१४, १५ 'प्रत्न पिता' द्यौः; द्यावा-पृथिवी आदि जनक जननी हैं। तु. विष्णु का परमपद १।२२.२०, २१। १५४।५, ६

५. १।१६४।३९; ४१, इसी वाक् से सृष्टि; तु. ४२

६. ५।६३।१, ४।५०।४, ३।३२।१०, ७।५।७ (१।१४३।२ अग्नि का जन्म)

७. भगो न मेने परमे व्योमन्नधारयद् 'रोदसी' सुदंसाः १।६२।७ (रोदसी, द्यौः एवं पृथिवी; ऋ. संहिता में द्यौः स्त्री लिङ्ग भी है, इसलिए दो पत्नी की उपमा; भग, एक आदित्य की संज्ञा है और संहिता के सुप्राचीन देवता हैं– ये ही भागवतों के भगवान् हैं। शब्रा. पुरुषमेध यज्ञ के वे 'नारायण' हैं १३।६।१।१-२; उनकी दो पत्नी – श्री और लक्ष्मी, वा. ३१।३२, अध्यात्म दृष्टि से चित् और आनन्द; तु. पौराणिकों के अनुसार दो विष्णुपत्नी – श्री एवं भू; तन्त्र में एक नील सरस्वतीयातारा, और एक गजलक्ष्मी, अथवा कमला; विशेष विवरण द्रष्टव्य. 'भग')।

८. १०।१२९।७; ७।८२।२ (तु. सप्तशती के मध्य चरित्र में देवी का आविर्भाव)।

[9]अप्सरा तरुणी हँस-हँस कर बन्धु या प्रिय का परमव्योम में ले जाती है। [10]परम व्योम में ही यज्ञ की शक्ति अथवा सार्थक परिणाम, इष्टापूर्त का भी; जो यज्ञ भुवन की नाभि है उसके अधिष्ठाता तो ब्रह्मा हैं, वे ही वाक् के परम व्योम हैं। सङ्क्षेप में [11]असत् और सत् दोनों ही इसी परम व्योम में हैं– 'जो दक्ष का जन्म-स्थान है, अदिति का उपस्थ है योनि है।

अध्यात्म दृष्टि से परम, व्योम चेतना की सर्वोच्च भूमि है। ऋक् संहिता में उसका और भी परिचय हमें प्राप्त होता है। 'अनिबाध' 'उरुलोक', एवं बृहत् की भावना में। विश्वदेव गण को लक्ष्य करते हुए, अत्रि की आकूतिः 'हे देवगण हम विपुल (उरौ) अनिबाध में रह सकें'।[1174] अनिबाध के विपरीत एक संज्ञा 'सबाध' है, साधारणतः उससे ऋत्विक् का बोध होता है; व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है, जिसमें 'बाध' या चेतना का सङ्कोच है। [1]बाध से अनि-बाध अथवा चेतना की

---

९. अप्सरा जारम् उपसिष्मियाणा योषा विभर्ति परमे व्योमन् १०।१२३।५ (बन्धु = वेन, यहाँ सूर्य अथवा सोम, चित् अथवा आनन्द; 'योषा' उषा या वाक् अथवा अप्)।

१०. ५।१५।२, १०।१४।८; अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः...ब्रह्मा. यं वाचः परमं व्योम १।१६४।३५ (वाक् वहाँ सहस्राक्षरा ४१, ब्रह्मा का बृहत् अथवा परिव्याप्त चेतना भी तन्त्र की भाषा में सहस्रदल)।

११. असच् च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य 'जन्मन् अदितेर् उपस्थे' १०।५।७ ('अदिति' आनन्त्य चेतना, दक्ष उनका प्रज्ञावीर्य, तु. अदितेर् दक्षो अजायत दक्षाद् व. दितिः परि ७२।४, अर्थात् अनुलोम और विलोम क्रम में एक से दूसरे का आविर्भाव-जिस प्रकार सिद्ध और साधक के मध्य। 'दक्ष' एक आदित्य २।२७।११ पुराण में वे प्रजापति, सती अथवा आद्याशक्ति उनकी कन्या)।

११७४. ऋ. उरौ देवा अनिबाधे स्याम ५।४२।७ (४३।१६)

१. तु. १।१६४।८, ३।२७।६, ४।१७।१८, २३।४, ७।८।१, २६।२, ५३।१, ६१।६, ९४।५, ८।६७।१, ७४।६, १२। १०।१०१।१२, ५।१०।६ तीन रूप सबाध, सबाध, सबाधस्। निघ. 'सबाध' ऋत्विक् ३।१८, बाध अथवा चेतना का सङ्कोच जिसमें है, वह प्रवर्त साधक है। इस बाध का एक और नाम है 'अंहः– योग का 'क्लेश' अथवा वेदान्त की 'अविद्या', जिसने 'अनिबाध'

विपुलता उत्तीर्ण होना ही उपासक का परम पुरुषार्थ है।...[२]'ऋत की योनि में अथवा परम अव्यक्त में (शिशुरूप में) सोए हैं, जो अग्नि (इस) घर को प्यार करते हैं, वे महान् होकर विपुल अनिबाध में बढ़ते जा रहे हैं।' पृथिवी की अग्नि .की तरह आकाशस्थ सूर्य भी [३]'अनिरुद्ध, अनिबद्ध– किस तरह वे अधोमुख नीचे की ओर नहीं आ रहे हैं, किसने देखा है कि किस स्वप्रतिष्ठा में वे चलते हैं, द्युलोक के संहव स्तम्भ होकर रक्षा कर रहे हैं उससे भी उत्तरलोक की'। इन तीनों मन्त्रों में ही महाव्योम में चेतना की व्याप्ति, विस्फारण (प्रसारण) और स्वच्छन्द' सञ्चरण की व्यञ्जना है।

अबाधित चेतना में 'लोक' अर्थात् आलोक का भुवन स्फुरित होता है।[११७५] स्वभावत: वह लोक परिव्याप्त अथवा विपुल है, क्योंकि विच्छुरण या प्रकीर्णन आलोक का धर्म है। अतएव उसकी पारिभाषिक

अथवा बृहत् की विपुल प्रगाढ़ चेतना से जीव को वञ्चित कर रखा है। इसलिए चेतना के निकट प्रार्थना; 'भिन्न विश्वा अप द्विष: परिबाध: जही मृध:' ८।४५।४०; 'साह्वाँ इन्दो परि बाधो अपद्वयुम् ९।१०५।६'– छिन्न-भिन्न करो (वृत्र शक्ति का) सारा विद्वेष, चारों ओर की बाधाओं को दूर करो, हनन करो उसकी समस्त अवज्ञा का; दलनकारी रूप में हे इन्दु; दूर करो चारों ओर की बाधा का दबाव, और सारी द्विधाएँ!

२. उरौ महाँ अनिबाधे ववर्ध...ऋतस्य योनाव अशयद् दमूना: ३।१।११

३. अनायतो अनिबद्ध: कथायं न्यङ्ङ् उत्तानो अव पद्यते न, कया याति स्वधया को ददश 'दिव: स्कम्भ: समृत: पाति नाकम् ४।१३।५ (१४।५; शौ. संहिता में ये सर्वाधार 'स्कम्भ' १०।७ सूक्त)। आधार की चिदग्नि उसी ऊर्ध्व के अनिबाध वैपुल्य में निरन्तर वृद्धि पर है। उपनिषद् में वही जीव. ब्रह्म का ऐक्य है।

११७५. लोक = रोक (तु. ऋ. ६।६६।६; दिवश् चिद् आ ते रुचयन्त रोका: ३।६।७)।। रोचन (मौलिक अर्थ 'दीप्ति' उससे 'आलोक का भुवन' अथवा 'ज्योतिर्लोक'; यह ज्योतिर्लोक द्युलोक में अथवा उसके भी उस पार, सङ्ख्या में तीन हैं १।१०२।८, २।२७।९, ५।२९।१, ४।५३।५, ९।१७।५, १।१४९।४, ५।६९।१, ८१।४, ३।५६।८.....; उनमें देवताओं का वास है १।१९।६, ३।६।८, १।१०५।५, ८।६९।३; वहाँ अमृत निगूढ़ है; उसका पता पाना कठिन है ३।५६।८)। और भी तु. ९।११३।९, उरुक्षेत्रम् ९१।६

संज्ञा 'उरुलोक' है।[११७६] जो कल्याणकृत, **अग्नि** उसके लिए रचते हैं आनन्दन (आनन्दप्रद) उरुलोक; बृहन् की चेतना में वर्द्धित होकर उनके साथ उसे रचते हैं सोम भी – यज्ञ के लिए। [१]जो इन्द्र हमारे सखा, पिता, पितृगणों में पितृतम, तारुण्य के विधाता हैं जो, यह उरुलोक रचते हैं वे उद्विग्न, उत्कण्ठित (यजमान) के लिए – सुसवनकृत वीर के लिए, जो उन्हें ही चाहता है उसके लिए, सहजता से जो प्रदान करता है प्रशंसा उसके लिए, तृत्सुओं के लिए। वृत्र अथवा अन्धकार का आवरण विदीर्ण करके वे रचते हैं यह आलोक का भुवन, अमित्रशील जनों को खदेड़ कर रचते हैं देवताओं के लिए। उनकी (सोम्य) मत्तता जो वीर्यवर्षी है. और स्पर्द्धा की विजयेच्छा, इस

११७६. ऋ. ५।४।११ आन्यं दिवो मातरिश्वा जमारा मथ्नादन्यं परि श्येनो अद्रे:, अग्नी षोमा ब्रह्मणा वावृधानो रुं यज्ञाय चक्रथुर् उलोकम् १।९३।६ (आध्यात्मिक दृष्टि से अग्नि ऊर्ध्वशिख अभीप्सा, जो आदित्य चेतना की अभिसारिका होकर भूलोक से द्युलोक की ओर जा रही है और सोम दिव्य आनन्द की धारा है जो द्युलोक से भूलोक की ओर निर्झरित होती है; दोनों एक दूसरे से सम्पृक्त हैं, यह समझाने के लिए उत्स को विपर्यस्त अथवा विलोम क्रम में दिखाया गया है; चेतना 'उरु' अथवा बृहत् न होने पर उत्सर्ग-साधना निरन्तर और सार्थक नहीं होतीं; अतएव यज्ञ के लिए, उरुलोक की रचना करना)।

१. ४।१७।१७ – ६।२३।३, ७, ७।२०।२, ३३।५ ('सुदास' एवं 'तृत्सु' यद्यपि संज्ञा शब्द हैं, तब भी निरुक्ति की दृष्टि से जो भीतर घुसना चाहता है, वह तृत्सु (<√तृद्, तु. क. २।१।१, 'प्रतर्दन' कौउ. ३।१; इस प्रकार नाम को आध्यात्मिक सङ्केत का वाहन करना एक प्राचीन रीति)। १०।१०४।१०, अपा.नुदो जनम् अमित्रयन्तम् उरु देवेभ्यो अकृणोर् उलोकम् १८०।३ (देवेभ्य: – बहुवचन विश्वदेवगण अथवा परिव्याप्त विश्वचैतन्य का बोधक है)। मदं .... वृषणं पृत्सु सासहिम् उलोक कृत्नुम् ८।१५।४ (उ लोक < उलु लोक।। उरुलोक, साम्य हेतु अक्षरच्युति का निदर्शन; अन्त में 'उ लोक' एक पदगुच्छ के रूप में रूढ़ हो गया, इसलिए कहीं-कहीं उसमें फिर 'उरु' विशेषण जोड़ा गया है। ऋक् पाद के आरम्भ में प्रयोग भी द्रष्टव्य ५।४।११, ८।१५।४, (३।३७।११)।

उरुलोक की रचयित्री है। फिर [२]इन्द्र विष्णु को, सोम को एवं वरुण को लेकर भी इस भुवन की रचना करते हैं। [३]देवता को पुकारने पर जो **बृहस्पति** हमारे जैसे लोगों के लिए भी आलोक के भुवन की रचना करते हैं, वे वृत्र का हनन करके, विदीर्ण करते हैं उसकी पुरी, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं। [४]पवमान् **सोम्** दिन के लिए प्रस्फुटित करते हैं ज्योति और लोक का वैपुल्य। [५]मैं यही उरुलोक चाहता हूँ जीवन में, वही प्राप्त करूँ मरण में भी।[११७७]

---

२. उरु यज्ञाय चक्रथुर् उ लोकं जनयन्ता सूर्यम् उषा सम् अग्निम् ७।९९।४ (अग्नि उषा एवं सूर्य क्रमशः अभीप्सा, प्रातिभ संवित् या चेतना एवं विज्ञान के प्रतीक हैं, तु. ३।३१।१५), इन्द्रा सोमा युवम् अस्माँ अविष्टम् अस्मिन् भयस्थे कृणुतम उ लोकम् २।३०।६ (भय वहाँ है जहाँ 'अंहः' अथवा चेतना की क्लिष्टता एवं 'बाधा' है; तु. तैउ. यदाहा एवैष एतस्मिन्न् उदरम् अन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति २।७, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन २।९), युवो राष्ट्रं बृहद् इन्वति द्यौर् यौ सेतृभिर् अरज्जुभिः सिनीथः, परि नो हेले.। वरुणस्य वृज्या उरुं न इन्द्रः कृणवद् उ लोकम् – हे बृहत् तुम्हारी राज महिमा द्युलोक तक विस्तारित हो, प्रेम की डोर के बन्धन से सबको बाँधो, वरुण की अवहेलना हमें छू न पाए, इन्द्र हमारे लिए उरुलोक की रचना करें (देवता की अध्यक्षता एवं प्रसाद का बन्धन; तु. छा. अथ य आत्मा स से तुर् विधृतिर् एषां लोकानाम् असंभेदाय ८।४।१, बृ. ४।४।२२) ७।८४।२

३. ६।७३।२ बृहस्पति, वाक् या मन्त्र की चेतना।

४. ९।९२।५ (तु. ८।४८।३; 'अहन्' अथवा दिन का प्रकाश सम्बुद्ध चैतन्य का प्रतीक, तु 'अहर्विद्' १।२।२, १५६।४, ८।५।९। २१)।

५. तु. ममान्तरिक्षम् उरुलोकम् अस्तु १०।१२८।२; इसके अतिरिक्त मृत्यु के पश्चात्ः अजो भागस् तपसा तं तपस्व....यास् ते शिवास् तन्वो जातवेदस् ताभिर् वहै. नं सुकृताम् उ लोकम् १०।१६।४

११७७. एक और समानार्थक संज्ञा 'वरिवः' है, ऋ. संहिता में अधिक प्रयुक्त है। तु. 'अंहो' राजन् 'वरिवः' पूरवे कः १।६३।७ (क्लिष्टता से विपुलता में साधक की मुक्ति)।

चेतना की आकाशवत् अनिबाध विपुलता की एक और संज्ञा बृहत् है। इस शब्द का प्रयोग क्लीब लिङ्ग में किया जाता है। 'ऋतं बृहत' ऋक् संहिता में एक पारिभाषिक पदगुच्छ है। जिससे एक साथ छन्द और वैपुल्य का बोध होता है। यह परमतत्त्व की व्यञ्जना का वाहक है[११७८] [१]**अग्नि** जिस देवगण का यजन करते हैं, वह इस 'ऋतं बृहत' का ही यजन है अथवा वे स्वयं ही 'ऋतं बृहत' है। [२]**सूर्य** भी वही है और [३]सोम भी वही हैं। यह पवमान सोम जिस शुक्र ज्योति को जन्म देते हैं, वह 'ऋतं बृहत्' है; उसके द्वारा ही ये कृष्ण तमिस्रा का हनन करते हैं। समुद्र पार कर वे चलते हैं लहर-लहर में – ज्योतिर्मय राजा 'ऋतं बृहत् हैं; वेग से दौड़ते चलते हैं मित्र और वरुण का धर्म मानकर – जब प्रचोदित होते हैं वे 'ऋतं बृहत्'। वे सहस्रधार वीर्य वर्षी है', पयोवर्द्धक हैं, देव जाति के प्रिय हैं; ऋत से उत्पन्न वे, ऋत में ही बढ़ते चल रहे हैं – ज्योतिर्मय राजा वे 'ऋतं बृहत'। वे सहस्रधार वीर्य वर्षी है', पयोवर्द्धक हैं, देव जाति के प्रिय हैं; ऋत से उत्पन्न वे, ऋत में ही बढ़ते चल रहे हैं – ज्योतिर्मय राजा वे 'ऋतं बृहत्। [४]एक स्थान पर विश्वदेवगण के पृथक् उल्लेख के साथ वैसा ही उल्लेख हुआ है 'ऋतं महत्....स्वर बृहत्' का।

११७८. तु. ऋतं सत्यम् (ऋ. १०।१९०।१)।

१. १।७५।५

२. ४।४०।५

३. ९।५६।१ पवमान् ऋतं बृहच् छुक्रं ज्योतिर् अजीजनत् कृष्णा तमांसि जङ्घनत् ९।६६।२४ तरत् समुद्रं पवमान ऊर्मिणा राजा देव ऋतं बृहत्, अर्षन् मित्रस्य वरुणस्य धर्मणा प्र हिन्वान ऋतं बृहत् १०७।१५ सहस्र धारं वृषभं पयोवृधं प्रियं देवाय जन्मने, ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे राजा देव ऋतं बृहत् १०८।८ ('पयः' आप्यायनी शक्ति, शुभ्र होने के कारण सत्वगुण का प्रतीक, तु. 'पराः कृष्णासु रुशद् रोहिणीषु' तीनों गुणों की स्पष्ट ध्वनि १।६२।९; ४।३।९)।

४. अदितिर् द्यावा पृथिवी ऋतं महद् इन्द्राविष्णू मरुतः स्वर बृहत्, देवाँ आदित्याँ अवसे हवामहे वसून् रुद्रान्त् सवितारं सुदंससम् १०।६६।४ (अनेक देवताओं में एक परम अद्वय तत्व की अभिव्यञ्जना; तु. १।१६४।४६, ३।५५ सूक्त)।

इस प्रसङ्ग में एक और संज्ञा द्रष्टव्य है; 'बृहद्दिन्' अथवा 'बृहद्दिव' (स्त्रीलिङ्ग में 'बृहद्दिवा') जो सहज ही आलोक दीप्त आकाश के वैपुल्य की याद दिलाना है। लोक अथवा भुवन के अर्थ में इस संज्ञा का कोई भी प्रयोग नहीं प्राप्त होता।[११७९] इसके अलावा [१]अग्नि और इन्द्र 'बृहद्दिव' हैं, सरस्वती 'बृहद्दिवा' हैं और उर्वशी भी वही। [२]एक अज्ञातनामा देवी बृहद्दिवा हैं जो अन्यत्र केवल माता के रूप में उल्लिखित हुई हैं। साथ ही 'पिता त्वष्टा का उल्लेख होने के कारण लगता है बृहद्दिवा आदि जननी की ही एक संज्ञा है। [३]फिर विश्वदेवगण बृहद्दिव हैं। यह संज्ञा इतनी अर्थवह है कि अन्त में वह [४]ऋषि के नाम में पर्यवासित हो गई। देवता का सायुज्य बोध ही जिस साधना का चरम लक्ष्य है – उसका यह श्रेष्ठ प्रमाण है। देवता भी बृहत्, द्युलोक भी बृहत् और मनुष्य भी बृहत्। बृहत् की इस भावना का निष्कर्षण हम उपनिषद् के ब्रह्मवाद में देखते हैं।

आकाश की तरह अनिबाध वैपुल्य में जो बृहत् हैं, वे सर्वत्र व्याप्त हैं। इसे समझाने के लिए देवता का एक विशेषण विश्वमित्र है।[११८०] [१]अग्नि विश्वमित्र हैं जिसे वे आच्छादित किए रहते हैं वह होता

११७९. किन्तु असमस्त प्रयोग द्र. ऋ. ६।२।४, ८।१।१८, १०।३।५....। मध्योदात्त एवं अन्तोदात्त दो रूप हैं, अन्तवाले में लोक और देवता एक।

१. ५।४३।१३ (= बृहस्पति), ४।२९।५, ५।४२।१२ (तु. 'बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, वाचस्पति' वाक् उस समय बृहती; वाक् और ब्रह्म का सहचार १०।११४।८) ५।४१।१९ ('उरु' अथवा वैपुल्य पर जिन्होंने अधिकार कर रखा है वे 'उर्वशी')।

२. २।३१।४; उत माता बृहद्दिवा शृणोतु नस् त्वष्टा देवेभिर् जनिभिः पिता वचः १०।६४।१० (तु. अनुरूप देव मिथुन अदिति-वरुण)।

३. १।१६७।२, २।२।९, ४।३७।३, ९।७९।१, १०।६६।८।

४. १०।१२०।८, 'एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वा. वोचत् स्वां तन्वम् इन्द्रम् एव' – स्वयं को ही उन्होंने इन्द्र के रूप में घोषित किया था १०।१२०।९।

११८०. < √इन्व् (व्याप्तौ) < √ इ+नु (गतौ), विश्वव्याप्त, विश्वगत; अतएव अन्तर्यामी, प्रचोदक, प्रेरक।

है निखिल (अग्नि) स्रोत: – सम्पद का आधार। [२]**मरुद्गण, इन्द्र, उषा, सविता, पूषा, ज्योति के द्वार,** [३]**द्यावा पृथिवी** [४]**विश्वदेवगण** सभी विश्वमित्र हैं। वे अन्तर्यामी रूप में सभी मनुष्यों के भीतर ही हैं, इसलिए देवता 'विश्वानर' हैं।[११८१]

जो सर्व व्याप्त, सर्वगत, सर्व नियन्ता हैं, वे ही सब कुछ हुए हैं– वे विश्वरूप हैं[११८२] इन्द्र रूप-रूप में प्रतिरूप हुए हैं, सब में

---

१. ऋ. ३।२०।३, विश्वं स धत्ते द्रविणं यम् इन्वसि ५।२८।२ (द्रविण < √ द्रु 'भागना (द्रुत गति से) गल जाना'; अग्नि 'द्रविणोदाः' योगाग्निमय शरीर की शिरा-शिरा में प्रवाहित होने के कारण)।

२. ५।६०।८ (तु. १।१०।८ 'विश्वव्यचसम् अवतं मतीनाम' – आच्छादित किए हुए हैं सब कुछ मनन के गहरे कुएँ के रूप में ३।४६।४) बृहद्रथा बृहती विश्वमिन्वोषा ज्योतिर् यच्छत्य् अग्रे अह्नाम् ५।८०।२ (विज्ञान की दीप्ति प्रस्फुटित करने के पूर्व प्रातिभ संवित् के उन्मेष का सुन्दर वर्णन), त्रिर् अन्तरिक्षं सविता महित्वना त्री रजांसि परिभूस् त्रीणि रोचना, तिस्रो दिवः पृथिवीस् तिस्र इन्वति ४।५३।५ (भूलोक, अन्तरिक्ष और द्युलोक अनुक्षण सावित्री दीप्ति से जगमग) 'धियं पूषा जिन्वतु विश्वमिन्वः' सब कुछ तो आच्छादित किए हुए हैं पूषा, वे धी अथवा ध्यान चेतना को स्फुरित करें २।४०।६, व्यचस्व उर्विया वि श्रयन्तां.....देवीर् द्वारो बृहतीर् विश्वमिन्वाः १०।११०।५ (प्रत्येक पद में व्याप्ति की भावना, भूलोक से द्युलोक तक एक के बाद एक ज्योति के द्वार, द्र. आप्री देवगण)।

३. १।७६।२, ३।३८।८, ९।८१।५, १०।६७।११

४. ३।४।५।

११८१. सविता ऋ. १।१८६।१, ७।७६।१; इन्द्र १०।५०।१ (उसके बाद ही है, वे 'विश्वभू' अर्थात् जो सब हुए हैं, तु. १०।९०।२)। अग्नि 'वैश्वानर'।

११८२. ऋ. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तद् अस्य रूपं प्रतिचक्षणाय, इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ६।४७।१८। आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूयञ्छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः, महत् तद् वृष्णो असु रस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ३।३८।४ ('असुर' देवता की महत्तम प्राचीन संज्ञा द्र. 'असुर' 'अमृतानि', प्रत्येक मर्त्य में निहित अज एवं अमृत ज्योतिर्भाग ६।९।४, १०।१६।४, इस अमृत को प्राप्त करना ही सब की दिव्य नियति – तु. भजन्त विश्वे देवत्वं नाम...अमृतम् १।६८।४, ८।४८।३; इस मन्त्र का देवता अनिरुक्त है,

उनका प्रतिबिम्ब है, उनका यह रूप दर्शनीय है, वे अपनी विचित्र माया से अनेक रूपों में प्रकट हो रहे हैं। अधिष्ठाता को घेरे हुए हैं सभी; विचित्र श्री का वस्त्र पहिने चल रहे हैं वे स्वयंप्रभ: वीर्यवर्षी असुर का वह नाम जो महत्; विश्वरूप होकर वे अमृत समूह में अधिष्ठित हैं। रूप-रूप में विचित्र हुए हैं मघवा (इन्द्र) – माया उनको अनेक रूपों में रचती-सिरजती है। वे विश्व भू हैं अर्थात् वे ही यह विश्व हुए हैं। [1]विशेष रूप से **त्वष्टा** विश्व रूप हैं; एवं उनके पुत्र भी (**त्वाष्ट्र**) विश्वरूप हैं। अर्थात् विश्व को देवता की आत्मसम्भूति अथवा विसृष्टि दोनों रूपों में ही देखा जा सकता है। [2]विश्व की उत्पत्ति अग्नि स्वरूप **वृषभ-धेनु** के एक मिथुन या युग्म

किन्तु इस सूक्त के देवता इन्द्र हैं; Geldner के कथन के अनुसार सूर्य अथवा द्यौ:, वह एक ही बात है)। रूपं रूपं मघवा वोभवीति मायां कृणवानस् तन्वं परि स्वाम् ३।५३।८ ('माया' उनकी प्रज्ञा एवं सृष्टिवीर्य, तु. निघ. ३।९, < √ मा निर्माणे > 'माता', तु. ऋ. ते मायिनो ममिरे सुप्रचेतस: १।१५९।४; आलोक फैल कर प्रकाश देता है, वही सृष्टि – धात्वर्थ में यही अनुषङ्ग है; 'स्वा तनु' स्वरूप; तु. क. १।२।२३)। १०।५०।१।

१. १।१३।१०। देवस् त्वष्टा सविता विश्वरूप: पुपोष: प्रजा: पुरुधा जजान ३।५५।१९ सर्वभूत का जनन, पोषण एवं सविता रूप में प्रचोदन अथवा प्रेरणा उनका ही कार्य है, तु. १०।१०।५; २।११।१९ (तु. १०।८।९; यही 'त्वाष्ट्र' वृत्र, नि. २।१६ रहस्यार्थ के लिए 'त्वष्टा')।

२. अग्निर् हि न: प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनु: १०।५।७ (अग्नि एक साथ पिता माता एवं जातक, अदिति भी वही, तु. १।८९।१०; पिता ही पुत्र होकर जन्मते हैं अतएव सृष्टा और सृष्टि एक १०।९०।२; धेनु-वृषभ की उपमा १।१४१।२, १६०।३, ३।३८।७, ५६।३, ४।३।१०; शौ. ९।४।३, ११।१।३४); त्रिपाजस्यो वृषभो विश्वरूप उत त्र्युंधा पुरुध प्रजावान्, त्र्यनीक: पत्यते माहिनाबान्तस रेनोधा वृषभ: शश्वतीनाम् ३।५६।३ ('उर:' वक्ष पुं चिन्ह और 'उध:' अथवा थन स्त्री चिन्ह – अर्थात् वे अर्द्धनारीश्वर; उनकी प्रजासृष्टि का भी यही मिथुन भाव; लक्षणीय सूक्त के ऋषि 'प्रजापति', विश्वामित्र उनके पिता एवं वाक् माता; फिर तो उपनिषद् की भाषा में विश्वामित्र ब्रह्मभूत); १।१६४।९ (एक प्रहेलिका :

से हुई – ये वृषभ 'विश्वरूप' हैं– उनके तीन वक्ष या हृदय, तीन स्तन (थन), तीन मुख हैं, वे शक्तिमान् हैं, सब के अधिपति हैं, समस्त धेनुओं के रेतोधा हैं, वे अनेक प्रकार से प्रजावान् हैं; यह धेनु 'विश्वरूपा' दक्षिणा (उषा के) (रथ की) धुरी में युक्त माता, उनका भ्रूण था आवर्तों के मध्य, तीन योजन दूर से उन्हें देखकर बछड़ा रँभया।[3] वृष रूप में बृहस्पति भी 'विश्वरूप'; सोम भी वही।[4] तात्पर्य यह कि वे एक ही सब कुछ हुए हैं।[5] उनकी इस विभूति का वर्णन पुरुष सूक्त में है – वे सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष, सहस्रपात् विश्वरूप **पुरुष** हैं, क्योंकि विश्व में जितने शिर, जितनी आँखें और जितने पाँव हैं, सभी उनके हैं, वे ही भूत-भविष्य यह सब कुछ हुए हैं, यह विश्वभूत उनका एक पाद है, उनका त्रिपाद द्युलोक में अमृत रूप में है।[6] देवता जब कहते हैं कि 'मैं ही सब कुछ हुआ हूँ' तब उनके साथ

'माता' = दिव्या धेनु अदिति, तु. गाम् अनागाम् अदितिम् ८।१०१।१५, १६; 'वत्स' अथवा गर्भ आधार में निहित चिदग्नि, अनेक स्थानों पर शिशु रूप में उल्लिखित १।९६।५, ३।१।४....; 'दक्षिणा' उषा देवतागण उसके रथ में १।१२३।१, ५, और उसके अगले हिस्से में यह माता; तो फिर माता पृथिवी के निकट स्थित अन्धकार, उसके उस पार अन्तरिक्षचारिणी उषा, उसके भी उस पार द्युलोक की शुभ्र द्युति; सूर्योदय के पहले का चित्र – धूसर, लोहित और शुक्ल अथवा तम:, रज: एवं सत्त्व क्रमश: तीन रङ्ग अथवा गुण; यहाँ के आवर्त में अवरुद्ध शिशु क्रन्दन करने लगा आलोक के लिए अथवा माँ के लिए, जो जिस प्रकार यहाँ है उसी प्रकार भुवन् के उस पार परम व्योम में है)।

३. ३।६२।६; ६।४१।३।

४. एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ८।५८।२।

५. १०।९०।१, २, ३, ८१।३। (इस क्षेत्र में यूरोपीय पण्डितों की PRIMEVAL GIANT की कल्पना हास्यास्पद है: तु. आदितिर् द्यौर् अदितिर् अन्तरिक्षम् अदितिर् माता स पिता स पुत्र:, विश्वे देवा अदिति: पञ्चजना अदितिर् जातम् अदितिर् जनित्वम् १।८९।१०।

६. अयं अस्मि सर्व: १०।६१।१९ (अग्नि की उक्ति) ७५।५ अङ्गिरा अग्नि के ऋषि।

एक होकर मनुष्य भी कह सकता है कि मैं ही सब हुआ हूँ; अतएव **अङ्गिरागण** भी विश्वरूप हैं।

यहाँ हम देखते हैं कि ज्योतिर्मय बृहत्व ही देवता का स्वरूप है – यही वैदिक देववाद की मूल विषय-वस्तु है। ये देवता सर्वत्र हैं; क्योंकि वे ही सब कुछ हुए हैं – जिस प्रकार बाहर, उसी प्रकार के भीतर। बाहर में हम उन्हें वस्तुपरक दृष्टि से देवता रूप में देखते हैं और अन्तर में आत्मपरक दृष्टि से आत्म रूप में देखते हैं। इन्द्रिय प्रत्यक्ष में जो अधिभूत है, वही चिन्मय प्रत्यक्ष में अधिदैवत एवं अध्यात्म है।[११८३] जिस प्रकार बाहर सूर्य देखता हूँ; यह दृष्टि व्यावहारिक है। इसमें रूप ही देखता हूँ; किन्तु रूप में किसी महिमा का आविष्कार नहीं करता हूँ, उसके पीछे कोई भाव नहीं देखता हूँ। पुनः देखता हूँ कि [१]यह सूर्य उसी विश्वतश्चक्षु का ही चक्षु है अथवा यह सूर्य वे ही हैं, जो स्थावर-जङ्गम या जड़-चेतन के आत्मा हैं; यह दृष्टि पारमार्थिक एवं अधिदैवत है, यह कवि की दृष्टि है। देखता हूँ कि वही तो प्रथम प्रकाश है, वही आविष्ट हुआ है मेरी दृष्टि में, उसी आँख से ही मेरी आँखें; उसी से अन्तर में भी देखता हूँ सूर्य का जन्म। यह दृष्टि भी पारमार्थिक है, किन्तु यह ऋषि की अध्यात्म दृष्टि है। इस प्रकार बाहर-भीतर एक चिन्मय महिमा की जो प्रत्यक्षता है, वही वैदिक देववाद की भित्ति है।[२]

११८३. 'अधिदैवत' और 'अध्यात्म' इन दो संज्ञाओं का आस-पास प्रयोग उपनिषदों में प्रचुर है जो बाह्य एवं आन्तर दृष्टि के समन्वय का निदर्शन है। ब्राह्मण में प्राचीनतम प्रयोग ऐ. ९।२।

१. ऋ. १०।९०।१३; १।११५।१।

२. प्रथमच्छद् अवराँ आ विवेश १०।८१।१; तु. सूर्यं चक्षुर् गच्छतु...१६।३; अन्तर्दर्शन तु. 'पतङ्गम अक्तम् असुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः, समुद्रे अन्तः कवयो वि चक्षते मरीचीनां पदम् इच्छन्ति वेधसः' – असुर की (परम पुरुष की) माया द्वारा अभिव्यक्ति पक्षी को (सूर्य को) मर्मवेत्ता हृदय द्वारा, मन द्वारा देखते हैं; (हृदय) समुद्र की गहराई में रश्मियों के धाम को चाहते हैं मेधावीगण १०।१७७।१; समस्त सूक्त ही द्रष्टव्य; और भी तु. १।१६४।१, ३।३८।६, ५।६२।१, ८।५९।६...। लक्षणीय, वेद में 'अत्र' अधियज्ञ दृष्टि से वेदि में, अध्यात्म दृष्टि से हृदय में।

२. देवता के रूप, गुण और कर्म

देवताओं के स्वरूप के बाद उनके रूप, गुण एवं कर्म के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम रूप का वर्णन।

आपततः वेद में अनेक देवता हैं, किन्तु तब भी हम देखते हैं कि देवताओं में परस्पर वैषम्य की अपेक्षा साम्य की दृष्टि ही अधिक विकसित है। जहाँ अनेक का मेला है, वहाँ रूप में भेद दिखाई पड़ता है और भाव में अभेद का सङ्केत मिलता है। जिस प्रकार सारे मनुष्य ही मनुष्य हैं – यह भाव की दृष्टि है, किन्तु रूप की दृष्टि से दो में से कोई भी समान नहीं। भाव एक है, उसका ही बहुधा रूपायन – यही विसृष्टि का नियम है। देवताओं के सम्बन्ध में भी इसी नियम का प्रयोग करते हुए ऋषि कहते हैं 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' अर्थात् विप्रगण एक सत् स्वरूप की ही अनेक प्रकार से घोषणा करते हैं।[११८४]

११८४. ऋ. १।१६४।४६ देवता जब एकदेव तब वे 'दिव्य सुपर्ण' अर्थात् द्युलोक के आलोक-पाखी अथवा आदित्य; जब वे अरूप, अद्वैत तत्त्व, तब 'एकं सत्'। इस ऋक् में परम भूमि में पहुँचने के दो क्रमों का उल्लेख है : एक क्रम है :- अग्नि- इन्द्र- मित्र- वरुण (आकाश, शून्यता); दूसरा क्रम है :- अग्नि- मातरिश्वा- आदित्य- यम। पहले क्रम की दृष्टि वाह्य या वस्तुनिष्ठ है और दूसरे क्रम की आभ्यन्तर या आत्मनिष्ठ है। कठोपनिषद् में दूसरा क्रम आभासित; वैवस्वत, मृत्यु या यम वहाँ प्रवक्ता हैं, वे उसी अनिरुक्त लोक के सम्बन्ध में बतलाते हैं जहाँ कुछ भी नहीं पहुँच पाता। २।२।१५ वहाँ अपने भीतर पैठकर पहुँचा जा सकता है और वरुण की शून्यता में स्वयं को विकीर्ण करके पहुँचना पड़ता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में 'भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता' ३।६ संहिता के अनुसार 'यमं पश्यासि वरुणं च देवम्' अर्थात् मृत्यु के बाद कोई देखता है देवता यम को या फिर कोई वरुण को (ऋ. १०।१४।७)। वस्तुतः एक को देखना ही दूसरे को देखना है।

वेद का तथाकथित बहुदेववाद वस्तुतः अद्वैतवाद की ही उपसृष्टि है। देवता चाहें जिस रूप में ही दिखाई दें, लेकिन ऋषि उनके स्वरूप को, कभी भी नहीं भूलते। चेतना के स्वोत्तरण द्वारा देवता का सायुज्य लाभ जहाँ परम पुरुषार्थ है[११८५] वहाँ ऐसा होना ही स्वाभाविक है और उस कारण, देवता के स्वरूप का प्रज्ञान सबसमय अग्रस्त या पकड़ से बाहर रहने के कारण वैदिक देवताओं में रूप भेद अधिक तीक्ष्णता के साथ व्यक्त नहीं हुआ।[११८६]

देवताओं के स्वरूप के सम्बन्ध में अब तक हमने जो बतलाया है उससे इसके कारण का अनुमान करना बहुत मुश्किल नहीं लगता। स्पष्टतः, देवता नित्य प्रत्यक्ष हैं, आँखों के सामने उन्हें आकाश रूप में देखता हूँ, आदित्य रूप में देखता हूँ, देखकर मेरी चेतना कवि चेतना की तरह बृहत् हो रही है, उद्दीप्त हो रही है। चेतना के इस विस्फारण

११८५. संहिता में प्रतीकी भाषा में वही है पृथिनी स्थानीय अग्नि की ऊर्ध्व शिखा का आश्रय लेकर द्युस्थानीय सूर्य में पहुँचना। वही है अन्धकार के उस पार उत्तरज्योति को देखते-देखते उत्तम ज्योति अथवा सूर्य में जाना (ऋ.१।५०।१०; सामवेद में आरण्यक गान के परिशिष्ट में महानाम्नी पर्व में यह उद्याम साम की योनि; इससे ही इसके महत्त्व का बोध होगा) ब्राह्मण में यही लोकान्तरण, उपनिषद् में उत्क्रान्ति। देवता के जितने रूप ही क्यों न हों, आँखों के सामने हम एक सूर्य को देखते हैं। एक का दर्शन ही वैदिक अद्वैतवाद का मूलाधार है।

११८६. द्र. नि. २।८; शाकपूणि ने सङ्कल्प किया, 'सभी देवताओं को मैं जानूँगा।' उनके निकट देवता उभयलिङ्ग होकर प्रकट हुए। शाकपूणि ने उन्हें न पहचान पाने पर पूछा, 'तुम कौन? जानना चाहता हूँ।' तु. ऋ. 'सा चित्तिभिर् नि हि चकार मर्त्यं विद्युद् भवन्ती प्रति वव्रिम् औहत' – देवता ने झलक-झलक कर जब मर्त्य को चौंधिया दिया विद्युत् बनकर, तभी अपने प्रकाश का आवरण सामने से हटा लिया १।१६४।२९। केनोपनिषद् में वही ब्रह्म का आदेश, वे मानो विद्युत् के उन्मेष और निमेष हैं। (४।४) देवता का स्वरूप प्रकाश अथवा ज्योति होने के कारण ही रूपरेखा की तीक्ष्णता उनके मध्य गौण है।

या विस्तार एवं उद्दीपन में मैं जिस सायुज्य[११८७] का अनुभव करता हूँ, वही मेरा पुरुषार्थ है। मैं उस समय बृहत अथवा ब्रह्म होता हूँ। मेरा प्रज्ञान ब्रह्म है, मेरा यह आत्मा ब्रह्म है तथा उस आदित्य में जो पुरुष है और मुझ में जो पुरुष है, दोनों एक हैं।[११८८] देवता की जिस किसी विभूति को हम इष्ट रूप में ग्रहण क्यों न करें, उसका पर्यवसान उसी आदित्य द्योतना में होता है, क्योंकि सभी आदित्य हैं अर्थात् अदिति पुत्र हैं।[११८९] इष्ट देवता की प्राप्ति का अर्थ है उस परम ज्योति को प्राप्त करना।[११९०]

११८७. सायुज्य देवता के साथ नित्ययोग, भेदाभेद भावः तु १११६।२० (= मु. ३।१।१, श्वे. ४।६ एक ही देह वृक्ष पर दो पक्षी)। इस अनुभव की मधुर अभिव्यक्ति : 'त्वये. द इन्द्र युजा वयं प्रति ब्रुवीमहि स्पृधः, त्वम् अस्माकं तव स्मसि' – तुम्हारे सङ्ग ही युक्त रहकर हे इन्द्र, हम प्रतिस्पर्द्धियों को जवाब देंगे, तुम हमारे हो, हम तुम्हारे हैं (ऋ. ८।९२।३२)। और भी तुलनीय, 'त्वया युजा वनेम तत्'– तुम्हारे सङ्ग युक्त रहकर हम तत्स्वरूप को अवश्य प्राप्त करें। (८।९२।३१)

११८८. द्र. ऐउ. ३।३ मा. २, तैउ. २।८

११८९. अदिति अखण्डिता अबन्धना वही आद्याशक्ति हैं, जो सब कुछ हुई हैं। ऋ. अदितिर् द्यौर् अदितिर अन्तरिक्षम् अदितिर् माता स पिता पुत्रः, विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर जातम् अदितिर् जनित्वम् १।८९।१०। सारे देवता अदिति के पुत्र रूप में आदित्य हैं : तु १०।७२।५, ८।९। यज्ञ का लक्ष्य है आदित्य अथवा सूर्य को प्राप्त करना : तु महाव्रत में शूद्र को पराजित करके ब्राह्मण द्वारा एक गोल सादा चमड़ा छीन लेना – वह सूर्य का प्रतीक (तैब्रा. के मतानुसार : दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः, असुर्यः शूद्रः १।२।६)

११९०. तु. ऋ. ८।४८।३, १।५०।१०, १६४।४६ जहाँ दिव्य सुपर्ण सूर्य ही सब देवता हैं; हंसवती ऋक् ४।४०।५; ५।६२।१ अनिरुक्त भूमि का वर्णन जहाँ सूर्योदय एवं सूर्यास्त में सूर्य के अश्व मुक्त होते हैं; सूर्य की सहस्र किरणें जहाँ एक साथ संहत या घनीभूत हैं, जहाँ देवता के समस्त आश्चर्य के श्रेष्ठ आश्चर्य वही एक है; यत्र ज्योतिर् अजस्रम् ९।११३।७ (तु. १०।१३९।१); श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योति : १०।१७०।३।...। संहिता में सूर्यजय की चर्चा अनेक स्थलों पर है।

इस प्रकार देवता की उपासना और ज्योति की उपासना दोनों के एक हो जाने का एक परिणाम यह हुआ कि वैदिक साधना में देवता की मूर्ति का विशेष प्राधान्य नहीं रहा। संहिता की स्पष्ट उक्ति है कि सारे देवता 'अमूर' अर्थात् अमूर्त अथवा चिन्मय हैं।[११९१] यह संज्ञा विशेष रूप से अग्नि का विशेषण है।[११९२] उसका तात्पर्य कुछ इस तरह हो सकता है : यज्ञ भूमि में देवता को कोई देख नहीं पाता; इसके अलावा जो अग्नि देवताओं को यहाँ ले आते हैं अथवा उनके निकट हव्य वहन करते हैं उन्हें आँख से देखा जा सकता है, किन्तु जानना होगा कि भौतिक अग्नि देवता नहीं, देवता का प्रतीक मात्र है; देवता अग्नि अमूर्त हैं। उनका 'अमूर' विशेषण उसका ही स्परण दिलाता है।[११९३]

११९१. तु. ऋ. १।६८।४, ७२।२, अप्रमूराः ९०।२, ४।५४।२, ७।४४।५, 'ये स्था निचेतारो अमूराः' – अन्तश्चेतन हैं अमूर्त रूप में १०।६१।२७ मित्र-वरुण भी वही ७।६१।५ वरुण के चर या दूत भी ६।६७।५

११९२. ऋ. १।१४१।१२, ३।१९।१, २५।३, ४।४।१२, ६।२, ११।५, ६।१५।१७, ७।९।३, ८।७४।७, १०।४।४, ४६।५। 'पुरन्धि' भी अमूर ४।२६।७; साधारणतः ये स्त्री देवता एवं भग के साथ युक्त नाम का अर्थ है, 'जो पूर्णता को आहित या प्रतिष्ठित करती हैं' (तु 'लक्ष्मी'); यहाँ यह शब्द पुंल्लिङ्ग है, इससे इन्द्र का बोध होता है - क्योंकि यह सूक्त इन्द्र का है।

११९३. अमूर यास्क के मतानुसार 'अमूढ़' नि. ६।८। उदाहरण : ऋ. मूरा अमूरा न वयं चिकित्वो महित्वम् अग्ने त्वम् अङ्ग वित्से १०।४।४; व्याख्या करते हुए कहते हैं 'मूढ़ा वयं स्मः अमूढ़स् त्वम् असि, न वयं विद्मो महत्वम् अग्ने त्वं तु वेत्थ।' मन्त्र में चिति एवं विद्या का प्रसङ्ग है, इसलिए यह अर्थ यहाँ अधिक उपयुक्त है। Geldner ने सर्वत्र यास्क द्वारा किए गए अर्थ को ही ग्रहण किया है। तो फिर 'मूर' <√ मूह। किन्तु घोषवत् महाप्राण वर्ण का अघोष अल्पप्राण होना स्वाभाविक नहीं। अतएव कोई-कोई विद्वान् कहते हैं कि यहाँ व्यतिक्रम औपभाषिक है। कोई-कोई 'मूर' का अर्थ 'मर्त्य' बतलाते हैं <√ मृ.।। मृ. तु. ऋ. अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि ७।१०४।१५। फिर 'मूर'।। 'मूल' तु. ऋ. अनु दह सहभूरान् क्रव्यादः १०।८७।१९। किन्तु मूढ़, मर्त्य अथवा मूल इनमें कोई अर्थ ही 'मूरदेव' के पक्ष में सुसङ्गत नहीं। मोह और मृत्यु दोनों का

देवता अमूर्त हैं, किन्तु अरूप अथवा निराकार नहीं। यास्क के प्रसङ्ग से इसके अर्थ का परिष्करण अथवा स्पष्टीकरण होगा।

निरुक्त के सप्तम अध्याय में देवताओं के आकार के सम्बन्ध में एक विचार है। प्रारम्भ में ही मान लिया गया है कि देवताओं का

लक्षण ही जड़त्व है। चित् या चेतन एवं जड़ का अन्तर यही है कि एक हवा और रोशनी की तरह हलका एवं व्याप्ति धर्मा है और एक स्थूल एवं घनीभूत, सङ्कुचित। इसी घनीभाव के बोधक के रूप में एक धातु है √मूर्। ✲ स्क >च्छ विकरण युक्त होने पर उससे हम पाते हैं √मूर्च्छ, उससे हमारा परिचितं शब्द 'मूर्च्छा' जिसका लक्षण वही जड़त्व एवं घनीभाव है। 'च्छ' यह विकरण अत्यन्त दुर्लभ नहीं: तु. √गम् ।। गच्छ, यम् ।। यच्छ, वस ।। उच्छ् (वैदिक), अस् ।। ✲ अच्छ् (प्राकृत 'अच्छइ' है), हवृ ।। हूर्छ (छा. २।१९।२), ऋ ।। ऋच्छ्...। इसके अलावा इस √'मूर' से ही 'मूर्ख' (उणादि ५।२२) अथवा जड़बुद्धि, 'मूर्ख'। तु. **GK** m÷rós stupid। अतएव 'मूर' शब्द का यौगिक अर्थ घनीभूत, जड़, स्थूल, मूर्त। इसी अनुषङ्ग में ही यास्क का 'मूढ़' अर्थ रूढ़ है। इस रूप में स्वीकार करने पर ही सर्वत्र सङ्गति बैठती है। 'देवता अमूर' इसका यौगिक अर्थ होता है– वे अविग्रह हैं, अमूर्त हैं और रूढ़ अर्थ होता है– इसी कारण चिन्मय, प्रज्ञानमय। 'मानुष मूर' यहाँ रूढ़ अर्थ 'जड़बुद्धि' (तु. ४।२६।७, ८।२१।१५, ४५।२३, १०।४६।५, ९५।१३)। मनुष्य प्रत्यक्षतः सविग्रह है, इस कारण उसके पक्ष में, रूढ़ि का प्रयोग ही सार्थक है, और देवता के पक्ष में अविग्रह होने के कारण यौगिक अर्थ की सार्थकता है। ऋक् संहिता ३।४३।६ में सुमार्जित इन्द्राश्वों को 'मूराः' कहा गया है: यहाँ 'मूढ़' अर्थ बिल्कुल ही अनुपयुक्त है, क्योंकि देवाश्वों का साधारण लक्षण है कि वे 'मनोजव' 'मनोयुज्' 'वचोयुज्' हैं जिससे उनकी क्षिप्रता एवं निपुणता का ही बोध होता है। मूढ़ता का नहीं। यहाँ ऋषि अश्वों को मानो आँखों से देख पा रहे हैं इसलिए वे 'मूराः' (वृ. दर्शं नु विश्वदर्शतं दर्शं रथम् अधिक्षमि १।२५।१८); अथवा 'मूर' का अर्थ स्थूलकाय (तु. पीवो अश्वाः ४।३७।४)। शौ. संहिता में 'मूर' मूर्च्छा १।२८।३ (४।१७।३)। तु. ता. 'जार्यया मूरः' जरा या वार्द्धक्य में जड़ या अथर्व २५।१७।३) मूर > मूल, वहाँ भी स्थूलत्व एवं घनीभाव की व्यञ्जना है।

आकार है, किन्तु प्रश्न है कि वह आकार मनुष्य जैसा है कि नहीं। एक पक्ष का कथन है, हाँ, आकार है, क्योंकि उनका स्तवन किया जाता है, उनका आवाहन किया जाता है, ठीक उसी तरह जैसे सचेतन सत्ता का। मनुष्य की तरह ही मन्त्र में उनके अङ्ग, अनुषङ्ग एवं कर्म का वर्णन किया जाता है। दूसरे पक्ष का कथन है, नहीं, ऐसा नहीं है; अग्नि, वायु, आदित्य ये देवता हैं, किन्तु इनका आकार तो मनुष्य की तरह नहीं है हालाँकि मन्त्र में उनका वर्णन सचेतन सत्ता अथवा मनुष्य की ही तरह है। यास्क ने दोनों पक्षों के मत को स्वीकार करते हुए कहा कि जिन देवताओं को हम प्रत्यक्ष देखते हैं, वे वस्तुतः अपुरुषविध हैं अर्थात् वे मनुष्य जैसे नहीं हैं; किन्तु पुरुष विध होकर वे ही अपुरुषविध के कर्मात्मा अथवा अन्तर्यामी हैं। इस सिद्धान्त को मानकर ही देवताओं के आख्यानों की रचना की गई है।[११९४]

स्पष्ट दिखाई देता है कि अपुरुषविधवादियों की दृष्टि में सचेतन और अचेतन सब स्वरूप ही देवता हैं, उन पर विग्रहवत्ता आरोपित करने की कोई आवश्यकता नहीं। और पुरुषविधवादियों की दृष्टि में ये सब के अधिष्ठातृ चैतन्य अथवा अधिष्ठाता हैं किन्तु पुरुष विग्रह हैं।[११९५] अर्थात् देवता की अधिभूत आकृति और उनके स्वरूप के बीच ये एक भाव मूर्ति स्वीकार करते हैं। किन्तु उपासना के समय उस भाव-विग्रह को कोई मूर्त रूप देने की आवश्यकता ये लोग भी महसूस नहीं करते हैं। जिस प्रकार अग्नि की उपासना के समय प्रत्यक्ष अग्नि का आश्रय ग्रहण करके अपुरुषविधवादी का अनुभव सीधे विशुद्ध चैतन्य में उत्तीर्ण होगा, और पुरुषविधवादी का अनुभव दोनों के बीचोबीच अग्नि के एक पुरुष-विग्रह की कल्पना करेगा। किन्तु कोई भी, प्रत्यक्ष अग्नि की जगह, अग्नि का कोई अधिभूत विग्रह स्थापित नहीं करेगा। दोनों के ही देवता वस्तुतः 'अमर' अथवा अमूर्त

११९४. नि. ७।६।७।

११९५. द्र. नि. अपि वा अपुरुषविधानाम् एव सत्यं कर्मात्मान एते स्युः ७।७। वहाँ दुर्ग के अनुसार 'अपि वा अपुरुषविधानाम् एव सत्यम्' पृथिव्यादीनां 'कर्मात्मान एते स्युः' – अपुरुष विधाः क्षिति जलादयः, परे तु अधिष्ठातारः पुरुष विग्रहाः। एवम् उभयोः प्रत्यक्षागमयोर् अप्यानुग्रहः कृतो भविष्यति।

हैं। यास्क ने दोनों मतों को मिलाकर अध्यात्म चेतना के सम्बन्ध में गहरे ज्ञान का परिचय दिया है। जो कुछ इन्द्रियग्राह्य है, उसके माध्यम से उद्बुद्ध एवं उद्दीप्त चेतना यदि अरूप में उत्तीर्ण होकर वहाँ से रूप का उत्सारण देखती है, तो निश्चय ही उसका दर्शन तात्त्विक हो सकता है। उस समय हम भाव से वस्तु में उतर आते हैं, और वस्तुरूप के भीतर भाव का स्फुरण देखते हैं। वैदिक ऋषि कवि का देवदर्शन इसी प्रकार का है।

व्यक्ति जिस रूप में ही देवता की उपासना करे, उसमें पुरुषविधता की छाप पड़ेगी ही। वैदिक ऋषियों ने इसे सहज भाव से स्वीकार कर लिया है। संहिता में परम देवता की एक संज्ञा 'पुरुष' है। आरम्भ में पुरुष मनुष्य को ही समझा जाता था, उसके बाद यह संज्ञा परम देवता में प्रयुक्त हुई। संहिता के पुरुष-सूक्त के आधार पर जिस पुरुषमेधयज्ञ का विवरण शतपथ ब्राह्मण में है[११९६], उसके द्रष्टा 'पुरुष नारायण' और देवता आदित्य हैं। सर्वानुक्रमणी में पुरुष सूक्त के ऋषि हैं, नारायण और देवता पुरुष। पुरुषमेध के फलस्वरूप मर्त्य यजमान आजानदेवत्व प्राप्त करते हैं अर्थात् सूर्य हो जाते हैं।[१] उनके कण्ठ से उस समय उच्चारित होता है, यह ब्रह्मघोष; [२]"मैंने इस महान् पुरुष को

११९६. १३।६।१-२; वा. ३०, ३१

१. वा. तस्य त्वष्टा विदधद् रूपम् एति, तन् मर्तस्य देवत्वम् आजानम् ३१।१७। त्वष्टा रूपकार, यहाँ आदित्य का विशेषण (तु. ऋ. ३।५४।१९ १०।८४।१)। द्र. महीधरः 'अग्रे' प्रथमं 'मर्त्यस्य' मनुष्यस्य सतस् तस्य पुरुषमेधयाजिनः 'आजान देवत्वम्' मुख्यं देवत्वं सूर्य रूपेण। द्विविधाः देवाः, कर्मदेवा आजान देवाश्च। कर्मणा उत्कृष्टेन देवत्वं प्राप्ताः कर्मदेवाः। सृष्ट्यादौ उत्पन्नाः आजानदेवाः। ते कर्मदेवेभ्यः श्रेष्ठाः, 'ये शतं' कर्मदेवानाम् आनन्दाः। स एक आजानदेवानाम् आनन्दः' (बृ. ४।३।३३) इति श्रुतेः सूर्योदय आजान देवाः। किन्तु प्रति तुलनीय. तैउ. ते ये शतम् आणान जानां देवानाम् आनन्दाः, स एको देवानाम् आनन्दः २।८। वहाँ स्वाभाविक देवत्व की अपेक्षा कर्म अथवा तपस्या के फलस्वरूप देवत्वलाभ को श्रेष्ठ बतलाया गया है। (तु. ऋ. १०।१५४ सूक्त)।

२. वा. वेदा. हम् एतं पुरुषं महान्तम् आदित्य वर्णं तमसः परस्तात् तम एव विदित्वा इति मृत्युम् एति नाः न्यः पन्था विद्यते अयनाय ३१।१८। यह

जान लिया है, तमिस्रा के उस पार आदित्य वर्ण है जो; उन्हें जानकर ही मनुष्य मृत्यु को पार करता है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।' यहाँ हम देखते हैं कि परम देवता एवं आदित्य सब की ही संज्ञा पुरुष है।

उपनिषदों में इस पुरुष का अमूर्त एवं मूर्त दो रूपों में ही परिचय प्राप्त होता है। जिस प्रकार कहीं बतलाया गया है[११९७] कि यह दिव्य पुरुष अमना, अप्राण और अमूर्त है, उनका रूप किसी की भी दृष्टि के समक्ष नहीं रहता अथवा उन्हें कोई आँख से नहीं देख सकता। फिर उसी प्रकार बतलाया गया है, [१]वे आदित्य में हिरण्मय, हिरण्यश्मश्रु हिरण्यकेश, आनख[२] सुवर्ण पुरुष, उनका रूप कल्याणतम है। पुनः वह पुरुष ही [३]हृदय में अङ्गुष्ठमात्र अधूमक ज्योति, [३]रवितुल्य रूप है [४]आदित्य में जो पुरुष है और यह पुरुष एक हैं।

पुरुष की मूर्तता और अमूर्तता का एक स्पष्ट विवरण बृहदारण्यकोपनिषद् में है। वहाँ ब्रह्म के मूर्त एवं अमूर्त दो रूप बतलाए गए हैं। जो मूर्त, वह मर्त्य स्थावर एवं सत् है; जो अमूर्त, वह अमृत, जङ्गम एवं त्यत् है। अधिदैवत दृष्टि से मूर्त का रस या सार तपन, आदित्य है और अध्यात्म दृष्टि से चक्षु है; उसी प्रकार अमूर्त का रस क्रमशः आदित्य मण्डलस्थ पुरुष एवं अक्षिपुरुष; इस पुरुष का रूप बिजली की कौंध जैसा, कमल जैसा, अग्निशिखा जैसा, इन्द्रगोप कीट जैसा, पाण्डु वर्ण मेषलोम जैसा अथवा हल्दी-रंगे वस्त्र जैसा है; जिसके सम्बन्ध में 'नेति नेति' आदेश है। स्पष्ट है कि अमूर्त पुरुष की मूर्ति यह प्रत्यक्ष दृष्टि आदित्य है; तथा पुरुष के अमूर्त होने पर भी उनका रूप है, किन्तु उस रूप का सङ्केत अरूप की ओर है

'महापुरुष' आदित्य मण्डलस्थ। आदित्यवर्णं, स्वप्रकाशम् (उव्वट) आदित्यस्येव वर्णो यस्य तम, उपमान्तराभावात् स्वोपयम् (महीधर)।

११९७. मु. २।१।२, श्वे. ४।२०

१. छा. १।६।६ (बृ. ४।३।११), ई. १६

२. क. २।१।१२, १३, ३।१७, श्वे. ३।१३ (तैउ. १।६।१)

३. श्वे. ५।८।

४. तैउ. २।८, ई. १६।

अर्थात् वह रूप अपुरुषविध है, किन्तु छान्दोग्योपनिषद् में आदित्य पुरुष का रूप पुरुषविध है।[११९८]

सङ्क्षेप में यही कहा जा सकता है कि वेदपन्थी आर्य देवताओं की उपासना करने पर भी आरम्भ में मूर्ति की उपासना नहीं करते थे। देवता की मूर्ति नहीं इसलिए उपासना के लिए स्थायी देवायतन नहीं था। श्रौतयज्ञ के लिए अस्थायी यज्ञशाला तैयार की जाती, जहाँ देवता की कोई मूर्ति नहीं रहती थी; किन्तु उनका ध्यान किया जाता— यह पहले ही हमने बतलाया है।

जो देवता को नहीं मानते थे उनके प्रति देववादी समुदाय स्वाभाविक कारणों से ही विरूप भाव रखता था; उन सबकी निन्दासूचक संज्ञा है 'अदेव' अनिन्द्र 'देवनिद' और 'अयज्ञ'। एक और वर्ग के प्रति विरूपता थी, जो 'अनृतदेव' अर्थात् मिथ्या देवता के उपासक थे। जो 'मूरदेव' अथवा 'शिश्नदेव' वही इन अनृतदेवों के अन्तर्गत आते हैं। इन दो संज्ञाओं को लेकर वितर्क की गुंजाइश है।

देव विरोधी 'अदेव' कुल तीन प्रकार के हैं।[११९९]। एक प्रकार के अदेव वे लोग जो देवता को मानते नहीं, उन्हें लेकर तर्क करते हैं; सम्भवतः वे देवव्रत नहीं बल्कि अन्यव्रत एवं अयाज्ञिक हैं; वे जिस प्रकार आर्येतर दास हो सकते हैं उसी प्रकार आर्य भी हो सकते हैं। ये ही '[१]देवनिद् अथवा देवनिन्दक, यज्ञविरोधी [२]'अयज्ञ' 'अयुज्यु' अथवा

११९८. द्र. बृ. २।७, तु. छा. ११।६।६ लक्षणीय औपनिषद् पुरुष के स्वरूप ज्ञान के दो महावाक्य: याज्ञवल्क्य का 'नेति नेति' (बृ. ४।२।४; तु. २।३।६ जिसका सङ्केत विश्वातीत अक्षर पुरुष की ओर है और शाण्डिल्य का 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा. ३।१४ जिसका सङ्केत विश्वात्मक सर्वमय पुरुष की ओर है। शाण्डिय से ही वेदान्त में परिणामवाद, भक्तिवाद, भागवतों का पुरुषोत्तमवाद।

११९९. ऋ. अदेवो यद् अभ्यौहिष्ट देवान् ६।१७।८ (तु. मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने ७।१०४।१४; ८।७०।११; दास आर्यो वा...अदेव: १०।३८।३ उनकी एषणा सफल न ही होती ८।७०।७।

१. १।१५२।२; २।२३।८, ६।६१।३ (क्रमानुसार बृहस्पति एवं सरस्वती को कहा जा रहा है उनका विनाश करने के लिए; दोनों ही वाक् के देवता

'अयज्वा' हैं। ये सब [३]'अनिंद्र' – इन्द्र को देवता नहीं कहते, स्पर्द्धापूर्वक प्रश्न करते हैं कि 'कहाँ है वह? देवता को मान कर भी जो [४]'देवहेलन' – देव की अवज्ञा का अपराध करते हैं वे भी इसी दल के हैं।

किन्तु वास्तविक अदेव[१२००] वृत्र अथवा अज्ञान की आच्छादक शक्ति एवं उसके [२]अनुचर हैं। हम जिसे देवद्रोही, अयाज्ञिक एवं

हैं; तु. तन्त्र की बगला मुखी, असुर की जीभ खींच कर बाहर निकाल रही हैं)।

२. 'न्य् अक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीरँ अश्रद्धाँ अवृद्धाँ अयज्ञान, प्रप्र तान् दस्यूँर् अग्निर् विवाय पूर्वश् चकारा.पवाँ अयज्यून न्' – जिनमें सङ्कल्प नहीं, श्रद्धा नहीं, वृद्धि नहीं, यज्ञ नहीं, वाणी जिनकी विद्वेषपूर्ण है, जो ग्रन्थिल (कृपण) हैं उन पणियों को तुमने दबा रखा है, उन दस्युओं को वैश्वानर ने दूर कर दिया है, आदिम होकर अन्तिम कर दिया है अयाज्ञिकों को (अर्थात् उनको पीछे छोड़कर पुरोधा हुए हैं) ७।६।३, १०।१३८।६। अयज्युः १।१२१।१३, १३१।४, अयज्वाः १।३३।४, ५ (अयज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः, ये सब अव्रत), १०३।६, २।२६।१ ('देवयन् इद् अदेवयन्तम् अभ्य. सत....यज्वेद् अयज्योर् वि भजाति भोजनम्'), ८।३१।१५-१८ (यजमानः...अभीद् अयज्वनो भुवत्' अयाशिक का अधः पतन), १०।४९।१।

३. ७।१८।१६, १०।२७।६, ४८।७, ५।२।३ ('अनुक्थ, मन्त्र हीन) – नेन्द्रं देवम् अमंसत १०।८६।१, २।१२।५ (समस्त सूक्त इस प्रश्न का उत्तर)।

४. ७।६०।८, १०।१००।७, वाक् अथवा मन द्वारा देवहेलन १०।३७।१२ देवहेलन और छलना ६।४८।१० देवविमुखीनता २।२३।१२, देवता का व्रतलङ्घन १।२५।१ अयाज्ञिकों के दिन कटते हैं वीर्यहीन होकर ७।६१।४, यः...सस्त्य् अव्रतो अनुष्वापम् अदेवयुः (व्रतहीन जो देवता को चाहता नहीं, उसे नींद ही नींद आती है) ८।९७।३।

१२००. तु. ऋ. ३।३२।६ (वृत्र अदेव अथवा अदिव्य शक्ति, वह दिव्य अप् या प्राण की धाराओं को घेर कर आधार में सोया हुआ है, अतः जीवन मरुभूमि की तरह अनुर्वर)। तु. १।१७४।८ (२।२९।७), १०।१११।६। ऐसे लोग या समुदाय जो देवता को नहीं चाहते हैं ९।६३।२४, अदेवीः विशः ८।९६।१५, अनायुधासो (अतएव हृत वीर्य) असुरा अदेवाः ९६।९।

अन्यव्रत के रूप में जानते हैं, यह 'अमानुष' वृत्र उसका प्रोचक है। आधार की पर्वत कन्दरा में वह छिपा रहता है, दस्यु की तरह आक्रमण करने के लिए – उस समय पर्वत मानो उसका सखा हो। किन्तु एक दिन यह पर्वत ही उसे दूर फेंक देता है, उसके विनाश को अनायास करने के लिए। जिस प्रकार [२]वरुण की 'देवी' या ज्योतिर्मयी माया है, [३]उसी प्रकार वृत्र की 'अदेवी, माया है; [४]उससे उसके अनुचर कभी देवता की तरह कान्तियुक्त रूप में दिखाई देते हैं। [५]आधार की गहराई में ये कुण्डली मार कर रहते हैं; [६]उस अदिव्य अन्धकार से देवता लुक-छिपकर आगे बढ़ते जाते हुए आँख खोल कर देखते हैं और अमृतत्व प्राप्त करते हैं।

---

१. अन्यव्रतम् अमानुषम् अयाज्वानम् अदेवयुम् अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः ८।७०।११ (इस वृत्र का नाम 'शम्बर' है; वह पर्वतवासी है, तु. २।१२।११, ३।५३।१, उसकी चर्चा बाद में करेंगे।

२. तु. 'माया वां मित्रावरुणा दिविश्रिता सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रम् आयुधम्' – हे मित्रवरुण द्युलोकाश्रित तुम दोनों की माया है वह सूर्य ज्योति जो विचरण करती है चमचमाते आयुध के रूप में ५।६३।४। यहाँ देव माया प्रज्ञा ज्योति है।

३. तु. ५।२।९, ७।१।१०, ९८।५, १०।१११।६। 'वरुण' और वृत्र दोनों ही <√ वृ ढँकना, घेर कर रखना; पुरुष सूक्त के पुरुष भी 'भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्य् अतिष्ठद् दशाङ्गलम् १०।९०।१)।

४. अदेवयून् तन्वा शशुजानान १०।२७।२। उपनिषद् में देवराज इन्द्रं और असुरराज 'विरोचन' दोनों कान्तियुक्त हैं, दोनों झिलमिलाते हैं (छा. ८।७।२); तु. सप्तशती में एक ही अर्थ में शुम्भ-निशुम्भ। यही शुभ्र वृत्र है जिसका रजतमय पुर अन्तरिक्ष में और हिरण्मय पुर द्युलोक में है (ऐ ब्रा. १।२३)। अध्यात्म दृष्टि से विद्या का तमः (तु. ई. ९)।

५. तु. निधीर् अदेवान् १०।१३८।४।

६. अग्नि की उक्तिः अदेवाद् देवः प्रचता गुहा यन् प्रपश्यमानो अमृतत्वम् एमि १०।१२४।२।

इसके अतिरिक्त अध्यात्म दृष्टि से अदेव हैं हमारे ही चित्त की[१२०१] क्लिष्टता, द्विधा, कार्पण्य, बाधा, द्रोह, स्पर्द्धा अथवा वे सब रन्ध्र जिनके भीतर से अदिव्य शक्ति आधार में आकर डेरा डाल देती है। इनके साथ युद्ध करना ही हमारा पुरुषार्थ है।[१] परिणामतः उस युद्ध में देवशक्ति की ही विजय होती है।[२]

इस अदिव्य शक्ति की प्ररोचना या प्रोत्साहन से ही मनुष्य 'अनृत देव' होता है। ऋषि वसिष्ठ की शपथोक्ति में उसका उल्लेख है[१२०२] एवं उसी प्रसङ्ग में 'मूरदेवों' का भी उल्लेख है। ऋषि कहते हैं,[१२०३] 'हे इन्द्र, पुरुष जादूगर को मारो तुम, और मारो उस स्त्री जादूगरनी को, जो अपनी माया की बड़ाई करते हैं; गर्दन मरोड़ कर विनाश करो मूर देवों का, सूरज को उगते हुए वे देख न पाएँ।' और एक स्थल पर है : [१]"हे अग्नि नष्ट कर दो अपने ताप से ज़ादूगरों को, रक्षः

१२०१. तु. ऋ. अंहः ९।१०४।६, द्वयुः वही (तु. १०५।६), अरातिः ८।११।३, परिबाध ५।२।१०, ९।१०५।६, द्रुह ३।३१।९ (तु. अनिन्द्रा द्रुहः १।१३३।१, ४।२३।७), स्पृध् ६।२५।९, ४९।१५ 'पुरो न भिदो अदेवीः' १।१७४।८....।

१. तु. ३।१।१६, ७।९३।५....।

२. तु. २।२२।४, २६।१, ६।१८।११, २२।११, ८।५९।२, ७१।८, १०।३७।३...। वेद. पुराण इस देवासुर सङ्ग्राम के प्रसङ्ग से भरे पड़े हैं। अध्यात्म दृष्टि से 'देवासुरम् अभूद् युद्धं पूर्णम् अब्दशतं पुरा' (सप्तशती २।२) अर्थात् मनुष्य के पूरे जीवन में प्रकाश और अन्धकार का युद्ध जारी है।

१२०२. ऋ. यदि वा.हम् अनृत देव आस मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने' – यदि मैं अनृत देव हूँ या झूठे देवताओं को मानता हूँ अथवा झूठमूठ तर्क द्वारा देवताओं का खण्डन करता हूँ, तो अपराधी हूँ अग्ने। ७।४।१४, अर्थात् मैं वैसा नहीं हूँ)। तु. दर्शन का 'अपोह' अपर पक्ष का खण्डन करने के लिए उद्भावित तर्क (तु. गीता. मत्तः स्मृतिर् ज्ञानम् अपोहनं च १५।५)। तु. अदेवो यद् अभ्यौहिष्ट देवान् ६।१७।८। अप्यूह, अभ्यूह, अपोह सभी समानार्थक हैं।

१२०३. ऋ. इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानम् उत स्त्रियः मायया शाशदानाम्, विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन् सूर्यम् उच्चरन्तम् ७।१०४।२४।

१. परा शृणीहि तपसा यातुधानान् परा. ग्ने रक्षो हरसा शृणीहि, परा.र्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि परा. सुतृपो शोशुचानः १०।८७।१४ इन असुतृपों के साथ.

(ब्रह्मद्वेषी) को नष्ट कर दो अपने तेज से, अपनी शिखाओं से नष्ट कर दो मूरदेवों को, प्राणों की तृप्ति चाहते हैं जो उनको भस्म कर दो प्रज्वल हो कर।' फिर इसी सूक्त में ही है कि [२]"लोहे के दाँत हैं तुम्हारे हे जातवेदा; प्रज्वलित होकर लपटों द्वारा चाट जाओ जादूगरों को; जीभ द्वारा लपेट लो मूरदेवों को, क्रव्यादों अथवा मांसभोजियों को पकड़ कर मुँह में भर लो।' समस्त सूक्त रक्षोहा अग्नि के उपलक्ष्य में 'यातुधान' अथवा जादूगरों के विरुद्ध आक्रोश है।

प्रश्न उठता है कि ये मूरदेव है कौन? ब्राह्मण ग्रन्थों में उनका कोई भी उल्लेख नहीं, निरुक्त में कोई व्याख्या नहीं। वेंङ्कटमाधव अर्थ करते हैं 'मरण क्रीड राक्षस', और सायण बतलाते हैं 'मारणक्रीड़' यास्क द्वारा दिया गया 'मूर' शब्द का अर्थ किसी ने ग्रहण नहीं किया। आधुनिक पण्डितों में अनेक ही 'मूर्ति उपासक' अर्थ करते हैं। निरुक्ति की दृष्टि से यही अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है[१२०४]। जिन दो सूक्तों में इस शब्द का उल्लेख है, वे दोनों ही 'राक्षोघ्न' अथवा रक्षोविनाशन सूक्त हैं। जिसमें मूर देवों के साथ यातुधान क्रव्याद, ब्रह्मद्विष और किमीदिनों का उल्लेख है। यातुधानों का उल्लेख ही अधिक है। ये सभी ब्रह्मद्वेषी हैं एवं इनकी एक साधारण संज्ञा है 'रक्षः'। [१]एक ही मन्त्र में मूरदेव एवं यातुधानों का उल्लेख होने पर भी दोनों संज्ञाओं

तु. 'न तं विदाथ य इमा जजाना, अन्यद् युष्माकम् अन्तर बभूव, नीहारेण प्रावृता जल्प्या चा.ऽसुतृप उक्थशासश् चरन्ति – उन्हें तुम सब जानते नहीं, जिन्होंने ने यह सब कुछ उत्पन्न किया है और कुछ होकर तुम्हारे भीतर स्थित हैं। कुहरे से ढँके हुए, अथवा मोहान्धकार से आच्छादित बकवास करते फिरते हैं वे मन्त्रोच्चार करने वाले जो केवल प्राण की तृप्ति चाहते हैं (१०।८२।७; Geldner ने इस शब्द का अर्थ) 'प्राणहारी' किया है, किन्तु यह अर्थ केवल यम के कुत्तों के सम्बन्ध में ही उपयुक्त हो सकता है (१०।१४।१२)।

२. अयो दंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानान् उप स्पृश जातवेदः समिद्धः, आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व क्रव्यादो वृक्त्व्य अपि धतस्वासन १०।८७।२।

१२०४. तु. अनुरूप 'अनृतदेव शिश्नदेव'; 'मातृदेव पितृदेव, आचार्य देव, अतिथि देव'; (तैउ. १।११), सर्वत्र बहुव्रीहि।

१. तु. शौनक संहिता १।८, १।२८, ६।३२।

का पृथक् होना ही सम्भव है। मूरदेवों का कोई विशिष्ट परिचय नहीं, किन्तु एक स्थान पर कहा जा रहा है कि 'वे सूर्योदय न देख पाएँ।' वैदिक वाग्धारा में सूर्योदय न देख पाने का एक सामान्य अर्थ होता है मृत्यु। किन्तु उसका मार्मिक अर्थ है आदित्य द्युति को प्राप्त न करना। जो आदित्य की उपासना नहीं करते वे अपने भीतर सूर्योदय भी नहीं देखते। ऋक् संहिता में एक स्थान पर[२] तीन प्रजाओं के नष्ट होने का प्रसङ्ग है, क्योंकि वे अर्क अथवा आदित्य में निविष्ट नहीं है यानी आदित्य के प्रति उनके चित्त में एकाग्रता नहीं है। स्पष्टः ये अवैदिक जन हैं मूरदेव उनके अन्तर्गत हो भी सकते हैं, क्योंकि वे वेदपन्थ के अनुसार आदित्य की उपासना नहीं करते। याज्ञिकों द्वारा मूर्ति पूजा का विरोध करने के बावजूद[१२०५] वैदिक जनों में किसी प्रकार की देवमूर्ति

---

२. ८।१०१।१४। शब्रा. में 'अर्क' अग्नि; तु. ऋ. ३।२६।७; तै ब्रा. 'अर्क' आदित्य ३।७।९।९। शौनक संहिता में 'कृत्या कृत मूरी' का उल्लेख है (५.३१.१२)। 'कृत्या' जादू-टोना; 'मूरी' मूली वृक्ष के मूल को लेकर जादूगरी करते हैं, यहाँ यह अर्थ ही सम्भव है। किन्तु मूरी और मूरदेव अलग हैं वह शौनक संहिता के उस सूक्त से ही समझा जा सकता है। मूरदेवों के साथ 'किसी दिनों' का उल्लेख द्रष्टव्य (ऋ. ७।१०४।२, २३; और भी तुलनीय. १०।८७।२४; शौनक संहिता. १।७।१, ३।२८।३) यास्क व्याख्या 'किम इदानीम् इदं किम इदं इति वा चरति, पिशुनः' (नि. ६. ११)। छिद्रान्वेषी। इस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य 'कीकट' यास्क का मन्तव्य 'कीकटा नाम देशो अनार्यनिवासः कीकटाः किंकृताः किं क्रियाभिर् इति प्रेप्सा वा' (नि. ६।३२)। द्र. ऋ. 'किं ते कृणवन्ति कीकटेषु गावो ना शिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम् ३।५३।१४। इसी कीकट में 'अञ्जनासुत' (मायासुत; अर्थात् मायावादी?) बुद्ध का जन्म (भा. १।३।२४) 'किमीदिन' और 'कीकट' दोनों संज्ञाओं का अभिप्रेत क्रमशः अदेव एवं अयज्ञ।

१२०५. **आर्य-संस्कृति सर्वमान्यतया मूर्ति-पूजा की अविरोधी है।** 'भारत' के पड़ोसी ईरान में विरोध सर्वाधिक प्रबल था। ईसा पूर्व पञ्चम शताब्दी में HERODOTUS, प्रथम शताब्दी में STRABU, ईसा की द्वितीय शताब्दी में CLEMENS ALEXANDRINUS, तृतीय शताब्दी में ORIGEN एवं DIOGENES LAERTIUS इत्यादि सब ने एक स्वर से ईरानियों के इस विद्वेष का साक्ष्य प्रस्तुत किया है। प्राचीन ईरानी साहित्य में भी उसका

परिचय सुस्पष्ट है : 'दएवयन्न' (=देवयज्ञ) 'यातु' अऊज् देस्त-बुतपरस्ती' (पहलवी 'मूर्ति और प्रति कृति की उपासना') निन्दित है। अवेस्ता का 'दएव' ऋक् संहिता का रक्षः स्थानीय है। सम्भवतः यह विद्वेष पुरुषविधता के विरोध में था, जो हमें इस देश के मुनिपन्थ में भी देखने को मिलता है। किन्तु यह सब वैदिक युग के बहुत बाद की बात हैं। सङ्क्षेप में कह सकते हैं कि मूर्तिपूजा को लेकर भारत की तरह ईरान में भी एक विरोध का स्वर मुखर था। इस दिशा में शायद जरथुस्त्र के प्रभाव से वहाँ विरोध का स्वर और भी तीव्र था। आर्यों में मूर्ति पूजा के प्रति यूनानी सर्वापेक्षा आग्रही थे, यह एक अप्रत्याशित घटना है। पण्डितों का अनुमान है कि यूनानियों के पूर्व की MINOAN और MYCENAEAN संस्कृति के प्रभाव का परिणाम था। किन्तु ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार यूनानियों ने देवमूर्ति को बिल्कुल मनुष्य बनाकर रख दिया, उस प्रकार भारत में नहीं हुआ। इस देश में – यहाँ तक कि मिस्र और बैबिलॅन में भी देवमूर्ति प्रतीकधर्मी रही है। आख़िरकार यूनान के प्रभाव से रोमनों में भी मूर्ति-उपासना का प्रवेश हो गया था। आर्यों की अन्यान्य शाखाओं में मूर्ति-पूजा का प्रचलन प्राचीन काल में नहीं था, यह बाद में दिखाई पड़ा है। आर्येतर जातियों में शुरू से ही बैबिलॅन और मिस्र में उसका प्रचलन था। जान पड़ता है छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित 'आसुरी उपनिषद्' में इन सब देशों के आचार-व्यवहार को लक्ष्य किया गया है (८।८।५) इसके अलावा हीब्रू (यहूदी) धर्म में ईरान के धर्म जैसा ही विद्वेप का भाव रहा है और वही ईसाई एवं इस्लाम धर्म में सङ्क्रमित हुआ। भारत में बौद्ध धर्म में बुद्धमूर्ति की उपासना आरम्भ में नहीं थी, बल्कि यूनानी प्रभाव के कारण वह पहले गान्धार में दिखाई देती है। उसके बाद बौद्ध देव-देवियों की मूर्तियाँ देश में छा जाती हैं। जैनी भी बौद्धों ही जैसे। आधुनिक भारत में प्रायः सभी हिन्दू मूर्ति-उपासक हैं। भारतीय मूर्ति उपासना की पद्धति अत्यन्त ही प्राचीन जान पड़ती है, क्योंकि सिन्धुघाटी की सभ्यता में भी उसका निदर्शन प्राप्त हुआ है। मूर्ति पूजा के सम्बन्ध में सङ्क्षिप्त सारगर्भित आलोचना के लिए द्रष्टव्य HERE Images & Idols।

का प्रचलन होना असम्भव नहीं। ऋक् संहिता के दो मन्त्रों में[१२०६] कई एक विद्वान् यह मानते हैं कि देवमूर्ति का उल्लेख है। एक मन्त्र है – 'दश धेनु देकर कौन मेरे इन्द्र को खरीदेगा? जब वृत्रों का वध हो जाएगा, तब फिर मुझे वापस दे जाएगा।' अधिक मूल्य मिलने पर भी तुम्हें छोड़ूँगा नहीं वज्रधर – सौ में भी नहीं, हज़ार में भी नहीं, दश हज़ार में भी नहीं।' किन्तु दोनों मन्त्रों में मूर्ति ख़रीदने-बेचने की बात नहीं जान पड़ती। पहले मन्त्र का इन्द्र ऋषि की साधना द्वारा अर्जित इद्रबल हो सकता है जिसका प्रयोग वे दश धेनु पाने पर यजमान के अनुकूल करने के लिए राज़ी है। यह मन्त्र जिस प्रसङ्ग में प्राप्त होता है,[१] उससे इस व्याख्या का समर्थन प्राप्त होता है। दूसरे मन्त्र में क्रय-विक्रय का प्रसङ्ग केवल उपमा है अर्थात् 'देवता मेरे ही रहेंगे, किसी भी मूल्य पर उन्हें नहीं छोड़ूँगा', उसमें यह भाव ही व्यक्त हुआ है।[२] कल इन दो मन्त्रों से संहिता में मूर्तिपूजा का प्रतिपादक कोई भी ज़ोरदार प्रमाण नहीं मिलता।

१२०६. 'क इमं दशभिर् ममेन्द्र क्रीणाति धेनुभिः, यदा वृत्राणि जङ्घनद् अथैनं में पुनर् ददत् ४।२४।१० महे चन् त्वाम् अद्रिवः परा शुल्काय देयाम्, न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शत य शतामघ ८।१।५।

१. इसके पूर्व के मन्त्र में ही इन्द्र का कथन है कि 'भूयसा वस्नम् अचरत् कनीयो अविक्रीतो अकानिषं पुनर्यन्, स भूयसा कनीयो ना. रिरेचीद् दीना दक्षा वि दुहन्ति प्र वाणम् – बड़े के लिए कम मूल्य दिया! प्रसन्न हुआ; मैं बिना बिके ही फिर चला जा रहा हूँ। अधिक मूल्य देकर वह कम मूल्य से आगे नहीं गया। चतुर बुद्धू ऐसा करके ही व्यवसाय को नष्ट कर देते हैं। 'दीना दक्षा' तु. ४।५४।३, १०।२।५; 'वाण'।। वणिज्; 'विदुह' दुहकर भी कुछ न पाना, तु. ७।५।७। मन्त्र का तात्पर्य है – देवता को सब देना होगा, 'पणि' अथवा बनिया होने से काम नहीं चलेगा। देवता को देना एवं उनसे पाना (गीता की भाषा में 'परस्पर भावन' ३।११।१२) क्रय विक्रय के साथ तुलना द्र. वा. ३।४९। सायण ने इस प्रसङ्ग में सम्प्रदायविदों के कुछ श्लोकों का उल्लेख किया है। द्र. Geldner। मूल सूक्त के साथ दोनों मन्त्रों की सङ्गति नहीं, अस्तु, सम्भवतः संयोजन (Grassmann)।

२. अस्माकं अस्तु केवलः १।७।१०, १३।१०।

किन्तु याज्ञिकों की भावना में भी हम जहाँ देवता की पुरुषविधता का इतना विपर्यय देखते हैं, वहाँ जन साधारण के बीच वह अवश्य विग्रह का आकार लेगा, यह कुछ असम्भव नहीं। षड्विंश ब्राह्मण में 'देवतायतन' और 'दैवत प्रतिमा' का उल्लेख प्राप्त होता है[१२०७] हालाँकि यह ब्राह्मण अधिक प्राचीन नहीं है। गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र में इन सब का अनेक उल्लेख है।[१] पाणिनि के सूत्र में 'अर्चा' अथवा देवता की 'प्रतिकृति' का उल्लेख लक्षणीय है। देखने में आता है कि देवताओं की मूर्तिपूजा किसी-किसी की जीविका है, इसके अतिरिक्त देव मूर्तियाँ बिकती भी हैं।[२] किन्तु जान पड़ता है कि

१२०७. देवतायतनानि कल्पन्ते, दैवत प्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्विद्यन्त्य् उन्मीलन्ति निमीलन्ति ५।१०।

१. द्र. मानव गृह्यसूत्र. 'यद्य् अर्चा (प्रतिमा) दह्येद वानश्येद् वा प्रपतेद् वा प्रभजेद् वा प्रहसेद् वा प्रचलेद् वा....एताभिर् जुहुयात्....इति दशाहुतयः २।१५।६; बौधायंन गृह्य सूत्र. अथो. पनिष्क्रम्स बाह्यानि 'चित्रियाणि' अभ्यर्च्य....स्वान् गृहान् आयाति देवकुल या देवमन्दिर के बाहर; सम्भवतः सार्वजनिक) २।२।१३। देवायतन का उल्लेखः लौगाक्षि गृह्यसूत्र. १८।३, गौतम गृ. ९।६६, कौषीतकि गृ. १।१८।४, काठक गृ. १८।३; वासिष्ठ धर्मसूत्र. ११।३१ विष्णुध. ९१।९, शांखायन गृ. ४।१२।१५, वैखानस गृ. ४।११। ११, १२: १३....। देवकुल (=देवमन्दिर) : कौषीतकि गृ. २।७।२१, शांखायन गृ. २।१२।६, काठक गृ. १९।३। देवकुलायतनः कौषतकि गृ. ३।११।१५। देवता की अर्चाः विष्णु ध. २३।३४, ६३।३७, (वासुदेव की), ६५।१। देवालयः अग्निवेश्य गृ. २।५।४ : २, वैखानस ध. ३।२।८, ६।६, विष्णुध. ९१।१०....।

२. 'अर्चा' : ५।२।१०१, मूर्तिपूजक 'आर्च'। 'प्रतिकृति': इवे प्रतिकृतौ ५।३।९६, जीविकार्थे चा. पण्ये ९९। तत्र पतञ्जलि का महाभाष्यः अपण्य इति उच्यते। तत्रेदं न सिद्ध्यति' शिवः स्कन्दः विशाख इति। किं कारणम्। मौर्यैर् हिरण्यार्थिभिर् अर्चाः प्रकल्पिताः। भवेत् तासु न स्यात्। यास् त्वे.ता सम्प्रति पूजार्थास् तासु भविष्यति। वासुदेव शरण अग्रवाल इससे निर्धारित करते हैं कि पाँच प्रकार की देवमूर्तियाँ थीं : सार्वजनिक, देवयातन की, देवलक ब्राह्मणों की, बिक्री के लिए, मौर्यों की, पतञ्जलि के समय में प्रचलित (द्र. पाणिनि कालीन भारतवर्ष, चौखम्बा सिरीज़, वाराणसी, पृ.

मूर्तिपूजा के प्रति विपरीत भाव तब भी था। मनुस्मृति में हम देखते हैं कि मूर्तिपूजक 'देवलक' ब्राह्मण को देव-पितृकार्य में वर्जन करने का विधान है।[3] श्रौत सूत्र में मूर्ति उपासना का प्रसङ्ग नहीं है, किन्तु गृह्य सूत्र में है – यह प्रणिधान योग्य है। श्रौतसूत्र का कार्य परलोक से सम्बन्धित है, और गृह्यसूत्र का इहलोक से। उसका अधिकार एवं प्रभाव समग्र समाज में व्याप्त है। इसी समाज का एक बहुत बड़ा भाग[4] 'स्त्रियों, शूद्रों एवं द्विज बन्धुओं का है, जिनको त्रयी श्रुति गोचर नहीं।' उनके बीच ही मूर्तिपूजा विकसित होकर धीरे-धीरे अभिजात-वर्ग की भी स्वीकृति प्राप्त करती है। पहले ही हमने बतलाया है कि बहुत कुछ को ही आत्मसात् करके अपना बना लेना ब्राह्मण्य-धर्म की एक विशेषता है। इस प्रसङ्ग में भक्ति धर्म, अवतारवाद, और देवमानव की पूजायें सभी स्मरणीय हैं। इनके साथ विग्रह अथवा मूर्ति का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। उपनिषद् में हम देखते हैं कि मनुष्य देवता हो रहा है और इतिहास पुराण में देवता मनुष्य के मध्य अवतरित हो रहे हैं। पहला जिस प्रकार दु:साध्य है, दूसरा उसी प्रकार सहज है। मूर्तिपूजा का मूल भी यही है।

उसके बाद का मामला 'शिश्न देवों' को लेकर है। ये सब भी निश्चय ही अनृत देवों के अन्तर्गत हैं। ऋक् संहिता के दो स्थलों पर इनका उल्लेख है। एक मन्त्र वसिष्ठ का है, भूरदेवों के प्रति जिनकी विपरीत भावना का परिचय हमें पहले ही प्राप्त हुआ है। ऋषि कहते हैं, 'हे इन्द्र! जादू विद्या कहीं हमें प्रेरोचित न करे, या वे सब घोषणाएँ जिनमें है विद्या का अभिमान, हे प्रबलतम; वे अभिभूत करें उसी जीव को जो हमारे विकट अरि (शत्रु) हैं, ये शिश्नदेव कहीं हमारे

३५६-५८।) ए. पी. बनर्जी-शास्त्री कहते हैं कि मौर्य के अर्थ में राजवंश का नहीं बल्कि 'मूर' अथवा मूर्ति से सम्बन्धित कारबार करने वालों का बोध होता है (ICONISM IN INDIA, Indian Historical Quarterly, XII, PP. 335-41)। यह बात विचारणीय है।

३. ३।१५२।

४. तु. भा. १।४।२५।

ऋत में प्रवेश न कर पाएँ[1208] अन्त की उक्ति में ऋत के साथ अनृत का विरोध स्पष्ट ही सङ्केत दे रहा है कि शिश्नदेवों को ही अनृतदेव की सञ्ज्ञा दी गई है। जान पड़ता है, ऋक् के चारों चरण में चार प्रकार के देवविरोधियों की चर्चा की जा रही है। एक प्रकार के विरोधी वे यातुधान अथवा जादूगर हैं जिनका पेशा जादू-टोना और अपदेवताओं को लेकर है। पूर्वोल्लिखित **राक्षोघ्न**-सूक्त में[1] इनके प्रति वसिष्ठ की विरक्ति तीव्रता के साथ व्यक्त हुई है। अन्यत्र वे स्पष्ट ही कहते हैं, [2]'हे अग्नि मैं देवताओं का आह्वान करता हूँ – जादू द्वारा नहीं; ऋतसिद्ध करके ही धी को निहित करता हूँ (उनमें)।'[3] दूसरे प्रकार के देवविरोधियों में देवनिन्दक तार्किक हैं, **राक्षोघ्न**, सूक्त में इनके प्रति भी कटाक्ष है। तीसरे प्रकार के वे हैं जिनकी संज्ञा 'अरि' – देवताओं को देने में जिनमें कुण्ठा का भाव है जो 'विषुण' अथवा

१२०८. न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभि:, स शर्धद् अर्यो विषुणस्य जन्तोर् मा शिश्नदेवा अपि गुर् ऋतं न: ७।२१।५। 'वन्दना' <√ वद्।। वन्द्, घोषणा करना (तु. ऋ. तवाहं शूर रातिभि: प्रत्या.यं सिन्धुम् 'आवदन्' १।११।६), बृहद् 'वदेम' विदथे सुवीरा: २।१।१६। अनेक सूक्तों की टेक) उससे 'वाद, उद्य' जैसे ब्रह्मवाद, ब्रह्मोद्य। उसका ही विकार है 'जल्पि' जल्पना, कुतर्क (तु. न्याय के बाद, जल्प एवं वितण्डा) ऋ. में जो निन्दित; तु. 'मानो निद्रा ईशत् मो. त जल्पि:' – निद्रा कहीं मुझे वश में न करे, न करे कहीं जल्पना ८।४८।१४; कुहरे और जल्पना से जिनका चित्त आच्छादित १०।८२।७। 'वेद्या'।। विद्या, तु. ३।५६।१; किन्तु यहाँ बाद का मत ही निन्दा के अर्थ में; तु. सत् और असत् को लेकर 'वचसी परस्पृधाते' – बातों की लड़ाई ७।१०४।१२; इन्द्र 'हन्त्य् आ, सद् वदन्तम्' – असद्वादी का विनाश करते हैं १३। सर्वत्र एक ही अनुषङ्ग।

१. द्र. १५, १६, २०, २२, २४...।

२. ह्वयामि देवाँ अयातुर् अग्ने साधन्न ऋतेन धियं दधामि ७।३४।८।

३. ७।१०४।१४ ये सब द्रोघवाच: – इनकी बातों से केवल विद्रोह का स्वर फटता है। प्रति तु. 'अभि वो देवीं धियं दधिध्वं प्र वो देवत्रा वाचं कृणुध्वम्' – देवताओं के भीतर निहित करो अपनी दिव्य धी को अपनी वाक् को आगे बढ़ा दो उनकी ओर ७।३४।९।

'द्वयावी' – कभी भले, कभी बुरे, अतएव द्विधाग्रस्त। और चौथी अन्तिम श्रेणी इन शिश्नदेवों की है।

दूसरा मन्त्र है :[१२०९] 'वे (इन्द्र) पङ्गु नहीं ऐसे घोड़े पर चढ़कर जाते हैं [१]वज्रजय के लिए; सूर्य को छीनकर अपना बनाने के फेर में घेर लिया (असुर को) जब अगम देवताने शतदुवारी के वित्त को अभिभूत किया [२]चित्ररूप द्वारा, मारा शिश्न देवों को।' यह समस्या जटिल है, पृष्ठभूमि में वृत्रवध की कहानी है। वृत्र आवरणकारी अविद्या शक्ति की साधारण संज्ञा है। एक वृत्र शम्बर है, जो शतदुवारी दुर्ग में रहता है। हमारा यह आधार वही शतदुवारी दुर्ग है, जिसके भीतर दैवी सम्पद् असुर की पकड़ में अवरुद्ध है। इन्द्र अपनी वज्रशक्ति से इस अवरोध को तोड़ कर उस आलोक वित्त का उद्धार करते हैं। उस समय चिदाकाश में सूर्य के प्रकाशित होने पर देवता की अनुपम अनिर्वचनीय ज्योतिर्मूर्ति दिखाई पड़ती है। यहाँ मूल असुर शम्बर है और शिश्नदेव अनुचर हैं।

१२०९. स वाजं याता ऽपदुष्पदा यन्त् स्वर्षातां परि षदत् सनिष्यन, अनर्वा यच् छतदुरस्य वेदोघ्नञ्छिश्न देवाँ अभि वर्पसा भूत् १०।९९।३। तु. शतम् अश्मन्मयीनां पुराम्.....४।३०।२० असुरों के निन्यानवे पुरों का प्रसङ्ग अनेक स्थलों पर है। पृथिवी; अन्तरिक्ष एवं द्युलोक इन तीनों लोकों में देवताओं का वास है, सङ्ख्या में जो तैंतीस हैं। अप्रबुद्ध लोगों के भीतर वे असुरों के निन्यानवे पुरों में अवरुद्ध हैं। उनसे भी ऊपर होने से वृत्रधाती इन्द्र 'शतक्रतु'। इन्द्र 'अत्रये शत् दुरेषु गातुवित्' – शतदुवारी (दुर्ग में अवरुद्ध) अत्रि के लिए मार्ग ढूँढ कर निकालते हैं (१।५१।३)। यहाँ आधार ही वह दुर्ग है (तु. उपनिषद् का गुहाग्रन्थि विकिरण मु. २।१।१०, ३।२।९; क. २।३।१५। आधार की गुहा में बन्दी यही अत्रि फिर 'सप्तवध्रि:' उनके सात क्लैव्य अथवा असामर्थ्य, उनके शीर्षण्य प्राण की सातों शिखा ही स्तिमित (१०।३९।९; तु. 'नचिकेता' जो जानता नहीं)।

१. वाज ।। वज्र ।। ओज: <√वज् 'शक्ति का उच्छलन, या छलकजाना' (तु. GK. auxo 'I increase', **Lat**, augere 'to increase) अश्व वाजी', ओज: शक्ति का प्रतीक (तु. १०।७०।१०)।

२. 'वपु:' ५।१२।१।

शिश्न अथवा जननेन्द्रिय जिनका देवता है, इस अर्थ में यास्क का कथन है 'शिश्नदेवा अब्रह्मचर्या:'[१२१०] द्वितीय मन्त्र में यह अर्थ उपयुक्त हो सकता है; क्योंकि आध्यात्मिक दृष्टि से शिश्नदेव वहाँ हमारे ही आधार की आसुरी वृत्तियाँ हैं, जिनका लक्ष्य भोग एवं ऐश्वर्य है, किन्तु प्रथम, मन्त्र के शिश्नदेवों से स्पष्टत: अवैदिक उपासक सम्प्रदाय का बोध होता है। क्योंकि वहाँ का प्रसङ्ग अदेवों से जुड़ा है और विरोध का विषय 'ऋत' अथवा धर्मानुष्ठान है। आधुनिक पण्डितों ने दोनों क्षेत्रों में ही शिश्नेदवों को लिङ्गोपासक बतलाया है। लिङ्ग प्रतिमा नहीं, प्रतीक है। सम्प्रति वह शिव के साथ जुड़ा है। इस प्रसङ्ग में स्मरणीय है कि पुराणानुसार शिव यज्ञभागी नहीं; क्योंकि वे [१]ब्रात्यों के परम देवता एकव्रात्य हैं – महादेव, ईशान, नीललोहित उनके नाम हैं, रुद्र की तरह धनुष उनका विशिष्ट प्रहरण है; विष्णु का अवतार असुरों के वध के लिए होता है, किन्तु असुर शिवोपासक हैं; [२]संहिता में देखते हैं कि वज्र त्रिशूल को विनष्ट करता है, उससे देवनिन्दकों का नाश होता है। पुरातत्त्व के मत से सिन्धुघाटी में लिङ्गोपासना का प्रचलन था। इससे वैदिक और अवैदिक दोनों धाराओं में विरोध का एक आभास मिलता है। सम्प्रति वह समन्वय में पर्यवसित हुआ है। लिङ्गोपासना मूलत: अवैदिक है, तब भी लगता है उसकी छाया वैदिक परम देवता विष्णु पर भी पड़ी थी।[३]

१२१०. नि. ४।१९।

१. शौ. १५।१; शौनकसंहिता में देखते हैं कि मागध पुंश्चली व्रात्य के सहचर हैं, 'अब्रह्मचर्या:' होने से तब यास्क का कटाक्ष याद पड़ता है। इस प्रसङ्ग में 'कितव-क्लीब' भी स्मरणीय। तु. तन्त्र का वामाचार एवं दक्षिणाचार; शिव महाभोगी एवं महायोगी दोनों ही।

२. 'त्रिरश्रिं हन्ति चतुरश्रिर् उग्री, देवनिदो ह प्रथमा अजूर्यन, –अर्थात् त्रिकोण को मारता है चतुष्कोण वज्रतेजा होकर, देवनिन्दक ही पहले जीर्ण हो गए १।१५२।२। वज्र 'चतुरश्रि अथवा चतुष्कोण (चौकोना) ४।२२।२ (तु.शौ. १०।५।५०) वही इन्द्र का प्रहरण, और शिव त्रिशूलधारी।

३. विष्णु 'शिपिविष्ट' ७।१००।५-७; द्र. 'विष्णु', तु. पौराणिक शालग्राम शिला। इस प्रसङ्ग में तु. स्कम्भ, खम्भाथाम: 'दिव: स्कम्भ: समृत: पाति नाकम्' – द्युलोक के स्तम्भ (अग्नि अथवा सूर्य) संहत होकर रक्षा करते

देवताओं के विग्रहवत्व को लेकर वितर्क को वस्तुतः दर्शन में भी स्थान प्राप्त है किन्तु आश्चर्य की बात है कि जो पूर्वमीमांसा कर्म की भूमिका में विशेष रूप से देववादी है, वही देवता का विग्रहादि पञ्चक स्वीकार नहीं करती, किन्तु उनका विग्रहवत्व प्रतिष्ठित करने में ब्रह्मवादी उत्तरमीमांसा का ही आग्रह अधिक है।[१२११]

संहिता, ब्राह्मण एवं उपनिषद् में देखते हैं कि देवता का रूप है किन्तु सुस्पष्ट विग्रह नहीं। स्त्री-पुरुष के भेद से अलग सारे देवता ही एक।[१२१२] देवता वस्तुतः मनुष्य की तरह ही हैं, उनका वृषभ, वाजी, सुपर्ण हंस इत्यादि सम्बोधन उपमा मात्र है, इसकी अपेक्षा उनका 'नर' सम्बोधन ही अधिक है। देवता का वाहन होने से पशु भी देवता की

हैं ऊर्ध्वलोक की ४।१३।५ (१४।५); सोम 'दिवो यः स्कम्भो धरुणः स्वातत आपूर्ण अंशुः पर्येति विश्वतः' – द्युलोक के स्तम्भ हैं, जो धारण किए हुए हैं सुप्रसारित होकर, उनका ही आपूर्ण एक अंश (अंशु) फैला हुआ है चारों ओर ९।७४।२ (सुषुम्ण तन्तु के ऊपर सिरे पर सहस्रार का स्मरण दिला देता है ८६।४६); 'आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे' – प्राण का स्तम्भ ऊर्ध्वतम के नीड़ में १०।५।६ (विश्व का आदि कारण; उसके बाद ही दक्ष और अदिति का उल्लेख है: शिव, दक्ष और दाक्षायणी सती का प्रसङ्ग याद आता है); वरुण अपने स्तम्भ द्वारा द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूलोक को धारण किए हैं ८।४१।१० (वरुण और शिव दोनों ही महाकाश के देवता); द्र. शौ. स्कम्भ ब्रह्मसूक्त १०।७।८। स्कम्भ और शिवलिङ्ग का सादृश्य लक्षणीय। इसके अतिरिक्त देखते हैं यज्ञ का पशुबन्धन 'यूप' जिसमें पशु अथवा प्राण का 'संज्ञपन' अर्थात् इस चेतना का प्रविलय सम्यक् चेतना में: और फिर मृत्युञ्जय शिव भी पशुपति। महाव्रत में अब्रह्मचर्यानुष्ठान भी स्मरणीय।

१२११. द्र. पूर्वमीमांसा ९।१।९ शावरभाष्य ब्रह्मसूत्र १।३।२६-३०। विग्रहादि पञ्चक : 'विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्यं च प्रसन्नता फलप्रदानम् इत्य् एतत् पञ्चकं विग्रहादिकम्।' आज यदि वैदिक ऋषि लौटकर आते, तो देखते कि मूर्ति एवं लिङ्ग की उपासना में देश लीन है। एक की प्रेरणा आई विष्णु से और दूसरे की प्रेरणा शिव से। एक में प्रधान प्रतिमा है और एक में प्रतीक, एक में रूप और एक में अरूप।

१२१२. तु. शाकपूणि की समस्या

मर्यादा प्राप्त करते हैं, किन्तु उस कारण उनकी उपासना नहीं होती।[१२१३] अनेक देवता रथ वाले हैं। कभी-कभी प्रहरण या अस्त्र से देवता का वैशिष्ट्य सूचित होता है, और कहीं-कहीं नैसर्गिक मूल अधिक स्पष्ट है एवं वह भी देवता भेद का सूचक है।

अब हम देवताओं के गुण और कर्म का विवरण प्रस्तुत करेंगे। इस दृष्टि से देवताओं का सादृश्य और भी अधिक है। संहिता के प्रधान-प्रधान देवता के गुणबोधक विशेषणों की सूची से स्पष्ट है कि अनेक विशेषण सभी देवताओं के पक्ष में ही लागू होते हैं। कर्म के सम्बन्ध में कुछ-वैचित्र्य की स्थिति स्वाभाविक है, किन्तु उसके बावजूद अनेक कर्म सभी-देवताओं के पक्ष में साधारण हैं। उनके गुण एवं कर्म बोधक इन साधारण विशेषणों के आलोचन अनुशीलन से वैदिक ऋषियों की दैवत भावना का एक स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। यास्क ने अपनी निरुक्ति अथवा निर्वचन में देवता के जिस वैशिष्ट्य का उल्लेख किया है – 'देवता का धर्म है, – दान, दीपन एवं द्योतन' अर्थात् उपासक को ऋद्ध करना दीप्त करना एवं स्वप्रकाश रूप में उसके निकट आविर्भूत होना – वही सब देवता का साधारण लक्षण है। और गुण-कर्म का यह साधारण्य या साधारणता तो एक मूल अद्वैत बोध से अनुप्राणित है, जिसे निःसङ्कोच कहा जा सकता है।

देवताओं के सामन्य विशेषणों को गुण कर्म, एवं सम्बन्ध इन तीन दृष्टियों से देखा जा सकता है। पहले गुण की चर्चा करेंगे।

देवता **अजर** एवं **अमृत** हैं, यह उनका प्रधान लक्षण है। मनुष्य का भी परम पुरुषार्थ है 'विजरो विमृत्युः' होना।[१२१४] जरा-मृत्यु

१२१३. प्रतितुलनीय. पश्वाकृति देवता : अजएकपात्, अहिबुध्न्य, पृश्नि, सरमा। किन्तु वहाँ भी उपमा का भाव ही प्रबल।

१२१४. तु. छा. ८।१।५, ७।१, ३, श्वे. २।१२। यह ऋषि और मुनि. दोनों धाराओं का ही लक्ष्य है। तु. जरा, व्याधि और मृत्युञ्जय का सङ्कल्प लेकर बुद्ध का गृह त्याग। जराजय में जीवनोल्लास का परिचय। सूर्योपासना के मूल में यही तत्त्व है – विष्णु के जिस परम पद में मधु अथवा अमृत चेतना का उत्स हैं (ऋ. १।१५४।६) जिस माध्यन्दिन महिमा में वे 'युवा

प्रकृति-परिचय का फल है। देवता उसके ऊपर हैं, वे सत्-स्वरूप अथवा सत्य हैं। उनकी सत्ता से ही जगत् में जो कुछ 'भूत' अर्थात् हुआ या हो चुका है, वह सत् है; क्योंकि यह सभी उनकी विसृष्टि है; वे सर्वभूतपति हैं, अतएव **सत्-पति** हैं। उनके इस सत्य अथवा सत्ता के उस पार काल की गति नहीं; इसलिए देवता **प्रथमप्रत्न** अथवा **पूर्व्य** हैं। इस अनादि स्थिति में [1]वे अपने आप में अवस्थित हैं, वही उनकी स्वधा है; अतएव वे **स्वधावान्** हैं। यह उनके स्थाणुत्व का पक्ष है, फिर इससे ही ऋत के छन्द में अथवा सत्य एवं सुव्यवस्थित शाश्वत-विधान के छन्द में उनकी विसृष्टि अथवा उच्छलन, जैसे निसर्ग या प्रकृति में 'ऋतु'-चक्र के आवर्तन में देखते हैं; अतएव वे **ऋतवान्** हैं। उनके भीतर स्थाणुत्व एवं चरिष्णुता के एकाकार होने के कारण वे [2]असुर हैं। वे चिन्मय हैं, उनकी चेतना प्रकाश की तरह सर्वत्र छिटकी हुई है, अतएव वे **प्रचेताः** हैं। हमारी दृष्टि अचित्ति अथवा अविवेक से आच्छन्न हैं, हम 'नचिकेताः' हैं; किन्तु देवता **चिकित्वान् हैं,** सब कुछ सूक्ष्म रूप में देखते हैं, जानते हैं, इसलिए वे **विद्वान, विश्ववेदाः** हैं, निखिल धी अथवा विज्ञान के उत्स के रूप में वे **धीर** हैं। उनकी दृष्टि सृष्टि की आकूति में प्रसर्पित-प्रसृत है, अतएव[3] वे **कवि** हैं, यह जगत् उनका काव्य है। वे **शिव, श्रीमान्, सुम्न** अथवा आनन्द के निलय हैं। वे **विप्र** अथवा

अकुमारः' अथवा नित्यतरुण हैं (१।१५५।६), उससे तनिक भी स्खलित न होना।

१. आनीद अवातं स्वधया तद् एकम् १०।१२९।२।

२. असु (<√अस् 'निक्षेप करना, विकिरण करना; √अस् 'रहने' की व्यञ्जना भी है) + अस्ति के अर्थ का' जिस प्रकार सूर्यमण्डल से ताप और ज्योति का विकिरण, छान्दोग्योपनिषद् में जिसे 'ब्रह्मक्षोभ' कहा गया है (३।५।३)। ऋक् संहिता में सूर्य जीव असुः' (१।११३।१६)। 'असुर' देवता की अति प्राचीन एक संज्ञा है (तु. महद् देवानाम् असुरत्वम् एकम् ऋ. ३।५५ सूक्त की टेक) अवे. में 'अहुर'।

३. शौ. अन्ति सन्तं ने जहात्य् अन्ति सन्तं न पश्यति, देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति १०।८।३२।

भाव प्रवण हैं। वैपुल्य में, दीप्ति में एवं शक्ति में वे [4]**महान्** हैं, वे [5]**बृहत्** हैं।

उसके बाद देवता सूर्य की तरह हैं, अर्थात् उनमें प्रकाश है, ताप भी है। यही ताप अथवा **तप** उनकी चित् शक्ति है, उनकी सिसृक्षा अथवा **क्रतु** है। उनकी क्रान्तदर्शी कविचेतना इस क्रतु अथवा सृजनेच्छा का स्रोत है, जिसके कारण वे **कविक्रतु, सुक्रतु** हैं। अन्धकार के आवरण से आलोक छीनकर लाते हैं वे हमारे लिए, इसलिए वे **स्वर्विद** हैं, **स्वर्षाः** हैं। वे **वीर** हैं समस्त बाधाओं को दूर करने के कारण वे सहस्वान हैं। उनमें वाज अथवा वज्रतेज है और **शव, शुष्म** अथवा प्रबल प्राणोच्छ्वास है। उसी से वे **विचर्षणि** अथवा सर्वसञ्चर हैं। निरन्तर निर्झरित होती रहती है उनकी शक्ति, इसलिए वे **वृषा** हैं। वे निखिल के या सब के **पति** एवं **ईशान** हैं। परम ममता द्वारा हमारी रक्षा के प्रति सतर्क दृष्टि रखने के कारण **अविता** एवं **गोपा** हैं। यही उनकी शक्ति एवं कर्म का परिचय है।

उनके साथ हमारे समस्त सम्बन्ध ही अत्यन्त स्वच्छन्द एवं सुमङ्गल हैं। वे **यजत्र** हैं, हमारे उत्सर्ग एवं उपासना के लक्ष्य हैं। उस समय वे हमारे **राजा, पिता, माता, सखा** – यहाँ तक कि सूनु या पुत्र हैं, क्योंकि अपनी तपः शक्ति से हम ही तो उन्हें इस आधार में जन्म देते हैं। वे सर्वदा हम लोगों के **प्रिय** हैं। ये सुमति हैं, हमने उनका मन पाया है। उन्होंने अपनी समस्त सम्पदा हम सब के लिए उँड़ेल दी है, इसलिए वे **सुदानु** हैं।

---

४. <√ मह् 'प्रकाश देना, फैल जाना, समर्थ होना'। उससे 'महः' आदित्य रूप में चतुर्थ व्याहृति (तैउ. १।५); जिसमें दीप्ति, व्याप्ति एवं शक्ति का सङ्गम है।

५. <√ बृह् 'बढ़ते रहना'। इसी से उपनिषद् का 'ब्रह्म'।

जिसके जो भी देवता इष्ट क्यों न हों, उनके प्रति ये सभी विशेषण अनायास प्रयुक्त हो सकते हैं। देवताओं के सम्बन्ध में विशेषण का यह साम्य ऋषियों की अद्वितीय भावना का ही परिचायक है। नाम एवं रूप की भिन्नता के बावजूद सारे देवता उसी एक की ही विभूति हैं। आरम्भ में वे अनेक हैं, किन्तु उनका अन्त एक में है। सूर्यमण्डल से सूर्य-किरण की तरह एक से ही अनेक की विसृष्टि होती है। अनेक एवं एक दोनों ही सत्य है एवं युगपत् सत्य है।

३. देवताओं की सङ्ख्या

देवताओं के स्वरूप, रूप, गुण और कर्म की चर्चा के बाद अब हम उनकी सङ्ख्या के बारे में बात करेंगे। देवता एक नहीं अनेक हैं। इसके सम्बन्ध में सूत्र रूप में हमने प्रथम अध्याय में कुछ प्रकाश डाला है।[१२१५] वर्तमान प्रसङ्ग उसकी ही अनुवृत्ति एवं प्रपञ्चन या विस्तार है।

वेद में अनेक देवताओं का उल्लेख एक नज़र में ही सब को दिखाई देता है। रूप की बात के अतिरिक्त देवता के स्वरूप, गुण और कर्म की दृष्टि से विचार करने पर यह अनेकत्व की भावना आद्योपान्त एकत्व की भावना द्वारा विधृत है तथा रूप की दृष्टि से भी देवता का अमूर्तत्व एकत्व भावना का पोषक है; क्योंकि अनेक का मेला रूप और इन्द्रिय बोध के जगत् में है, किन्तु जो अरूप एवं अतीन्द्रिय है उसकी प्रवणता स्वभावत: एकरस प्रत्यय की ओर है। अनेक और एक के बीच आर्यभावना किसी प्रकार का विरोध नहीं देखती, इस बात का उल्लेख बार-बार करना पड़ रहा है इसलिए कि इस देश के बहुदेववाद के प्रति भिन्न धर्म वालों के उन्नासिक कटाक्षपात ने कुछ हीनमन्यता की सृष्टि की है। अध्यात्म विज्ञान की दृष्टि से वह आधारहीन है इसलिए ही उसका दूरीकरण नितान्त वाञ्छनीय है।

१२१५. द्रष्टव्य. प्रथम अध्याय।

बृहदारण्यकोपनिषद् में देवताओं की सङ्ख्या को लेकर शाकल्य के साथ याज्ञवल्क्य के प्रश्नोत्तर का एक रोचक विवरण है। शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से पूछा – 'देवता कितने हैं?' याज्ञवल्क्य ने पहले उत्तर दिया, 'तीन सौ तीन और तीन हज़ार तीन।' उसके बाद धीरे-धीरे उस सङ्ख्या को कम करते हुए कहा – "देवता एक ही है और वह देवता है प्राण। जिसे तत्त्वविदों ने ब्रह्म अथवा त्यत् की संज्ञा दी है। यह प्राणब्रह्म ही विभिन्न लोकों में अर्थात् मनोज्योति से आलोकित चेतना के विभिन्न स्तरों पर शारीर-पुरुष से आदित्य पुरुष अथवा छायापुरुष के रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। पुन: वे ही सारी दिशाओं में भिन्न-भिन्न दिशा के अधिष्ठात्री देवता के रूप में अवस्थित हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण एवं ऊर्ध्व – इन पाँच दिशाओं से पाँच देवता जीव के हृदय में शलाका की तरह जुड़े हुए हैं। हृदय की प्रतिष्ठा पञ्चवृत्ति प्राण में है। प्राण की प्रतिष्ठा 'नेति-नेति' वाद लभ्य असङ्ग आत्मा में है। वे ही औपनिषद् पुरुष हैं। बाहर का जो कुछ है, सब जिस प्रकार उनके द्वारा विसृष्ट या प्रेरित है उसी प्रकार फिर उनमें ही निहित है। इसके अतिरिक्त सब कुछ के परे भी वे ही विद्यमान हैं। वे ही 'विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म' हैं। वे ही एक देवता हैं।"[१२१६]

याज्ञवल्क्य ने यहाँ जो स्थापित किया, वह एकदेववाद (MONTHEISM) और अद्वैतवाद का समन्वय है। देववाद पराक् (Objective) अथवा वस्तुनिष्ठ दृष्टि का परिणाम है। तब इष्ट ज्ञेय। और इष्ट जब ज्ञान, होता है तब प्रत्यक् (Subjective) अनुभव से अद्वैतवाद की सृष्टि होती है। एकदेववाद उसके अन्तर्गत होता है। किन्तु इससे ही सब शेष नहीं हो जाता। प्रत्यक् अथवा आत्मनिष्ठ अनुभव के अन्तिम छोर पर कोई कुछ ऐसा रहता है जो पकड़ पहुँच के बाहर है। याज्ञवल्क्य उसे 'त्यत्' की संज्ञा देते हैं। उसका आदेश 'नेति-नेति' है।

इस देश के एकदेववाद की दृष्टि कभी भी ऐसी नहीं रही कि एक देवता ही हैं, इसलिए अन्य देवता नहीं। अनेक को अलग करके एक नहीं, बल्कि अनेक को लेकर एक है। अवश्य, एक की ओर

१२१६. द्र. बृ. ३।९। प्रतितु. ऋ. ३।९।९।

जाने पर 'नेति नेति' के रूप में एक समय हमें अनेक को अपने मतलब से ही छोड़ देना पड़ता है। किन्तु मूल में देखते हैं कि वहाँ से एक ही विविध रूपो में उत्पन्न हो रहे हैं। उस समय हम फिर कहते हैं, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। तब अनेक देवता एक देवता की ही महिमा हैं। शाकल्य ब्राह्मण के आरम्भ में ही याज्ञवल्क्य ने इस महिमा का उल्लेख किया है। जिसे गीता में 'विभूति' [१२१७] कहा गया है। पहले ही हमने बतलाया है कि इस विभूतिवाद को समझे बिना इस देश के एकदेव वाद को नहीं समझा जा सकता और न तो यह समझ में आएगा कि अद्वैत वादी भगवत्पाद आदिशङ्कराचार्य को अनेक देवताओं के स्तुतिकार के रूप में कल्पना करने में हमें कोई आपत्ति क्यों नहीं? और वैनाशिक बौद्धों के महाशून्य में क्यों हज़ारों देव, देवियाँ उतरते हैं? यह सब अवक्षय का सङ्केत नहीं बल्कि पूर्णता का निदर्शन है। आदि से अन्त तक इस देश के अध्यात्म मानस की संरचना ऐसी ही है।

इस मानसिकता के मूल में जो भावना क्रियाशील रही है, उसका रूप इस प्रकार है – मैं और मेरा जगत् इन दोनों को जिस परम तत्त्व ने अपने भीतर समेट रखा है वह तीन में एक और एक में तीन है। आत्मा, जगत् और ब्रह्म एक। यही अद्वैत वाद का रहस्य-बिन्दु है। उसके अनुभव के स्फुरण का एक स्वाभाविक नियम है। पहले मनुष्य परमतत्त्व को वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखता है। उस समय तत्व देवता एवं

१२१७. 'भूति' होना, becoming (तु. GK. Phusis 'Nature')। उससे होने के वैचित्र्य के बोध के लिए 'वि-भूति' (तु. ऋ. एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ८।५८।२; १।८।९, ३०।५, ६।२१।१, १७।४.... 'विचित्र रूप में प्रकाशमान्), और समाहार के बोध लिए 'सम-भूति' (तु. एतावती महिना सं बभूव १०।१२५।८; ई. १२, १४)। वैदिक भावना में विसृष्टि देवता की विभूति अथवा एक से रूप-रूप में प्रतिरूप अथवा अनेक 'होना' है। जहाँ कुछ भी नहीं होता वहाँ असम्भूति, विनाश अथवा असत् (तु. ई. १२-१४; ऋ. १०।५।७, ७२।२, ३, ८, ९; १२९।१, ४)। तो फिर विसृष्टि की धारा कुछ इस प्रकार है, असम्भूति > सम्भूति > विभूति। उपनिषद् की भाषा में यह सम्भूति 'सर्वेश्वरः .... सर्वज्ञः....... अन्तर्यामी..... योनिः सर्वस्य प्रभवप्ययौ हि भूतानाम्, मां. ६। तु. गीता १० 'विभूति योग'।

विश्व का निर्माता और विधाता होता है। तब मुझमें, विश्व में एवं देवता में भेदभाव प्रबल होता है। उस समय दर्शन का साधन मन है, जिसके भेद का संस्कार स्वाभाविक होता है। किन्तु 'दीधिति' [१२१८] अन्तर्मुखी एकाग्रता की प्रेरणा [१] से यह मन ही मनीषा में उत्तीर्ण होता है, और हृदय की अथाह गहराई में उतर जाता है। और तब देवता के साथ मेरा सायुज्य बोध आविर्भूत होता है। [२] अपने भीतर उनका आविर्भाव अनुभव करता हूँ और अनुभव की प्रगाढ़ता में, देखता हूँ कि वे मेरे सभी कुछ हैं, मैं उनका प्रतिरूप हूँ। अन्त में देखता हूँ कि वे केवल मैं होकर ही नहीं, बल्कि वे ही सब कुछ हुए हैं – 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते', 'श्रियो वसानश् चरति स्वरोचिः'। तब फिर वे जगत् के निर्माता नहीं, बल्कि जगत् उनकी 'विसृष्टि' अर्थात् आत्मोत्सारण है, आत्मोत्सर्ग है। उस समय जगत् को देखने पर उन्हें ही देखता हूँ – 'सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' – सहस्र सिर के साथ सहस्र चक्षुओं से देखते हुए सहस्र चरणों से वे ही विचरण कर रहे हैं, फिर चारों ओर से इस भूमि को घेर कर उससे दश अङ्गुल ऊपर स्थित हैं।'

१२१८. 'दीधिति' (< √ धी 'चिन्तन करना, ध्यान करना', निघ. 'रश्मि' १।५) ध्यानतन्मयता तु. ऋ. 'इयं सा वो अस्मे दीधितिर् यजत्रा अपि प्राणी सदनी च भूयाः, नि या देवेषु यतते वसूयुः' तुम लोगों के उद्देश्य के प्रति हे यजनीय गण, हमारी दीधिति हो सब की आपूरक एवं तुम सब को प्रतिष्ठात्री, देवताओं को लक्ष्य करके जिसका प्रयत्न निविड़ हो आलोक की कामना में १।१८६।११। ध्यान चेतना की एकतानता, आवेश एवं व्याप्ति ये तीनों लक्षण ही यहाँ व्यक्त हुए हैं।

१. तु. ऋ. 'इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त' – जो आदि पति है, उस इन्द्र के उपलक्ष्य में ध्यानचेतना को मार्जित करते हैं, मन, मनीषा और हृदय द्वारा १।१६१।२ (तु. क. २।३।९) मन द्वारा खोजना, मनीषा द्वारा समझना और हृदय द्वारा प्राप्त करना।

२. ऋक् संहिता में इसी से आत्मस्तुति वाचक मन्त्रों की उत्पत्ति। तु. एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वाऽवोचत् स्वां तन्वम् इन्द्रम् एवं १०।१२०।१७।

यह दृष्टि जब खुलती है, तब जो कुछ भी है उसके निषेध का प्रश्न ही नहीं उठता। सब को लेकर ही तब एक। एक की संज्ञा है सत्। संहिता की भाषा में देवता तब 'एकं सत्'।

यह अद्वैत भावना का एक पक्ष है, जिसे इतिवाद कहते है फिर इस सत् से भी परे है असत्। तब हम नेतिवाद में अद्वैत भावना के दूसरे पक्ष का परिचय प्राप्त करते हैं। ऊपर की ओर उठते समय शुरू में ही नेतिवाद का बोध हो सकता है। पहले हम कहते हैं, वे न यह हैं, न वह हैं; उसके बाद कहते हैं वे ही सब हैं। वैदिक ऋषि ने पहले की उपमा रात के साथ दी है जिसके देवता वरुण हैं। दूसरे की उपमा दिन से दी गई है जिसके देवता मित्र हैं। सत्य का सूर्य उससे भी ऊपर प्रकाशमान् है। वहाँ दिन भी नहीं, रात भी नहीं, सत् भी नहीं, असत् भी नहीं।

पूर्णाद्वैत की यह त्रिपुटी – सत्, असत् न सत्, नाऽसत् ये तीनों संज्ञाएँ संहिता की हैं। वही उपनिषद् में याज्ञवल्क्य की भाषा में प्राण, ब्रह्म एवं त्यत् हैं। प्राण 'सत्पतिः' हैं – यह सभी उनकी विभूति है; ब्रह्म अतिष्ठा होकर प्राण की प्रतिष्ठा है और त्यत् अनिवर्चनीय है। आत्म चैतन्य में ही इस परम त्रिपुटी अथवा त्रिक का अनुभव होता है। हृदय उस अनुभव का स्थान है – इसका उल्लेख याज्ञवल्क्य ने बार-बार किया है।

अनेक, एक और शून्य इन तीनों में विरोध नहीं, वह हम अपने चित्त की क्रिया में भी देखते हैं। चित्त की बहिर्मुखी वृत्ति अनेक की भीड़ में कभी मूढ़ कभी क्षिप्त और कभी विक्षिप्त होती है। यह उसकी अयुक्त प्राकृत दशा है। वही चित्त अन्तर्मुख होने पर एकाग्र होता है। तभी योग शुरू होता है। उसके बाद एकाग्र वृत्ति के निरुद्ध होने पर चित्त शून्य हो जाता है। उस शून्यता की भूमि पर फिर एकाग्र ज्योति के बिम्ब से अनेक की रश्मि विकीर्ण होती है। वैदिक ऋषि की भाषा में यह रात्रि के अव्यक्त अथवा अगोचर से उषा के जन्म जैसा है[१२१९]। निरोध प्रतिष्ठ एकाग्र-चित्त का विक्षेप सम्भूति अथवा

१२१९. तु. ऋ. १।११३।१। रात्रि एवं उषा दोनों ही 'अमृता'।

शुद्ध सत्त्व का उल्लास है। तब अनेक, एक सत्य की ही सत्यविभूति है।

असत्, सत् और देवता परमतत्त्व के ये तीन विभाव ही 'एकम् एवा द्वितीयम्' है। ये तीनों विभाव, एक ही तत्त्व को चेतना की तीन भूमियों से देखने का परिणाम है। जब उपास्य-उपासक का सम्बन्ध रहता है, तब हम तत्त्व को देवता कहते हैं। जब सम्बन्ध, से परे सम्बन्धी को लक्ष्य करते हैं, तब 'सत्' कहते हैं और उससे ऊपर जाने पर जब कुछ ही नहीं रहता, तब 'असत्' कहते हैं। फिर सब मिलाकर 'न सत् ना.सत' कहते हैं। संहिता की भाषा में इन अनुभवों की संज्ञा क्रमानुसार 'एको देवः' 'एकं सत्' 'एकं तत्', 'न सन ना. सत्' है। इस चतुष्कोटिक एक के आश्रय में भूलोक, अन्तरिक्ष और द्युलोक में सर्वत्र एक का ही आलोक है, एक की ही द्योतना है अर्थात् सर्वत्र देवता हैं और सभी देवता हैं। देवविभूति की जिस किसी भी एक धारा को पकड़ कर अनेक की भीड़ से एक की ओर उठ जा सकते हैं। वह विशिष्ट देव विभूति तब मेरे अपने इष्ट देवता का रूप ले लेती है और अनुभव के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच कर देखता हूँ कि मेरे देवता ही अन्य सब देवता हुए हैं। यह एक प्रकार का ऐसा एक देववाद है, जो दीर्घकाल से इस देश की अध्यात्म भावना का अद्वितीय वैशिष्ट्य रहा है[१२२०]। यूरोपीय विद्वानों ने अपने Monotheism के साथ इसकी तुलना न कर पाने पर अन्ततः इसे एक नाम Henotheism भर दे रखा है। किन्तु, उनका अध्यात्म संस्कार वस्तुतः इस अनुभव के अनुकूल नहीं। इसके अलावा इस देश के कट्टर एक देववादी जो एकान्ती वैष्णव हैं, वे भी एक को मानने के कारण अनेक को खदेड़ नहीं देते।

इस देश के अद्वैत को समझने के लिए इन बातों को ध्यान में रखना ज़रूरी है। POLITHEISM से MONOTHEISM एवं उससे MONISM इस देश में क्रमशः अभिव्यक्त हुआ यह बात प्रकल्प की दृष्टि से सुनने में अच्छी लगती है किन्तु वस्तुतः यह कथन निराधार

१२२०. द्र. टीमू. ८५।

है।[१२२१] विभूति, देवता और तत्त्व के बीच चेतना के यातायात का रास्ता हमारे लिए सब समय खुला है। वस्तु की सङ्ख्या का अद्वैत बड़ी

१२२१. इस सन्दर्भ में प्रख्यात आधुनिक नृतत्त्वविद् Hoabel की पुस्तक (The man in he Primitive world. New York. 1958) से उद्धृत कुछ बातें – 'आदि मानव का मन परम पुरुष अथवा आदि देव की धारणा नहीं कर सकता – इस संस्कार से चिमटे-चिपके रहने के दिन पार हो गए। Tylor (Primitive Culture, New York. १८७४) का अनुमान था कि आदि देव की धारणा या बोध मनुष्य के दीर्घयुगीन बौद्धिक परिणाम का शेष फल है – जिसके मूल में आत्मा की धारणा, उससे भूत और पितृ-पुरुषों की उपासना, फिर निसर्गोपासना या प्रकृति-पूजा का आश्रय लेकर बहुदेववाद एवं अन्त में एक देववाद का अवधारण। किन्तु यही उनकी सब से बड़ी भूल' है।

'Lang ने उसी शताब्दी के अन्त में (The Making of Religion, London, १८९८), प्रमाणित किया कि ऑस्ट्रेलियन, पॉलिनेशियन, अफ्रीकन और आदिम अमरीकनों के आदि देव की धारणा क्रिश्चियन धर्म से नहीं आई। ऑस्ट्रिया के अक्लान्त कर्मा नृतत्ववेत्ता Schmidt ने चार खण्डों में रचित अपने बृहदाकार ग्रन्थ DER URSPRUNG DER GOTTESIDEE (अंग्रेजी में सङ्क्षिप्त सार The origin and Growth of Religion, New york १९३५) में इस मत को सुप्रतिष्ठित किया। .... .. Lang का अनुमान था कि आदिदेव की धारणा कल्पित हुई है मनुष्य की धार्मिक भावना के अन्तर्मुख होने के फलस्वरूप'। आदि मानव का चित्त जब ऊँचे ग्राम अथवा स्तर पर टिका होता है, तब न्याय सम्मत दार्शनिक धारणा उसके पक्ष में असम्भव नहीं होती, किन्तु उसी चित्त ने फिर निचले स्तर पर आकर स्वार्थ-बुद्धि की प्ररोचना से भूत, प्रेत और उपदेवताओं की भीड़ जुटा रखी है। .....

'Lang के बाद Radin (Monotheism in Primitive Religion, New York. १९२७, 2nd ed. १९५६) ने Lang के विचारों को जिस रूप में संशोधित किया, वह लक्षणीय है। आदिदेव की विशुद्ध भावना आगे चलकर अशुद्ध हो गई – यह न कहकर उन्होंने कहा कि एक ही समय में मनुष्य के मन में आदर्शोन्मुख और यथार्थोन्मुख दो विपरीत धाराएँ रह सकती हैं। आदर्शवादी बुद्धिप्रधान एवं मननशील होते हैं। अनुसन्धान

बात नहीं, बल्कि बड़ा होता है भाव का अद्वैत। वह भाव का एक ही परम सत्य है, जिसके अन्तर्गत स्वच्छन्दतापूर्वक अनेक का ठाँव हो सकता है।

चिन्मयप्रत्यक्ष के बारे में हमने पहले भी बतलाया है कि वह केवल आँख मूँदकर अन्तर में देवता का अनुभव करना नहीं, बल्कि आँख खोलकर बाहर भी उन्हें देखना अर्थात् ज्योति रूप में देखना, वायु रूप में उनका स्पर्श पाना और वाक्रूप में उन्हें सुनना है[१२२२]।

करके देखा गया है कि इनका कोई न कोई भाई-बन्धु हर समाज में ही है। जीवन और जगत् की समस्याओं को लेकर उन्हें दार्शनिक रूप देना उनका स्वभाव है। विश्व-रहस्य समझने की दिशा में उनकी भावना एक ऋजु, सुसंहत एवं एकमुखी धारा में चलती है। आदि देव की कल्पना उसका ही परिणाम है। आदर्शवादी होने के कारण ही उन्हें स्थूल पार्थिव कामनाएँ आकर्षित नहीं करतीं। अतएव उनके देवता मनुष्य की छोटी-छोटी माँगों के प्रति निरपेक्ष हैं किन्तु अधिकांश लोभ ही जड़वादी हैं। उनके लिए पेट की चिन्ता, शारीरिक स्वास्थ्य, धन-जन, प्रतिपत्ति या सम्मान प्रतिष्ठा ये सब ही श्रेष्ठ हैं। इन सबके अभाव-पूर्ति का सामर्थ्य जिनके पास है, ऐसे देवताओं और उपदेवताओं द्वारा आस-पास वे एक और धर्म गढ़ लेते हैं .... (PP. ५५२-५४)

Hoebel, Radin इसके साथ मोटे तौर पर एकमत हैं। लेकिन वे कहना चाहते हैं कि –धर्मबोध का उत्स केवल दार्शनिकता ही नहीं – बल्कि 'आत्मा में विश्वास, भूत का भय, भय का भय, पितृपूजा, उपदेवता को लेकर कारोबार, निसर्गपूजा, दार्शनिक भावना सब कुछ ही उसके मूल में है। हरेक संस्कृति हर एक के ऊपर अधिक ज़ोर देती है, बस इतना ही। दरअसल धर्म बोध एक ऐसा वृक्ष है जिसकी बहुत जड़ें हैं, बहुत फल हैं।'

वस्तुतः धर्म बोध का मूल महिम बोध है जिसका अधिदैवत एवं बहिर्मुख रूप नृतत्वविदों का Animism (जीववाद, सर्वात्मवाद) है और अध्यात्म एवं अन्तर्मुख रूप mana है। इसके सम्बन्ध में विस्तृत आलोचना आगे चल कर करेंगे।

१२२२. दर्शन या देखना प्रधानतः सूर्य रूप में; किन्तु वायु भी 'दर्शन' (तु. ऋ. १।२।१; तै उ. शान्ति पाठ; वायो त्वम् एव प्रत्यक्षं ब्रह्मा.सि....)

मन्त्र संहिता में जो देव-विज्ञान है वह इसी रूप में है। देवाविष्ट इन्द्रिय द्वारा देवता की प्रत्यक्षता का परिणाम चेतना का विस्फारण या प्रसारण है, उसकी ही अभिव्यक्ति 'ब्रह्म' में अथवा मन्त्र में है। मन्त्र में देवता बाहर-भीतर उभयत्र प्रत्यक्ष हैं, और उपनिषद् में 'निषत्ति' के फलस्वरूप विशेष रूप से उनका आन्तर प्रत्यक्ष होता है। इस नियम के अनुसार मन्त्र ही वस्तुतः उपनिषद् भावना का बीज है। मन्त्र में चिन्मय बाह्य प्रत्यक्ष की जो उदात्त गाथा है, उसका उत्स सिद्ध चेतना है; उसे ही उपनिषद् में साधक-चित्त के लिए बुद्धिग्राह्य किया गया है। अतएव उपनिषद् का अद्वैतवाद बुद्धि की परिपक्वता के फलस्वरूप अनेक से एक की धारणा में पहुँचना नहीं बल्कि बोधिज अद्वैत प्रत्यय से बुद्धि में उतर आना है।

श्रद्धा के आवेश में जब बाह्य प्रत्यक्ष चिन्मय हो उठता है, तब इस बोधि का आविर्भाव होता है। उस समय देवता आँखों के सामने होते हैं और इस इन्द्रिय द्वारा उनका प्रत्यक्ष होता है। यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। उसके निदर्शन के रूप में रामकृष्ण देव के दो अनुभव ग्रहण किये जा सकते हैं। एक दिन समाधि से व्युत्थित होने पर उन्होंने कहा – 'यह क्या ! लगता है आँखों में पीलिया हो गया। देखता हूँ, सब कुछ तो वे ही हैं।' और एक दिन का अनुभव है – 'सबेरे पूजा के लिए बगीचे में फूल लेने गया। चारों ओर फूल ही फूल खिले हैं, ना, विराट् की पूजा तो हो चुकी है। सब कुछ ही तो वे हैं। फिर पागल की तरह फूलों को फेंकने लगा।' – पहला अनुभव है, भीतर के आलोक में बाहर को आलोकमय देखना ; यह उपनिषद् की धारा है। दूसरा अनुभव है बाहर के अलख की ज्योति में ही बाहर को आलोकमय देखना; यह संहिता की धारा है। अलख उस समय अरोरा (aurora) अथवा ध्रुवीय ज्योति या भोर के उजाले की तरह झलक उठते हैं, और इस हृदय में आविष्ट होते हैं। तब व्यक्ति मर्मज्ञ अथवा कवि होता है।

ऋषि कवि का अद्वैत अत्यन्त सहजता के साथ दो प्रकार के चिन्मय प्रत्यक्ष से उत्सारित हुआ है। आँखों के सामने देखते हैं कि सब कुछ एक व्योम या आकाश से आवृत है, और आकाश में विवस्वान् एक सूर्य है। एक आकाश, उसकी दैवत संज्ञा है 'द्यौः

पिता' 'वरुण' अथवा 'माता अदिति'। एक सूर्य, उसकी दैवत संज्ञा है, 'मित्र', 'सविता', 'आदित्य'। एक छाया है; एक आतप है; एक रात का अँधेरा है, एक दिन का प्रकाश है; दोनों मिलकर एक छायातप अथवा उषासानक्त का युग्म है[१२२३]। मनुष्य के हृदय में ज्योति की पिपासा है, उसकी साक्षात् चरितार्थता उस सूर्य के सायुज्य में है और है प्रशम का सङ्कर्षण, जिसकी चरितार्थता उस आकाश की शून्यता में है। दोनों में अद्वैत-बोध के दो विभाव हैं। संहिता में प्रशम का बीज मन्त्र 'शम्' है और उससे सर्वतोभास्वर सर्वयोनि ज्योति के विच्छुरण का बीज 'योः' है। दोनों शिव-शक्ति की तरह युगबद्ध हैं[१२२४]। आकाश में ज्योति के उन्मेष और निमेष अर्थात् देवता की इस नित्य प्रत्यक्ष महिमा से ही वैदिक ऋषि का अद्वैतबोध अनायास उत्सारित हुआ है। इस बोध का आधार तर्क नहीं, बल्कि सर्वसाधारण[१२२५] अति सहज एवं आदिम एक प्रत्यक्ष है।

अब हम इस अद्वैतवाद के परिपोषक कुछ वेदमन्त्रों को लेकर चर्चा करेंगे। मन्त्रों को ऋक् संहिता से लिया गया है, क्योंकि संहिताओं में यही सर्व प्राचीन एवं सर्वभावयोनि है। हम यहाँ स्पष्ट लिङ्गक अद्वैत बोध का ही परिचय दे रहे हैं, नहीं तो अस्पष्ट लिङ्गक अद्वैतबोध वेदों में सर्वत्र बिखरा पड़ा है; किन्तु वह सेमिटिक एक देववाद की तरह केवल नेतिभावना की सङ्गीन ताने हुए नहीं – हमने पहले ही इसका उल्लेख किया है।

१२२३. ब्रह्मसूत्र में वही. आकाश एवं प्राण का युग्म हुआ (१।१।२२-२३)। प्राण का अधिदैवत रूप सूर्य है (तु. प्रश्नोपनिषद् 'प्राणः प्रजानाम् उदयत्य् एष सूर्यः' १।८।

१२२४. ऋक् संहिता में दोनों बीजों का एक साथ अनेक स्थलों पर उल्लेख : १।९३।७, २।३३।१३, ३।१७।३, ४।१२।५, ५।४७।७, ६।५०।७, ७।३५।१ (यह पूरा सूक्त 'शम्' की प्रार्थना), ८।३९।४, १०।१८२।१-३......। यो : < √यु।। 'योषा' 'योनिः'।

१२२५. वह प्रत्यक्ष, सूर्य का। तु. ऋ. साधारण सूर्यो मानुषाणाम् ७।६३।१

संहिता में अद्वैत बोध की चार भूमियों की सूचना क्रमशः देवभावना के चार सूत्रों में मिलती है[१२२६]। प्रथम भूमि पर 'एकोदेवः'— जब देवता का विशेषण है। द्वितीय भूमि पर देवता 'एकं सत्' — जब वे अरूप सन्मात्र; तृतीय पर 'एकं तत्' — जब उन्हें अन्य सत्ता द्वारा भी विशेषित न किया जा सके[१] तब वे असत् कल्प; चतुर्थ भूमि पर वे सर्वोपाधि विनिर्मुक्त, अतएव 'न सत् ना.सत्'। यहाँ एक-एक भूमि को लेकर मन्त्रों की समीक्षा कर रहे हैं। एक के साथ अनेक जुड़ा हुआ है; अतएव एकदेव के प्रसङ्ग में अनेक देवों का प्रसङ्ग अपने आप उपस्थित हो जाएगा। उनका भी परिचय हम सूत्ररूप में देते जाएँगे। उसका विस्तार आगे चलकर होगा।

अद्वैतबोध की प्रथम भूमि का आधार देववाद है, जिसका सूत्र है 'एकोदेवः'। तब हम एक को देवता रूप में, पुरुषविध रूप में जानते हैं। फिर कहते हैं, ये अपने इष्ट देवता अथवा परम उपास्य हैं; अन्यान्य देवता उनकी ही विभूति हैं। ऋक् संहिता के द्वितीय मण्डल के आरम्भ में इस प्रकार के एकदेववाद का एक सुन्दर उदाहरण है[१२२७] ऋषि गृत्समद अग्नि को सम्बोधित करते हुए कहते हैं, 'तुम इन्द्र, तुम विष्णु, तुम ब्रह्मणस्पति, तुम मित्र, वरुण और अर्यमा हो, तुम त्वष्टा, रुद्र, मरुद्गण हो, तुम पूषा, सविता एवं भग' इत्यादि हो। पञ्चम

१२२६. 'एको देवः' ऋ. में भी है : १०।५१।१; तु. तैस. ५।६।१।३; शौ. १०।२।१४, ३।१३।४, १०।८।२८। ऋक् संहिता में साधारणतः एकदेव की संज्ञा दी गई है : जैसे, इन्द्र 'एक ईशान ओजसा' ८।६।४१।, 'एको वसूनि पत्यते' ६।४५।२०; एकः सुपर्णः १०।११४।४; एक पुरुष १०।९०, एक विष्णु १।१५४।४। अथवा विशेषण जुड़ने पर एकदेव का उल्लेख, जैसे 'देवो नेता, ५।५० सूक्त एक 'वशी' १०।१९०।२......। (तु. तैस. 'एक एव रुद्रः' १।८।६।१, श्वे. ३।२।

१. सत् एक इतिवाचक संज्ञा है। किन्तु अनुभव की चरमभूमि पर उसके द्वारा भी जब परम देवता का अवधारण सम्भव नहीं होता, तब उन्हें 'असत्' अथ च सत् का प्रभव या स्रोत कहना पड़ता है (तु. ऋ. सतो बन्धुम् असति निर् अविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा १०।१२९।४)। संहिता में यह उनका 'तत्' स्वरूप है।

१२२७. ऋ. २।१।३-७।

मण्डल के तृतीय सूक्त में वसुश्रुत आत्रेय की अग्नि-स्तुति भी इसी प्रकार की है। इसी रूप में संहिता के विभिन्न मण्डलों के वैश्वानर सूक्तों में देवता का आदिदेवत्व एवं सर्वमयत्व वर्णित हुआ है — विशेषतया बार्हस्पत्य भरद्वाज के तीन सूक्तों में[१] एवं आङ्गिरस मूर्धन्वान के सूक्त में।[२] चतुर्थ मण्डल में वामदेव, इन्द्र की भी वर्णना इसी प्रकार करते हैं।[३] गोतम राहूगण कहते हैं, अदिति ही सत्व देवता हुई हैं।[४] वाक् भी सर्वदेवमयी, सर्वसम्भूति।[५] 'विश्वदेव' यह विशेषण इन्द्र, सूर्य, सविता, वायु, बृहस्पति एवं सोम के लिए प्रयुक्त हुआ है।[६] इसके अतिरिक्त एकदेववाद की सुस्पष्ट एवं पूर्ण विवृति दो विश्वकर्म सूक्तों एवं हिरण्यगर्भ सूक्त में है।[७] विश्वकर्मा एवं हिरण्य गर्भ दोनों ही एकदेव के परिचायक विशेषण हैं।[८] प्रथम विशेषण का प्रयोग इन्द्र एवं सूर्य के लिए है। हिरण्यगर्भ की एक और संज्ञा प्रजापति है। यही सविता एवं सोम की भी संज्ञा है।[९] ब्राह्मण में एक देव की विशिष्ट संज्ञा प्रजापति है। सारे विशेषण छाँट देने पर उनकी सहज संज्ञा 'पुरुष'[१२२८] है।

---

१. ६।७-९ सूक्त।

२. १०।८८ सूक्त

३. ४।२६।१

४. अदितिर् द्यौर् अदितिर् अन्तरिक्षम् अदितिर् माता स पिता स पुत्रः, विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर् जातम् (जो हुआ है) अदितिर् जनित्वम् (जो होगा) १।८९।१०। तु. क. अदितिर् देवतामयी या भूते भिर् व्यजायत २।१।७।

५. ऋ. १०।१२५ सूक्त।

६. ८।९८।२, दूल्. हो नक्षत्र उत विश्वदेवः (देवता सूर्य रूप में प्रत्यक्ष) ६।६७।६, ५।८२।७, १।१४२।१२, ४।५०।६, ९।८२।३ और १०३।४

७. १०।८१, ८२;१२१।

८. विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि (इन्द्र) ८।९८।२; येनेमा विश्वा भुवमान्य् आभृता विश्व कर्मणाविश्व देव्यावता (सूर्य) १०।१७०।४।

९. १०।१२१।१०। सविता की ४।५३।२ सोम की ९।५।९।

१२२८. द्र. ऋ. १०।९० यही संज्ञा आगे चलकर व्यापक रूप में दर्शन में प्रयुक्त हुई है : मीमांसा प्रस्थान में 'औपनिषद् पुरुष' और तर्क प्रस्थान में

यह एकदेववाद की साधारण विवृति है। अब कई मन्त्रों की आलोचना से उसका विशेष परिचय प्राप्त करेंगे।

दशम मण्डल के एक मन्त्र में हम देखते हैं यह उत्सुक जिज्ञासा:[१२२९] 'कितनी अग्नि, कितने सूर्य, कितनी उषा, या फिर कितने ही जलस्रोत हैं? हे पितृगण, मैं इस बात को आप से रहस्यालाप के रूप में नहीं कह रहा हूँ; हे कविगण, जानने के लिए आप सब से यह जिज्ञासा कर रहा हूँ।' इस प्रश्न का उत्तर अष्टम मण्डल में है : [१]'एक ही अग्नि अनेक प्रकार से समिद्ध, एक ही सूर्य विश्व में सर्वत्र आविर्भूत, यह जो कुछ है, सब को एक ही उषा कर रही है विभासित, एक ही अनेक रूपों में सब कुछ हुआ है।'

आँखों के सामने हम अनेक की लीला देख रहे हैं, जैसे घर-घर में अग्नि समिन्धन हर ओर जल का प्रवाह, बार-बार उषा का आविर्भाव, नित्यप्रति सूर्य का उदय। अनेक की यह लीला ही क्या

साङ्ख्य का 'निर्विशेष पुरुष' और भागवत प्रस्थान में इससे ही 'पुरुषोत्तम'। किन्तु इस कारण एकदेववाद, बहुदेववाद से क्रमशः विकसित हुआ – यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि सभी देवताओं का ही स्वरूप तो एक ज्योति, एक सूर्य, एक आकाश है – यह भावना हम वैदिक वाङ्मय के आदि से अन्त तक अनुस्यूत देखते हैं। सारे देवता ही 'विश्व भूः', वे ही सब हुए हैं। यहाँ तक कि संहिता में ही पुरुष संज्ञा के ऊपर भी हम 'एकं सत्', 'एकं तत्' एवं 'असत्' की भावना पाते हैं। यदि हम अद्वैत बोध को प्रत्यक् दृष्टि से देखें, तो कह सकते हैं कि समग्र वैदिक भावना का ही चरण तात्पर्य चेतना के परम विस्फारण, प्रसारण में है जो ऋषि की भाषा में 'उरुलोकः' अथवा 'उरु का अनिबाध' है जो एक साथ 'सत्यताति' 'देवताति' एवं 'सर्वताति' का बोध उभारता है अर्थात् सत्य के साथ, देवता के साथ और सब के साथ तादात्म्य स्थापित करता है।

१२२९. ऋ. कत्य अग्नयः कति सूर्यासः कत्य् उषासः कत्य उस्विद् आपः, नो पस्पिनं वः पितरो वदामि पृच्छामि तः कवयो विद्मने कम् १०।८८।१८।

१. एक एवाग्नि बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वम् अनुप्रभूतः, एकै. वो.षा सर्वम् इदं वि भात्येकं ना इदं वि बभूव सर्वम् ८।५८।२।

सत्य है? जिसका उत्तर है, नहीं ऐसा नहीं बल्कि इसके भीतर ऋतच्छन्द में उस एक का ही विचित्र अयन है। .... उसकी लीला जिस प्रकार बाहर देख रहे हैं, उसी प्रकार फिर अपने भीतर देख रहे हैं। अग्नि-समिन्धन, उषा का प्रकाश और रश्मि का सर्वत्र आवेश – ये तीनों ही आधिभौतिक भाषा में आध्यात्मिक भावना एवं साधना के सङ्केत हैं। आकाश में उषा का आलोक स्वतः फूटता है। रात के अँधेरे में हम मृत जैसे रहते हैं, उषा आकर हमें जगा देती है[१२३०] यह जागरण हृदय में श्रद्धा का उन्मेष है। उषा का प्रकाश प्रातिभ संवित् या अतीन्द्रिय सचेतनता का आलोक है [१] जो बता देता है कि जिसकी उपासना में हम मत्त-मस्त हैं, वही सब नहीं, बल्कि उसके भी परे कुछ है।[२] उस समय देह के अरणिमन्थन द्वारा अभीप्सा की आग प्रज्वलित करनी पड़ती है, अतएव संहिता में अग्नि[३] 'उषर्भुत्' : उषा के प्रकाश में अर्थात् [४]श्रद्धा के आवेश में प्रातिभ संवित् के स्फुरण से जो जाग उठते हैं। उसी से लोकोत्तर का अस्पष्ट किन्तु सुनिश्चित बोध जागता है। धीरे-धीरे यह बोध स्पष्ट होकर मूर्द्धन्य चेतना में माध्यन्दिन सौर महिमा से आलोकित हो उठता है और उसका रश्मिजाल [५]आधार में सर्वत्र अनुप्रविष्ट होता है, मृण्मय जो है वह चिन्मय होता है।[६] उसके बाद यह गहरा सायुज्य बोध विश्व में सर्वत्र परिव्याप्त होता है। तब हम देखते हैं कि इस आधार में देवता की लीला ही विश्व में व्याप्त है। जो एक ही लीला है, एवं एक की ही लीला है। उस समय हम सायुज्य के सघनतम बोधा में अनुभव करते हैं कि वह लीला उनकी ही आत्म विसृष्टि है, जो परम व्योम में अध्यक्ष के रूप में विश्व की ओर निहार रहे हैं। यह अनुभव ही एक विज्ञान में

१२३०. ऋ. व्युच्छन्ती जीवम् उदीरयन्त्य् उषा मृतं कं चन बोधयन्ती १।११३।८।

१. तु. १०।८२।७ + केनोपनिषद् १।४-८।

२. तु. ऋ ३।२९।२ + श्वे. १।१३-१४

३. ऋ. १।४४।१, ९; ६५।९, १२७।१०, १३२।२; ४।६।८, ६।१५।१

४. तु. १०।१५१।१, ४

५. १।२४।७।

६. तु. १।१५१।१, ३।३८।४, ६।४७।१८, १०।९०।१, २

सर्वविज्ञान है, उपनिषद् में जिसका मन्त्र है 'सर्वं खल्व् इदं ब्रह्म तज्जलान्', 'ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्'।[७]

दूसरा मन्त्र है : [१२३१]'हे अग्नि, हे सोम, तुम्हारे उस शौर्य का परिचय प्राप्त किया, जब पणियों से तुम दोनों ने उनकी पुष्टि का साधन, गोयूथ छीन लिया, वृत्र के अवशेष को निर्जित किया एवं बहुजनहिताय उस एक ज्योति को खोज पाए।' ..... अग्नि और सोम युग्म देवता हैं अर्थात् आधार में चित् शक्ति अथवा चेतना के उन्मेष में दोनों एक साथ कार्य करते हैं। अग्नि अभीप्सा की शिखा है, जिसका उदग्र अभियान मर्त्य के गुहाशयन से द्युलोक की ओर है और सोम दिव्य प्रसाद की आनन्दधारा है, जो द्युलोक से मर्त्य आधार पर निर्झरित होती है।[१] शिखा ऊपर उठती है, धारा नीचे उतरती है।

७. छा. ३।१४।१, ६।८।७.... प्रश्न के उत्तर में जल की बात छोड़ दी गई। उषा में समिद्ध अग्नि की शिखा जब आदित्य में पहुँचती है अर्थात् श्रद्धाविष्ट हृदय की अभीप्सा जब आत्म चैतन्य में उत्तीर्ण होती है, तब वहाँ से पर्जन्य की मूसलधार वर्षा उतरती है, जो पृथिवी के बाँझपन को दूर करती है और अमृत आनन्द के अभिषेक से आधार को ऋद्ध करती है। तु. 'समानम् एतद् उदकम् उच् चै. त्य् अव चा. हभिः, भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्य अग्नयः' – यह एक ही जल दिन पर दिन ऊपर की ओर जाता है फिर नीचे की ओर उतर आता है, भूमि को पर्जन्य ऋद्ध करते हैं और द्युलोक को ऋद्ध करती हैं अग्नियाँ १।१६४।५१। द्र. पर्जन्य सूक्त ५।८३ (मूसलधार वर्षण का सुन्दर वर्णन-चित्र) एवं ७।१०१ (अध्यात्म भावना के द्वारा गुम्फित वर्णना) पर्जन्य समस्त ओषधियों का (अध्यात्म दृष्टि से ज्योतिर्वाही नाड़ी जाल का) वीर्याधानकारी वृषभ है; चर-अचर दोनों की ही आत्मा का वास उसी में है ७।१०१।६) वृत्रहन्ता इन्द्र के द्वारा सप्तसिन्धु के अवरोध मोचन के चित्र में भी इस प्रकार की भावना पाई जाती है (१।३२।१२, २।१२।३, १२, ४।१७।१, १८।७, २८।१, ८।३२।५०, १०।८९।७.....)।

१२३१. ऋ. अग्निषोमा चेति तद् वीर्यं वां यद् अमुष्णीतम् अवसं पणिं गाः, अवा. तिरतं बृसयस्य शेषो अविन्दतं ज्योतिर् एकं बहुभ्यः १।९३।४।

१. अग्निः तु. ३।२९।२, १।१६४।५१। सोमः 'वनस्पतिं पवमान मध्वा सम् अङ्ग्धि धावया, सहस्रवल्शं हरितं भ्राजमानं हिरण्यम्' – हे पवमान सोम

सङ्कल्प का संवेग जितना तीव्र होता है, देवता का प्रसाद चेतना को उतना ही सिक्त, स्नात करता है। अभीप्सा और प्रसाद दोनों ही उनकी युग्म शक्ति हैं। दोनों का शौर्य आधार में आलोक के आवरण को तोड़ता है। जिस आवरण या अन्तराल को पणि और वृत्र ने रचा है। पणि हमारी वणिक्-वृत्ति अथवा बुभुक्षा है; जो सब कुछ अपने लिए सुरक्षित रखता है और यदि कुछ देता भी है, तो वैसे ही उसका प्रतिदान भी चाहता है। इस मर्त्य आधार में ही अमृतज्योति छिपी हुई है, वही[२] संहिता के रूपक की भाषा में 'गावः' अथवा गोयूथ है।[३] उसे हमारी आत्मम्भरि अथवा स्वार्थपर बुभुक्षा ने आधार के दुर्गम स्थान में पाषाण की प्राचीरों की आड़ में बन्दी कर रखा है। किसी प्रकार भी उस अमृतज्योति को बाहर नहीं आने देगी, उसी गूढ़ ज्योति के सहारे वह जीवित है, किन्तु उसे मुक्त कर देने में उसका ही कल्याण होगा – यह बात वह कभी किसी तरह भी नहीं समझेगी। यही वृत्र की माया अथवा चेतना के ऊपर अविद्या का आवरण है। आधार के कितने गहरे उसके प्रभाव की जड़ें पसरी हैं, उसे कौन बतला सकता है? तब भी जीवन में आलोक की मुक्ति चाहिए ही चाहिए। पणि की बाधा, वृत्र का आवरण तोड़ना ही होगा। आधार में अभीप्सा की अग्नि प्रज्वलित करके, प्रसाद की सौम्य सुधा में चेतना

अपनी मधुधारा में अनुलिप्त करो वनस्पति को, जिसकी सहस्र शाखाएँ हैं, जो आपीतश्याम है, जो प्रकाशमान् है, जो हिरण्य है ९।५।१०। वनस्पति यहाँ अग्नि का प्रतीक है, आधार के नाड़ी जाल में सञ्चरण करने के कारण जो सहस्रशाख है। युक्त अग्नि-सोम का वर्णन। और भी तु. 'वृष्टि दिवः परि स्रव द्युम्नं पृथिव्या अधि' – हे सोम, द्युलोक से वृष्टि वर्षण करो, जो होगी पृथिवी की महाद्युति ९।८।८; ८९।१; ६५।२२, २४ (आधार में कहाँ-कहाँ सोम का सवन होता है, उसका वर्णन ....।

२. तु. 'गवां सर्गा इव रश्मयः' ४।५२।५ (रश्मि-जाल के साथ गोयूथ की तुलना); १।९२।४, ७।७९।२ (वही)।

३. अयं निधिः सरमे अद्रि बुध्नः ..... रक्षन्ति तं पणयो ये सुगोपाः – हे सरमा, पाषाण गुहा में यह जो गुप्तधन है, उसकी रक्षा पणि करते हैं; जो सतर्कतापूर्वक रक्षा करना जानते हैं (पणि, सरमा संवाद १०।१०८।७, सरमा देवशुनी, दिव्य प्राण की सन्धानी ज्योति, समग्र सूक्त ही द्रष्टव्य)।

को आनन्दित करके प्रकाश के देवता स्वयं ही आकर तोड़ेंगे। वे पणि के चुङ्गुल से आलोकयूथ को छीन कर बाहर लाएँगे और अचिति की अप्रकेत, अस्पष्ट गहराई से वृत्र का अधः प्रसृत शिराजाल समूल नष्ट कर देंगे। तब जीवन में आलोक फूटेगा – ज्योति का स्फुटन विकसन होगा।[४] बाधा मुक्त गोयूथ के मध्य सोम्य पुरुष 'गोविन्दु' रूप में आकर खड़े होंगे, प्राण-समुद्र की तरङ्गों में आन्दोलित ज्योतिर्मय देवता अपना 'तुरीय धाम' उद्भाषित करेंगे। 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय च' उस एक ज्योति को प्रस्फुरित करेंगे[५] जो आर्य चेतना की दिग्दर्शक एवं एषणीय दोनों ही है। और तब वही एक ज्योति ही अनेक को अखण्ड सौषम्य के सूत्र में गूँथेगी।

एक मन्त्र और है : [१२३२]'एक पक्षी; वह आविष्ट हुआ समुद्र में; इस भुवन को टकटकी लगाए, निर्निमेष देख रहा है वह; उसे अपने सहज मन से देखा बहुत निकट; उसे माँ चाट रही है, वह भी चाट रहा है माँ को।' .... ऋषि अन्तरिक्ष की ओर आँख उठाकर देख रहे हैं कि एक अकूल नीले सागर में [१]एक शुभ्र ज्योतिर्मय हंस तैरता जा रहा है। वह केवल ऊपर-ऊपर तैरता नहीं जा रहा है, उसकी ज्योति से आकाश आच्छादित है और वह ज्योति आकाश के अणु-अणु में अनुप्रविष्ट है। यह जैसे रूप-सागर के उस पार रूप और अरूप के मुहाने का चित्र है। वहाँ से वह सुपर्ण इस भुवन को देख रहा है, किन्तु उस ज्योति द्वारा देख रहा है – जो ज्योति वह स्वयं ही है। वस्तुतः यह देखना हम लोगों की तरह दृश्य को बाहर रखकर आँखों द्वारा देखना नहीं है, बल्कि यह सब के द्वारा देखना अथवा सब कुछ

४. गोविन्दुर् द्रप्सः ...... अपाम् ऊर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति ९।९६।१९; तु. २२।७।

५. ७।३३।७, १०।४३।४।

१२३२. ऋ. एकः सुपर्णः स समुद्रम् आ विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे, तं पाकेन मनसा पश्यम् अन्तितस् तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम् १०।११४।४।

१. तु. ४।४०।५;

होकर देखना है – जिसे संहिता की भाषा में [२]'विचक्षणता' कहा गया है। उस के इस देखने में अथवा होने में दूर का आकाश दूर नहीं रहता, बल्कि हृद्य समुद्र रूप में यहाँ उतर आता है। तब मैं इस हृदय में नये रूप में सूर्य का उदय देखता हूँ। उस समय मेरी चेतना शिशु की चेतना जैसी स्वच्छ और सहज हो गई। अतएव अन्तर के गहरे एकान्त में उसे स्वयं के बहुत ही निकट से देखा। उसका नया रूप देखा। द्युलोक में जो आदित्य है वही पार्थिव आधार में वैश्वानर अग्नि है। अरणिमन्थन द्वारा मेरे भीतर उसका आविर्भाव होता है, यह देहरूपिणी अधरारणि उसकी माता है। सद्यः प्रसूता धेनु की परम ममता के साथ वह इस नवजात देवता को चाट रही है; और देवता भी उसे चाट रहा है। उपनिषद् की भाषा में आधार योगाग्निमय होता जा रहा है। सहज शब्दों में इस ऋक् का तात्पर्य है: 'देवता यहाँ इस आधार में वेदिषत् वैश्वानर रूप में हैं। देवता वहाँ उस द्युलोक में – शुचिषत् अन्तरिक्ष सत् हंस रूप में हैं। यह पुरुष और वह पुरुष एक।' अगली ऋचा में इस सुपर्ण को और भी स्पष्ट करते हुए कहा जा रहा है 'एकः सन्'।

उसके बाद त्रित आप्त्य का एक अग्नि मन्त्र :[१२३३] 'एक ही समुद्र जो समस्त प्राण-संवेगों का धारक है। विचित्रजन्मा हैं वे, हमारे हृदय से ही देख रहे हैं चारों ओर, दो रहस्यों की गोद में रहकर पकड़े हुए हैं मातृस्तन को। उत्स में ही निहित है सुपर्ण का पद।'

२. इस शब्द में हमें इस समय कृतित्व का आभास मिलता है। वह भी मिथ्या नहीं। वस्तुतः आदित्य की दृष्टि ही सृष्टि है। प्राकृत भूमि पर रहकर हम इसे नहीं समझ सकते। जब अपने भीतर बैठकर इष्ट के अविर्भाव को देखते हैं, तब हम समझते हैं कि दृष्टि ही सृष्टि है। उसी प्रकार उस विचक्षण के ईक्षण से इस भुवन का उल्लास और रूप का जगत् वर्तमान है जहाँ ये ही 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (६।४७।१८)। मूल में है 'विचष्टे'।

१२३३. ऋ. एकः समुद्रो धरुणो रयीणाम् अस्मद् धृदो भूरिजन्मा वि चष्टे सिषक्त्य् ऊधर् निण्योर् उपस्थ उत्सस्य मध्ये निहितं पदं वेः १०।५।१।

ऋषि के [1]इष्ट देवता अग्नि हैं। प्रगाढ़ रहस्योक्ति के द्वारा वे यहाँ इष्ट का परिचय दे रहे हैं। कहते हैं अग्नि दो रहस्यों की गोद में हैं, वे ही उसके पिता एवं माता हैं। [2]याज्ञिकों की दृष्टि में वे उत्तरारणि एवं अधरारणि हैं और संहिता में अनेक स्थलों पर अग्नि को द्युलोक एवं पृथिवी का पुत्र कहा गया है। पृथिवी आधार शक्ति है, और द्युलोक उत्तर ज्योति है। शक्ति और ज्योति के मिलन से ही आधार में अग्नि का आविर्भाव तपश्चेतना के रूप में होता है, जिसे अध्यात्म दृष्टि से, [3]प्राण और प्रज्ञा का मिलन कहा जाता है। आधार में अग्नि के आविर्भाव के बाद[4] उसे पुष्ट करने का दायित्व द्युलोक की सात प्राण चञ्चला तरुणियाँ ग्रहण करती हैं। ये सब विश्वप्राण की शक्ति हैं जो संहिता में अप् (जलस्रोत) अथवा नदी रूप में वर्णित हैं। अध्यात्म दृष्टि से प्राणस्रोत प्रत्येक नाड़ी में सञ्चरण करता है, अतएव नाड़ी का

---

१. त्रित ऋषि (नि. ४।६।) एवं देवता (= त्रिस्थान, इन्द्र नि. ९।२५) दोनों ही। ऋक् संहिता के दशम मण्डल के प्रारम्भ में सात अग्नि सूक्तों में ग्रथित एक उपमण्डल उनके द्वारा रचित। इसके अतिरिक्त उनका एक आदित्य सूक्त (८।४७), तीन सोम सूक्त (९।३३, ३४, १०२) एवं एक वैश्वदेव सूक्त (१।१०५) है। अग्नि से आदित्य में एवं आदित्य से ऊपर सोम में एवं अन्त में विश्व चेतना में फैल जाना– इस क्रम में त्रित की साधना और सिद्धि का एक सुकल्पित रूप देखने को मिलता है। उनके सूक्त रहस्योक्तियों से पूर्ण हैं।

२. तु. ३।२९।२; द्यावा पृथिवी के पुत्र ३।२।२, ३।११, २५।१; १०।१।२, २।७, १४०।२....।

३. तु. कौउ. ३।२ यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः ३।४

४. तु. 'अवर्धयन्त् सुभमं सप्त यह्वीः'– संवर्द्धित किया उन्हें सात प्राण चञ्चला तरुणियों ने (३।१।४) वे सब द्युलोक की तरुणियाँ हैं जो विवसना हैं, अथ च अनग्ना हैं,.... सात वाणी के रूप में एक शिशु को धारण किया (६)। पुराण में हम देखते हैं कि कुमार की जननी एवं धात्री उमा और छह कृत्तिकाएँ हैं। अध्यात्म दृष्टि से अन्न, (जड़) प्राण, मन, विज्ञान (महः) आनन्द (जनः) चित् (तपः) एवं सत्य विश्व के सात मूलतत्त्व हैं। आधार में शिशु चिदग्नि 'वर्धमान्' होते हैं (तु. १।१।८) इनके द्वारा। वाणी = व्याहृति।

प्रतीक नदी है। [5]अमृत प्रवाहा एवं ऊर्ध्वस्रोता होकर ये ही आधार में चिदग्नि का पोषण करती हैं। इन सात धाराओं का एक सङ्गम है। ऋषि वामदेव की भाषा में यह सङ्गम [6]'अन्तः समुद्रे हृदि, अन्तर आयुषि'– हृद्य समुद्र की गहराई में, जीवन के मर्म मूल में है। शिशु अग्नि का यही मातृस्तन हैं, इसे ही वह पकड़े हुए है। रूपक तोड़कर योग की भाषा में यदि व्यक्त किया जाए, तो सहस्रार से शक्तिपात के फलस्वरूप मूलाधार से चिदग्नि जाग्रत होकर एवं हृदय में निविष्ट होकर नाड़ी समूह की अमृत धारा में पुष्ट होता है। जो हृदय सोम्य सुधा की सप्तवेणी है उसे इस मन्त्र में 'उत्स' कहा गया है। इसी उत्स की गहराई में निहित है 'विः' अथवा [7]दिव्य सुपर्ण का परम पद। यह दिव्य सुपर्ण आदित्य अथवा विष्णु है, जो अधिभूत दृष्टि में माध्यन्दिन सूर्य है। उसका परम पद इस हृदय के हीं गहरे निहित है। अर्थात् माध्यन्दिन दीप्ति की महिमा में जो द्युलोक की तुङ्गता पर है, वह ही इस हृदय में सुधा के उत्स में निमज्जित है। और वह उत्स नवजातक चिदग्नि का मातृस्तन है। अग्नि प्रबुद्ध आत्म चैतन्य है, और आदित्य नित्य जाग्रत परम चैतन्य है – दोनों ही इस हृदय में युगनद्ध रूप में हैं। इस युगनद्धता के अनुभव में विस्फारित होता है, खुलता है और उत्स समुद्र होता है। वह समुद्र जिस प्रकार आदित्य ज्योति का समुद्र है, उसी प्रकार अग्नि ज्योति का भी समुद्र है। उस समय प्रबुद्ध चिदग्नि मूर्द्धन्य चेतना में वैश्वानर रूप में आविर्भूत होता है। जो वैश्वानर है, वह ही सूर्य है। [8]यह वैश्वानर रात्रि में भूलोक की मूर्द्धा

---

५. तु. 'महि त्वाष्ट्रम् ऊर्जयन्तीर् अजुर्यं स्तभूयमानं वहतो वहन्ति' – त्वष्टा के अजर पुत्र जो हैं वे स्तब्ध या जड़ीभूत हैं (आधार में) उन्हें प्रबल वेग से उद्दीप्त करके बहती रहती हैं प्राण प्रवाहा नदियाँ ३।७।४। उसके फलस्वरूप योगाग्निमय प्राप्त होता है (श्वे. २।१२)।

६. ४।५८।११।

७. तु. विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः १।१५४।५।

८. द्र. १०।८८ जिसके ऋषि हैं आङ्गिरस 'मूर्धन्वान्' एवं देवता हैं सूर्य अथवा वैश्वानर अग्नि। यहाँ कहा जा रहा है कि 'मूर्धा भुवो भवति नक्तम् अग्निस् ततः सूर्यो जायते प्रातर् उद्यन्' अर्थात् भूलोक का मूर्द्धा होता है रात्रि में यह अग्नि, उसके बाद प्रातः जन्मता है उदीयमान होकर (६)

में अर्थात् सहस्रार में सोमदीप्ति के रूप में रहता है उसके बाद प्रातः उदय लग्न में सूर्य रूप में उत्पन्न होता है। यहाँ इस सौर ज्योति रूप में अग्नि के आविर्भाव का वर्णन समुद्र रूप में किया गया है। यह समुद्र, ज्योति का समुद्र है– जो एक एवं अद्वितीय है। 'रयि' अथवा विश्व के शक्तिस्रोत का वही धारक है। यही मूर्द्धन्य ज्योतिः-समुद्र हृदय में प्रतिरूपायित होता है, हृदय भी समुद्रवत् होता है। यह जो एक एवं अद्वितीय ज्योतिः समुद्र रूपी चिदग्नि अथवा आत्म ज्योति है, वही 'भूरिजन्मा' अर्थात् विचित्र रूपों में प्रजात है। उपनिषद् की भाषा में[९] वही 'एको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्चे' अर्थात् एक वही रूप-रूप में प्रतिरूप होकर है और सब के बाहर भी है। इसके अतिरिक्त स्वयं को विचित्र रूपों में विसृष्ट करके 'विचक्षण' होकर स्वयं ही स्वयं की ओर देख रहा है। इस विचक्षणता का परिचय हम इसके पूर्व आलोचित ऋक् में प्राप्त कर चुके हैं, इस बार वे मूर्द्धन्य समुद्र से नहीं, बल्कि हमारे इस हृद्य समुद्र से देख रहे हैं। हमारी आँखों द्वारा ही उनका देखना या फिर हमारी आँखों से ही क्यों कहें, यह उनकी आँखें हैं। वे ही विचित्र, विलक्षण 'मैं' रूप में देख रहे हैं। यह एक अनुपम सायुज्य का अनुभव है।[१०]

अध्यात्म दृष्टि में रात्रि में योग निद्रा में चिदग्नि मूर्द्धा में प्रकाशित होता है, सोमदीप्ति के रूप में फिर वह सोम्य चेतना ही दिन के समय आदित्य की प्रभास्वरता में प्रज्वलित हो उठती है। अग्निहोत्रयाग का भी तो यही परिणाम होता है। जिसकी सूचना उसके सायं-प्रातः के दो आहुति मन्त्रों में प्राप्त होती है।

९. क. २।२।९-११।

१०. जिस अद्वैतबोध में आत्मा, विश्व और देवता एक हो जाते हैं, उसका परिचय हमें इस ऋक् में प्राप्त हुआ। चिदग्नि के उद्‌बोधन या जागरण से लेकर अन्तिम विस्फारण या फैलाव तक साधना की पूरी रूपरेखा भी अति सङ्क्षेप में इसमें अङ्कित है। और यह भी देखा कि इसके ही भावाङ्कुर उपनिषद् में पल्लवित हुए हैं। इस प्रसङ्ग में समस्त सूक्त ही अनुध्यान की अपेक्षा रखता है, क्योंकि अद्वैतसिद्धि के परम विभाव का परिचय हमें इस सूक्त के ही अन्तिम मन्त्र में प्राप्त होता है– परम व्योम

उसके बाद अत्रिवंशीय ऋषि श्रुतविद का यह एक मन्त्र है:[१२३४] 'वही तो तुम्हारी सुमङ्गल महिमा है, हे मित्र, हे वरुण, दिन पर दिन निश्चला हैं जो, क्षरित हुईं किसकी प्रेरणा से। अपने आप फैल जाने वाली पयस्विनी निखिल धाराओं को तुम दोनों सतह से ऊपर उठा दो, और तुम्हारे ही अनुसरण में वह एक मात्र चक्र नेमि आवर्तित होती रहे।'....इसके ठीक पूर्व-मन्त्र में एक दर्शन की विवृति है, उसमें निर्विशेष अद्वैतानुभव का सुस्पष्ट उल्लेख है। उसकी चर्चा आगे चलकर करेंगे। किन्तु इस मन्त्र के दर्शन में उसकी ही अनुवृत्ति है– आलोचना करते समय इस बात को याद रखना होगा। पूर्व के ऋक् का 'तद् एकं' मित्रावरुण उसकी ही सम्भूति है। एक ही तत्त्व का आरोह क्रम पूर्व के ऋक् में है और वर्तमान में ऋक् उसका अवरोह क्रम है।....वरुण एवं मित्र अधिभूत अथवा आधिभौतिक दृष्टि में क्रमशः आकाश और सूर्य हैं। दिन के उजाले में सब कुछ आलोकित होता है, इसलिए वह विश्व चेतना का प्रतीक है। दिन का उजाला छीजने पर चाँदनी खिलती है अथवा तारे टिमटिमाते हैं।[१] या फिर ऐसा भी हो सकता है कि यह भी न रहे, किन्तु ऐसा कुछ है जिससे ज्योति छिटकती रहती है।[२] जिसके भीतर चाँदनी, तारों की टिमटिमाहट अथवा अनालोक शून्यता है, वह पुरुष ही वरुण हैं।[३] वे सन्मात्र या

में असत् और सत् के समाहार में, जिसका रूपायन ईशोपनिषद् में सहवेदन के ४० मन्त्रों में देखते हैं (९-१४)।

१२३४. ऋ. तत् सु वां मित्रा वरुणा महित्वम् ईर्मा तस्थुषीर अहभिर् दुदुह्रे, विश्वाः पिन्वथः स्व सरस्य धेना अनुवाम् एकः पविर् आ ववर्त ५।६२।२।

१. संहिता और ब्राह्मण में इस बात को ही थोड़ा घुमा-फिरा कर कहा गया है : अहोरात्रे वै मित्रावरुणौ (तैस. २।४।१०।१), मैत्रं वा अह. वारुणी रात्रिः (तै ब्रा. १।७।१०।१)। सब कुछ को 'आवृत' अथवा आच्छादित करने के कारण वरुण आकाश। तु. नि. वरुणो वृणोतीति सतः १०।३। यह वरुण मेधाच्छन्न आकाश के रूप में मध्यस्थान; फिर द्युस्थान आदित्य वरुण भी हैं (नि. १२।२१, २५) संहिता में उनकी ही प्रधानता है।

२. तु. क. २।२।१५।

३. वरुण रात्रि का आकाश, जिसमें पूनम जैसी चाँदनी है फिर जिसमें चाँद नहीं, केवल तारों की टिमटिमाहट है– जैसे अमावस्या में। तारों के राजा

शुद्धसत्ता हैं जिस प्रकार मित्र चित्स्वरूप हैं।[4] दोनों ही आदित्य अथवा अदितिपुत्र हैं अर्थात् अखण्डिता अबन्धना परमचेतना के प्रतिरूप हैं। यही परमचेतना पूर्व के ऋक् में 'तद् एकम्' है। इस संवित्-सिद्धि अथवा परिपूर्ण आत्मचेतना में प्रतिष्ठित होने को वेद में दो रूपकों द्वारा चित्रित किया गया है। एक रूपक वृष्टिपात का है और दूसरा सूर्योदय का है। आकाश में मेघ हैं, मेघों में जल है। किन्तु तब भी वृष्टि नहीं हो रही है। शुष्कता के कारण जीवन ऊसर अनुर्वर हो गया।[5] ऐसी स्थिति में मेघ 'वृत्र' अथवा आवरणशक्ति है, जिसे अध्यात्म दृष्टि में अविद्या कहा जाता है। वज्र और विद्युत् के आघात से मेघ को विदीर्ण करके जलधारा को उतार लाना इन्द्र का कार्य है। यह अन्तरिक्ष या प्राणलोक की घटना है। इसके अतिरिक्त अँधेरा भी 'वृत्र' है। उसे प्रकाश के देवता विष्णु पराजित करते हैं। मध्यरात्रि की

वरुण के 'स्पश' (>√ पश 'देखना'; तु Lat. 'specis to see') अथवा चर (दूत) उन्हें घेर कर बैठे हैं (ऋ. १।२५।१३) इसलिए वरुण 'सहस्रचक्षाः' हैं (७।३४।१०)। ऋक् संहिता में यही विशेषण मात्र तीन बार और सोम के सम्बन्ध में प्राप्त होता है। ९।६०।१, २; ६५।७)। उससे वरुण के साथ सोम का सम्बन्ध स्पष्ट होता है। यह विशेषण तारों से आच्छादित आकाश की याद दिला देता है। आकाश में जब चाँद अथवा तारे भी नहीं रहते, तब जो रहता है वह केवल वरुण का 'शूनम्' अथवा शून्यता है (२।२७।१७, २८।११, २९।७)।

४. मित्रावरुण एक युग्म है। पुरुष सूक्त में (१०।९०।१) इस युग्म का वर्णन है। जो सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष, सहस्रपात् हैं, वे सहस्ररश्मि मित्र हैं और जो सब ओर से सब कुछ 'आवृत' करके उसके परे चले गए हैं, वे वरुण हैं, उपनिषद् में आदित्य की शुक्ल ज्योति एवं परःकृष्ण नीलिमा का उल्लेख है (छा. १।६६), और एक साथ गुहाप्रविष्ट एवं परमपरार्धस्थित छायातप की चर्चा है (क. १।३।१)। यह भी मित्र वरुण की विवृति है।

५. यह शुष्कता संहिता में वृत्रानुचर 'शुष्ण' है (<√ शुष् 'सूख जाना'), उसका अनेक उल्लेख है। शुष्ण श्रृङ्गी (१।३३।१२; तु. सप्तशती का महिषासुर) उसके कठिन पुर अथवा ग्रन्थि को भेद कर इन्द्र जल स्रोत बहा देते हैं (५।५१।११), वह जल स्वर्वती अथवा (ज्योतिर्मयी) (ख ओजसा शुष्णस्याण्डानि भेदति जेषत् स्वर्वतीर् अपः ८।४०।१०)।

अन्धतमिस्रा के कुहर या विवर से ही आलोक का अभियान शुरू होता है। जो छह भूमियों को पार करके अन्त में[6] विष्णु के परम पद में उत्तीर्ण होता है, जहाँ मधु अथवा अमृत आनन्द चेतना का उत्स है। यह द्युलोक की घटना है। किन्तु इन्द्र-विष्णु युग्म देवता हैं और[7] वृत्रवध अथवा अविद्यानाश में ये परस्पर सहयोगी हैं....पुनः वर्षण को[8] सामान्यतः द्युलोक की घटना मानकर भी वर्णन किया गया है, जिस प्रकार यहाँ होता है। उस समय वर्षा की धारा सोम्य सुधा की धारा है, आनन्दचेतना का निर्झरण है। तब धारा मेघ से नहीं झरती बल्कि द्युलोक की धेनुओं के थन से झरती है।[9] इन धेनुओं का वर्णन अनेक स्थलों पर है; वे इरावती, अमृतसिन्धुरूपिणी, नित्य तरुणी आलोक निर्झरिणी हैं। अध्यात्म-दृष्टि से वे 'धिषणा' अथवा प्रज्ञा हैं। प्रस्तुत ऋक् में द्युलोक की अमृत पयस्विनियों का वर्णन है।...इस ऋक् का रहस्यार्थ आधुनिक भाषा और भाव में अनुवाद करने पर इस प्रकार होगा– 'अखण्ड असीम सत्य की ज्योति जब हृदय के आकाश को उद्भास्वर या उद्भासित कर गई, तब चेतना में जागा एक अनिर्वचनीय विपुल महिमा का सुदीप्त बोध देख रहा हूँ, आलोक का निर्झर ऊर्ध्व में स्तब्ध है, ठहरा हुआ है। किसकी अदृश्य प्रेरणा (ईर्मा) से तटबन्ध तोड़ने वाले प्लावन के रूप में वह निर्झर आधार में उतर आया, उच्छलित हो चला दिन पर दिन (अहभिः)। चेतना में वह धारा विस्फारित हुई अनाहत वाणी (धेनाः) के गुञ्जरन से, उसे उपचित, उच्छलित कर गया देवता के चिन्मय सत्य का ज्योतिरावेश। देखा कि देवता मेरे नित्य सहचर हैं। उनकी ही अमोघ देशना या निर्देश से एक बृहज्ज्योति का परिमण्डल (पविः) मुझको घेरे नित्य आवर्तित हो रहा है।' इसके पहले के ऋक् में जो लोकोत्तर 'एकं तत्' है, इस ऋक् में

---

६. तु. १।२२।१६-२१, १।१५४, १५५ सूक्त।

७. तु. ७।९९।४, ५।

८. तु. १।१६४।५१; 'तिस्रो द्यावस् त्रेधा सस्रुर आपः' तीन द्युलोक, तीन धाराओं में जल झरा ७।१०१।४।

९. विशेष द्र. ४।५८ सूक्त; और भी द्रष्टव्य १।१५१।५, ५।५९।२, ३।५५।१६-१७, ६।२८ सूक्त, १०।१६९ सूक्त।

उसका ही आविर्भाव जीवन के अभियान में 'एकं पविः'—रूप में हुआ है।

ऋक् संहिता के दशम मण्डल में एक विवाह सूक्त है (८५)। सूक्त के प्रथमांश में सूर्या के साथ सोम के विवाह का विवरण प्राप्त होता है। यह दैवविवाह ही मानव विवाह का आदर्श है। विवाह का वर्णन पुराण के उमा-महेश्वर के विवाह का स्मरण दिलाता है।

सूर्या का विवाह होगा। सोम उसे वधूरूप में चाहते हैं अश्विद्वय उसे वरण करने आए हैं। कन्या के सम्प्रदाता सविता हैं (९) सूर्या को अश्विद्वय अपने त्रिचक्र रथ पर बैठा कर सोम के पास पहुँचा देंगे (१४, १५)। रथ सीधा सहज रथ नहीं है। सूर्या का मन ही रथ है, द्युलोक उसकी छत है, श्रोत्र उसके दो चक्र हैं, व्यान उसका अक्ष दण्ड या धुरा है, ऋक्-साम उसके वाहन हैं, द्युलोक से होकर उसके आने-जाने का रास्ता है (१०-१२)....मुश्किल है रथ के चक्रों को लेकर। अश्विद्वय का रथ त्रिचक्र है। किन्तु वे जब सूर्या को लेने आये तब देखा गया कि रथ के मात्र दो ही चक्र हैं। तो फिर और एक चक्र कहाँ गया? ऋषि कह रहे हैं, सूर्या, तुम्हारे दो चक्रों की जानकारी काल के पर्याय रूप में ब्राह्मणों को है, किन्तु एक चक्र जो गोपन है, उसे केवल सत्यद्रष्टा ही जानते हैं (१६)।[१२३५]

स्पष्ट ही दिखाई देता है कि यह आख्यान साधना का रूपक है। अगली तीन ऋचाओं में उसका आभास है (१७-१९)। सूक्त के आरम्भ में ही सोम का जो वर्णन दिया गया है, उसमें कहा गया है कि सोमलता को कूट-छानकर लोग मान लेते हैं कि यही तो है - सोम जिसका हमने रस पिया; किन्तु ब्रह्मविद् जिस सोम को जानते हैं, उसे कोई पी नहीं सकता (३, ४)।[१२३६] इस सोम के साथ सूर्या के मिलन को हठयोगी कहेंगे कि यह इड़ा या चन्द्रनाड़ी के साथ पिङ्गला

१२३५. द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्मण ऋतुथा विदुः, अथैकं चक्रं यद् गुहा तद् अद्धातय इद् विदुः।

१२३६. सोमं मन्यते पपिवान् यत संपिषत् ओषधिम्, सोमं यं ब्रह्माणो विदुर् न तस्याश्नाति कश्चन्...न ते अश्नाति पार्थिवः।

या सूर्य नाड़ी का मिलन है, जिसके फलस्वरूप सुषुम्णा का पथ खुल जाता है और प्राण का प्रवाह ऊर्ध्वगामी होकर सहस्रार में पहुँचता है। संहिता में इस पथ को द्युलोक के यातायात का पथ कहा गया है, जिस पथ पर चलकर सूर्या अमृत लोक में आरोहण करेगी (११, २०)।[१२३७] सूर्या को इस प्रकार वहन करके ले जाने की चर्चा और भी कई स्थानों पर है।

अब इस आख्यान का विश्लेषण करके देखें। उसके पहले ऋग्वेद में चेतना के उत्तरायण अर्थात् चेतना के ऊर्ध्वमुखी क्रमिक अभियान को समझाने के लिए जो रूपक अत्यधिक प्रचलित है, उसका कुछ विवरण देना ज़रूरी है।

वैदिक भावना में चेतना का उत्तरायण मानो अन्धकार का आवरण (वृत्र) हटने पर आदित्य के उदयन जैसा है।[१२३८] आधी रात के गहरे अँधेरे से शुरू होकर माध्यन्दिन सौरमहिमा तक देवयान का मार्ग विस्तारित है, उसी मार्ग को पकड़कर चेतना का उत्तरायण होगा। उसके सात पर्व या सोपान हैं। प्रथम पर्व में अन्धकार के भीतर से ही अदृश्य आलोक के तीर की तरह अश्विद्वय तीव्र गति से चलते हैं। अश्विद्वय में एक तो 'तमोभाग' है, क्योंकि मध्यरात्रि के पश्चात् अन्धकार के अवक्षय के बावजूद आलोक का उपचय तब भी अदृश्य रहता है; और एक 'ज्योतिर्भाग' है; वही तरलित अन्धकार के भीतर आलोक के आभास को प्रस्फुटित करता है। ज्योतिर्भाग अश्वी, उद्बुद्ध चेतना को उषा के फ़ूल पर पहुँचा देता है। उषा की अरुणिमा उत्तरायण का द्वितीय पर्व है, जिसे आध्यात्मिक दृष्टि से श्रद्धा का आवेश अथवा प्रातिभ संवित् का उन्मेष कह सकते हैं। उषा के पश्चात् सविता का आविर्भाव तृतीय पर्व है, जब हम अलख की प्रेरणा का स्पष्ट अनुभव करते हैं। यास्क की भाषा में पृथिवी में अर्थात् अवरप्रकृति में तब भी अन्धकार रहता है, किन्तु सिर के ऊपर द्युलोक का आलोक चारों ओर फैल जाता है। उसके बाद चतुर्थ पर्व में हृदय की पूर्वाशा के आँचल में भग रूप में बालसूर्य का आविर्भाव

१२३७. दिवि पन्थाश्चराचरः .... आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकम्।

१२३८. द्र. नि. १२।१-१९।

होता है। पञ्चम पर्व में भग किशोर रूप में सूर्य हो जाते हैं। षष्ठ पर्व में उनका तारुण्य जब रश्मि जाल को पुष्ट,[१] समूहित और व्यूहित करता है, तब वे पूषा होते हैं। अन्त में आदित्य जब सप्तम[२] पदक्षेप में मूर्द्धन्य चेतना के मध्याकाश में आरूढ़ होते हैं [३]तब वे 'युवा अकुमार:' विष्णु होते हैं। [४]विष्णु का परम पद ही हमारा काम्य है।

किन्तु चेतना का उत्तरायण यहाँ ही समाप्त नहीं होता है। अन्धकार से आलोक का मार्ग पकड़ कर आदित्य-परिक्रमा का यह एक गोलार्द्ध पार किया गया। इसके बाद एक और गोलार्द्ध मध्य दिन से मध्य रात्रि तक है। प्राकृत दृष्टि से जान पड़ेगा, कि उसे पार कर यह आलोक से अन्धकार की गहनता में उतर जाने का मार्ग है, किन्तु योगी को जाग्रत-अवस्था में यह अन्धकार भी पार कर स्वधा अथवा आत्म शक्ति के बल पर जाना होगा।[१२३९], नहीं तो तत्त्व सम्पूर्णत: ज्ञात नहीं होगा। अतएव देखते हैं कि अग्नि होत्र की साधना जिस प्रकार सूर्य मन्त्र से दिन के समय में होती है, उसी प्रकार अग्नि मन्त्र से रात के अँधेरे में होती है। सोमयाग की साधना में भी एक अतिरात्र का सोपान या पर्व है। आदित्य जिस प्रकार मित्र रूप में दिन का आलोक

१. तु. ईशोपनिषद् १६

२. यतो विष्णुर् विचक्रमे पृथिव्या: सप्त धामभि: ऋ. १।२२।१६,

३. १।११५।६।

४. १।२२।२०, २१; १५४।५, ६; १५५।५।

१२३९. 'स्वधा' आत्मनिहित, अपने आप में रहना, अपने भीतर सिमट आना; एक और भाव है 'स्वाहा' देवता का आवाहन करना, उनमें स्वयं को विलीन कर देना। पितृगणों के प्रति उच्चारित होता है 'स्वधा' और देवगणों के प्रति 'स्वाहा'। तु. पितृयान और देवयान जिससे मुनिपन्थ और ऋषि पन्थ आभासित पितृगण के अर्थ में निश्चय ही दिव्य पितृगण को समझना होगा (ऋ. १०।८८।१५), जो सूर्यद्वार भेदकर वहाँ पहुँचते हैं, जहाँ 'आनीद अवातं स्वधया तदेकं' (ऋ. १०।१२९।२)

है, उसी प्रकार वरुणरूप में रात्रि का अन्धकार है। [१]मित्र एवं वरुण दोनों देवों को ही प्राण की प्रणति देनी होगी।

सूर्यास्त के पश्चात् वरुण का अधिकार होता है, वे अन्धकार के सम्राट् हैं। प्राकृतिक दृष्टि से अँधेरा यथार्थ किन्तु योगदृष्टि से नहीं। अँधेरा योगदृष्टि से आवरण नहीं, संवरण है। वरुण संवरण, उनकी शक्ति तपती– अन्धकार के उत्स से उत्सारित आलोक जैसी है। अँधेरा वस्तुत: अत्यक्त ज्योति है।[१२४०]

पहले ही बता चुके हैं कि अव्यक्त के तीन पर्व हैं। एक का प्रतीक पूर्णिमा हैं अर्थात् सूर्य का प्रकाश नहीं, किन्तु चाँदनी है और एक प्रतीक है अमा अर्थात् जब चाँद की रोशनी नहीं रहती है, किन्तु नक्षत्रों की टिमटिमाहट रहती है। तीसरे पर्व में कुछ नहीं रहता, तब भी उसकी ही अदृश्य भाति या दीप्ति से सब कुछ अनुभात होता है।[१२४१]

आदित्यायन की इस रूपरेखा को ध्यान में रखने से सूर्या के विवाह का रहस्य स्पष्ट होगा।

सूर्या कौन हैं? ऋक् संहिता में वे 'दुहिता सूर्यस्य'[१२४२] हैं। किन्तु इस संज्ञा में अपत्य वाचक प्रत्यय नहीं, केवल स्त्री प्रत्यय है। अतएव

१. तु. सूर्यायै देवेभ्यो-मित्राय वरुणाय च, ये भूतस्य प्रचैतस् इदं तेभ्योअकरं नम: १०।८५।१७।

१२४०. यह भाव ऋक् संहिता के रात्रिसूक्त में व्यक्त हुआ है; 'रात्री व्य ख्यद् देव्य क्षभि: .... ज्योतिषा बाधते तम:' – रात्रि देवी ने आते-आते चारों ओर सर्वत्र देखा, अनेक नेत्रों से ज्योति द्वारा तमिस्रा को दूर कर देती हैं १०।१२७।१, २। ज्योति चन्द्रमा की, नक्षत्रों की, अव्यक्त की। अव्यक्त में कुछ भी नहीं रहता, तब भी वही एक अनिर्वचनीय रहते हैं, जिनके परे और कुछ भी नहीं (तु. १२९।२)।

१२४१. क. २।२।१५। यही वरुण का 'शून' अथवा शून्यता है।

१२४२. तु. ऋ. १।११६।१७, ४।४३।२, सूरो दुहिता ७।६९।४।

कहा जा सकता है कि [1]वे सूर्य की शक्ति होने पर भी पुनः उनकी कन्या भी हैं।

तो फिर अध्यात्म दृष्टि में सूर्या के दो रूप हैं। एक रूप में वे 'दिवो दुहिता' ऊषा हैं – अर्थात् स्फुरन्त या स्फुरित चेतना में श्रद्धा का आवेश, जिसे योगी प्रातिभ संवित् कहते हैं; तब वे बाला हैं। फिर तरुणाई में प्रवेश करने पर वे 'सूर्यस्य योषा' हैं; जो दिवो दुहिता हैं, वे 'भुवनस्य पत्नी' अथवा भुवनेश्वरी हैं।[१२४३] सूर्य के भी दो रूप हैं।[१२४४] एक रूप में वे विशुद्ध स्थान चैतन्य हैं। निघण्टुकार ने उन्हें उत्तरायण के पञ्चम सोपान पर रखा है, किन्तु परम रूप में वे ही फिर[1] उत्तम ज्योति हैं, समस्त ज्योतियों की श्रेष्ठ एवं उत्तम ज्योति है, [2]वे 'हंसः ...ऋतं (बृहत्)' स्थावर-जङ्गम की आत्मा हैं, स्थावर-जङ्गम की मूर्द्धन्य भूमि के अधीश्वर हैं, तुरीयब्रह्म गम्य हैं।

किन्तु यह सभी भावना के इति की दिशा है, सत् की दिशा है। उसके भी परे कुछ है। आलोक के ऊपर की ओर अँधेरे के राज्य में सत् के वृत्र का बन्धन असत् के साथ है: इस विसृष्टि के मूल में जो

---

१. यह कुछ भी अवास्तव नहीं। चैतन्य का परिणाम नहीं, किन्तु शक्ति है – कली के फूल होकर खिलने की तरह, चन्द्र कला के बढ़ते रहने की तरह। तन्त्र और पुराण में इसीलिए देखते हैं कि 'गिरीश'-दुहिता ही गिरीश-जाया। उभयत्रं गिरि कूटस्थ चैतन्य (तु. माध्यन्दिन सूर्यरूपी विष्णु 'गिरिष्ठाः' ऋ. १।५४।२)। शक्ति एक दृष्टि से उनके द्वारा विसृष्टा होने के कारण दुहिता, और एक दूसरी दृष्टि से विसृष्टि की नित्य सामर्थ्य रूप में जाया। यह भाव संहिता में ही है; 'स्वायां देवो दुहितरि त्विषिं धात् – अर्थात् देवता ने अपनी दुहिता में ही अपने तेज को निहित किया (१।७१।५; १।१६४।३३)। द्र. वेमी.

१२४३. तु. ऋ. ७।७५।५, १।११५।२, दिवो दुहिता भुवनस्य पत्नी ७।७५।४।

१२४४. वि. १२।१४।

१. ऋ. १।५०।१०, १०।१७०।३

२. ४।४०।५, १।११५।१, शीर्ष्णः शीर्ष्णो जगतस्तस्थुषस्पतिम् ७।६६।१५, ५।४८।६।

है, उसकी खबर कोई नहीं रखता।[१२४५] वह एक अपरूप , अद्भुत शून्यता है।

सूर्यदुहिता कन्यका उषा धीरे-धीरे सूर्ययोषा तरुणी हुईं। उन्हें लेकर जाना होगा उसी अन्धकार के राज्य में सोम के घर में, लोकोत्तर अमृत के लोक में।[१२४६] ले जाएँगे कौन? वही अश्विद्वय जिनके निर्देश से चेतना का उत्तरायण शुरू हुआ था। उन्होंने अँधेरा पार करके चेतना को ज्योति के कूल तक पहुँचा दिया था और वे ही अँधेरे की अव्यक्त ज्योति के भीतर से संवृत सौर चेतना को अकूल तक ले जा सकते हैं।

नये सिरे से अँधेरा पार करने में इस बार अश्विद्वय का यह त्रिचक्र रथ विशेष कार्य में काम आएगा। सारे देवताओं के रथ द्विचक्र हैं, केवल इनका ही रथ त्रिचक्र है। क्यों?

ऋषि ने कहा कि ज्योति के उपासक ब्राह्मण दो चक्रों की खबर रखते हैं। ये दोनों अहोरात्र का आवर्तन है, किन्तु उसके पश्चात् भी ऐसी भूमि है जहाँ दिन भी नहीं, रात भी नहीं। अथच यह दिन का उजाला पार करके रात के अँधेरे की गहनता में[१२४७] है। वहाँ अश्विद्वय का रथ गूढ़ या गुप्त तृतीय चक्र की सहायता से चलेगा, जिसे कहीं-कहीं [1]'अचक्र स्वधा' अथवा आवर्तन रहित आत्मस्थिति कहा गया है। उस चक्र के बारे में वे ही जानते हैं, [2]जिन्होंने हिरण्मय पात्र का, अथवा आलोक का आवरण हटाकर अवर्ण सत्य का दर्शन प्राप्त है।

१२४५. तु. ऋ. सतो बन्धुम् असति निर् अविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा; यो अस्या, ध्यक्षः परमे व्योमन्त् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद १०।१२९।४; ७।

१२४६. ऋ. १०।८५।१८-२०। कला-कला में चन्द्रमा के बढ़ते रहने का वर्णन।

१२४७. द्र. तैब्रा. ३।११।७... श्वे, ४।१८; मुण्डक में इसे सूर्यद्वार का भेदन कहा गया है १।२।११। संहिता के रूपक में यह सूर्या का पितृगृह छोड़कर पतिगृह में सुहाग रात के लिए जाना है।

१. तु. ऋ. ४।२६।४, १०।२७।१९।

२. ईशोपनिषद् १५।

उसी अथाह गहनता में चाँद के घर में उतरती है आलोक की एक गोपन रश्मि।[१२४८] वहीं नित्य, शाश्वत वर-वधू का अनुपाख्य, अव्यक्त अगम वासगृह है।

रूपक के भीतर से साधना के सङ्केत सहित अद्वैत-भावना के इति और नेति दोनों पक्षों की ही एक अपरूप छवि है।

अब पवमान सोम के इस एक मन्त्र को लें। जिसके ऋषि काश्यप अथवा असित देवल हैं। मन्त्रार्थ इस प्रकार है : सात ध्यान चेतनाओं के द्वारा निहित होकर उन्होंने (पवमान सोम) प्राण चञ्चल कर दिया द्रोहहीन उन नदियों को, जिन्होंने एक आँख को ही संवर्धित किया।[१२४९]

१२४८. तु. 'अत्राह गोर् अमन्वत नाम त्वष्टुर् अपीच्यम्, इत्था चन्द्रमसो गृहे' अर्थात् अहा! यहीं उन्होंने मनन किया त्वष्टा की किरण का गोपन नाम चाँद के इस घर में ही १।८४।१५। नाम यहाँ केवल Nomen नहीं, बल्कि Numen अथवा अनुभाव है (तु. नि. नाम कर्म ३।२२; निरुक्त के इस मन्त्र की व्याख्या में दुर्ग का कथन है कि नाम नमनं प्रह्वत्वेनावस्यानम् इत्य अर्थः ४।२५)। त्वष्टा की गो अर्थात् सविता की किरण (त्वष्टा भी सविता ३।५५।१९, १०।१०।५; द्रष्टव्य, निघण्टु में त्वष्टा एवं सविता आस-पास द्र. निरुक्त १२।११-१२) जो वस्तुतः अन्धकार से उत्सारित आलोक है। यास्क की दृष्टि में (नि. २।६) यह रश्मि यजुः संहिता की 'सुषुम्णः' सूर्य रश्मिः (वा. १८।४०) जो आदित्य से प्रसृत होकर चन्द्रमा को आलोकित करती है। ह्रास वृद्धि से युक्त चन्द्रमा आदित्य के इस पार और उसकी षोड्शीध्रुवा कला आदित्य के उस पार है (द्र. बृ. १।५।१४-१५ सह तै ब्रा. ३।११।७)। उसके भी परे तन्त्रोक्त सप्तदशी अमा कला। जो सुषुम्ण रश्मि इन दोनों को आलोकित करती है, उसका 'नाम' अथवा आनमन 'अपीच्य' अर्थात् गुह्य है। संहिता का 'अमृतस्य लोकः' (१०।८५।२०) यह ध्रुवा और अमाकला के भी उस पार है – जहाँ 'न रात्र्या अह्नः आसीत् प्रकेतः'– अँधेरे-उजाले का नाम-निशान भी नहीं रहता (१०।१२९।२)।

१२४९. ऋ. स सप्त धीतिभिर् हितो नद्यो अजिन्वद् अद्रुहः, या एकम् अक्षि वावृधुः ९।९।४। 'सप्त' श्लिष्टः 'सप्त' भिः) धीतिभिः सप्त नद्यो अजिन्वत्।

वैदिक यागों में सोमयाग श्रेष्ठ है, जिसका लक्ष्य है अमृतत्व प्राप्ति।[१२५०] अधिभूत दृष्टि में सोम एक [१]'ओषधि' है। उसकी टहनियों-पत्तों को कूट पीस कर रस निकाल कर देवता के प्रति अग्नि में आहुति देनी होती है। 'अग्नि में सोम ढालना' एक रहस्य पूर्ण कर्म है। जिस प्रकार उसका बाह्य रूप है, उसी प्रकार आन्तर रूप भी है। उद्धृत मन्त्र में दोनों रूप ओत-प्रोत हैं।

सोमपान करने पर एक मत्तता आती है। प्राचीन काल से ही किसी न किसी प्रकार के मादक द्रव्य का सेवन करके मनुष्य आत्महारा, आत्मविस्मृत हुआ है, किन्तु आत्महारा होकर उसने लोकोत्तर का सङ्केत प्राप्त किया है। धीरे-धीरे फिर उसे बाहरी नशे की ज़रूरत नहीं पड़ी। किन्तु आन्तर नशे का प्रयोजन आज भी अव्याहत है। नशे का अर्थ ही है स्वयं को भूलकर, जगत् को भूलकर तन्मय होना। लौकिक चेतना की मूढ़ता और विक्षेप के बन्धन से मुक्त होकर जो तन्मय हो सकता है, वह अनिर्वचनीय एक को प्राप्त करता है – यह योग चेतना का नियम है। इसलिए इतिहास-पुराण में देखते हैं कि आत्माराम की योग शक्ति बलराम, 'वारुणी' पान में नित्य मत्त एवं आत्माराम के अग्रज हैं। वेद में देवताओं में इन्द्र सोमपातमः[१२५१] हैं। देवता की लीला मेरे ही भीतर है। मेरे ही आत्मसमर्पण के सुधापान से

१२५०. तु. अपाम सोमम् अमृता अभूमागन्म ज्योतिर् अविदाम देवान् ८।४८।३। ज्योति वही एक अमृत ज्योति है, सारे देवता जिसकी विभूति हैं। अद्वैत के सम्यक् अनुभव में यहाँ एक और अनेक का समन्वय है।

१. **ओषधि** < ओष (।। उषस् < वस् 'दीप्ति देना' अथवा उष् 'दहन करना' **IE.** us 'to burn') + धि, किरणें उषा की ज्योति निहित हैं। वैदिक भावना के अनुसार चेतना का प्रथम उन्मेष ओषधि में, उसके बाद पशु में एवं अन्त में मनुष्य में होता है। इसलिए वे क्रमशः चिन्मय, अन्न, प्राण और मन के वाहन हैं। ओषधियाँ 'सोमराज्ञी' है और सोम उनका राजा है १०।९७।१८, १९; ७।२२। सवन अथवा निष्पेषण द्वारा पृथिवी स्थानीय सोम को द्युस्थानीय करना सोमयाग का उद्देश्य है।

१२५१. तु. ऋ. १।८।७, २१।१, ६।४२।२, ८।६।४०, १२।२०। सोमपान की मत्तता में इन्द्र ने क्या-क्या असाध्य कार्य किया था? उसका एक विवरण ऋषि गृत्समद ने दिया है २।१५ सूक्त।

प्रमत्त होकर वे अद्भुत शौर्य प्रकट करते हैं, 'वृत्रहा' होते हैं – अर्थात् अँधेरे को दूर कर आधार में आलोक प्रस्फुटित करते हैं।

सोम के इस अधियज्ञ रूप के अतिरिक्त उनका एक अधिज्योतिष एवं अध्यात्म रूप है। ज्योति रूप में सोम चन्द्रमा हैं। अग्नि, सूर्य (= इन्द्र) सोम ये तीन ज्योतियाँ अध्यात्म चेतना की तीन भूमियों पर इस प्रकार हैं – व्यक्ति चेतना में अग्नि, विश्वचेतना में सूर्य और लोकोत्तर चेतना में सोम। सोम की सोलह कलाएँ हैं। पन्द्रह कलाओं में ह्रास-वृद्धि या घटाव-बढ़ाव है, उनके परे षोड्शी नित्य कला है। वेद का पुरुष षोड्शकल है।[१२५२]

अध्यात्म दृष्टि में सोम 'सुषुम्णः सूर्यरश्मिः'[१२५३] है। आदित्य मण्डल में अमृत है। वही अमृत सूर्यरश्मि द्वारा वाहित होकर ब्रह्मरन्ध्र की प्रणालिका से होते हुए जीव के हृदय में [१]आहित होता है। उपनिषदों के अनेक स्थलों पर उसका विस्तृत वर्णन है। अमृतवाहिनी यही नाड़ी हठयोग की 'सुषुम्णा' है। आध्यात्मिक दृष्टि में जो नाड़ी है, वह आधिभौतिक दृष्टि में नदी है।[२] हठयोग की सुषुम्णा नाड़ी

१२५२. तु. बृ. १।५।१४; तन्त्र की महाशक्ति भी षोड़शी। वैष्णव भावना में देखते हैं ह्लादिनी चेतना की पन्द्रह कलाओं में चन्द्रावली और षोड़शी में राधा। उसके भी गहरे पर कृष्ण की अनिर्वचनीयता है। वैदिक पञ्चरात्र एक सोम याग है। उसमें ही इस भागवत रहस्य का सङ्केत प्राप्त होता है (द्र. श ब्रा. १३।६।१...; उसके बाद 'भग' का विवरण)।

१२५३. वा. १८।४०। अतः

१. उपनिषद् में इस प्रणालिका नाम 'हिता' नाड़ी है (द्र. ऐ उ. १।१२ बृ. ४।२।३, ३।२०, कौ. ४।१९)।

२. रश्मि, नाड़ी, नदी एक; इसका उल्लेख ऋक् संहिता में ही है: 'या : सूर्यो रश्मिभिर् आततान याभ्य इन्द्री अरदद् गातुम् ऊर्मिम्, ते सिन्धवो वरिवो धातना नो' (नः) अर्थात् सूर्य ने जिन्हें प्रसारित किया है अपनी रश्मियों द्वारा, इन्द्र ने जिनके लिए खोदा है तरङ्गों का पथ, वही नदियाँ हमारे भीतर निहित करें विपुलता ७।४७।४। यहाँ नाड़ी-विज्ञान का एक पूर्ण सङ्केत है। सूर्य रश्मि में जो चिन्मय, वही हठयोग में 'चित्राणी' और इन्द्रवीर्य में जो ओजस्वी, वही वज्राणी है। 'वृत्र की परिधि' में अर्थात्

ऋक्संहिता में 'सुषोमा' नदी है।[३] 'सुषुम्ण', 'सुषोमा' 'सोम' तीनों की व्युत्पत्ति एक ही धातु से है और तीनों में ही अमृत प्रवाह की व्यञ्जना है। सोम का अनुरूप 'सुम्न' है। निघण्टु में उसका अर्थ 'सुख' है। [४]अतएव सोम आनन्द चेतना अथवा रस चेतना है, सुषुम्ण 'महासुख' है। वही अमृत है। उसकी प्राप्ति का साधन सोमयाग है। यह वस्तुतः

आच्छादिका या आवरणकारी तम : शक्ति की परिधि में नदी की धारा अवरुद्ध रहती है, इन्द्र वज्रशक्ति से उस अवरोध को तोड़ते हैं (३।३३।६), और धारा ज्वार के रूप में बहती हुई चेतना को बृहत में (वरिवः) पहुँचा देती है। एक ही नदी की सात धाराएँ सात भूमियों पर हैं, वही 'सप्तसिन्धु' अथवा 'सप्तनदी' हैं।

३. ऋक् संहिता में पाते हैं 'अयं ते शर्यणावति सुषोमायाम् अधिप्रियः आर्जीकीये मन्दितमः'–अर्थात् हे इन्द्र, तुम्हारा प्रिय यह सोम, शर्यणावत् सुषोमा एवं आर्जीकीया में तुम्हें सब से अधिक प्रमत्त करता है (८।६४।११)। फिर पाते हैं। 'सुषोमे शर्यणावत्य् आर्जीके परत्यायति ययुर निचक्रया नरः'– वीर्यशाली, बलवान् मरुद्गण (ज्योतिर्मय महाप्राण) रथचक्र की गहराई में उतर कर उन तीन धामों में पहुँचे, जिनके नाम आर्जीक, सुषोम और शर्यणावत् हैं (८।७।२९)। शाट्यायन ब्राह्मण में शर्यणावत् 'कुरुक्षेत्र का स्पन्दमान एक सरोवर' है (द्र. १।८४।१३ सायण भाष्य); यह देह ही कुरुक्षेत्र अथवा देवयजन-भूमि है। तो फिर शर्यणावत् उसके (देह के) निम्न भाग में स्थित मूलाधार है। आर्जीक अथवा आर्जीकीय (व्युत्पत्तिगत अर्थ है 'जो ऋजुता की ओर जा रही है, अर्थात् जहाँ से चेतना की गति अकुटिल या ऋजु हो जाती है) को सहस्रार कह सकते हैं। दोनों के ठीक मध्य में 'सुषोमा' नदी अथवा सुषोम धाम है। सुषोमा, अमृतप्रवाहिणी है, सोम की धारा उसके भीतर सहज ही बहती रहती है। इन तीन धामों में सोम के सवन अथवा निचोड़ कर रस निकालने का उल्लेख अन्यत्र भी है। (९।६५।२२-२३); सुषोम वहाँ 'पस्त्यानां मध्यः' अर्थात् मध्य नदी अथवा धाम है। तृतीये रजसि' अर्थात् द्युलोक में यही सोम की सहस्र धारा है। कहाँ से वे चार नाभियों अथवा चार ग्रन्थियों में उतर आई हैं (९।७४।६)।

४. ३।६।

एक [5]'उत्-सव' अर्थात् आनन्दकन्द को निष्पेषित कर धारा को स्रोत के प्रतिकूल प्रवाहित करना है।

प्राकृत, साध्य और सिद्ध आनन्दचेतना के तीन रूप हैं। जो आनन्द प्रवृत्तिमूलक है, वह प्राकृत है – जिस प्रकार विषय के साथ इन्द्रिय के संयोग से होता है। उस समय चेतना बहिर्मुख होती है, जिसके कारण व्यक्ति 'पराक् पश्यति नान्तरात्मन्' – बाहर की ओर ही देखता है, अपने, अन्तर की ओर नहीं देखता। आनन्द तब उपनिषद् की भाषा में 'वर्ण रति प्रमोद:' और संहिता की भाषा में 'असुतृप्तिः' है प्रवृत्ति जब अन्तरावृत्ति में या प्रत्याहार में बाहर से भीतर की ओर मुड़ जाती है, तब आनन्द धारा स्रोत के प्रतिकूल बहने लगती है, और चेतना ऊर्ध्वस्रोता हो जाती है। यही आनन्द याग और योग का साध्य है और संहिता में 'सोमस्य मद:' है। अन्त में वह बिन्दु में स्थिर होता है, सिन्धु में विस्फारित होता है। उस समय आनन्द सिद्ध है।[1254]

वेद में भी सोम की तीन संज्ञाएँ है– अन्धः, सोम एवं इन्दु। पार्थिव सोम 'अन्धः' अर्थात् अधोदेश या निम्नस्थान में स्थित एवं अन्धतमस से आवृत है। यही पुराण में त्रिस्रोता गङ्गा की पातालवाहिनी भोगवती धारा है। इस धारा को निरुद्ध निपीड़ित एवं उत्तरवाहिनी

---

५. < उत् √ सु 'निचोड़ना'+अ। इस उत्सव का सङ्केत हठयोग भी योनिमुद्रा में है। तु. 'यत्र ब्रह्मा....ग्रावणा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन्– जहाँ ब्रह्मा.... पाषाण के द्वारा सोम में महिमा का अनुभव प्राप्त करते हैं, सोमे से आनन्द उत्पन्न करते हैं ९।११३।६। ब्रह्मा सोमयाग के अधिष्ठाता ऋत्विक् हैं। 'ग्रावा' सोम पीसने-कूटने का पत्थर है, अध्यात्म दृष्टि में जिसकी संज्ञा योनिकन्द है। ऋक् संहिता में 'आनन्द' शब्द का उल्लेख एकमात्र इस सूक्त में ही है (द्र. ११)।

१२५४. सोमयाग की फलश्रुति द्र. ऋ. ९।११३।७-११। सोम उस अमृत लोक में ले जाते हैं जहाँ अजस्र ज्योति है, समस्त कामनाओं का परितर्पण है, जहाँ प्राणोच्छल तारुण्य का अन्त नहीं, आनन्द की सीमा नहीं एवं सबसे अन्त में जहाँ 'स्वधा' और 'द्युलोक का अवरोध' है, वैवस्वत मृत्यु की परमशून्यता है।

करना होगा। सोम को कभी भी नाभि के नीचे नहीं उतरने दोगे– यह याज्ञिक सम्प्रदाय की एक प्रसिद्ध उक्ति है। 'अन्धः' अवश्य ही 'पवमान सोम' होगा, जिसे राहस्यिक उपायों द्वारा 'परिपूत' या शुद्ध किया जाता है।[1255] तो फिर सोमयाग की साधना वस्तुतः आनन्द चेतना का रूपान्तरण है।[1] अन्त में सोम जब [2]आकाश गङ्गा होता है, तब वह 'इन्दु' है और परम व्योम रूपी शिव के ललाट पर उसका स्थान है। संहिता की भाषा में वह [3]वही देवता है– जो इस देवता का आलिङ्गन करता है, सत्य इन्द्र का आलिङ्गन करता है सत्य इन्दु।'

१२५५. तु. ऋ. 'नाभा नाभिं न आ ददे चक्षुश् चित् सूर्ये सचा'– यज्ञ के नाभि स्वरूप सोम को अपनी नाभि में ही मैंने ग्रहण कर रखा है (उसके नीचे नहीं उतरने दूँगा), उस समय मेरे चक्षु सूर्य में सङ्गत होंगे ९।१०।८ (अर्थात् 'सूरचक्षा:' हो जाऊँगा; तु. मर्तास: सन्तो अमृत्वम् आनशुः.... ऋभव: सूरचक्षस: १।११०।४)। यह व्याख्या सायण के अनुसार है। तब 'धारा य ऊर्ध्वो अध्वरे भ्राजा नै. ति गव्ययु:'–सोम अध्वर गति से ऊर्ध्वधारा में झिलमिलाते हुए जैसे उसी आलोक के सन्धान में बहता जा रहा है ९।९८।३ (तु. तृतीयं धाम महिष: सिषासन् ९६।१८)। अब भी गङ्गा जहाँ ही उत्तरवाहिनी (ऊर्ध्वस्रोता) हैं वहाँ ही 'काशी' अथवा प्रकाश है। अध्वर यज्ञ; रहस्यार्थ, जहाँ धूर्ति अथवा गति की कुटिलता नहीं, स्रोत में आवर्त नहीं (तु. 'अपाम सोमम्....किं नूनम् अस्मान् कृणवद् अराति: किम् उ धूर्तिर् अमृत मर्तस्य'–सोमपान किया है...अब हमारा क्या करेगा शत्रु, क्या करेगी हे अमृत, मर्त्य की धूर्ति अथवा टेढ़ी चाल ८।४८।३। धूर्ति = 'जुहुराणम् एनः' कुण्डली मारे हुए पाप १।१८९।१ < ह्वृ < ध्वृ 'कुण्डली मारना')।

१. तु. 'मधु प्रजातम् अन्धसः' – अन्ध धारा से प्रजात होओ तुम मधु रूप में अथवा अमृत चेतना रूप में ९।१८।२।

२. वही दिव्य सोम (तु. ९।२।५, ७।४, १२।४, १७।५। 'इन्दुः इन्धेः (दीप्त्यर्थस्य उनत्तेः (क्लेदनार्थस्य) वा' निरुक्त १०।४१। दोनों अर्थ मिलाने पर 'ज्योति बिन्दु'।

३. 'सै. नं सश्चद् देवो देवं सत्यम् इन्द्र सत्य इन्दुः' २।२२।१-३। हठयोग की भाषा में सोम-सूर्य अथवा इड़ा-पिङ्गला का मिलन।

की निगूढ़ शक्ति में; तुम अपने-अपने घरों में उसे उद्बुद्ध करो उद्बोधिनी वाणी द्वारा, जो एक अर्थात् वरुण जैसा है, जो ज्योति का राजा इत्यादि है।...अग्नि पृथिवीस्थानीय देवता है, उसके बाद अन्तरिक्ष स्थानीय **इन्द्र** है। ऋक् संहिता में एक अथवा 'एको देव:' के रूप में इन्द्र का सब से अधिक उल्लेख किया गया है। इन्द्र वहाँ [3]आदित्य, सप्त[4] आदित्यों में से एक आदित्य हैं; और आदित्य अथवा सूर्य ही वैदिकों के परम देवता हैं। वर्षण में इन्द्र की शक्ति तथा आदित्य द्युति में उनकी प्रज्ञा अथवा स्वरूप की द्युतिमा है। वस्तुत: ऋक् संहिता में ही हम देखते हैं कि इन्द्र परम देवता है [5]वे ही यह सब कुछ हुए हैं, रूप-रूप में प्रतिरूप होकर वे पुरुरूप मायावी हैं। किन्तु संहिता के मन्त्रों में कर्म की प्रधानता के कारण वहाँ उनके शक्तिरूप का परिचय ही अधिक प्राप्त होता है। यद्यपि सोमयाग की फलश्रुति में 'इन्द्रायेन्दो परिस्रव' इस टेक में उनका परमत्व ही सूचित हुआ है। [6]किन्तु ऋग्वेद की ऐतरेय एवं कौषीतकि इन दो उपनिषदों में ही उनका सुस्पष्ट परिचय प्राप्त होता है कि वे परमात्मा हैं।[7] कौषीतकि में उनके प्राण या शक्तिरूप और प्रज्ञा रूप दोनों को ही मिला दिया गया है। [8]वहाँ उनके द्वारा वृत्र-वधु के वर्णन को थोड़ा फैला कर बतलाया गया है– उन्होंने पृथिवी में काल‌कञ्जों का, अन्तरिक्ष में पौलोमों का एवं द्युलोक में प्राह्लादों का वध किया है।[9] संहिता में इन्द्र की अद्वितीयता का उल्लेख अनेक स्थानों पर है।[10]..., उसके बाद द्युस्थानीयदेवता

३. २।२७।१, इन्द्र का नाम नहीं है, किन्तु 'तुविजात' इस विशेषण का उल्लेख है; द्र. १।१३१।७, ३।३२।११, ६।१८।४, १०।२९।५।

४. सप्तमि: पुत्रैर् अदिति : १०।७२।९; ९।११४।३।

५. ६।४७।१८, ३।५३।८।

६. ९।११२, ११४ सूक्त।

७. ऐ. १।३।१३-१४, कौ. ३।१।

८. तु. प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा, तं माम् आयुर् अमृतम् इत्यु पास्व ३।२।

९. ३।१। ब्राह्मण में यही देवताओं द्वारा असुरों पर त्रिपुरविजय है, सङ्ख्य की भाषा में तीनों गुणों के बन्धन से मुक्त होना है।

१०. स विश्वस्य करुण स्येश एक: १।१००।७. य एकश् चर्षणीनाम् १।१७६।२, विश्वस्येक ईशिषे २।१३।६, एको द्वे वसुमती समीची इन्द्र आ पप्रौ

सविता: [11]आवेगकम्पित विप्र जो, मन को वे युक्त करते हैं, युक्त करते हैं धी को भी उस बृहत् के साथ स्वयं जो आवेग कम्पित है, जानकारी रखते हैं हृदयावेग की; एक वे, जानते हैं पथ की दिशा, आत्माहुति के विधाता हैं वे; ज्योतिर्मय सविता के प्रति उनकी स्तुति कितनी विपुल विस्तृत है। फिर : [12]एक तुम ही प्रेरणा के ईशान; (स्रोत की विपरीत दिशा में) चलते-चलते तुम ही होते हो पूषा; इसके अतिरिक्त इस विश्वभुवन के ऊपर विराट् रूप में तुम ही हो। सविता का 'प्रसव' जीव के भीतर अध्यात्म प्रेरणा का उत्स है।... उसके बाद द्युस्थानीयदेवता विष्णु, अध्यात्म दृष्टि में जो मूर्द्धन्य चेतना, माध्यन्दिन सूर्य उनका प्रतीक है और जिनकी अद्वितीयता का मन्त्र है :[13] विष्णु की ओर तेज़ गति से चले जाएँ (मेरे प्राण के) उच्छ्वास,

पृथिवीम् उत द्याम् ३।३०।११, एको विश्वस्य भुवनस्य राजा ३।४६।२, नमो अस्य प्रदिव (प्रथम दिन से) एक ईशे ३।५१।४, त्वं ह्येक ईशिष इन्द्र वाजस्य गोमत: (ज्योतिर्मय वज्रशक्ति के ईशान, ४।३२।७, ६।३४।२, ४५।१६, ७।१९।१, २३।५, जनीर (पत्नी) इव पतिर् एक: समान: (यहाँ मधुर भाव का सङ्केत) ७।२६।३, ८।१३।९, देव एक: १०।१०४।९...। 'एक' के साथ प्राय: ही ईश् धातु का प्रयोग द्रष्टव्य, देवता 'ईशान' (८।६।४१) >ईश्वर।

११. युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चित:, वि होत्रा दधे वयुना विद् एक इन् मही देवस्य सवितु: परिष्टुति: ५।८१।१।

१२. उतेशिषे प्रसवस्य त्वम् एक इद् उत पूषा भवसि देव यामभि:, उतेदं विश्वं भुवनं वि राजसि ५।८१।५।

१३. प्र विष्णवे शूषम् एतु मन्म गिरिक्षित उरुमायाय वृष्णे, य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थं एको विममे त्रिभिर् इन पदेभि: १।१५४।३। विष्णु का प्रथम पदक्षेप प्राची मूल में, द्वितीय मध्य आकाश में, एवं तृतीय गयशीर्ष अथवा महाशून्य में। यह और्णवाभ का मत है (नि. १२।१९)। इससे यह सङ्केत प्राप्त होता है कि बौद्धभावना की धारा गौतम बुद्ध से भी पूर्ववर्ती है। यहाँ तक कि ऋक् संहिता में भी उसका बीज है (द्र. ३।५३।१४)। विस्तृत आलोचना के लिए द्रष्टव्य 'विष्णु'। अध्यात्म चेतना के सर्वोच्च शिखर पर उनकी स्थिति होने के कारण वे भी 'गिरिक्षित्' ('गिरिष्ठा:' २)।

(मेरे मन के) मन्त्र – गिरिशिखर पर निवास है जिनका, विशाल है जिनकी गति (आलोकशक्ति के) वर्षक हैं जो; एक हैं जो और जिन्होंने इस दीर्घ विपुल सङ्गमस्थल को आच्छादित किया है मात्र तीन पदक्षेप में। पुनः–[१४] जिनके तीन पद मधु से पूर्ण हैं– अक्षीयमाण रूप में जो आत्मस्थिति के आनन्द में मत्त हैं, जिन्होंने पृथिवी (अन्तरिक्ष) द्युलोक में इस त्रिभुवन को, इस विश्वभुवन को एक होकर धारण कर रखा है।.... इस प्रकार हम देख रहे हैं कि पृथिवी में अग्नि रूप में अन्तरिक्ष के उपान्त में या अन्तिम छोर पर इन्द्र रूप में द्युलोक में सविता व विष्णु रूप में एक ही परम देवता का प्रकाश है।

अद्वैत बोध के सूचक 'एकोदेवः' इस पर्याय के कतिपय मन्त्रों का विवेचन करके हमने देखा कि उपासक के इष्ट अग्नि, उषा सूर्य (इन्द्र) मित्र, वरुण, अश्विद्वय, सोम, सविता अथवा विष्णु यानी देवता चाहे जो भी हों किन्तु उपासना का अन्तिम परिणाम एक अविकल्प, असन्दिग्ध अद्वय चेतना की भूमि पर आरूढ़ होने में है। साधना के आरम्भ में पन्थ-भेद रह सकता है एवं वह रहना भी ठीक है; क्योंकि सभी लोग रुचि एवं संस्कार में एक जैसे नहीं होते। किन्तु चक्र की नाभि में शलाका की तरह सारे रास्तों का गन्तव्य यदि 'एक' हो तो उसमें ही अद्वैतवाद की सार्थकता–'सर्वेषाम् अविरोधेन' है। आरम्भ में ही भले एक देव की आडम्बर युक्त और युयुत्सु घोषणा न हो।

इसके बाद अद्वैतानुभव के एक और सोपान की ओर बढ़कर 'एकं सत्' इस पर्याय के मन्त्रों का विवेचन करेंगे।

पहले ही बतलाया गया है कि असत्, सत् और देवता परमतत्त्व के ये तीन विभाव ही 'एकमेवाद्वितीयम्' है। जब उपास्य-उपासक सम्बन्ध है, तब तत्त्व 'देवता'–पराक् या वस्तुनिष्ठ (objective)

'सधस्थ' अथवा सङ्गमस्थल समस्त ज्योति शक्ति की मिलन भूमि है – जिस प्रकार आदित्य मण्डल अथवा व्योममण्डल।

१४. यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्य क्षीयमाणा स्वधया मदन्ति, य उ त्रिधातु पृथिवीम् उत द्याम एको दाधार भुवनानि विश्वा १।१५४।४। 'मधु' अमृत चेतना का प्रतीक है, पञ्चामृत को चतुर्थ अमृत है, जो दाना बाँधने पर शर्करा हो जाता है (आनन्द घनता)।

दृष्टि से। निःसन्देह उस दृष्टि के मूल में भी चेतना की अन्तर्मुखता है; क्योंकि अपने भीतर न पैठने पर देवदर्शन सम्भव नहीं[१२५८] अन्तर्मुखता और भी प्रगाढ़ होने पर प्रत्यक् (Subjective) दृष्टि का विकास होता है। उस समय सायुज्य के अनुभव में सम्बन्ध को अतिक्रम करते हुए सम्बन्धी लक्षित होता है। परम तत्त्व तब 'सत्' है। अर्थात् विशुद्ध सत्तामात्र, जिसके भीतर विषय एवं विषयी दोनों ही समाहित हैं। न्याय में सत्ता को पर सामान्य (Highest Universal) कहते हैं; उपनिषद् में उसे 'अस्ति' रूप में परमतत्त्व की उपलब्धि कहा गया है– जो चक्षु, मन अथवा वाक् से परे है।[१] देवता इसी सत् स्वरूप की विभूति हैं। देवता के माध्यम से जिस प्रकार हम सत् स्वरूप में पहुँचते हैं, उसी प्रकार सत् स्वरूप से फिर देवता में उतर आते हैं।

यह भावना ही ऋक् संहिता में ऋषि दीर्घतमा के इस मन्त्र में व्यक्त हुई है:[१२५९] 'उन्हें ही ऋषिगण कहते हैं इन्द्र, मित्र, वरुण एवं अग्नि; फिर वे ही द्युलोक के सुपर्ण हैं, जिन्होंने डैने फैला रखे हैं। उसी एक सत् स्वरूप के वृत्तान्त की ही मेधावीगण घोषणा करते हैं अनेक प्रकार से, उन्हें ही कहते हैं अग्नि, यम, मातरिश्व।'

१२५८. तु. ऋ. इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय प्रत्यै धियो भर्जयन्त–इन्द्र (विश्व के) आदि पति हैं, उनके प्रति हृदय, मन और मनीषा द्वारा ध्यान चेतना को वे मार्जित करते हैं १।६१।२। 'धी' योग (तु. युञ्जते धियः ५।८१।१) वैदिक साधना का वैशिष्ट्य है। उसके तीन पर्व हैं–मन द्वारा (तु. के. ४।५), उस मन के ही आश्रय में मनीषा (बुद्धि अथवा विज्ञान तु. क. १।३।६-१२) द्वारा एवं अन्त में हृदय द्वारा (तु. बृ. ५।३।१) साधना। तु. क. हृदा मनीषा मनसा. भिक–लृप्तो य एतद् विदुर् अमृतास ते भवन्ति २।३।९। द्र. टीका १२१८।

१. २।३।१२-१३

१२५९. ऋ. इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुर अथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्, एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्य् अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः १।१६४।४६। वेद में अद्वैतवाद के निदर्शन के रूप में आधुनिक विद्वानों द्वारा बहुरटित मन्त्र है, लगता है वेद में अन्यत्र कहीं अद्वैतवाद नहीं है। द्र. टीका. ११८४।

इसी प्रकार की भावना एक अन्य मन्त्रांश में व्यक्त हुई है:[1260] 'विप्र, कवि वाणी द्वारा उस सुपर्ण का ही अनेक रूपों में वर्णन करते हैं जो एक रूप में स्थित है।' एक ही जो अनेक हुआ है, यह भाव पहले विवेचित एक अन्य मन्त्र[1] में भी देखने को मिलता है। दोनों उद्धृत मन्त्रों में एक ही तत्त्व की घोषणा है। अनेक देवता एक ही सत् स्वरूप की विभूति हैं। वैदिक निरुक्ति को ध्यान में रखकर इस कथन की दार्शनिक व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। सुदीप्त आत्मचैतन्य ही देवता का स्वरूप है। एक ही चेतना की अनेक तरङ्गें हैं, यह प्रत्यक्ष है। अतएव देवता भी अनेक हैं। किन्तु निदिध्यासन में[2] अथवा अन्तर्मुख चेतना के अभिनिवेश या एकाग्र अभिमुखीनता में

१२६०. ऋ. सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिर् एकं सन्तं-बहुधा कल्पयन्ति १०।११४।५। इसकी ही प्रतिध्वनि इस उक्ति में है: 'साधकानां हितर्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना' एक ब्रह्म के विचित्र रूप की कल्पना साधकों के हित के लिए ही है। कल्पना यहाँ अनास्तन भावना का बोधक नहीं है, बल्कि उससे भाव के रूपायन का बोध होता है जिसकी वैदिक संज्ञा 'विसृष्टि' है (द्र. १०।१२९।६, 'विप्र' <√ विप् 'काँपना' भावावेग में जिसका हृदय काँपे 'कवि' <√ कु 'आकूति वहन करना'; परमदेवता भी वेद में कवि उनकी आकूति है सृष्टि की और साधक कवि की आकूति है दृष्टि की। दोनों संज्ञाओं में वैदिक ऋषि की सोम्य चेतना का सार्थक परिचय प्राप्त होता है (तु. अयं–सोम: 'ऋषिर् विप्र: काव्येन ८।७९।१)। विप्र भाव के साधक। जो कवि, वे दिव्य आकूति में क्रान्तिदर्शी, अग्र्या बुद्धि के साधक। भाव एवं धी अन्योन्याश्रित। द्र. टीका. १३२३।

१. ८।५८।२;

२. धीयोग का चरम परिणाम। धी: तु. को ज्योतिरग्रा करो (१।९०।५; तु. ई. १५, १६; साथ-साथ विष्णु का उल्लेख द्रष्टव्य); गायत्री मन्त्र में सविता धी के प्रचोदयिता अथवा प्रेरक ३।६२।१० (तु. ५।८१।१, इन्द्र चोदय धियम् अयसो न धाराम्....कृधिं मां देववन्तम्'–हे इन्द्र, अपो धारा की तरह प्रचोदित करो मेरी धी को,...मुझे देवमय करो (६।४७।१०; तु. क. क्षुरस्य धारा १।३।१४, दृश्यते त्व. ग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया १२); 'विदत्त ज्योतिश् चकृपन्त धीभि:'–उन्होंने ज्योति को प्राप्त किया (क्योंकि) बुद्धि द्वारा उन्होंने उसकी कामना की थी, ऋ. ४।१।१४।

समस्त तरङ्गें ही एक चिन्मय सन्मात्र में पर्यवसित हो जाती हैं। यह आरोह क्रम है। पुन: अवरोह क्रम में वह एक सत्ता ही विचित्र चेतना की तरङ्गों में विच्छुरित हो जाती है। 'एकं सत्' बहुधा विकल्पित होता है। अनुभव के दोनों पक्ष ही सत्य हैं। वैदिक अथवा इस देश की साधना के इतिवृत्त में एकदेव अथवा बहुदेववाद में कहीं विरोध नहीं।

दीर्घतमा के मन्त्र में साधना की दो धाराओं का उल्लेख है। एक धारा में देवता विन्यास है। अग्नि-इन्द्र-मित्र-वरुण और दूसरी धारा में अग्नि-मातरिश्वा-सुपर्ण-यम। दोनों धाराओं में इन्द्र एवं मातरिश्वा को लेकर सूक्ष्म भेद है।

साधना का अर्थ है चेतना का उत्तरायण। उत्तरायण में अर्थात् ऊर्ध्वमुखी क्रमिक अभियान में पर्वभेद है। एक-एक पर्व अथवा सोपान एक-एक देवता है।

अग्नि चेतना समस्त साधना की ही आधार भूमि है। हृदय में अभीप्सा की आग जले बिना साधना शुरू ही नहीं होती। इसलिए हम दोनों धाराओं के ही आदि में अग्नि को पाते हैं।

इसके अतिरिक्त वैदिक भावना में तीन लोक अथवा चेतना की तीन भूमि अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ का उल्लेख प्राप्त होता है। अग्नि पृथिवी स्थानीय देवता हैं। अन्तरिक्ष स्थानीय देवता के आदि में वायु और अन्तिम छोर पर इन्द्र हैं। वायु का एक अन्य नाम मातरिश्वा है। आदित्यगण द्युस्थानीय देवता हैं। वरुण आदित्यों में एक आदित्य हैं, किन्तु तब भी रात्रि अथवा अव्यक्त चैतन्य के देवता के रूप में हम उन्हें लोकोत्तर कह सकते हैं। यम भी वही हैं।[1261]

१२६१. लोक विभाग के अनुसार देवता विभाग के मध्य अधिक संहति नहीं है। अत: हम देखते हैं कि अग्नि द्युलोक की मूर्द्धा में ('दिवियोनि:' ऋ. १०।८८।७), इन्द्र आदित्य (२।२७।१) इत्यादि। वस्तुत: चैतन्य या चेतना स्वच्छन्द है, एक भूमि या स्तर पर ही निबद्ध नहीं। देवता त्रिषधस्थ हैं (अग्नि ५।४।८, वैश्वानर ६।८।७, विष्णु १।१५६।५, बृहस्पति ४।५०।१, सोम ८।९४।५, सरस्वती ६।६१।१२, देवा: त्रिषधस्थे निषेदु: १०।६१।१४, अग्निं नर: त्रिषधस्थे समीधिरे ५।११।२)।

आध्यात्मिक दृष्टि से पृथिवीलोक दैह्य चेतना की भूमि है और अन्तरिक्ष प्राणचेतना की भूमि है। द्युलोक का आरम्भ मनश्चेतना द्वारा होता है। अतएव इस दृष्टि से अन्नमय शरीर में तापरूप में जो अग्नि का प्राकट्य होता है, वही देवता रूप में कायसंयमजनित तपःशक्ति है। इसलिए देह रूपी अरणि का मन्थन करके अग्नि समिन्धन एवं तपोवृद्धि में ही साधना की सूचना है। इस मन्थन के फलस्वरूप आविर्भूत होती है विशुद्धप्राणचेतना, जिसका देवता मातरिश्वा अथवा वायु है। इन्द्र शुद्ध मनश्चेतना है, किन्तु ओजोजात[१२६२] अथवा ओज से उत्पन्न होने के कारण प्राण संसृष्ट है। अतएव संहिता में मरुद्गण उसके नित्य सहचर हैं। अन्तरिक्ष में यह देवताविकल्प साधना की दो धाराओं का सूचक है। प्राण और मन को लेकर ही साधना होती है; किन्तु एक धारा में प्राण मुख्य है और दूसरी धारा में मन मुख्य[१२६३] है।

'एकं सत्'

प्राण और मन की निर्मलता चेतना को द्युलोक में उत्तीर्ण करती है। वहाँ देवता मित्र हैं। व्यक्त ज्योति की अनन्तता है[१२६४]। यहाँ वे सुवर्ण अथवा हंस रूप में कल्पित हैं। वे अव्यक्त की सुनील अनन्तता में तैर रहे हैं। द्वितीय मन्त्रांश में ऋषि उन्हें ही 'एकं सत्' कह रहे हैं।

लोक के परे लोकोत्तर और व्यक्त के परे अव्यक्त[१२६५] है। जिसके देवता वरुण हैं। रात्रि की अनिर्वचनीय ज्योति उन का प्रतीक है।[१]

१२६२. तु. ऋ. 'अश्वाद् इयायेति यद् वदन्त्य ओजसोजातम् उत मन्य एनम्'– कहा जाता है कि वे (इन्द्र) अश्व से उत्पन्न हुए हैं, किन्तु मुझे लगता है कि उनकी उत्पत्ति तेज से हुई है (१०।७३।१०)।

१२६३. जिस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही निरोध समाधि को लक्ष्य में रखकर प्रवर्तित हठयोग में प्राण का प्राधान्य है और राजयोग में मन का प्राधान्य है।

१२६४. तु. क. महान् आत्मा १।३।१०, १९, २।३।७; तैउ. मह इति, तद् ब्रह्म १।५।१।

१२६५. संहिता में 'तृतीयं धाम' ऋ. ९।९६।१९, 'तुरीयं स्वित्' १०।६७।१, तु. मूल हं सूर्य तमसा. प व्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणा. विन्दद अत्रिः –व्रतच्युत अन्धकार

जिस साधना में प्राण संयमन मुख है, वहाँ वे यम हैं। कठोपनिषद् में यम वैवस्वत हैं अर्थात् आदित्य ज्योति से उत्पन्न। उन्होंने ही नचिकेता को उस लोकोत्तर धाम का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रदान किया था, जहाँ [२]अनालोक के आलोक में सब उजागर हो रहा है।

ऋषि बतला रहें हैं कि यह सब कुछ उसी एक सन्मात्र अथवा शुद्ध सत्ता की विभूति है।

उसके बाद विश्वामित्र अथवा वाक् के पुत्र ऋषि प्रजापति के दो मन्त्र[१२६६] हैं – 'जो कुछ उत्पन्न हुआ है, उसको इन दोनों' ने यथायथ सम्प्रसारित किया है, महान् देवताओं को धारण करके भी अटल है; चञ्चल अथवा ध्रुव या निश्चल जो कुछ है, सब का स्वामी वही एक है – जो विचरण करता है, जो उड़ता है, जो कर्म में विचित्र है, जो

द्वारा निगूढ़ सूर्य को अत्रि ने प्राप्त किया तुरीय ब्रह्मद्वारा (५।४०।६, दृश्यतः सूर्यग्रहण का वर्णन है; किन्तु तत्त्वतः सूर्य के भी उस पार अव्यक्त ज्योति में प्रवेश का सङ्केत है; सूर्य ग्रस्त होता है इन्द्र की अमृतकला द्वारा अर्थात् व्यक्त चैतन्य को आवृत करके अव्यक्त बोध का उदय होता है, अतः तन्त्र में सूर्यग्रहण उपादेय किन्तु चन्द्रग्रहण हेय है)।

१. तु. १०।१२७।२।

२. क. २।२।१५।

१२६६. ऋ. विश्वे, द एते जनिमा सं विविक्तो महो देवान् विभ्रती न व्यथेते, एजद् ध्रुवं पत्यते विश्वम् एकं चरतो पतत्रि विषुणं वि जातम्। सना पुराणम् अध्येम्य आरान् महः पितुर जनितुर् जाभि तन् नः, देवासो यत्र पनितार एवैर उरौ पथि व्युते तस्थुर अन्तः ३।५४।८.९। ऋषि का नाम 'प्रजापति' – लगता है इष्ट के साथ सायुज्य बोध का सूचक है। द्रष्टव्य, उनके पिता विश्वामित्र, किन्तु माता वाक्; मनु का कथन है कि उपनयन में ब्रह्मचारी के पिता आचार्य होते हैं और माँ सावित्री (मस २।१७०)। यह वाक् 'ससर्परी' अथवा विद्युद् विसर्पिणी, विश्वामित्र ने जमदग्नि से प्राप्त किया था (३।५३।१५।, १६)। यही क्या विश्वामित्र का 'ब्रह्म' है? जो भारतजन की रक्षा करता है (१२) और जो द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) का नित्य पाठ्य गायत्री मन्त्र है (३।६२।१०)? वाच्य प्रजापति के सूक्तों (५४-५६) का प्रत्येक सूक्त ही गम्भीर भावों का वाहन है।

जन्म में विचित्र है – सब का ही है। उसी सनातन पुराण का यह जो अनुभव करते हैं, दूर से – अनुभव करते हैं उसी महान् पिता और जनक से आविर्भाव हम सब का; देवता उसके भीतर स्वभावत: स्तुतिमुखर होकर तारों से बुने पथ पर खड़े हैं। ....आँखों के सामने देख रहे हैं जो यह श्यामली या श्यामवर्णा पृथिवी और वह जो सुनील द्युलोक, ये ही [1]विश्वभुवन के माता-पिता हैं। इस पृथिवी के वक्ष में प्राण की लीला, और उस द्युलोक का क्रीड़न-खेलन, इसके ही अन्तर्गत विधृत है विश्व का समस्त स्पन्दन। माँ की गोद से पिता से पिता की गोद में और पाण से प्रज्ञा की ओर समस्त जीवन का अभियान जारी है। यह जीवनायन ही विश्वदेवता की अनादिनिधन लीला है : अष्टवसु, एकादशरुद्र और द्वादश आदित्य, स्तर-स्तर में विन्यस्त, अवस्थित रहकर इस भूलोक और द्युलोक के आवेष्टन[2] में विलसित, उद्भासित होते हुए यात्रारत हैं। एक ओर यह अर्न्नाद युग्म जिस प्रकार प्राण में चञ्चल और विभूति में विचित्र है, उसी प्रकार दूसरी ओर वे स्वधा में नित्य अचञ्चल हैं, फिर इस युग्म की विश्व व्यापी द्वैत लीला को घेर कर बहुत दूर उससे परे स्थित है [3]वह परम

---

१. 'द्यौर् में पिता जनिता नाभिर् अत्र बन्धुर में माता पृथिवी मही. यम्' – द्युलोक मेरा पिता जनक एवं नाभि (ग्रन्थि) यहाँ, यह महती पृथिवी मेरी माता एवं बन्धन है १।१६४।३३ (तु. १।१५९।१-३); 'उरुव्यचसा महिनी असश्चता पिता-माता च भुवनानि रक्षत: – सुविशाल व्याप्ति है जिनकी, जो महान् हैं, जो वियुक्त हैं, वे ही पिता एवं माता विश्व भुवन की रक्षा करते हैं' १।१६०।२; पूर्वजे पितरा ७।५३।२ (१०।६५।८); 'रोदसी देवपुत्रे प्रत्ने मातरा यह्वी ऋतस्य' – द्युलोक और भूलोक के पुत्र सब देवता, आदि पिता एवं माता हैं वे, ऋत के तारुण्य में उच्छल ६।१७।७

२. तु. शब्रा. अष्टौ वसव:, एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इमे एव द्यावा पृथिवी त्रयस्त्रिंश्यो, त्रयस्त्रिंशद् वै देवा: प्रजापतिश्च चतुस्त्रिंश: ४।५।७।२। द्युलोक और भूलोक से परे प्रजापति, उससे भी परे परमपुरुष जिनकी ये सब विभूति हैं (तु., तैउ. आनन्द मीमांसा में देवता विन्यास २।८)

३. द्यावा-पृथिवी विधृत हैं 'ऋतस्य योनौ' ३।५४।६, जो वह परम एक हैं। उनका वर्णन है : 'स इत् स्वपा भुवनेष्वा स य इमे द्यावा पृथिवी जजान' – वे वह शिल्पी हैं, जो विश्वभुवन में हैं जिन्होंने इस द्यावा पृथिवी को

एक – जो शाश्वत है, सब का आदि है और भूत-भविष्य का ईशान है, अधिपति है। इस श्यामली पृथिवी की गोद से निहार रहा हूँ उस सुनील द्युलोक के सुदूर रहस्य की ओर मेरी अनिमेष दृष्टि के सामने उन्मोचित हुआ अज्ञात का हिरण्मय आवरण : यह जो देख रहा हूँ, यह जो पाया है उस चिरपुरातन चिरन्तन को आदिमिथुन की सम्प्रयुक्त चेतना के निविड गहराव में। उस [4]बीजप्रद पिता की विसृष्टि के उन्मादन से यह जो देख रहा हूँ अपने सब का अश्रान्त निर्झरण, देख रहा हूँ उसमें [5]तारों से झिलमिलाता देवयान का विशाल वितान,

---

जन्म दिया है४।५३।३; 'अयं देवानाम् अपस्तमो यो जजान रोदसी विश्वशम्भुवा' – निपुण देवताओं में ये ही निपुणतम हैं, जिन्होंने जन्म दिया विश्वमङ्गल द्यावा पृथिवी को १।१६०।४। यह अनिरुक्त देवता कभी इन्द्र (८।३६।४, १०।२९।६, ५४।३ अथवा कभी त्वष्टा (१०।११।९); वे विश्वकर्मा हैं १०।८१।२, ३) वे पुरुष हैं (१०।९०।१४)। 'ऋत' प्रजापति का व्रत, जो प्रजासमूह के जनक हैं (१०।८५।४३), विश्व जो कुछ उत्पन्न हुआ है उसके परिभू(१०।१२१।१०)।

४. संहिता की भाषा में 'सुरेता:'। द्यावा-पृथिवी दोनों के ही सुरेता (१।१५९।२, १६०।३ यहाँ वृषभ-धेनु की उपमा है); किन्तु शक्ति जब पुरुष मे निवेशित अथवा स्थापित होती है तब हम पाते हैं केवल 'सुरेता द्यौ:' को, जो अजर-अमर अग्नि को जन्म देते हैं (१०।८५।८)।

५. 'उरौ पथि' – विपुल अथवा प्रशस्त पथ पर। यह पथ देवयान अथवा ज्योति: पथ है। देवता गण पंक्तिबद्ध उस पथ पर खड़े होकर पुराण पुरुष का स्तवन करते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से यह पथ सुषुम्णमार्ग है, मूलाधार पृथिवी से सहस्रार द्युलोक तक विस्तृत है, उसके ही प्रत्येक पर्व पर चित शक्ति का विकास होता है। 'व्युते' –(पदपाठ 'वि-उते'। <वि √वे।। वा (बुनना) + क्त। तु. स्तरीर ना. त्कं व्यु. तं वसाना १।१२२।२, नक्त अथवा रात्रि का वर्णन। वे महानिशा हैं, अथवा शून्यरूपिणी हैं इसलिए अप्रसविनी हैं ('स्तरी:') : किन्तु पहने हुए हैं तारों से झिलमिलाता परिधान) (तारों) से बुना। देवयान तारों से झिलमिलाता पथ (तु. 'प्र मे पन्था देवयाना अदृशन् .....वसुभिर इष्कृतास:' देवयान के सारे पथ दिखाई पड़े मेरे सामने.... जो अत्यधिक प्रकाश से आच्छादित हैं ७।७६।२)। सर्वदेवता के मूल परमपुरुष के ध्रुवपद का दर्शन कर के ऋषि

सुनाता हूँ उसके पोर-पोर में विश्व देवता की हृदय तन्त्री पर गुञ्जरित उस [६]चिरन्तन का वन्दना गीत। ....विश्वमूल समस्त तत्त्व ही इन दो मन्त्रों में प्रज्ञापित हुआ है : देख रहा हूँ आदि में वह अनिरुक्त परम एक, उसके बाद वही एक, दो होकर द्यावा, पृथिवी का देवयुग्म, उसके बाद उसके आवेष्टन में अनेक देवताओं की विभावना, और उसके ही अनुभाव प्रभाव के रूप में यह विचित्र विश्वलीला। फिर देखता हूँ, इस पृथिवी से द्युलोक तक [७]'सत्येन पन्था विततो देवयान:' – अर्थात सत्य द्वारा आच्छादित देवयान की आलोक-सरणि।

उसके बाद दीर्घतमा का यह एक मन्त्र[१२६७] है – 'तीन माता और तीन पिता को धारण कर वही एक उन्नत होकर स्थित है, वे इसे अवसन्न तो नहीं करते हैं; बल्कि मनन करते हैं[१] (देवतागण) उस

विश्वदेवताओं के बीच उतर कर आ रहें हैं। इसके बाद ही सूक्त के अन्त तक विश्वदेव गण की स्तुति है।

६. देवतागण उसी सनातन परम पुरुष की स्तुति यत्र करते हैं, क्योंकि वे उसकी ही विभूति हैं (तु. यत्र देवा: समपश्यन्त विश्वे १०।८२।५, यत्र देवा: समगच्छन्त विश्वे ६)।

७. मु. ३।१।६।

१२६७. ऋ. तिस्रो मातॄस त्रीन् पितॄन् बिभ्रदे एक ऊर्ध्वस तस्थौ ने म् अब ग्लापयन्ति, मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचम् अविश्वभिन्वाम् १।१६४।१०

१. ये देवता उस परम की ही नित्य विभूति हैं। विभूति एवं विभूति-मान् को, शक्ति और शक्तिमान् को पृथक् नहीं किया जा सकता। एक वही है और कुछ भी नहीं - यह अनुभव ऊपर उठते जाने के समय हमारा भी हो सकता है, किन्तु तब भी उसमें ही सब है। एक वस्तु में अनेक का समाहार। इसलिए देखते हैं कि सृष्टि के आदि में भी देवतागण बीजशक्ति के रूप में विद्यमान रहते हैं। पुरुष के अग्रजन्मा होने तथा पुरुषयज्ञ सृष्टि का प्रवर्तक होने पर भी देवतागण ही वहाँ यजमान हैं (१०।९०।६-७)। अविशिष्ट एक से अनेक का विर्क्तन या परिवर्तन – यह दृष्टि विश्लेषणवादियों की है, किन्तु तब भी अनेक उसी एक में अनुस्यूत एवं रहस्यपूर्ण रूप में सक्रिय है। चेतना की ऊर्ध्वगामी धारा या ज्वार में अद्वैत बोध अनेक के वर्जन द्वारा, और भाटा या उतार में अनेक को लेकर ही

द्युलोक से भी ऊपर स्थित रहकर विश्ववित् वाक् का, जो सब को अनुप्रेरणा नहीं देती'....इसके अलावा भी हम द्वैत से परे अनिरुक्त अद्वैत की प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। इस बार द्वैत लीला में एक मिथुन या युग्म तीन मिथुन में विपरिणत हुआ है – जो आदि जनक-जननी द्यावापृथिवी की ही विभूति है। [२]तीन माता तीन 'लोक' अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ: हैं; सामान्यतया ये पृथिवी अर्थात् आधार तत्त्व हैं और तीन पिता उनके अधिष्ठाता तीन 'देव' अर्थात् अग्नि, वायु एवं सूर्य हैं; सामान्यत: ये द्यौ: अर्थात् चित् तत्त्व हैं। समस्त विश्व ही आधार शक्ति और अन्तर्यामि चैतन्य का युगल विलास है। [३]यह विलास विधृत है उसी अद्वितीय एक के अन्तर्गत जो दो होकर भी दो के परे है। जहाँ लीला है, वहाँ चरिष्णुता है, और उतार-चढ़ाव का आयास या परिश्रम है - इसलिए ग्लानि भी है, किन्तु अक्षोभ्य उद्वैत में यह ग्लानि नहीं है, बल्कि क्षोभ को अनायास वहन करने का सामर्थ्य हैं। इस विश्वम्भर अद्वैत चैतन्य की भूमि द्युलोक से भी परे है। उसी परमव्योम में परम प्रज्ञान के साथ अभिन्न रूप में स्थित है परमावाक् अर्थात् विश्वप्राण में स्पन्दमाना 'गौरी', जो एक-पदी होकर भी सहस्त्राक्षर में विच्छुरित है।[४] उससे ही चारों ओर जीवन समुद्र

सम्भव है – यही समझ लेने पर वैदिक तथा भारतीय अद्वैतवाद के रहस्य को समझा जा सकता है। विश्लेषणवादी विवर्तन भावना की सूचना हमें संहिता में ही प्राप्त होती है– 'देवानां पूर्व्ये युगेऽसत: सद् अजायत: युगे प्रथमेऽसत: सद् अजायत' १०।७२।२, ३। यहाँ विवर्तन का क्रम इस प्रकार है, असत् > सत् > देवगण (तु. १०।१२९।६)।

२. तु. तिस्रो दिव: पृथिवीस् तिस्र ४।५३।५; षड् भारान् ३।५६।२, षल् ऊर्वी: १०।१४।१६।

३. आधार शक्ति से 'लोक', और अन्तर्यामिचैतन्य 'देवे'। दोनों का ही निरुक्तलभ्य अर्थ एक (लोक।। रोक <√ रुच् 'दीप्ति/या प्रकाश देना' तु. दिवश् चिद् आ ते रुचयन्त रोका: ३।६।७; ६।६६।६)। उपनिषद् में हमें लोक एवं लोकपाल प्राप्त होते हैं, पहले लोक फिर लोकपाल दोनों का अधिष्ठान आत्मा है (ऐ. १।१।१-३)।

४. द्र. १।१६४।४१, ४२। परम व्योम अक्षर (३९), वाक् वहाँ सहस्राक्षरा रूप में उसके साथ अभिन्न; अविनाभूता।

उच्छलित हो रहा है। वह सब कुछ जानती है[५], किन्तु सभी उसे जानते नहीं....यहाँ एक अद्वैत तत्त्व और द्वैत चेतना की तीन भूमियों पर उसका अफुरन्त, अशेष अश्रान्त विलास देखते हैं। इस विलास की शक्ति ही उसकी वाक् अथवा विसृष्टि अथवा स्फुरता अर्थात् चेतना का स्वाभाविक स्पन्दन है– जो नित्य सामरस्य में उसके साथ युगनद्ध है[१२६८] हम विश्व का शब्द रूप एकवचन में, द्विवचन में एवं बहुवचन में देखते हैं।

उसके बाद वैवस्वत यम का एक मन्त्र[१२६९] है: 'तीन कद्रुक के भीतर से लेकर उड़ता जा रहा है (सोम)। छह विपुला (भूमि); एक

---

५. 'उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्, उत त्वः श्रृण्वम् न शृणोत्य् एनाम'– कोई देखकर भी वाक् को देखता नहीं, फिर कोई सुनकर भी सुनता नहीं १०।६१।४। वाक् जिस प्रकार 'अविश्वमिन्वा', पूषा का पञ्चरश्मि सप्तचक्र रथ भी उसी प्रकार 'अविश्वमिन्व' (२।४०।३) अर्थात् देवता और ऋषि के अतिरिक्त और किसी को वह अग्रसर होकर नहीं लेता (उभयत्र पद पाठ 'अविश्व' मिन्व'; किन्तु तु. पदपाठ 'विश्वम्। इन्व' सर्वत्र; तु. 'विश्वम् इन्वति' २।५।२, 'इन्वन्तो विश्वम्' ३।४।५।

१२६८. सहस्रधा पञ्चदशान्य् उक्था यावद् द्यावापृथिवी तावद् तत् सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् – सहस्र प्रकार का पञ्चदश उक्थ है द्युलोक-भूलोक जहाँ तक, वहाँ तक ही वे, हज़ार रूपों में है सहस्र महिमा, ब्रह्म जहाँ तक व्याप्त है, वहाँ तक ही वाक् ऋ १०।११४।८ (तु. ऐब्रा. ब्रह्म वै वाक् ४।२१)। यहाँ Geldner का मन्तव्य प्रणिधान योग्य है : 'brahman ist hier die Grundlage der vaac।' ब्रह्म अधियाज्ञिक दृष्टि से शब्दब्रह्म और आध्यात्मिक अनुभव में परब्रह्म या परमब्रह्म दोनों ही। पञ्चदश उक्थ अथवा शस्त्र का प्रयोग होता है उक्थ्य नामक सोमयाग में। 'महिमा' ब्रह्मवीर्य का आधार ब्रह्मस्थिति (तु. रेतोधा आसन् महिमान आसन् ऋ १०।१२९।५)।

१२६९. ऋ. त्रिकद्रुकेभिः पतति षल् उर्वीर् एकम् इद् बृहत्, त्रिष्टुव् गायत्र गायत्री छान्दांसि सर्वा ता यम आहिता १०।१४।१६। मृत्यु, पितृगण एवं यम को लेकर रचित उप. मण्डल (१०।१४-१९) का यह आदि सूक्त है। पुरुष सूक्त की तरह इसकी ऋक् सङ्ख्या सोलह है; ठीक उसी प्रकार यह अन्त

ही बृहत् त्रिष्टुप् गायत्री (जितने) छन्द वे सभी यम में निहित हैं।' इस मन्त्र में सोमयाजी की उत्क्रान्ति का वर्णन रहस्यात्मक भाषा में किया गया है, जिसका अन्तिम लक्ष्य वही एक, वही बृहत् है। यह पथ उसी सत्य से आच्छादित देवयान का पथ है। उसके छः पर्वों में छः [१]महाभूमि हैं। सप्तम भूमि नहीं 'परमपद' है अथवा 'ऋत की योनि है'– जो द्यावा पृथिवी से ऊपर की ओर है। उसे तो भूमि भी नहीं कहा जा सकता है। भूमि सब 'ऊर्वी' अथवा विपुला हैं; ये केवल बृहत् हैं, उपनिषद् में जिसके अनुरूप संज्ञा 'ब्रह्म' है। इस बृहत् में, इस एक में सब गतियों का अवसान है। यहाँ से वहाँ तक अमृतसन्ध जीवन से वैवस्वत मरण के प्रद्योत तक चेतना की सोम्यधारा तीन 'कद्रु'[२] या ग्रन्थि के भीतर से होती हुई ऊपर की ओर [३]सप्तछन्द की

का ऋक् एक विशिष्ट समाप्ति का द्योतक है। सोलह षोडशकल पुरुष का स्मरण दिलाता है। पुरुषसूक्त में वे आलोक ज्योति हैं, उनसे ही सृष्टि होती है और इस यम सूक्त में वे अन्धकार हैं, उनमें ही चेतना का विलय होता है। अन्त की चार ऋचाओं में यम के लिए सोमसवन का उल्लेख है, मरण-'उत्सव' का सङ्केत हो। स्मरणीय, सोम अमृत, यम उसके विधाता (कठोपनिषद्)। अगले सब सूक्तों के ऋषि यामायन हैं, केवल आदि सूक्त के ऋषि स्वयं वैवस्वत यम हैं। तु. पुरुषसूक्त के ऋषि 'नारायण' हैं, देवता 'पुरुष'। इसके अतिरिक्त शब्रा. के पुरुषमेध के यज्ञ के प्रसङ्ग में देखते हैं, आदिपुरुष नारायण (१३।६।१।१)। अतः दोनों सूक्तों में ही देवता के साथ ऋषि का सायुज्य प्राप्त होता है, किन्तु असली नाम क्या है? वह हम नहीं जान पाते।

१. द्र. टीका १२६७

२. परन्तु तु. शाखान्तर से सायण की उद्धृति: 'षण् मोर्वीर अहंसस् परन्तु द्यौश् च पृथिवी च आपश् चो. षधयश् च ऊर्क् च सूनृता च' तै आ. भाष्य ६।५।३ और भी तुलनीय सप्त व्याहृति प्रतिपादित सप्तलोक; 'परमपद' १।२२।२०, २१; १५४।५, ६; 'ऋतस्य योनिः' ३।५४।६, ४।१।१२, ९।७२।६, ७३।१, ८६।२५, ३।६२।१३, ५।२१।४...(सोम के सम्बन्ध में बाहुल्य लक्षणीय; तु. हठयोग 'सहस्रारच्युतामृत')।

तैत्तिरीय संहिता में त्रिकद्रुक तीन याग (७।४।११।१ सायण भाष्य)। किन्तु ऋक्संहिता में कद्रु जान पड़ता है सोमपात्र विशेष (तु. अपिबत् कद्रुवः

सुतम इन्द्रः ८।४५।२६, त्रिकद्रुक में इन्द्र का सोमपान १।३२।३, २।११।१७, १५।१, 'त्रिकद्रुकेषु...सोमम् अपिबद् विष्णुना सुप्तम्' (इन्द्र विष्णु का सहचार या साथ लक्षणीय, विष्णुवीर्य या उनके बल से ही इन्द्र वृत्रधाती) २२।१, त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञम् अतन्वत–तीन कद्रुक में चेतन यज्ञ को देवताओं में वितत किया ८।१३।१८ (= ९२।२१)। ऋक् संहिता में ग्रावस्तुति सूक्त (१०।९४) के ऋषि हैं 'अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः'। 'ग्रावा' सोम कूटने-पीसने का पत्थर; 'अर्बुद' मांसग्रन्थि (tumour), ऋषि की माता का नाम 'कद्रु' वे स्वयं 'सर्प' हैं। इन संज्ञाओं के भीतर से हठयोग के कुण्डलिनी-जागरण की क्रिया का सुस्पष्ट आभास प्राप्त होता है। इस प्रसङ्ग में ऐतरेय ब्राह्मण की आख्यायिका द्रष्टव्य (६।१) : देवताओं ने सर्वचरु से सत्रानुष्ठान किया, किन्तु पाप को विनष्ट नहीं कर सके। उस समय अर्बुद काद्रवेय सर्प ने आकर कहा, एक क्रिया तुम लोगों की छूट गई है, इस कारण यह सङ्कट, मैं उसे सम्पन्न कर देता हूँ। यह कहकर प्रतिदिन मध्याह्न में ऊपर की ओर उठकर (उपोत्सर्पन) ग्रावों की स्तुति करने लगे। जिस मार्ग से वे ऊपर की ओर उठे थे ('प्रतिविलाद् उद्गम्य आगच्छत' सायण), अब भी उसका नाम 'अर्बुदोदासर्पणी' है। किन्तु सोमपान करके देवतागण उन्मत्त हो गए। उन्होंने कहा, सर्प ऋषि की विद्वेषपूर्ण दृष्टि के कारण यह हुआ है। इसलिए उन्होंने उनकी आँखें बाँध दी।...अन्त में देवताओं का पाप विनष्ट हो गया, साथ-साथ सर्पों का भी। इसलिए वे आज भी 'अपहतपाप्मानो हिला पूर्वां जीर्णां त्वचं नवयैव प्रयन्ति'– निष्पाप होकर पहले का जीर्ण त्वक् (केंचुली, त्वचा) छोड़कर नये त्वक् के साथ चलते-फिरते हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्य भी सोमपान करके अमर होकर दिव्य देह प्राप्त करता है (नाथ सम्प्रदाय की कायसिद्धि का मूल यहीं है)। ऐ ब्रा. के अनुसार 'मनो वै ग्रावस्तोत्रीया'– ग्रावस्तोत्रीया ऋक् 'मनस्' है ६।२। उसका ही स्त्रीलिङ्ग है 'मनसा'। (बङ्गाल की लोककथाओं में वर्णित मनसा की कहानी स्मरणीय)। इसके अलावा तैत्तिरीय संहिता में कद्रु सुपर्णी की निष्क्रय (Ransom) या रक्षाशुल्क के लिए गायत्री तृतीय द्युलोक से सोम ले आई। किन्तु लेकर आते समय गन्धर्व विश्वावसु ने उस सोम को छीन कर तीन रात रख लिया (तु. कठोपनिषद् में यम के धाम में नचिकेता का त्रिरात्रवास)। उस समय वाक् एक वर्ष की बालिका के रूप में गन्धर्वों को भुलावा देकर

लहर-लहर में बहती रहती है– अभीप्सा की अग्नि को रूपान्तरित करके वृत्रघाती वज्र की अधृष्यता या अजेयता में, विश्वदेवता के आवेश को मिला देती है, वारुणी रात्रि की अप्रकेतता या आच्छन्नता में, यमदत्त परम अवसान की असंज्ञता में... यह अवसान ही 'एकं बृहत्' का लोकोत्तर रूप है, जिससे अविशिष्ट अद्वैत अनुभव का परिचय प्राप्त होता है।

सोम का उद्धार किया। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार कद्रु यह पृथिवी है और सुपर्णी उसी द्युलोक में है (६।१।६।१)। ऐतरेय ब्राह्मण में पृथिवी को सर्पराज्ञी (५।२३, बतलाया गया है, जिसकी व्याख्या है, 'इयं हि सर्पतो राज्ञी' अर्थात् सर्प शब्द को सञ्चरणशील अर्थ में लिया गया है। सीधे सर्प कहने में भी कोई आपत्ति नहीं)। कद्रु के साथ पृथिवी एवं सर्प का सम्बन्ध वह एक ही इङ्गित वहन करता है: कद्रु पृथिवी में कुण्डलित महाशक्ति (ऋक्संहिता की भाषा में 'अस्य (= आदि त्यस्य) प्राणाद् अपानती' सर्पराज्ञी सूक्त १०।१८९।२। योग में अपान निःश्वास वायु है, जो ऊपर उठते प्राण को मूलाधार में खींच ले आता है, तु. आदिपुरुष की, नाभि से अपान, अपान से मृत्यु ऐउ. १।१।४ 'मृत्यु' अर्थात् मिट्टी हो जाना, 'मृत्यु', के मूल में एक ही धातु है)। 'कद्रु' की व्युत्पत्ति के लिए तु. 'कन्द' GK. Kondes, 'कन्दुक' GK. Kondulos। त्रिकद्रुक के भीतर से इन्द्र के सोमपान और सोम के उड़ने के साथ तुलनीय तीन ग्रन्थि भेद।

३. सात छन्दः चौबीस अक्षर का गायत्री छन्द, उसके बाद क्रमशः चार-चार अक्षर बढ़ाकर उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् एवं जगती (द्र. १०।१३०।४, ५)। किन्तु पंक्ति के स्थान पर यही विराट् है। ऋक् संहिता में बीस अक्षर का एक छन्द है 'द्विपदा विराट्'; इस दो विराट् को मिलाकर अक्षर सङ्ख्या पंक्ति के समान होती है। ऋक् संहिता में सात छन्दों के देवता क्रमशः अग्नि, सविता, सोम, बृहस्पति, मित्रावरुण, इन्द्र एवं विश्वदेव हैं। गायत्री अग्नि का छन्द है 'अतएव आध्यात्मिक दृष्टि से अभीप्सा का वाहन है। उसी प्रकार त्रिष्टुप् वृत्रघाती इन्द्र के शौर्य का।

४. तु. 'यमं पश्यासि वरुणं च देवम् – ऐसा हो कि तुम देवता यम एवं वरुण को देख सको, उनका दर्शन प्राप्त कर सको (१०।१४।७); यमो ददात्य् अवसानम् अस्मै (९। तु. वास. ३५।१)।

'एकं तत्'

अब हम 'एकं तत्' इस पर्याय के मन्त्रों का विवेचन करेंगे।

'एक' जब देवता, तब उसके अनुभव का विशेषण है– विश्ववैचित्र्य में जिसका अभिव्यञ्जन हो। जब वह विशुद्ध सन्मात्र, तब फिर उसका कोई भी विशेषण नहीं। तब भी वह अनुभव इतिवाचक है। सूक्ष्मदर्शी की 'अग्र्या बुद्धि' में वहाँ भी एक सूक्ष्म विशेषण का आभास मिलता है। जब चेतना उस विशेषण को भी लाँघ जाती है, तब उस समय के अनुभव की संज्ञा 'तत्' है। वैदिक ऋषियों द्वारा प्रयुक्त एक उपमा के द्वारा इन तीन अनुभवों का पार्थक्य समझाया जा सकता है। आकाश में एक सूर्य प्रकाशित है, वह ही मानो 'एको देव:'। उस सूर्य के प्रकाश से उद्भासित आकाश मानो 'एकं सत्'। किन्तु आकाश में प्रकाश रहता है, फिर रहता भी नहीं है। यही निरुपाधिक आकाश 'एकं तत्' है। यह अनुभव असत् कल्प है, किन्तु सत् का अधिष्ठान है। जिस प्रकार उपनिषद् में एक ही आदित्य के 'शुक्लंभा:' एवं 'नीलं पर: कृष्णम्' की तथा 'छायातप' की चर्चा की गई है।[१२७०]

१२७०. द्र. छा. १।६।५-६; क. १।३।१; तु. उद्दालक की विकल्पना : आदि में सत् या कि असत्? (छा. ६।२।१-२)। समझना होगा कि ज्वार में असत् और भाटे में सत् अर्थात् आरोहण में असत् और अवरोहण में सत्; असत् में प्रलय, सत् में विसृष्टि। ईक्षण (छा. ६।२।३) सत् का ही सम्भव एवं वही उद्दालक का प्रतिपाद्य है। तु. गी. ॐ तत् सद् इति निर्देशो ब्रह्मण:... स्मृत: १७।२३। उसके बाद ही व्याख्या करते हुए कहा जा रहा है कि 'ओम्' ब्रह्मवादियों के यज्ञ, दान और तप का प्रवर्तक है; वह क्रिया ही जब मोक्ष के आकाङ्क्षी फलाभिसन्धिशून्य होकर करते हैं तब 'तत्' का व्यवहार; प्रशस्त कर्म में 'सत्' का प्रयोग। वैदिक साहित्य में इदम्, एतत् और तत् ये तीनों सर्वनाम साधारणत: क्रमानुसार जगत्, आत्मा एवं विश्वोत्तीर्ण या विश्वातीत को लक्ष्य करते हैं (तु. क. 'एतद् वै तत्' यही एकटेक बार-बार प्रयुक्त २।१, २ वल्ली)।

दीर्घतमा के एक मन्त्र में लोकोत्तर तत् स्वरूप के सम्बन्ध में हम यही जिज्ञासा देखते हैं:[१२७१] मैं समझ नहीं पा रहा हूँ, इसलिए इस विषय में प्रश्न कर रहा हूँ उन कवियों-मेधावियों से जो समझ पाए हैं; न जानने के कारण ही जानने के लिए (मेरा प्रश्न)। जिसने इन छ: लोकों को स्तम्भित कर रखा है, उस अजात, अजन्मा के रूप में कौन हैं अनिर्वचनीय एक?'...जो परम एक है उसके स्वरूप के सम्बन्ध में यहाँ हमें यही विवृति प्राप्त होती है कि यह 'एक'[१] अज है, उसका जन्म नहीं; लेकिन उससे ही [२]छ: लोक उत्पन्न हुए है, वह उनका आश्रय एवं अधिष्ठान है। यह लोक संस्थान उसी अरूप का रूपायन है। उसमें जो अनुस्यूत है, वह अनिर्वचनीय है। तब भी लोग उसे जानना चाहते हैं और जानते भी हैं। परवर्ती मन्त्रों में सन्धा भाषा के माध्यम से उसी विज्ञान का विवरण दिया गया है। जिसमें वह [३]आकाश, सूर्य एवं काल के रूप में विख्यात है। आकाश रूप में वह सत् एवं तत् है, सूर्य रूप में बीजप्रद पिता है एवं काल रूप में इस विसृष्टि की परम्परा अथवा विचित्र रूपों में शक्ति के निर्झरण की धारा है।[४] सब मिलाकर वह एक अनिर्वचनीय रहस्य है।

१२७१. अचिकित्वाञ्छ चिकितुषश् चिद् अत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् वि यस् तस्तम्भ षल् इमा रजांस्य अजस्य रूपे किम् अपि स्विद् एकम् १।१६४।६।

१. उपनिषद् की भाषा में अजत्व = असम्भूति अथवा विनाश (ई., १२-१४)। असम्भूति, सम्भूति की प्रतिकूल दिशा में वही 'पूर्णम् अप्रवर्ति है (छा. ३।१२।९; बृ. २।१।५; कौ. ४।६) जो आकाशरूप में स्तम्ब्ध है; किन्तु इस आकाश से ही फिर नाम, रूप का निर्वाह हो रहा है (छा. ८।१४।१)। प्रतिकूल धारा में चेतना के प्रलय में वही 'विनाश'। संहिता यह वही असत् है, जो सत् का जनक है ऋ. १०।७२।२, ३, १२९।४। इसी प्रसङ्ग में तु. असच् च परमे व्योमन् १०।५।७; टीका १२८।

२. तु. १।१६४।१०, ७।८७।५, २।१३।१०, ३।५६।२, ६।४७।३, १०।१४।१६।

३. क्रमानुसार द्र. ७, ८, ११-१४।

४. तु. 'अस्य वामस्य निहितं पदं वे:' – यह प्रिय पक्षी का गोपन पद है १।१६४।७। प्रिय पक्षी 'आदित्य' जिसकी शुक्ल भाति को हम देख पाते हैं; उसका गोपन पद पर: कृष्ण नीलिमा है।

'एको देवः' इस पर्याय के मन्त्र की आलोचना करते समय हमने अत्रिय श्रुतविद के एक मन्त्र का उल्लेख किया है।[१२७२] उसके पूर्व के मन्त्र में है: [१]"ऋत् के द्वारा ढँका हुआ है ध्रुव ऋत तुम दोनों का (वहाँ, हे मित्र, हे वरुण), जहाँ सूर्य के अश्वों को विमुक्त करते हैं (देवतागण)। दश शत या सहस्र (किरणें) एक साथ स्थिर हैं। देवताओं के आश्चर्यों में उस एक श्रेष्ठ (आश्चर्य) को देखा मैंने।'... यह स्पष्टतः सूर्यास्त का वर्णन है। उपनिषद् की भाषा में [२]सूर्य की किरणें तब प्रती मधुनाड़ियाँ हैं जो अमृत रस से पूर्ण हैं। इस अमृत को आदित्यगण वरुण के मुख से पीते हैं। उस समय सूर्य का रूप कृष्ण वर्ण होता है। इस रहस्योक्ति का तात्पर्य पहले भी बतलाया गया है। सूर्यास्त मृत्यु का रूपक है। [३]अविद्वान् के लिए वह अन्धकार है। किन्तु विद्वान् के लिए वह वैवस्वत दीप्ति से उद्भासित है। [४]यह दीप्ति मृत्यु का लीन आत्मसंहरण जनित एक पुञ्जद्युति है जिसे संहिता की भाषा में उस समय सूर्य की हज़ार किरणों के केन्द्रित होकर स्थिर हो जाने जैसा कहा गया है। उस समय [५]आपाततः देवताओं ने चेतना की किरणों को शिथिल कर दिया है। इसलिए मुमूर्षु तब बहिः संज्ञ नहीं बल्कि अन्तः संज्ञा है – क्योंकि उसके वाक्, प्राण एवं मन क्रमशः जिस तेज में एवं तेज जिस परम देवता में समापन्न अथवा उपसंहत होता है, उसे वह जानता है। वह जानना ही देव-दर्शन के सभी आश्चर्यों का श्रेष्ठ आश्चर्य है। क्योंकि यह प्रपञ्चोपशम मृत्यु के भीतर से अमृत वर्ण का दर्शन है। इस वैवस्वत मृत्यु अथवा वारुणी रात्रि का रहस्यमय अनुभव समाधि में अथवा योगनिद्रा में भी हो सकता है।

१२७२.

१. ऋतेन ऋतम् अपिहितं ध्रुवं वां सूर्यस्य यत्र विमुञ्चन्त्य अश्वान् दश शता सह तस्थुस् तद् एक देवता श्रेष्ठं वपुषाम् अपश्यम् ५।६२।१।

२. द्र. छा. मधुविद्या ३।३, ८।

३. द्र. छा. ८।६।५, ६।

४. द्र. बृ. ४।४।२।

५. द्र. छा. ६।१५।

[६]उस समय जीवन्मुक्त [७]विनाश के भीतर से होकर मृत्यु को पार कर सम्भूति द्वारा अमृत का अनुभव प्राप्त करते हैं। असम्भूति एवं सम्भूति का सम्प्रयोग या सम्मिलन ही अद्वैतानुभव की परम कोटि है, वही 'एकं तत्' है, जिसमें मित्र की हिरण्यदीप्ति द्वारा वारुणी चेतना की महाशून्यता आच्छादित है।[८]

उसके बाद आथर्वण बृहद्दिव का एक मन्त्र है। जिन्होंने इन्द्र के साथ सायुज्य बोध से उद्दीप्त होकर स्वयं को इन्द्र को इन्द्र रूप में घोषित किया था।[१२७३] ऋषि एक इन्द्र सूक्त के आरम्भ में ही कहते हैं :? [१]"वही तत् स्वरूप ही सारे भुवन में ज्येष्ठ है जिससे वज्रतेजा दीप्त वीर्य (इन्द्र) ने जन्म लिया। जन्म के बाद ही उसने शत्रुओं को धराशायी कर दिया और उसके लिए आनन्द में मत वाले हो गए उसके अनुचर।'...ऋक् संहिता में इन्द्र का प्राधान्य सुस्पष्ट है। किन्तु वहाँ विशेष रूप से उनके 'क्रतु' या प्रज्ञावीर्य का रूप प्रस्फुटित हुआ है। वृत्रवध या अविद्या का आवरण हटाना या उनकी मुख्य भूमिका है। इस सूक्त में ही ऋषि कहते हैं, अपने प्राणोच्छ्वास (शवसा) से सात दानवों (दानून्) को वे विदीर्ण करते हैं।' वस्तुतः एक

---

६. तु. मर्मज्ञों या रहस्यविदों की दसवीं दशा (वैष्णव) हाल (सूफ़ी) तारी, सातोरी (ज़ेन ZEN)।

७. ई. १४

८. यही है ऋत के ऋत का आच्छादन। तु. हिरण्मय पात्र द्वारा सत्य धर्म का आच्छादन ई. १५। द्र. ऋतेन ऋतं धरुणं धारयन्त यज्ञस्य शाके परमे व्योमन्' – ऋत के द्वारा सर्वाधार ऋत को धारण किया उन्होंने यज्ञ की शक्ति से परम व्योम में ५।१५।२ यज्ञ की शक्ति यजमान को उसी परमव्योम में ले जाती है जहाँ मित्र का ऋत है जिससे विश्व-भुवन की विसृष्टि होती है, और जो असम्भूति रूप में उसका अधिष्ठान है, वह वरुण का ऋत है। यजमान, मित्र की व्यक्त ज्योति से वरुण की अव्यक्त ज्योति का और चरम संज्ञान द्वारा परम असंज्ञान का अनुभव करते हैं।

१२७३. ऋ. एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वाऽवोचत् स्वां तन्वम् इन्द्रम् एव १०।१२०।९।

१. तद् इद् आस भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस् त्वेषनृम्णः, सद्यो ज ज्ञानो नि रिणाति शत्रून्' अनु यं विश्वे मदनत्य् ऊमाः १०।१२०।१।

दानु–[२]स्वयं वृत्र, [३]वृत्रमाता है। सात दानु उसकी ही विभूति है। सप्तसिन्धु अथवा दिव्य प्राण की सात धाराओं को अवरूद्ध करना उनका काम है। उस समय मनुष्य [४]सप्तबध्रि, होता है अर्थात् सात प्राणों के रहते हुए भी निष्प्राण जैसा होता है। यही अवरोध तोड़कर प्राण को मुक्तधारा में प्रवाहित करते हैं इन्द्र। तब धारा शतग्रन्थि भेदकर अदृश्य गति से ऊपर की ओर बहने लगती है। किन्तु जहाँ धारा का अन्त है अथवा जो शक्ति धारा को ऊपर की ओर बहा ले जाती है उसका उत्स वही अनिर्वचनीय तत् स्वरूप है, जो निखिल

---

२. शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं...ओजायमानम् अहिं दानुं शयानम् २।१२।११। द्रष्टव्य दानु पर्वतवासी एक अहि एवं 'शयान'। पर्वत ऊबड़-खाबड़ लहरीले पहाड़ (तु. निरुक्त गिरि सीधा खड़ा ऊपर उठ जाता है, उसके शिखर पर देवताओं का अधिष्ठान, तु. 'गिरिष्ठाः' गिरिक्षित् विष्णु, 'गिरिशन्त' शिव) उसकी गुफ़ाओं मे वृत्र का वास (तु. वलस्य...बिलम् १।११।५; अपां बिलम् अपिहितं (वृत्रेण) ३२।११)। उन सब गह्वरों या गुफ़ाओं में जो सोया रहता है (तु. योगशास्त्र का 'आशय' अथवा अवचेतना में शयान (सोया हुआ) अविद्या का संस्कार, आधुनिक मनस्तत्त्व या मनोविज्ञान का COMPLEX (मनोग्रन्थि)। उस आशय को तोड़ देने से ही अवरुद्ध प्राण मुक्त होकर सप्तसिन्धु की उच्छल धारा में प्रवाहित होता है और प्रज्ञा मुक्त होकर आर्य ज्योति की सप्तरश्मि में व्याप्त होती है (द्र. २।११।१८, १२।१२)।

३. 'वृत्रमाता', तु. वेदान्त दर्शन की मूला विद्या (द्र. १।३२।९, तु. १०, ११; इन्द्र के वज्र प्रहार से वृत्रमाता की प्राणशक्ति ही पराजित हुई और वृत्र दीर्घतमिस्रा में लुढ़क गया)।

४. तु. 'एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्राच्छ् छत व्रजा रिपुणा ना. वचक्षे घृतस्य धारा अभिचाशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम' – ये (नाड़ियों में सञ्चरण शील प्राण धाराएँ) तीव्र गति से प्रवाहित हो रही हैं हृद्य समुद्र से शतग्रन्थि के भीतर से होकर; रिपु उन्हें देख नहीं पाता; मैं ज्योति की धाराओं की ओर देख रहा हूँ; एक हिरण्य वेतस उनके भीतर ४।५८।५। 'वेतस' नली : सोम प्रवाहिणी सुषुम्ण नाड़ी का प्रतीक (तु. छा. ८।६।६ तु. शौ. यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद, स वै गुह्यः प्रजापतिः १०।७।४१)।

ब्रह्माण्ड से परे है। ..... देवता यहाँ जन्य हैं, उनका जनक वही परम अद्वैत है जिसकी संज्ञा 'तत्' है।[१२७४]

ऋक्संहिता के दो विश्वकर्म सूक्तों में इसी तत् स्वरूप का उसकी उपाधि एवं विभूति के साथ जुड़ा हुआ परिचय प्राप्त होता है। दोनों सूक्त ही समग्र रूप से प्रणिधान की अपेक्षा रखते हैं। यहाँ हम द्वितीय सूक्त के दो मन्त्रों का उल्लेख करते हैं : [१२७५]'विश्व कर्मा का विचित्र मन, अनन्य है उसकी व्याप्ति; (विश्व का) वह धाता एवं विधाता है, इसके अतिरिक्त वह ही परम सम्यक् दर्शन; विश्व भुवन की सारी एषणाओं को चरितार्थ करने में मत्त है (वहाँ) जहाँ (धीर) कहते हैं उसी एक की बात जो सप्तर्षि के उस पार है'.... अधिभूत दृष्टि में सप्तर्षि यहाँ प्रसिद्ध नक्षत्र मण्डल है। [१]सप्तर्षि मण्डल आवर्तित होता है, किन्तु जिस ध्रुव में वह विधृत है, वह स्थिर रहता है। यही भाव अगले एक मन्त्र में भी है। इसी ध्रुव को 'एक सत्' कहा जा सकता है, जिससे [२]सप्त 'आपः' अथवा 'धाम' प्रसृत हुए हैं। समष्टि में वे इस समस्त धामों के 'धाता' है एवं व्यष्टि में अर्थात् विचित्र रूपायन में वे विधाता हैं। इस रूपायन का साधन उनका मन है, जिसका ऐश्वर्य असीम है।[३] इसके अतिरिक्त अपनी आत्म-विभूति

१२७४. इस प्रसङ्ग में तु. उपनिषद् में इन्द्र और ब्रह्म का सम्बन्ध : ऐ. एवं तैत्तिरीय में इन्द्र के ऊपर ब्रह्म (के. ४।३; तै. २।८)। बृहद्दिव के दर्शन में हम दोनों भावनाओं का समन्वय देखते हैं। (१०।१२०।९ एवं १)।

१२७५. विश्वकर्मा विमना इद् विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्, तेषाम् इष्टानि सम् इषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकम् आहुः १०।८२।२।

१. यही पुराण में ध्रुव के आख्यान में विस्तार से वर्णित है (द्र. भा. ४।८.९; उपाख्यान के सभी नाम व्यञ्जना वह हैं –'प्रियव्रत' धार्मिक, 'उत्तानपाद' योगी; उत्तानपाद की एक रानी 'सुरुचि' सुन्दरी, उसका पुत्र 'उत्तम' ; किन्तु दूसरी रानी 'सुनीति', उसका ही पुत्र 'ध्रुव')।

२. ऋ. 'सप्त आपः' ८।९६।१, १०।१०४।८ (सिन्धुरूप में १।३२।१२, ३५।८, १०२।२, २।१२।३, १२, ४।२८।१, ८।२४।२७, ९।६६।६, १०।४३।३....); 'सप्त धाम' १।२२।१६, ४।७।५, ९।१०२।२, १०।१२२।३।

३. तु. कामस् तद् अग्रे समवर्तता.धि 'मनसो रेतः प्रथमं' यद् आसीत् १०।१२९।४; ब्रह्म की प्रिया 'मानसी' कौ. १।३।

के वैचित्र्य को उन्होंने एक होकर 'आवृत' कर रखा है। इस सम्भूति में जब हम रूप-रूप में उनका प्रतिरूप देखते हैं तब उनका यह दर्शन अर्थात् यह दर्शन या देखना ऊपर से नीचे की ओर ध्यान पूर्वक देखना है।[४] किन्तु उनका एक और दर्शन है, जो परम अथवा सर्वोत्तम दर्शन या देखना है, जिसमें उनकी सर्वातीत अनिर्वचनीयता का परिचय मिलता है। यह दर्शन ही उनका 'परमारांदृक्' – अर्थात् सब के ऊपर वह ऐसा देखना है जिसके परे या ऊपर और कुछ भी नहीं। यहाँ ही उन्हें खोजने और पाने का भी अन्त है। 'एकं' यहाँ वही 'तत्' है, जिसमें सत् एवं विभूति विधृत हैं।[५]

इस सूक्त का ही एक और मन्त्र है : [१२७६]'उस प्रथम भ्रूण को धारण किया अपने, जिसके भीतर विश्वदेवगण संयुक्त सङ्गत हुए, अज की नाभि में अर्पित हुआ एक, जिसमें अवस्थित है विश्वभुवन, समस्त ब्रह्माण्ड।' यही प्रथम गर्भ या भ्रूण हुआ हिरण्य गर्भ।[१] इसके पूर्व के

---

४. द्र. १०।९०।१, ८१।३, प्रथमच्छद् अवराँ आ विवेश १।

५. तु. 'न संदृशे तिष्ठति रूपम् अस्य न चक्षुषा पश्यति कश् चनैनम्' क. २।३।९, श्वे. ४।२०।

१२७६. ऋ. तम् इद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे, अजस्य नामाव अध्य एकम् अर्पितम् यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः १०।८२।६।

१. द्र. हिरण्यगर्भ सूक्त १०।१२१। सूक्त के आरम्भ में ही है – 'हिरण्यगर्भः सम् अवर्तता. ग्रे भूतस्य जातः पतिर् एक आसीत् हिरण्यगर्भ ही सब को आच्छादित करके वर्तमान विद्यमान थे सब से पहले, जात (उत्पन्न) होकर भूत अथवा सृष्टि के स्थूल उपादान के पति या ईश्वर हुए। लक्षणीय, वे 'जात' होते हैं अर्थात् भूत अथवा जड़ के भीतर प्रादुर्भूत होते हैं (तु क. २।१।७) किन्तु उसके बाद ही भूत के ईशान होते हैं। यह ही चैतन्य का स्वधर्म है। इसे सहज भाव से स्वीकार कर लेने पर आधुनिक दर्शन में जड़वाद और चिद्वाद का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। प्राकृत दृष्टि में पहले जड़, उसके बाद उसमें चैतन्य का आविर्भाव होता है। किन्तु आविर्भूत चैतन्य की सार्थकता जड़ का प्रशास्ता होने में ही है। इस प्रशासन में चैतन्य का जो उन्मेष होता है, उसके अन्तिम पर्व में चैतन्य ही प्राग्भावी या पूर्वसिद्ध अथवा पूर्ववर्ती अनुभूत होता है। इस रूप में वैदिक दर्शन ने जड़ और चैतन्य का द्वैत समाप्त कर दिया है। समग्र सूक्त ही द्रष्टव्य।

मन्त्र में उसके सम्बन्ध में प्रश्न उठा है कि [२]'द्युलोक से परे, इस पृथिवी से परे, देवताओं और असुरों से परे जो है, वह कौन प्रथम भ्रूण, जिसे सभी अप धारण करेंगी, जिसके भीतर विश्वदेवों ने एक दूसरे को देखा?' इस मन्त्र में उसका उत्तर है। दोनों मन्त्रों को मिलाकर तत्त्व-विन्यास कुछ इस प्रकार प्राप्त होता है : सबसे परे जो स्थित हैं, वे अज हैं, उनका जन्म नहीं होता। उपनिषद् की भाषा में उनकी संज्ञा 'असम्भूति' है।[३] उनको 'अस्ति' अथवा वे हैं यह भी कहा जा सकता है। अथ च वे ही सब की सम्भूति हैं।[४] उनकी 'नाभि' या शक्तिकूट जहाँ है, वहाँ ही हैं 'एकम्' अथवा 'एकं सत्' – जिस प्रकार चक्र की शलाकाएँ (तीलियाँ) उसकी नाभि में आकर संहत होती है, उसी प्रकार वे 'अर्पित' अथवा संहत रूप में हैं। यही 'एकं सत्' विसृष्टि अथवा शक्ति के निर्झरण के मूल में है।[५] विसृष्टि प्रत्येक लोक में होती है– जिसका एक छोर द्युलोक है और दूसरा छोर भूलोक है। उस समय विश्व भुवन में देवासुर अथवा आलोक और अन्धकार का युद्ध चलता है। सृष्टि से असुरों को अलग नहीं किया जा सकता, किन्तु तब भी देवताओं का ही पारम्य या (परमता) (ABSOLUTENESS) है, असुरों का नहीं। सारे देवता उसी प्रथम भ्रूण अथवा हिरण्यगर्भ की ही विभूति हैं, जो विसृष्टि के आरम्भ में

---

२. परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिर् असुरैर् यद् अस्ति, कं स्विद् गर्भं प्रथम दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वै ५।

३. नामान्तरः उपनिषद् में 'विनाश' 'असंज्ञा' 'परःकृष्णता'; ब्राह्मण में 'वारुणी रात्रि'; संहिता में वरुण का 'शूने' (शून्यता) 'मार्ताण्ड' 'असत्'।

४. सब का अतिक्रमण करने पर और क्या रहता है? किन्तु कुछ तो जैसे रहता ही है – 'परो यद् अस्ति' का यही तात्पर्य है।

५. तु. असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्न इमानि'– अनालोकित एवं आलोकित रजः प्रतिष्ठित होने के बाद उन्होंने रूप दिया स्थूल सृष्टि के उपादानों का १०।८२।४। असूर्त = असूर्य (< 'स्वर' आलोक, तु. असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा.वृताः ई. ३) एक ओर अन्धतमः या घोर अन्धकार, दूसरी ओर सौरदीप्ति, दोनों के बीच 'रजः' की अरुणिमा। साङ्ख्य का त्रिगुणवाद, इसी से। यह रजः ही संहिता में लोक अथवा भूत का आश्रयस्थल है।

उसके साथ सङ्गत हैं एवं उसकी चेतना द्वारा सचेतन हैं। देवतामय इस 'एकं सत्' का आधार है 'एकं तत्' जो अज है किन्तु अशक्त नहीं है।[६] अप् अथवा अव्याकृत कारण सलिल उसकी शक्ति है' सत् से विश्वदेवता एवं विश्व भुवन का[७] 'विसर्जन' अथवा विसृष्टि उसी शक्ति का प्रवहण या बहाव है। [८]यह परम सत्ता एवं चेतना का प्रवाह स्थूल सृष्टि के उपादानों में उतर आया है।

उसके बाद वैश्वामित्र प्रजापति का एक मन्त्र है : [१२७७] 'छह भार को (वह) एक अचलस्थायी होकर बहन कर रहा है; ऋत् के तुङ्गतम निर्झर की ओर जा रहे हैं गोयूथ; तीन महाभूमि एक के बाद एक स्थित हैं सब का अतिक्रमण करके; दो गुहाहित हैं, एक दिखाई देती है।'....ये छह 'भार' छह लोक या महाभूमि हैं, [१]जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। अनेक की भीड़ या मेला वहन करने के कारण इनको 'भार'

६. तु. 'गौरीर् मिमाय 'सलिलानि' 'तक्षती' १।१६४।४१ (और भी तु. सृष्टि के आरम्भ में 'अप्रकेतं, सलिलं, एवं उसके भीतर 'तपः' शक्ति १०।१२९।२; १९०।१)।

७. तु. अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन १०।१२९।६।

८. तु. अन्यद् युष्माकम् अन्तरं बभूव – अन्य कोई तुम लोगों के अन्तर स्थित है १०।८२।७।

१२७७. ऋ. षड् भाराँ एको अचरन् विभर्त्य ऋतं वर्षिष्ठम् उपगाव आगुः, तिस्रो महीर् उपरास् तस्थुर् अत्या गुहा द्वे निहिते दर्श्य् एका ३।५६।२। पद पाठ में 'अत्याः' घोड़ियाँ; Geldner द्वारा प्रस्तावित पदविच्छेद 'अति आ' (अतिक्रमण करना, पार होना) विवेच्यः वेंकट माधव की व्याख्या 'गमन स्वभावाः' – गति ऊपर की ओर, सायण की व्याख्या आगमा धर्मोपेताः' गुहाहिति के साथ मेल नहीं। माधव एवं सायण ने 'एक' के अर्थ में आदित्यात्मक संवत्सर और 'छह' के अर्थ में छह ऋतु समझा है। किन्तु भार को भूमि के अर्थ में ग्रहण करने पर ही पूर्वापर सङ्गति बैठती है। छह भूमि का उल्लेख संहिता में और भी है। अधिदैवत दृष्टि में 'एक' आदित्य निश्चय ही है। अचर आदित्य उदय-अस्त रहित (द्र. छा. ३।११।१-२)।

१. द्र. टीका १२५

कहा जाता है। [२]फिर इस अनेक को वही एक वहन करता है। इनका परिणाम है, ये गतिशील हैं; किन्तु वह अपरिणामी है, अचल है। छह लोक उसकी ही विसृष्टि हैं– [३]आदित्य मण्डल से झरती हुई किरण-रेखाओं की तरह। उससे उत्सारित होकर वे फिर उसमें ही वापस आ जाते हैं। यह ज्वार-भाटा ही विश्वव्यापी ऋत् का छन्द है, जिसका उत्स वही परम एक है, जिसके भीतर समस्त गतियाँ स्तब्ध, अचल, अटल हैं। हमारी अभीप्सा ऊर्ध्वस्रोता है, जो लोक से लोकोत्तर की ओर प्रवाहित हो रही है। उसके ही प्रवेग अथवा प्रवाह में हमें अपार्थिव लोक का आभास मिलता है। इन तीन पृथिवियों से परे अन्य तीन द्युलोकों का चिन्मय कल्पन या अनुमान उद्दीप्त होता है। अग्र्या बुद्धि के आलोक में उसके एक को हम पुञ्जद्युति आदित्य की प्रभास्वरता[४] में देख सकते हैं। किन्तु उसके बाद फिर दृष्टि जाती नहीं तब भी बोध रहता है। वह बोध अनालोक की ज्योति और [५]वारुणी रात्रि की अन्तरावृत्त अथवा अन्तर्मुख चक्षुओं की कनीनिका जैसा है। उसमें खिलती है [६]राका की ज्योति और फिर उससे भी परे कुहू की

२. 'भ्रियते एषु इति भाराः' (सायण)। भूमियाँ भूतग्राम अथवा विशिष्ट सत्ता समूह को वहन करती हैं और भूमियों को वहन (बिभर्ति) करता है वही एक। किन्तु 'भारान् बिभर्ति' इस पदगुच्छ को धात्वर्थक कर्म के उदाहरण रूप में भी लिया जा सकता है।

३. गावः रश्मियाँ (निघ. १।६); 'वर्षिष्ठं ऋतम्' अन्यत्र 'ऋतस्य सदनम्', 'ऋतस्य योनिः'; 'वर्षिष्ठ' तुङ्गतम, किन्तु √ वृष् से व्युत्पत्ति मान लेने पर निर्झरण की व्यञ्जना है (तु. 'वर्ष्म' सिर के ऊपर का आकाश जहाँ वृष्टि होती है; वर्षिष्ठ द्याम इवो. परि ४।३१।१५)।

४. तु. क. १।३।१२। प्रथम दर्शन आदित्य का वे 'महः' अथवा चतुर्थी व्याहृति हैं (तैउ. १।५।२)।

५. दिन के बाद रात, संज्ञान के बाद असंज्ञान। किन्तु वही 'रात्री व्यख्यत्' – आँख खोलकर देखा १०।१२७।१।

६. द्र. नि. ११।३०, ३१। 'राका' उत्तरा पौर्णमासी (ऋ. २।३२।४, ५; <√ रा 'दान करना' उसमें ऐश्वर्य की पूर्णता; अतएव देवी पक्ष के अन्त में लक्ष्मी पूर्णिमा)। 'कुहू' उत्तरा अमावस्या। ।। 'कुहर' ; यही नक्षत्रलोक; ऋ. संहिता में उसकी जगह है 'गुंगूः' (२।३२।८), अर्थ निर्वाक् (तु.

अव्यक्त ज्योति की झलक है। उसके भी ऊपर 'परमं तद् एकम्' है जो इन सब का भर्ता है, प्रतिपालक है। इस प्रकार लोक-संस्थान के क्रम को पार करके हमने उसी तत् स्वरूप का परिचय प्राप्त किया जो एक ही साथ विश्वातीत एवं विश्वभावन अथवा विश्व-स्रष्टा है, विश्वमूर्ति है।

सब के अन्त में वैश्वामित्र प्रजापति के एक वैश्वदेव सूक्त की टेक में पाते हैं[१२७८] कि 'देवताओं का महत् जो असुरत्व वह एक ही है।' Geldner ने लक्ष्य किया कि यह पूरा सूक्त सन्धा भाषा में रचित है।[१] प्रायश: देवता अनिरुक्त या अस्पष्ट है।[२] विशिष्ट देवतागण उसी अनिरुक्त की विभूति हैं, जिस किसी भी देवता को लेकर भावना जब ऊर्ध्वस्रोतस् हुआ करती है तब अन्त में जाकर वह 'असुरत्व' की महिमा में पहुँचती है, जो स्वरूपत: अद्वय है, अद्वितीय है। यह असुरत्व क्या है? उसका विस्तृत विवेचन आगे चलकर करेंगे। यहाँ सङ्क्षेप में इतना ही बतलाना है कि ऋक्संहिता में असुर प्रधानत: देवता की संज्ञा है। वहाँ विशेष रूप से असुर वरुण है, जिसे हमने शून्यता के देवता के रूप में पाया है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से असुर प्राणोच्छलता का और शक्ति के विकिरण का बोधक है किन्तु उसके मूल में अनिरुक्त की व्यञ्जना सुस्पष्ट है। तो फिर देवताओं का असुरत्व उनकी मौलिक अनिर्वचनीयता की वह महिमा है जहाँ वे सभी एक हैं। यह असुरत्व उसी 'एकं तत्' को द्योतित करता है।

इस पर्याय के मन्त्रों का विवेचन यहीं समाप्त हुआ।

यहाँ हमने देखा कि वैदिक भावना में देवता एक है। विश्व भाव रूप में वह सत् है, एवं विश्वातीत रूप में तत् है। उसका 'तत्'

हिन्दी गूँगा फ़ारसी 'गुंग) ऋ. संहिता में भी देखते हैं 'गुंगू-सिनीवाली' अमावस्या में, और 'राका-सरस्वती' पूर्णिमा में; तु. सप्तशती के आरम्भ में रात्रि सूक्त (अन्धकार) और अन्त में वाक्सूक्त (आलोक)। ऋ. संहिता में 'गुंगू' एक जनपद का नाम (१०।४८।८)।

१२७८. ऋ. महद् देवानाम् असुरत्वम् एकम् ३।५५।

१. Der Rigveda सूक्त भूमि का।

२. अनिरुक्त देवता ब्राह्मण में 'प्रजापति' (ऐब्रा. ३।३०, ६।२०; 'क:' ६।२१।

स्वरूप असत् कल्प है। इस असत् का सङ्कर्षण अधिक मात्रा में प्रबल होने पर जिस अनुभव का बोध होता है, उसका परिचय हमें ऋक् संहिता के नासदीय सूक्त में प्राप्त होता है। उसके आरम्भ में ही कहा जा रहा है।[१२७९] कि 'न असत् था न सत् था तब, न था कोई भी लोक (रज:), न था व्योम (कहते हैं) जिसे।' ....यहाँ चेतना की धारा ऊपर की ओर प्रवाहित हो रही है। छ: 'रज:' अथवा महाभूमि वह पार कर गई।[१] लोकसंस्थान समाप्त हुआ। यदि है तो केवल[२] परम व्योम की अक्षर शून्यता है, वही असत् कल्प अनिर्वचनीयता है। एक और धक्के में वह भी नहीं रही।.....[३] सत् भी नहीं, असत् भी नहीं। रात नहीं, दिन नहीं। मृत्यु नहीं, अमृत नहीं। अन्धकार को भी निगूहित या प्रच्छादित कर रखा है एक अन्धकार ने। गहन गाम्भीर्य का अनुभव– वह क्या है? किसने उसे जाना है? या फिर उसके बारे में कौन बताएगा? प्रचेतना नहीं, अथच जल के स्रोत की तरह न जाने क्या बहता, सरकता जा रहा है? वातास नहीं, किन्तु आत्मस्थ उस एक ने जैसे साँस ली है। तब भी बोध होता है कि परम व्योम है। लगता है वहाँ कोई एकटक कुछ देख रहा है। किन्तु जानता है क्या अथवा जानता नहीं? कहाँ से क्या आया? उसने कुछ किया या कि नहीं किया? ....अद्वैत भावना की परम कोटि लगता है, एक लोकोत्तर नीहारिका की अन्धतमिस्रा में खो गई। पता चला कि सारा जानना जब खत्म हो जाता है, तब वही जानना ही परम जानना है एवं परम उपलब्धि है।[४] उसी प्रकार केवल वे मर्मज्ञ कवि ही उपलब्ध कर सकते हैं– जिनकी एषणा मन के ऊपर की ओर जाकर सूक्ष्म रूप से शुरू हुई थी एवं जिसका पर्यवसान हृदय में हुआ। वहीं उन्होंने देखा कि असत् के वृंत्त में सत् का फूल खिला हुआ है। इतना ही जाना

१२७९. ऋ. ना. सद् आसीन् नो सद् तदानीं, ना. सीद् रजो नो व्योमा परो यत् १०।१२९।१

१. तु. १।१६४।६।

२. तु. १।१६४।३९।

३. मूल द्रष्टव्य। मनन में सहायक होगा, इसी आशा में यहाँ एक स्वतन्त्र अनुवाद दिया गया।

४. सतो बन्धुम असति निर् अविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा १०।१२९।४।

जा सकता है या फिर कहा जा सकता है। लगता है कि अद्वैत भावना के परम रहस्य को ऐसा रूप विश्व में कोई नहीं दे सकता।[१२८०]

वैदिक अद्वैतवाद के स्वरूप एवं प्रकृति के सम्बन्ध में आपातत: मोटे तौर पर एक विवेचन यहाँ समाप्त हुआ। हमने देखा कि सेमिटिक एकदेववाद के मानक या आदर्श के माध्यम से वैदिक अद्वैतवाद का विवेचन करने की कोशिश करना एक साङ्घातिक भूल है। क्योंकि दोनों की प्रकृति आरम्भ से ही नितान्त भिन्न है। एक, अनेक को छोड़कर चलता है और दूसरा अनेक को लेकर ही चलता है। एक केवल आन्तर प्रत्यक्ष के ऊपर ज़ोर देता है, और दूसरा बाह्य प्रत्यक्ष को भी उसके साथ मिला लेता है। वैदिक परम देवता केवल विश्व का धाता नहीं, बल्कि वह ही विश्व रूप है, और फिर अरूप भी है; देवता की भावना में उसका सायुज्य प्राप्त करके मनुष्य भी देवता हो सकता है। ये दो भावनाएँ ही वेद में असाधारण हैं, विलक्षण हैं। दार्शनिक-चिन्तन में उसका परिणाम क्या हुआ? उसका विवेचन आगे चलकर करेंगे।

देवताओं की सङ्ख्या तैंतीस

देवता जिस प्रकार स्वरूपत: एक, उसी प्रकार विभूति में अनेक हैं। उनकी सङ्ख्या कितनी है? इसके सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य के मत का उल्लेख आरम्भ में ही किया गया हैं, जिसमें तैंतीस देवताओं की चर्चा है। ऋक् संहिता में भी हम देखते हैं कि अनेक स्थलों पर देवताओं की सङ्ख्या तैंतीस दी गई है[१२८१]। उसमें कहीं-कहीं तैंतीस को तीन बराबर-बराबर भागों में विभाजित किया गया है, और उनका

१२८०. इसके साथ अनुध्येय १०।१२ जिसमें असत् से सत् का उल्लास पाते हैं, अथ च असत् तब भी उससे जुड़ा है द्र. १०।५।७।

१२८१. तु. ऋ. पत्नीवतस् त्रिंशतं त्रींश् च देवान् ३।६।९ (सारे देवता ही पत्नीवान् अर्थात् सशक्तिक हैं) ८।२८।१, ३०।२.....।

१. त्रय एकादशास: ८।५७।२, ९।९२।४। तीन भाग के अनुसार देवता दिव्य, अप्य (अप् से उत्पन्न) एवं पार्थिव ७।३५।११, 'ये देवासो दिव्य एकादश

स्थान क्रमश: पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक है। फिर देखते हैं कि कोई विशिष्ट देवताओं का नेता है;[२] तब वे स्पष्टत: 'एक' की विभूति हैं अथवा 'एक' के ही विचित्र या विशिष्ट रूप हैं और नायक देवता इस विभूति की उपलब्धि का साधन है। एक मन्त्र में बतलाया जा रहा है कि 'तीन हज़ार तीन सौ' तीस एवं नौ देवताओं ने अग्नि की परिचर्या की थी।[३] तो अग्नि ही यहाँ[४] एक देव है एवं तीन हज़ार तीन

स्थ पृथिव्याम् अध्य् एकादश स्थ, अप्सु क्षितो महिनै.कादश स्थ' १।१३९।११, १०।४९।१२, ६५।९।२

२. तु. **अग्ने** .... तान् त्रयस्त्रिंशतम् आ वह १।४५।२ (इसके ऊपर ही है: त्वम् अग्ने वसूँर् इह रुद्राँ आदित्याँ उत यजा..... जनं मनुजातम्। लक्षणीय. देवता 'मनुजात' अर्थात् दिव्य मन से उत्पन्न; यही मन 'मनसो रेत: प्रथमं यद् आसीत्' १०।१२९।४। मनु हम सब के आदि पिता १।८०।१३; पुराण में स्वायम्भुव प्रजापति); अग्नि: त्रीँर् एकादशाँ इह यक्षं ८।३८।९; विश्वैर् देवैस् त्रिभिर् एकादशै: .... सोमं पिबतम् **अश्विना** ३५।३ (अग्नि जिस प्रकार पृथिवी स्थानीय देवताओं के आदि उसी प्रकार द्युस्थानीयदेवताओं के अश्विद्वय); अहं (**वाक्**) रुद्रेभिर् वसुभिश् चराम्य अहम् आदित्यैर् उत विश्वदेवै: १०।१२५।१

३. त्रीणि शता त्री सहस्राण्य् अग्निं त्रिंशच् च देवा नव चा. स्पर्यन् ३।९।९ (= १०।५२।६, यहाँ अग्नि की संज्ञा **सौचीक**, जल के भीतर स्वयं को छिपा रखा है, सारे देवता उसे खोज कर (बाहर निकालते हैं।)

४. मूल में है 'विश्वा अपश्यद् बहुधा ते अग्ने जातवेदस् तन्वो देव एक:' – हे जात वेदा, अग्नि ! तुम्हारे समस्त तनु को अनेक प्रकार से देखा है उसी एक देव ने (१०।५१।१)। अग्नि ने तब प्रश्न किया कि वह एकदेव कौन हैं? (२)। देवताओं के प्रधान तरुण ने कहा, त्वं त्वा यमो अचिकेच चित्रभानो दशान्तरुष्याद् अति रोचगानम्' – हे चित्रभानु, वह तुम ही हो, जिसे यम दश अन्तर्वास स्थानों से देख सके हैं, जब तुम खूब झिलमिला रहे थे (३) सायण के कथनानुसार, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, अग्नि, वायु, आदित्य, अप, ओषधि, वनस्पति एवं प्राणी-शरीर, इन दश स्थानों में अग्नि गुप्त रूप में वास करते हैं अर्थात् वे विश्वव्यापी हैं। अन्यत्र बतलाया जा रहा है कि वे 'पदे परमे' हैं अर्थात् परमव्योम में हैं (१।७२।४)। अतएव यम या वैवस्वत मृत्यु के अतिरिक्त कौन उनका

सौ उनतालीस देवता उसकी ही विभूति हैं। नौ के तीन भाग करने पर सङ्ख्या का विन्यास तीन, तीन सौ तीन एवं तीन दश तीन होता है। पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक इन तीन लोकों के कारण जान पड़ता है कि प्रधान देवता तीन हैं। उसके बाद उनकी विभूति को उत्तरोत्तर तीन बार दश से गुणा करते हुए क्रमशः प्राण, मन एवं विज्ञान की भूमि पर ऐश्वर्य के क्रमबद्ध वैचित्र्य को समझाया गया है। उससे यही सूचित होता है कि वस्तुतः देवता एक ही है,[५] किन्तु चेतना के विभिन्न स्तरों पर उसकी विविध व्यञ्जनाएँ हैं।

इसके अतिरिक्त देवता वाक् की विभूति हैं, मन्त्र ही देवता का शरीर[१२८२] है। मन्त्र छन्दोमय हैं। अतएव छन्दों की अक्षर सङ्ख्या के साथ एक मेल रहेगा। यह मानकर ब्राह्मण में तैंतीस सङ्ख्या की व्याख्या की गई है। वेद के तीन प्रधान छन्द हैं — गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती। उनके प्रत्येक चरण में अक्षर सङ्ख्या क्रमशः आठ, ग्यारह एवं बारह होती है। जिससे वसुगण, रुद्रगण एवं आदित्य गण की भी क्रमानुसार सङ्ख्या प्राप्त होती है। देवताओं की कुल सङ्ख्या इकतीस प्राप्त हुई। अन्य दो देवताओं के कोष्ठक में इन्हें रखने से देवताओं की सङ्ख्या तैंतीस होती है। ब्राह्मण में वही किया गया है। किन्तु कोष्ठक के देवता सर्वत्र एक नहीं हैं। कहीं वे द्यावा-पृथिवी, कहीं

दर्शन कर सकेगा? अग्नि की सूचना या सङ्केत के कारण वे सौचीक, वे विश्वान्तर्यमी हैं, देवतागण उन्हें ही खोज रहे हैं इसलिए वे एकदेव। सूचना का पर्यवसान वैवस्वत मृत्यु में या यम में, अतः वे भी एकदेव। अर्थात् 'एक सत्' एक ओर अग्नि और दूसरी ओर यम (तु. १।१६४।४६) हैं। प्राण के बोध के लिए 'दश' (तु. बृ. ३।९।४), शतायु, शतवीर्य शतेन्द्रिय पुरुष का बोधक 'शत' (ऐ ब्रा ६।२); और परम, भूमा अथवा सब के बोध लिए 'सहस्र' (ता. १६।९।२; श. ३।३।३।८; श. ४।६।१।१५)।

५. तु. यो देवानां नामधा एक एव १०।८२।३

१२८२. तु. वाक् सूक्त १०।१२५; 'वाग् वै विराट्' श. ३।५।१।३४, 'वाग् वै प्रजापतिः' ५।१।५।६ (१६।३।२७), 'वाग् एव देवाः' १४।४।३।१३; द्र. टीका ६९।

इन्द्र-प्रजापति, कहीं वषट्कार-प्रजापति हैं।[१] जहाँ द्यावा-पृथिवी का कोष्ठक है, वहाँ प्रजापति चतुस्त्रिंश (चौंतीसवाँ) है।[२]

आदित्य, रुद्र एवं वसुओं के तीनों गण और द्यावा-पृथिवी को मिलाकर देवता तैंतीस हुए, यह भावना अत्यन्त प्राचीन है, जिसका उल्लेख ऋक-संहिता में भी है। इन तीन गणों का उल्लेख एक साथ अनेक स्थलों पर पाया जाता है।[१२८३] आरम्भ में आदित्य सात थे, जिन्हें [१]उपनिषद् की भाषा में सद्ब्रह्म कहा जाता है। और मार्ताण्ड अथवा असद् ब्रह्म को लेकर वे आठ हुए। वस्तुतः ये सभी सूर्य हैं। सूर्य एक[२] 'द्वादशार' चक्र है अथवा वे 'द्वादशाकृति' पिता हैं। अर अथवा

१. द्यावा-पृथिवी : श. ४।५।७।२, ५।१।२।१३, ३।४।२३ (गण का उल्लेख है; इन्द्र, प्रजापति : श. ११।६।३।५ (यह बृ. के अनुरूप ३।९।१...., तु. तै ब्रा. २।८।८।१०); वषट्कार-प्रजापति : ऐब्रा. १।१०, २।१८, ३७। विराट् छन्द के तैंतीस अक्षरों के बराबर रख कर देवताओं की सङ्ख्या तैंतीस ऐब्रा. १।१०, २।३७। देवता तैंतीस किन्तु नाम नहीं : ऐ ब्रा ६।२, ता. ४।४।११, १०।१।१६, १२।१३।२४, १७।१।१७..., तै ब्रा. १।२।५, ८।७।, २।७।१।३, ४। ऐ ब्रा. के अनुसार सोमपा देवता तैंतीस हैं किन्तु जो देवता असोमपा हैं उनकी भी सङ्ख्या तैंतीस है; उनकी तृप्ति पशु से होती है जिन्हें प्रयाज, अनुयाज एवं उपयाज देवता कहा जाता है इनमें प्रत्येक की सङ्ख्या ग्यारह है (२।१८)।

२. द्र. श. ४।५।७।२. ता. १०।१।१६, १२।१३।२४; तै ब्रा. १।८।७।१, २।७।१।४..।

१२८३. ऋ. आदित्या रुद्रा वसवः सुनीथा द्यावा क्षामा पृथिवी अन्तरिक्षम् ३।८।८। 'द्यावाक्षामा' द्यावापृथिवी रूप में देवता; उसके बाद देवताओं के लोक का उल्लेख। तीन लोकों में द्युलोक अनुमेय, 'द्यावा क्षामा' से उसकी अनुवृत्ति या अनुवर्तन मानना होगा। तीन गण : १।४५।१, २।३१।१, ३।२०।५, ७।१०।४, ३५।६, १४, ८।३५।१, १०।६६।३, ४, १२, १२५।१, १२८।९, १५०।१...।

१. २।२७।१, देवा आदित्या ये सुप्त ९।११४।३; अष्टौ पुत्रासो अदितेः .... सप्तभिः पुत्रैर् अदितिर् उप प्रैत् पूर्व्यं युगम्, प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर् मार्ताण्डम् अभरत् १०।७२।८, ९।

२. तु. १।६४।११, १२

आकृति मास हैं। उससे द्वादश आदित्य। यह सङ्ख्या काल की दृष्टि से और पहले की सङ्ख्या भाव की दृष्टि से मेल खाती है। ब्राह्मण में अधिज्योतिष भावना को प्रधानता देकर 'संवत्सरः प्रजापतिः'[३] कहा जाता है। उसके द्वादश भागों को द्वादश आदित्य के नाम से जाना जाता है। आदित्य की सङ्ख्या का मूल यही है। ... मरुद्गण अन्तरिक्ष स्थानीयदेवता हैं एवं [४]वे रुद्रिय, अथवा रुद्रपुत्र हैं। जहाँ 'अप्सुक्षित' (दिव्य जलनिवासी) ग्यारह देवताओं की चर्चा है वहाँ वे[५] ग्यारह रुद्र हो सकते हैं। तो फिर संहिता में भी रुद्रगण की सङ्ख्या की सूचना प्राप्त होती है। ..... किन्तु वसुगण की सङ्ख्या को लेकर भ्रम उत्पन्न होता है। ये यदि पृथिवी स्थानीय देवता अथवा अग्नि की विभूति हों तो फिर अग्नि के छन्द गायत्री के प्रत्येक चरण की अक्षर सङ्ख्या से उनकी सङ्ख्या आठ हो सकती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी यही सङ्ख्या दी गई है। किन्तु ऋक् संहिता में तैंतीस को जहाँ समान रूप से तीन भागों में विभाजित किया गया है, वहाँ पृथ्वी स्थानीय देवताओं की सङ्ख्या ग्यारह होती है। तो फिर यह सङ्ख्या कैसे प्राप्त की जाए? संहिता में देखा जाता है कि इन्द्र वसुगण के नेता[६] हैं अर्थात् वे भी उनके एक गण अथवा 'वासव' हैं। बारह आदित्यों में से इन्द्र को निकाल देने पर उनकी सङ्ख्या ग्यारह होती है। और द्यावा-पृथिवी एवं इन्द्र की वसुगण के साथ जोड़ देने पर उनकी सङ्ख्या भी ग्यारह होती है। प्रारम्भ में इस प्रकार की एक परिकल्पना की वर्तमानता असम्भव नहीं। विशेषतः जब हम ब्राह्मणोक्त गण और सङ्ख्या का विभाजन संहिता में ही पाते हैं।[७] बृहदारण्यकोपनिषद् में देवता विभाग ब्राह्मण के अनुरूप है, इसके अलावा वहाँ गण विभाग की एक

३. ऐ. १।१, २।१७. ता. १०।३।६; श. १।२।५।१२, २।२।२।३-५ (यज्ञः प्रजापतिः); तै. १।४।१०।१०।

४. ५।५७।७, आदित्या वसवो रुद्रियासः ६।६२।८, ७।५६।२२....।

५. १।१३९।११।

६. इन्द्र नो अग्ने वसुभिः रुद्रं रुद्रेभिर् आ व हा बृहन्तम् आदित्येभिर् अदितिं विश्वजन्याम् ७।१०।४, शं न इन्द्रो वसुभिर् देवो अस्तु ३५।६, इन्द्रो वसुभिः परिपातु नो गयम् १०।६३।३।

७. द्र. ३।८।८....।

व्याख्या भी प्राप्त होती है। वसुगण वहाँ आधार-शक्ति हैं जिसमें 'इदं सर्वं हितम्' – यह सब निहित है। इस शक्ति का एक पक्ष लोक और दूसरा पक्ष लोकपाल है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः और नक्षत्र ये चार लोक हैं एवं क्रमानुसार अग्नि, वायु, आदित्य और सोम ये चार लोकपाल हैं। दोनों को लेकर आठ वसु हुए। दश प्राण एवं आत्मा को लेकर एकादश रुद्र। और द्वादश मास द्वादश आदित्य अथवा कालचक्र। सब से परे इन्द्र प्रजापति।[८]

इन्द्र का एक विशेषण 'शतक्रतु' है। उसके साथ तैंतीस सङ्ख्या का एक सम्बन्ध है। 'शम' को आवृत करने के कारण इन्द्र विरोधी वृत्र का नाम 'शम्बर' है। आधार में उसके निन्नानबे पुर हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक अथवा देहचेतना, प्राणचेतना और मनश्चेतना– चेतना की इन तीन भूमियों की प्रत्येक भूमि पर आवरिका शक्ति के तैंतीस पुर हैं। विष्णु अथवा आदित्य चेतना की सहायता से इन्द्र इस तैंतीस के तीन गुने अथवा निन्नानबे पुरों को भेद कर जब शततम पुर 'शम्' में पहुँचते हैं। तब वे शतक्रतु कहलाते हैं[१२८४]। प्रत्येक पुर को विदीर्ण करके प्रकाश प्रस्फुटित करना इन्द्र का एक क्रतु है। इन निन्नानबे पुरों का उल्लेख ऋक् संहिता के सभी मण्डलों में है।[१] अतएव यह भावना अत्यन्त प्राचीन है।

तो फिर स्पष्ट है कि वैदिक भावना में देवता जिस प्रकार एक है। उसी प्रकार अनेक भी हैं। इस बहुदेवता को साधना के सौकर्य या सुसाध्यता के लिए तैंतीस तक नीचे ले आया जा सकता है। इस

८. ३।९।२-६। मूल में सोम की जगह चन्द्रमा है, किन्तु वे आदित्य के ऊपर हैं। अतएव संहिता का सोम (तु. देवा आदित्या ये सप्त तेभिः सोमा-भिरक्ष नः १०।११४।३)।

१२८४. तु. ऋ. इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य न व पुरो नवतिं च श्नथिष्टम् ७।९९।५।

१. द्र. १।५४।६, २।१९।६, ३।!२।६ (छन्द की अक्षर- सङ्ख्या के आग्रह के कारण 'नव' छोड़ दिया गया है), ४।२६।३, ५।२९।६, ६।४७।२, ७।१९।५, ८।९३।२, ९।६१।१, १०।१०४।८....। अन्त के ऋक् में निन्नानबे स्रोतों ने अवरुद्ध होकर उतने ही पुरों की रचना की।

सङ्ख्या को तो और भी कम किया जा सकता है, वह हम याज्ञवल्क्य की व्याख्या में ही देखते हैं।

बहुदेवता जब एक की ही विभूति हैं, तब उनमें विरोध की कोई सम्भावना नहीं[१२८५]। इसे समझने के लिए संहिता में उनका एक सार्थक विशेषण है[१] 'सजोषसः' – अर्थात् जिनकी तृप्ति एवं आनन्द बराबर-बराबर है। वे सभी एक स्थान पर आकर मिलते हैं, उनके उस मिलन स्थान की पारिभाषिक संज्ञा [२]'सधस्थ' है। देवताओं में इस

१२८५. विरोध के कई उल्लेख ऋक् संहिता में हैं : इन्द्र के साथ त्वष्टा का (१।८०।१४, ३।४८।४), उसके पिता का (४।१८।१२) एवं उषा का (२।१५।६, ४।३०।९-११, १०।७३।६, १३८।५)। समस्या या घटना स्पष्टतः रहस्यमय है, तात्पर्य आगे चलकर आलोच्य।

१. तु. विश्वे सजोषसो देवास : १।१३१।१ (१३६।४, ५।२१।३, ८।२३।१८, ५४।३, ९।५।११, १८।३, १०२।५), सजोषसो यज्ञम् अवन्तु देवाः (३३ देव) ३।८।८, सजोषसो अध्वरं वावशानाः २०।१, १४३।३, २।३१।२। 'जोष' < √ जुष (तृप्ति के साथ आस्वादन करना); तु. Lat. gustare 'to taste enjoy', Goth. Kuslus 'taste' Germ. Kosten 'to taste', try', < Ar. base geus 'taste, choose')A < सध

२. (सह. एकत्र + √स्था (रहना) + अ अधिकरण में, सभी जहाँ एक साथ रहते हैं ('सधस्थे सहस्थाने' नि. ३।१५)। अतएव मौलिक अर्थ 'मण्डल' जहाँ अनेक रश्मियों अथवा शक्ति का समागम। उससे 'धाम, सदन (१०।११।९); आधार'। इस धाम में पुञ्जभाव की व्यञ्जना है। देवता गण जब सजोषसः; तब एक जन जहाँ है वहाँ अन्य सभी हैं। चित्शक्ति समूह का यह अन्योन्याश्रय एवं सायुज्य वैदिक देववाद का वैशिष्ट्य है तंत्र और पुराण में भी एक मूल देवता से सम्बन्धित आवरण अथवा परिवार देवताओं का समावेश देखने में आता है। इस देश के मूर्ति शिल्प में भी उसका निदर्शन मिलता है – चित्राधार समंत, तभी एक प्रतिमा पूर्णाङ्ग होती है। यही सधस्थ का भाव है। अध्यात्म दृष्टि से अनेक विकीर्ण भावनाओं का समाहार जिस बिन्दु पर होता है, वही सधस्थ है। अतएव देह के चित् केन्द्र अथवा चक्र भी सधस्थ हो सकते हैं। आध्यात्मिक सोमयाग में सोम की धारा ऊपर की ओर बहते समय एक-एक सधस्थ में विश्राम करती हुई विपुल बृहत् द्युलोक की शून्यता में उत्तीर्ण होती है

सौषम्य की भावना से वैदिक देववाद में एक वैशिष्ट्य यह दिखाई देता है कि कई प्रधान देवताओं के नाम से एक साथ आहुति दी जाती है और एक साथ उनका आवाहन एवं स्तवन किया जाता है। जिसे यास्क ने संस्तव की संज्ञा दी है। युग्म देवता की दोनों संज्ञाएँ कभी-कभी एक प्रकार के द्वन्द्व समास में गुँथी होती हैं। जिसकी संज्ञा है[३] देवता द्वन्द्व। यास्क ने इन सब युग्म देवताओं की एक तालिका दी है। उनका कथन है कि पृथिवी स्थानीय अग्नि, अन्तरिक्ष स्थानीय इन्द्र अथवा वायु और द्युस्थानीय सूर्य-ये तीन प्रधान देवता हैं। .... जिस प्रकार अग्नि के संस्तविक देवता इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य एवं ऋतुगण हैं उसी प्रकार इन्द्र के संस्तविक देवता अग्नि, सोम, वरुण पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स एवं वायु हैं। चन्द्रमा, वायु एवं संवत्सर के साथ आदित्य का संस्तव होता है। फिर मित्र- वरुण, सोम-पूषा, सोम-रुद्र, पर्जन्य वात – इनका भी संस्तव पाया जाता है।[४] यास्क के उल्लेख के बाहर भी युग्म देवता हैं, जैसे द्यावा पृथिवी, 'उषसानक्ता', अग्नि-मरुत्; इन्द्र-मरुत् इत्यादि।

भावना एवं साधना की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है देवताओं का यह साहचर्य। एक ही चैतन्य के विविध रूपों में विच्छुरित होने से बहु देवता की सृष्टि; एक में पहुँचने के लिए इन चिद् वृत्तियों अथवा चेतना की धाराओं के साक्षात् परिणाम का एक सुषम समाहार प्रयोजनीय है। इसी से युग्म देवता का कल्पन या अनुमान आवश्यक है। जिस प्रकार हमारे दैहिक आधार में अभीप्सा की ऊर्ध्व शिखा के रूप में अग्नि पृथिवी में और ज्योतिर्मय आनन्द चेतना के रूप में सोम द्युलोक में है। इस अभीप्सा को उसी आनन्द में पहुँचना होगा, जिसका सङ्केत 'अग्नीषोम' के इस प्रत्याहार में है[१२८६]। उसी प्रकार 'अग्नि-सूर्य'

(९।४८।१, १०३।२; तु. ८।९४।५)। तु. सूर्यमण्डल के अर्थ में १।११५।४, ७।६०।३; परम सधस्थ १।१०१।८, १६३।१३, ५।४५।८, १०।१६।१०....।

३. तु. पाणिनि ६।२।४१, ९६, ७।३।२१......।

४. नि. ७।५, ८.....।

१२८६. तु. ऋ. 'आन्यं दिवो मातरिश्वा जभारा मथनाद् अन्यं परिश्येनो अद्रेः, अग्नीषोमा ब्रह्मणा वावृधानो. रुं यज्ञाय चक्रथुर् उ लोकम्' – एक जन को (अग्नि को) मातरिश्वा ने आहरण किया द्युलोक से और एक जन (सोम

एक प्रत्याहार है जो व्यक्ति चेतना को विश्व चेतना में व्याप्त करने का सङ्केत वहन करता है।[१] 'मित्रवरुण' की युग्मता एक अनन्तता की चेतना के अव्यक्त एवं व्यक्त दो युग्म रूप इत्यादि का बोधक है। देवताओं को पृथक् विवेचन के समय उनके सहचार की चर्चा भी आगे चलकर करेंगे।

युग्म देवता के बाद संहिता में कई एक देवगण हैं। यास्क ने पृथिवी के देवगण का उल्लेख नहीं किया[१२८७] उनके मतानुसार अन्तरिक्ष में मरुत्, रुद्र, ऋभु, अङ्गिरा, पितृ एवं आप्त्यों के गण हैं;

को) श्येन ने मन्थन करके बाहर निकाला पाषाण से; बृहत् की चेतना में संवर्द्धित होकर अग्नि और सोम ने रचे विशाल लोक (१।९३।६)। अग्निमन्थन यहाँ किया जाता है और सोम का आहरण वहाँ से किया जाता है – यही साधारण रीति है। एक में आयास है और दूसरे में आवेश है। यहाँ दोनों का विपरीत क्रम दिखाया जा रहा है कि आयास के मूल में भी आवेश है और आवेश है। यहाँ दोनों का विपरीत क्रम दिखाया जा रहा है कि आयास के मूल में भी आवेश है और आवेश का सहचर भी है आयास। 'उरुलोक' परम व्योम, जहाँ उत्तीर्ण होना ही यज्ञ का लक्ष्य है।

१. तु. अग्निः शुक्रेण शोचिषा (अरोचत) बृहत् सूरो अरोचत दिवि सूर्यो अरोचत, ८।५६।५। आधार में पुरुष अग्नि रूप में और वहाँ पुरुष सूर्यरूप में ; दोनों ही एक (तु. तैउ. २।८, ई. १६)। अग्नि सूर्य = अग्नि. विष्णु। सोमयाग के आरम्भ में ही दक्षिणीया इष्टि। इसमें अग्नि-विष्णु के उद्देश्य से एकादश कपाल पुरोडाश देना होता है। इस प्रसङ्ग में ऐ ब्रा. का मन्तव्य: 'अग्निर् वै देवानाम् अवमो, विष्णुः परमः, तद् अन्तरेण सर्वा अन्या देवताः .... अग्निर् वै सर्वा देवता, विष्णुः सर्वा देवताः (१।९)। अग्निहोत्री के सायङ्कालीन मन्त्र के देवता अग्नि हैं और प्रातः कालीन मन्त्र के देवता सूर्य हैं। एक में चेतना का संहरण है और एक में प्रसारण।'

१२८७. यास्क के मतानुसार पृथिवी स्थानीय देवता एक मात्र अग्नि; जातवेदाः, वैश्वानर, इत्यादि अग्नि की संज्ञाएँ हैं। इस प्रसङ्ग में ही उन्होंने आप्री देवगण का उल्लेख किया है। शाकपूणि के मत के अनुसार ये सब अग्नि। संहिता का आप्रीसूक्तोद्दिष्ट अनुष्ठान, अतिप्राचीन, देवताओं की सङ्ख्या और क्रम निर्दिष्ट। इन आप्री. देवताओं को पृथ्वी स्थानीय देवगण के रूप में गिनती करना क्या यास्क का अभिप्रेत? द्र. नि. ७।१४, २०, ३१; ८।४..।

और द्युलोक में आदित्य, सप्तर्षि, वसु, वाजी, साध्य, विश्वदेव एवं देवपत्नियों के गण हैं।[१] विश्वदेव गण में सभी देवताओं का समाहार है। ऐसी स्थिति में देवताओं के स्थानभेद की बात नहीं उठती, क्योंकि तब वे सभी द्युस्थानीय अथवा दिव्य हैं; वे[२] 'ज्योति की सृष्टि' करते हैं, आर्जव साधना की प्रचेतना उनकी ही है, वे केवल बढ़ते ही चलते हैं, जानते हैं सब, वे अमृत एवं ऋत के द्वारा संवर्द्धित हैं, इन्द्र उनमें ज्येष्ठ हैं।' भूलोक, अन्तरिक्ष, द्युलोक सब चिन्मय हैं – यह अनुभव ही संहिता के वैश्वदेव सूक्तों में अभिव्यक्त हुआ है। अनेक से एक में जाकर उस एक के अनुभव को पुनः अनेक में वापस आकर त्रिभुवन या स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल में सर्वत्र प्राप्त करना – अर्थात् इस देवताति अथवा देवात्मभाव एवं सर्वताति अथवा सर्वात्मभाव में ही वैदिक अद्वैतोपलब्धि का सार्थक पर्यवसान है।[१२८८]

१. ११।१४....., १२।३६...। वाजी = अश्व, सूर्य रश्मि। सोमयाग के तृतीय सवन में पत्नी संयाज में देवपत्नियों का यजन होता है, इस कारण से वे आदित्यभाक् अतएव द्युस्थान (दुर्ग)। यास्क ने देवपत्नीगण का उल्लेख करके ही अपना दैवतकाण्ड और निरुक्त समाप्त किया है। तृतीय सवन में सोमयाग की भी परिसमाप्ति। चेतना तब विश्वदेवमय। उसके ही भीतर देवपत्नी अथवा देवात्म शक्ति (तु. श्वे. १।३; तैंतीस देवता सब के सब पत्नीवान् – ऋ. ३।६।९) का आदित्यभास्वर आविर्भाव।

२. द्र. देवान् हुवे..... ज्योतिष्कृतो अध्वरस्य प्रचेतसः, ये वावृधुः प्रतरं विश्ववेदसः .... १०।६६।१ समस्त सूक्त ही द्रष्टव्य इसमें सभी प्रकार के देवताओं, यहाँ तक कि ऋतं महत् .... स्वर बृहत् के रूप में उनकी अमूर्त भावना तक का उल्लेख है। तु. 'महद् देवानाम् असुरत्वम् एकम्' – ३।५५ सूक्त की टेक।

१२८८. तु. शब्रा. 'रश्मयो ह्य अस्य (सूर्यस्य) विश्वेदेवाः' ३।९।२।६, १२ (४।३।१।२६), एते वै विश्वे देवा रश्मयोऽथ यत् परं भाः प्रजापतिर् वा स इन्द्रो वा २।३।१।७ (१२।४।४।६), प्राणा वै विश्वे देवाः १४।२।२।३७, सर्वम् इदं विश्वे देवाः ७।९।११४ (१।७।४।२२, ३।९।१।१३.....) अनन्ता विश्वे देवाः १४।६।१।११, वैश्वदेवं वै तुरीय सवनम् १।७।३।१६, ४।४।१।११। 'देवताति' देवात्मभाव, 'सर्वताति' सर्वात्मभाव। द्र. टी. १३३८(१), १३३७(७)

४. देवताओं का वर्गीकरण

देवताओं की सङ्ख्या के सम्बन्ध में सम्भवतः ही उनके वर्गीकरण का प्रश्न उठता है। वेद में बहुदेवताओं की उपासना विक्षिप्त, विकीर्ण अथवा अनियन्त्रित नहीं है, उसका एक सुनिरूपित, सुनिर्दिष्ट लक्ष्य है। वह लक्ष्य अनेक से एक में, तमः से ज्योति में, मृत्यु से अमृत में एवं बन्धन से मुक्ति में चेतना का उत्तरायण है।[१२८९] यहाँ अनेक का मेला है और वहाँ अबन्धना अपरिमित अमृत ज्योति है। चेतना को, जीवन को एक-एक धाप पार करते हुए वहाँ ही ले जाना होगा। प्रत्येक देवता की ज्योति हम सब की दिशा-निर्देशक है।[१] एक-एक धाप एक-एक[२] 'लोक' अथवा 'रोक' है, उपनिषद् की

१२८९. उद् वयं तमसस् परि ज्योतिष् पश्यन्त उत्तरं, देवां, देवत्रा सूर्यम् अगन्म ज्योतिर् उत्तमम् १५०।१०, ९२।६, उद् ईर्ध्व जीव असुर् न आगाद् अप प्रागात् तम आ ज्योतिर् एति १०३।१६, १८६।६ ज्योतिर् वृणीत तमसो विजानम् ३९।७, उर्वारुकम् इव बन्धनाम् मृत्योर् मुक्षीय मा.मृतात् ७।५९।१२....।

१. तु. दिशारी या दिग् दर्शक अग्नि १।१८९।१, इन्द्र प्रणः पुर एते. व (अग्रणी की तरह) पश्य प्र नो नय प्रतरं वस्यो अच्छ (और भी आलोक की ओर) ६।४७।७, सं **पूषन्** विदुषा नय यो अञ्जसा. नुशासति, य एवे.दम इति ब्रवत् (हे, पूषा, हमें ऐसे विद्वान् से मिलवा दो, जो हमें अनुशासित करेंगे और जो कहेंगे कि "हां, यह यही है", पूषा में गुरु भाव) ६।५४।१, ८।७१।६, एष ते **देव** नेता रथस्पतिः शं रयिः (अनिरुक्त देवता, समस्त सूक्त में उनके नाम का उल्लेख नहीं, जिस प्रकार महादेव रुद्र का कभी किसी समय नहीं रहता श.ब्रा. के अनुसार सविता ३।१।४।१९; वे देहरथ के रथी हैं, एक ही साथ प्रथम एवं प्रवेग) ५।५०।५....। तु. आप्री सूक्त का 'देवीरद्वारः' ज्योति का द्वार; छा. का लोकद्वार २।२४।

२. लोक ।। रोक (तु. रुचयन्त रोकाः ३।६।७; द्र. टी. १२६) <√ रुच दीप्ति देना, चमकना - (तु. **Lat.** lucere 'to shine') भूतग्राम का आधार, अध्यात्म दृष्टि में चेतना की भूमि (तु. यत्र ज्योतिर् अजस्रं यस्मिन् लोके स्वर हितम्, तस्मिन् मां धेहि पवमाना. मृते लोके अक्षित.... ९।११३।७, लोका यत्र ज्योतिषमन्तस् तत्र मा.मृतम् कृधि ९....। पुरुष सूक्त

भाषा में मनोज्योति की एक-एक भूमि है। सभी लोकों में ही अधिष्ठात्री चेतना के रूप में सारे देवता लोकपाल की तरह हैं।[३] अतएव चेतना के उत्तरायण की ओर दृष्टि रख कर लोक-संस्थान के अनुसार देवताओं का स्वाभाविक वर्गीकरण होगा।

संहिता में मुख्यतया पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौः इन तीन लोकों का उल्लेख है। हमने देखा है कि संहिता में ही तैंतीस देवताओं को समान तीन भागों में विभाजित कर दिया गया है। इस सूत्र को पकड़ कर देवताओं की सङ्ख्या को और भी संक्षिप्त करके यास्क ने बतलाया[१२९०] कि निरुक्तकारों के मतानुसार तीन ही देवता हैं– पृथिवी स्थानीय अग्नि, अन्तरिक्ष स्थानीय इन्द्र अथवा वायु, और द्युस्थानीय सूर्य। इसलिए उनके निघण्टु में देवताओं का वर्गीकरण लोकानुसारी है। देवताओं का विविक्त अथवा पृथक्कृत परिचय देने की दिशा में यास्क का अनुसरण करना ही उचित होगा, क्योंकि उनके वर्गीकरण में ही उत्तरायण का सङ्केत है। किन्तु याद रखना होगा कि देवताओं का लोक निर्दिष्ट होने पर भी वे त्रिलोक सञ्चारी हैं[१] – जिस प्रकार यहाँ

में विराट् पुरुष की देह ही लोकः नाभ्या आसीद् अन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः अवर्तत, पद्भ्यां भूमिर् दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन् १०।९०।१४। संहिता में पर्याय शब्द 'उर्वी, धाम, पद'। 'पृथिवी' अवम (सर्वनिम्न) लोक होकर भी कहीं-कहीं तीन लोक का बोधक है (१।१०८।९, १०; ७।१०४।११)। उसी प्रकार 'रजः' अन्तरिक्ष के अर्थ बोध के बावजूद तीन लोक के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है (उत्तमं रजः ९।२२।५, परमा रजांसि ३।३०।२, तृतीये रजसि ९।७४।६, १०।४५।३, १२३।८, परमं रजः ७।९९।१– ये सब अन्तरिक्ष के तृतीय भाग नहीं, वस्तुतः द्युलोक)। संहिता का भुवन लोकवाची नहीं, भूतवाची है : बल्कि 'जो हो रहा है' वही भुवन।

३. तु. ऐउ. 'स ईक्षते. मे नु लोका लोकपालान् नु सृजा इति १।१।३।

१२९०. नि. ७।५।

१. संहिता की भाषा में 'त्रिषधस्थ' (अग्नि ५।४।८, ६।८।७, १२।२; सोम ८।९४।५; सरस्वती ६।६१।१२; बृहस्पति ४।५०।१; विष्णु १।१५६।५)। और भी तु. दिवि देवासो अग्निम अजीजनञ्च (जन्म दिया) छक्तिभिः .... तम् उ अकृण्वंस त्रेधा भुवे कम् (त्रेधा भावाय पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवी. ति

से ऊपर की ओर उठ जाते हैं, उसी प्रकार वहाँ से यहाँ उतर आते हैं।[२] वस्तुतः चैतन्य या चेतना आलोक की तरह है, एक केन्द्र होते हुए भी उसका विच्छुरण या छितराव चारों ओर होता है। इसलिए किसी एक लोक में किसी भी देवता को बाँध कर नहीं रखा जा सकता।

इन तीन लोकों में पृथिवी और द्यौः प्रधान हैं और आदि जनक-जननी के रूप में संहिता में वे एक देवमिथुन या देवयुग्म हैं।[१२९१] पृथिवी 'अवम' अथवा सर्वनिम्न लोक है, द्यौः 'परम' अथवा सर्वोच्च लोक है और दोनों के मध्य में अन्तरिक्ष 'मध्यम' लोक है।[१] लोक यदि चेतना की भूमि हो, तो फिर स्वभावतः ही वे ओत-प्रोत हैं। अतएव प्रत्येक लोक को जब फिर विभाजित किया जाए, तब हम

शाकपूणिः निः ७।२८) १०।८८।१०; फिर वही अग्नि. वायु. सूर्य तु. १०।१५८।१. १।१६४।४४। इन्द्र. अग्नि, तीनों 'पृथिवी' में ही १।१०८।९, १०।

२. ऊपर की ओर जाना और नीचे की ओर उतर आना। विशेष रूप से अग्नि और सोम का धर्म है, क्योंकि अभीप्सा स्वभावतः ऊर्ध्व शिख होती है एवं देवता के आवेश से आनन्द का निर्झरण होता हैं फिर इसका विपरीत क्रम भी है। अग्नि हव्यवाहन के रूप में ऊपर उठ जाते हैं और द्युलोक से देवताओं को लेकर आधार में उतर आते हैं, इसलिए वे 'अन्तर्दूतो रोदसी दस्म ईयते' – अपरूप अथवा अद्भुत भूलोक और द्युलोक के मध्य में दूत होकर विचरण कर रहे हैं (३।३।२; तु. २।६।७, ४।२।२, ७।८, ७।२।३)। ऊपर की ओर प्रवाहित सोम की धाराः धारा (= धारया) य ऊर्ध्वो अध्वरे ९।९८।३, तृतीयं धाम महिषः सिषासन् (पाने के लिए व्यग्र ९६।१८ ..... भाटा या नीचे की ओर : 'यं दिवस् परि श्येनो मथायद् इषितस् तिरो रजः' – प्रेरणा पाकर श्येन जिसे द्युलोक से मन्थन करके अन्तरिक्ष के भीतर से होकर ले आए (९।७७।२; सोम-श्येन का इतिहास तु. ४।२६।६, ७, ५।६८।६, ८६।२४, १०।११।४, १४४।४)।

१२९१. देवता प्रसङ्ग में विस्तृत आलोचना इसके बाद द्र.।

१. द्र. ऋ. १।१०८।९ (पृथिवी = लोक)।

तीन पृथिवी, तीन अन्तरिक्ष, एवं तीन द्युलोक पाते हैं।[२] किन्तु संहिता में द्यावापृथिवी का प्राधान्य होने के कारण इस विभाजन को ध्यान में रखकर भी अनेक स्थानों पर छह लोकों की चर्चा की गई है।[३] तीन पृथिवी, एवं, तीन द्यौः के मध्य में अन्तरिक्ष सेतु है। उससे हम सप्त 'धाम' अथवा 'पद' पाते हैं।[४] उसके बाद वही 'व्याहृति' प्रतिपादित सप्तलोक हुआ। तीनों लोकों का ही साधारण वैशिष्ट्य है कि वे व्याप्तिधर्मा हैं, अतएव उनके मनन-चिन्तन द्वारा चेतना क्लिष्टता से उबर कर विपुलता में मुक्ति प्राप्त करती है।[५] उनका अध्यात्म प्रतिरूप क्रमशः देह, प्राण एवं मन है।[६]

इन तीन लोकों के ऊपर एक और लोक है, जिसका नाम 'स्वः'[१२९२] है। स्वर का आदिम अर्थ ज्योति है। किसी-किसी जगह

---

२. तु. १।३४।८ (पृथिवी), ३५।६ द्यौः १६४।१० (माता और पिता) २।३।२ (द्यौः) २७।८ (भूमि द्यौः, ३।५६।२ (मही), ४।५३।५ (यहाँ ही तीन 'रजः' = अन्तरिक्ष) ७।८७।५, १०।१।४, १०४।११, ८।४१।९....।

३. १।१६४।६, २।१३।१०, ३।५६।२, ६।४७।३, १०।१४।१६...., इसके अतिरिक्त भी तीन भूलोक और तीन द्युलोक का उल्लेख द्रष्टव्य।

४. धामः १।२२।१६ (विष्णु), ४।७।५ (अग्नि), ९।१०२।२ (यज्ञ), १०।१२२।३ (अग्नि)

५. पृथिवी की व्युत्पत्ति प्रथम अथवा विस्तार से (तु. पृथिवीं पप्रथच् च.... इन्द्रः २।१५।२; भूमिं महीम् अपाराम् ३।३०।९। अन्तरिक्ष 'उरु' अथवा विशाल, समुद्रवत्। द्युलोक 'अनिबाध'। इन्द्र विष्णु से ऋषि कह रहे हैं, 'अप्रथतं जी वसे नो रजांसि' – लोक समूह को तुम लोगों ने विशाल किया इसलिए कि हम सब जीवित रहें (६।६९।५)।

६. रूपक का आभास पुरुष सूक्त में : पृथिवी उसका चरण, अन्तरिक्ष नाभि, द्युलोक मूर्द्धा (१०।९०।१४) इससे चेतना का उत्तरायण सूचित होता है। मन षष्ठेन्द्रिय नहीं, बल्कि मनश्चेतना। यही प्राचीन अर्थ है।

१२९२. यही तुरीय या चतुर्थः तु. तुरीयं धाम महिषो (ज्योतिर्विशाल सोम) विवक्ति ९।९६।१९ (उसके पहले ही तृतीय धाम का उल्लेख है): 'तुरीया. दिव्य हवनं त इन्द्रियम् आ तस्थाव अमृतं दिवि' – हे तुरीय आदित्य, तुमको जिस इन्द्र नाम से बुलाया जाता है वह द्युलोक में अमृत रूप में है ८।५२।७; इन्द्र का 'तुरीयं नाम यज्ञियम्' ८।८०।९ तुरीयं स्वित्' – तुरीय

ज्योति के द्वारा विशेषित होने से जान पड़ता है कि स्वर एक साधारण संज्ञा है और प्रकरण के अनुसार उसके अर्थ की भिन्नता का बोध होता है।[१] इस अनुमान का समर्थन निघण्टु में प्राप्त होता है। वहाँ द्युलोक एवं आदित्य का साधारण नाम 'स्व:' है।[२] संहिता में भी हम सूर्य और स्वर को आस-पास पाते हैं। एक जगह स्व: स्पष्टत: सूर्य ही है– जो पृथिवी को प्रतप्त कर रहा है।[३] द्युलोक के साथ स्वर की अभिन्नता है, और थोड़ा पार्थक्य भी है; वस्तुत: स्वर् 'रोचनं दिव:' – अर्थात् द्युलोक की झिलमिलाहट है।[४] इसके अतिरिक्त उषा से 'स्वर' का जन्म होता है; उस समय स्व: 'आदित्य' अथवा 'ज्योति' दोनों ही हो सकता है।[५]

सब मिलाकर 'स्वर' के ये तीन अर्थ हैं : साधारणत: 'ज्योति' फिर उस ज्योति का घनविग्रह 'आदित्य' एवं आदित्य द्वारा प्रकाशित 'द्युलोक'। इन तीन अर्थों के भीतर आध्यात्मिक चेतना के क्रमिक विकास का एक चित्र प्राप्त होता है। यही एक ऋक् में इस प्रकार स्पष्ट रूप में व्यक्त हुआ है; 'देखो, यह ज्योति, देखो जो है प्रिय,

कुछ एक १०।६७।१; अवश्य ही तुरीय ज्योति, तु. 'बृहस्पतिस् तमसि ज्योतिर् इच्छन् उद् अस्रा आ कर वि हि तिस्र आव:' – तम के भीतर ज्योति का देखकर बृहस्पति ने उद्दीप्त किया आलोक धेनुओं को, विवृत किया तीन द्वारों को (१०।६७।४)। यही तुरीय उपनिषद् की भाषा में 'विज्ञान' जो अन्न (देह) प्राण और मन के ऊपर (द्र. तै उ. २, ३ वल्ली)।

१. तु. स्वर् ण ज्योति: ४।१०।३; आस-पास प्रयुक्त: सना ज्योति: स्व: ९।४।२; ज्योतिर् विश्वं स्वर्दृशे ६१।१८; यत्र ज्योतिर् अजस्रं यस्मिन् लोके स्वर् हितम् ११३।७; विदत् मनवे ज्योतिर् आर्यम् १०।४३।४। स्व: ।। सुव: < √ सु 'प्रचोदित या प्रेरित करना'; तु. 'सविता', 'सूर्य' < स्वर्+य, जो चित् शक्ति का उत्स एवं प्रेरक है। यास्क का कथन है 'सु अरण:, सु ईरण: स्वृतो रसान्, स्वृतो मासं ज्योतिषां, स्वृतो भासेति वा' निरुक्त २।१४।

२. निघ. १।४

३. ऋ. ६।७२।१; तपन्ति शत्रुं स्वर् ण भूमा (भूमि को) ७।३४।१९।४

४. विभ्राजञ्ज्योतिषा स्वर् अगच्छो रोचनं दिव: ८।९८।३ (= १०।१७०।४)।

५. २।२१।४, ३।६१।४, ३।६१।४, ५।८०।१।

देखो यह जो प्रकाश, देखो यह विपुल अन्तरिक्ष।'[१२९३] अर्थात् ज्योति का प्रस्फुटन हुआ, घनीभूत होने पर वही आदित्य और उसके बाद विश्वमूल प्राण के स्पन्दन को उद्भासित किया।

स्वर की इन तीन वृत्तियों के कारण लोक को दृष्टि में रख कर द्युलोक और स्वर को कहीं-कहीं पृथक् किया गया है।[१२९४] शौनक संहिता के एक सूक्त में यह भाव और भी स्पष्ट है। उसका एक मन्त्र जो इस प्रकार व्यक्त हुआ है, "पृथिवी की सतह से मैं अन्तरिक्ष में उठा, अन्तरिक्ष से ऊपर उठा द्युलोक में, द्युलोक के उत्तुङ्ग पृष्ठ से स्वर्ज्योति में गया मैं।"[१]

एक बात और ध्यातव्य है कि अप् के साथ स्वर का सम्बन्ध है[१२९५] स्वर् ज्योति अथवा चेतना है और अप् प्राण है। तन्त्र की भाषा में शिव-शक्ति रूप में दोनों अभिन्न हैं। ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म के परिचय में यह भाव ही आकाश एवं प्राणरूप में व्यक्त हुआ है। प्रसङ्गत: स्मरणीय है कि वेद में वारिवर्षण और सूर्योदय अध्यात्म सिद्धि के दो मुख्य रूपक के तौर पर प्रयुक्त हैं। एक अन्तरिक्ष की घटना है और एक द्युलोक की घटना है।

यह स्वर्ज्योति ही वैदिक ऋषियों का परम पुरुषार्थ है। 'गो, अश्व, वसु, हिरण्य सभी हम लोगों को स्वर की ओर लेकर जा रहे हैं, अर्थात् वहाँ ही सारी कामनाओं का परितर्पण होता है। इस स्वर को हम पौरुष

१२९३. ऋ. इदं स्वर् इदम् इद् आस वामम् अयं प्रकाश उर्व अन्तरिक्षम् १०।१२४।६

१२९४. तु. ऋ. १०।६६।९ 'यथा पूर्वम् अकल्पयत् दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षम् अथो स्व: १९०।३ (स्व: यहाँ स्पष्टत: तुरीय धाम)।

१. शौ. पृष्ठात् पृथिव्या अहम् अन्तरिक्षम् आ. रुहम् अन्तरिक्षाद् दिवम् आ. रुहम्, दिवो, नाकस्य पृष्ठात् स्वर ज्योतिर् अगाम् अहम् ('नाक' यहाँ लोक नहीं, सामान्यत: 'सानु' या शिखर: तु. त्रिनाके त्रिदिवे दिव: ऋ. ९।११३।९) ४।१४।३।

१२९५. तु. ऋ. स्वर्वतीर् अप: १।१०।८, ५।२।११, ११; ६।६०।२, ७३।३, ८।१५।२, ९।९०।४, ६१।६....। द्र. निघ, स्वर = अप् १।१२।

एवं तपःशक्ति द्वारा प्राप्त कर सकते हैं।[१२९६] लक्ष्य करने योग्य है कि यह स्वर्[१] 'महत्' एवं 'बृहत्' है; इन दोनों विशेषणों में उसकी परमार्थता का सङ्केत है।

ब्राह्मण एवं उपनिषद् में स्वर एक व्याहृति है। उसे सामान्यतः द्युलोक के साथ एक मान लिया गया है।[१२९७]

स्वर के उपरान्त एक और लोक का सन्धान प्राप्त होता है जिसका नाम 'नाक' है।[१२९८] निघण्टु में स्वर की तरह ही 'नाक'

१२९६. ऋ. ईशानासो ये दधते स्वरणो गोभिर् अश्वेभिर् वसुभिर् हिरण्यैः ७।९०।६ ('गो' अन्तर्ज्योतिः 'अश्वे' ओजः वसु सामान्यतः ज्योति–जिस प्रकार आदित्यरश्मि, 'हिरण्य' पुञ्जज्योति – जैसे आदित्य मण्डल की)। स्वर् को पाया जाता है 'नृभिः' ८।१५।१२, ४६।८; 'तपसा' १०।१५४।२।

१. ३।२।७, १०।६६।४।

१२९७. तु. तै ब्रा. सुवर् इति व्याहरत् स दिवम् असृजत् २।२।४।३; ऐब्रा. असौ लोकः स्वः ६।७; श. स्वर इत्य असौ लोकः ८।७।४।५...।

१२९८. तु. तन्त्र में इन तीन भूमियों के बाद 'तुरीय' उसके भी ऊपर 'तुर्यातीत'; उपनिषद् में जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति, तुरीय, किन्तु में शिवसूत्र में पाते हैं 'त्रिषु चतुर्थं तैलवद् आसेच्यम् (३।२०)। तीनों को छोड़ कर जो तुरीय है वह प्रपञ्चोपशम (माण्डू. ७); गुह्य् शास्त्र में 'विरमानन्द'। फिर तीनों के साथ ही जो तुरीय, वह तुरीय अवस्था; गुह्य शास्त्र में 'सहजानन्द'। तु. अग्नि चयन की पञ्चमी चिति में 'नाकसत' इष्टका (ईंट) का प्रसङ्ग। श ब्रा. के अनुसार ये इष्टकाएँ जिन देवताओं के प्रतीक हैं, वे हैं आत्मा, ऋत्विक् यजमान एवं दिक् समूह सभी नाकसत् (८।६।१।१....)। सात चितियों में प्रथम, तीनों तीन लोक के प्रतीक – यह प्राकृत दशा है। चतुर्थी चिति यज्ञ – यहाँ से चेतना में उत्तरायण का आरम्भ। पञ्चमी चिति यजमान – यहाँ आत्म प्रतिष्ठा अथवा नाक में आरोहण। षष्ठी चिति स्वर्गलोक – यहीं दिव्य चेतना का विलास। सप्तमी चिति अमृत – जो सर्वोत्तम है, जिसके परे और कुछ भी नहीं (८।७।४, १२-१८)। लोक दृष्टि से चतुर्थी चिति स्वः क्यों? या फिर यज्ञ ही स्वः है (१।१।२।२१)। और तीन चिति नाक की ही त्रिधा मूर्ति। अध्यात्म दृष्टि से अन्त की चार चिति क्रमशः हृद्देश का ऊर्ध्व भाग, ग्रीवा, शिर एवं प्राण (८।७।४।१९-२१)।

आदित्य एवं द्युलोक की साधारण संज्ञा है: यास्क का कथन है कि 'रस की भाति या दीप्ति एवं ज्योति के "नेता" के रूप में नाक आदित्य है; इसके अलावा 'क' सुख की संज्ञा है, उसका प्रतिषेध 'अक' है और उसके भी प्रतिषेध से नाक द्युलोक का नाम है।'[१] उनकी व्याख्या के अनुसार नाक की दो विशेषताएँ प्राप्त होती हैं जिनमें एक ज्योति है और एक आनन्द है। ध्यान देने योग्य है कि संहिता में ज्योति के देवता भुवनकान्त वेन एवं आनन्द के देवता सोम का एक ही भाषा में वर्णन किया गया है – 'नाक' में अधिष्ठित गन्धर्व के रूप में।[२] इस बात को यदि आधुनिक भाषा में अनुवाद करके कहा जाए, तो नाक को 'चिदानन्दधाम' कहा जा सकता है।

निघण्टु में स्वः एवं नाक पर्यायवाची होने पर भी संहिता में हम देखते हैं कि दोनों अलग हैं।[१२९९] फिर द्यौः केवल ज्योतिर्लोक है और

---

१. निघ. १।४; नि. २।१४। तो फिर उपनिषद् की भाषा में स्वः विज्ञान और नाक 'आनन्द'। तु. तैउ, – विज्ञानमय और आनन्दमय पुरुष २।४, ५; विज्ञान ब्रह्म और आनन्द ब्रह्म ३।५, ६; छा. आदित्योत्तर विशोक लोक २।१०।५।

२. तु. ९।८५।१०.१२, १०।१२३।६-८। दोनों सूक्तों के ऋषि 'वेन' भार्गव हैं। द्वितीय सूक्त के देवता 'वेन' (प्रिय, कान्त) अतएव ऋषि का नाम देवता का सायुज्य बोधक है। दोनों सूक्तों में सोम अथवा चित-आनन्द के मिलन का आभास मिलता है। तु. हठयोग की सूर्य नाड़ी और चन्द्र नाड़ी का मध्य नाड़ी अथवा सुषुम्णा में मिलन।

१२९९. तु. ऋ. येन द्यौर् उग्रा पृथिवी चु दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः, यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः १०।१२१।५। यहाँ पाँचों लोकों का ही उल्लेख है। निघ. में दिव्, स्वः नाक ये तीनों ही सामान्यतः ज्योतिर्लोक। इस प्रकार की भावना संहिता में भी प्राप्त होती है। वहाँ दिव् की भावना के अन्तर्गत स्वः है : किन्तु नाक अनेक स्थलों पर दिव् से अलग (१।१९।६; अग्नि अथवा सूर्य) 'दिवः स्कम्भः समृतः पाति नाकम्' – द्युलोक के स्तम्भ रूप में संहत होकर नाक की रक्षा करते हैं ४।१३।५, १४।५; 'रोदसी' द्यावापृथिवी, नाक उससे अलग ७।५८।१, ८६।१; 'दिवो नाकः' इस पदगुच्छ में भी दोनों अलग १।३४।८, 'सहस्रधारे....दिवो नाके' ९।७३।४, ८५।१०। तै ब्रा. में नाक परम व्योम् ३।७।६।५।

स्वर् भी वही है; [1]किन्तु नाक आलोक एवं अन्धकार दोनों का ही आधार है। अतएव नाक को हम उपनिषद् की निरस्ततमा वह शिवभूमि कह सकते हैं, जो रात-दिन से ऊपर है। इस दृष्टि से नाक को तारकाखचित [2]रूप में वर्णन करने का एक तात्पर्य है। कठोपनिषद् में पञ्चभाति के वर्णन में हमें पाँच ज्योतिर्लोक की सूचना प्राप्त होती है जिनके नाम हैं – अग्नि गर्भा पृथिवी, विद्युद्गर्भ अन्तरिक्ष, सूर्यदीप्त द्युलोक, सोम्य स्वर्लोक एवं तारकाखचित महाशून्य। यह लोक-संस्थान चेतना का जो क्रमिक उत्तरण सूचित करता है, उसमें स्वर्लोक के बाद नाक यानी महाशून्य है, किन्तु अनन्तता की द्योतना में चमकता-दमकता। संहिता में उसका वर्णन इस प्रकार है – 'यह नाक चिन्मय शुचिता से दीप्त, उन्मादक, पलायमान मन के भी उस पार; उसकी शुभ्र शुचिता तक पहुँच नहीं पाता कोई, वह लगता है दीप्त पिप्पल जैसा; वहाँ है सोम्य आनन्द की सहस्र धारा'।[3] इसके अतिरिक्त यह नाक 'ऋष्व' अर्थात् अग्र्या धी की क्रमसूक्ष्म चेतना में बहुत ऊँचे है; इसके साथ

---

१. 'तिस्रः पृथिवीर् उपरि प्र वा. दिवो नाकं रक्षे थे द्युभिर् अक्तुभिर् हितम्' –(हे अश्विद्वय) तीनों पृथिवी के ऊपर की ओर जाने पर द्युलोक के नाक की रक्षा कर रहे हो तुम दोनों, जो सम्भवतः दिन के प्रकाश से एवं रात के अन्धकार में प्रतिष्ठित है १।३४।८ ('द्युभिर् अक्तुभिः' यही पदगुच्छ अन्य दो स्थलों पर दिन और रात का बोधक है १।११२।२५, ३।३१।१६; किन्तु वेङ्कटमाधव एवं सायण यहाँ उसे 'हितम्' के कर्त्ता के रूप में ग्रहण करते हैं, 'दिवो नाकः के अर्थ में उन्होंने "द्युलोक का आदित्य" समझा है; आदित्य की शुक्ल भाति एवं परःकृष्ण नीलिमा का उल्लेख उपनिषद् में है, उसका अन्तवर्ती हिरण्मय पुरुष दोनों का धारणकर्त्ता होकर भी दोनों से परे है (तु. संवत्सरः .... अहोरात्राणि विदधत् ..... वशी १०।१९०।२) तु. श्वे. ४।१८)।

२. 'वि राय और्णोद् दुरः 'पुरुक्षुः पिपेश नाकं स्तृभिर् दमूनाः' (अग्नि ने रुद्ध धारा को मुक्त किया ज्योति के द्वार की अर्गला खोलकर, नाक को तारों से जड़ दिया) १।६८।१०; स्तृभिर् न नाकम् ६।४९।१२।

३. तु. तं नाकं चित्रशोचिषं मन्द्रं परो मनीषया ५।१७।२, तं नाकम्.....अगृभीत शोचिषं रुशत् पिप्पलं ५४।१२ (तु. मर्त्यभोग 'स्वादुपिप्पल' १।१६४।२०, २२; (दिव्य भोग यही पिप्पल); ९।७३।४।

उसे 'बृहत्' अर्थात् उपचीयमान चेतना की भूमि कहा गया है।[4] लोकोत्तर देवता वरुण माया की समस्त लीला को अपने चरणों की ठोकर से छिटकाकर इस नाक पर आरोहण करते हैं।[5] मनुष्य की उत्सर्ग-भावना के तन्तु भी इस प्रत्यन्ततम लक्ष्य तक प्रसारित हुए हैं।[6]

दिव, स्वर् और नाक इन तीनों को मिला लेने पर तो संहिता के 'तिस्रो दिवः' अथवा तीन द्युलोक का बोध होता है।[1300] जिसमें दिव् आकाश में विच्छुरित ज्योति है, स्वर् उस ज्योति का उत्स पुञ्जद्युति आदित्य है, और नाक आदित्य की पृष्ठभूमि नीलाकाश है। आध्यात्मिक दृष्टि से लोकारूढ़ चेतना पहले व्याप्त होती है, उसके बाद उस व्याप्ति के केन्द्र में एक समूहन अथवा पुञ्जभाव का सन्धान करती है एवं अन्त में महाशून्य में मिल जाती है। आध्यात्मिक चेतना की इसी स्वाभाविक रीति से दिव्य त्रिलोक की कल्पना की गई; वही दिव्य भूमि से अन्तरिक्ष में एवं पृथिवी में भी उपचरित हुई है कि नहीं, वह विवेच्य है।

पाँच लोकों में आरम्भ से ही द्यौः और पृथिवी इन दो को देवता के रूप में पाते हैं। स्वर और नाक द्युलोक के ही विभाव हैं, किन्तु वे देवता नहीं हो पाए। उसी प्रकर द्यौः और पृथिवी के मध्य सेतु रूपी अन्तरिक्ष भी देवता नहीं हुआ। इन तीनों की ही गिनती 'लोक' अथवा चेतना की भूमि के रूप में करनी होगी। स्वर और नाक सिद्धि की भूमि है और अन्तरिक्ष साधना की भूमि है। पृथिवी प्रतिष्ठा है और द्युलोक अतिष्ठा है,[1301] दोनों ही अक्षुब्ध हैं। साध्य जीवन के सारे

---

४. ७।८६।१, ९९।२।

५. स माया अर्चिना पदा स्तृणान् नाकम् आरुहत् ८।४१।८।

६. पुमान् वि तन्त्रे (यज्ञम्) अधि नाके अस्मिन् १०।१३०।२। तु यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवास् तानि धर्माणि प्रथमान्य् आसन्, ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः १०।९०।१६। नाक साध्य देवगण स्थान है, जो समस्त देवताओं के पूर्वज हैं; यहाँ से ही उन्होंने विश्व यज्ञ का अनुष्ठान किया था। साध्यगण पञ्चम अमृत के भोक्ता हैं (छा. ३।१०।१)।

१३००. सङ्क्षेप में 'त्रिदिव' (ऋ. ९।११३।९)

१३०१. द्युलोक का सब से परे होने के कारण संहिता में एक और नाम 'परावत' – दूर से दूरतर है (दुर्ग नि. ११।४८)

घात-प्रतिघात और सारे क्षोभ-विक्षोभ इसी अन्तरिक्ष लोक की घटनाएँ हैं। यहाँ ही आँधी उठती है और वृत्र की माया बादलों के रूप में यहाँ ही द्युलोक के आलोक को आच्छादित करती है, प्राण की धारा को अवरुद्ध करती है।

संहिता में अन्तरिक्ष को 'अप्त्य' अथवा आप् से उत्पन्न बतलाया गया है।[१३०२] अतएव अन्तरिक्ष प्राणलोक है। द्युलोक की तरह अन्तरिक्ष के भी तीन भाग हैं।[१] एक तो पृथिवी के बहुत नज़दीक 'वात' अथवा वातास् का सञ्चरणस्थान है।[२] दूसरा यथार्थ मध्यलोक है, यहाँ ही वृत्रवध होता है।[३] वायु लोकपाल है। और द्युलोक के उपकण्ठ में या निकट अन्तरिक्ष का तृतीय भाग है, वहाँ के देवता मरुद्गण एवं इन्द्र हैं।[४] आध्यात्मिक दृष्टि से वायु एवं मरुत् एक ही प्राणतत्त्व के क्रमसूक्ष्म परिणाम हैं। अन्तरिक्ष का यह तृतीय भाग दिव्य प्राण की भूमि है; मरुद्गण वहाँ प्रकाश की आँधी, वृत्रहन्ता इन्द्र शत्रुञ्जय हैं, पूषा की सुनहली नाव वहाँ तिरती रहती है, अग्नि वहाँ पूषा का रूप प्राप्त करता है, और यहाँ से परम देवता वरुण सूर्य को मानो जरीब बनाकर पृथिवी की नाप-जोख करते हैं अर्थात् उसे 'आवृत' करते हैं अथवा परिव्याप्त करते हैं।[५] अन्तरिक्ष भी व्याप्तिधर्मा है, इसलिए संहिता में

१३०२. तु. ऋ. पूर्वे अर्धे रजसो अप्त्यस्य १।१२४।५; श. ७।५।२।५७।

१. द्र. तैब्रा. ३।२।५।२, ता. ९।९।४, श. ३।८।२।४....।

२. वनेषु व्यू अन्तरिक्षं ततान (वरुणः) ५।८५।२; अयं वातो अन्तरिक्षेण याति १।१६१।१४।

३. तु. ऊर्ध्वो ह्य अस्थाद् अध्य अन्तरिक्षे ऽधा वृत्राय प्र वधं जभार मिहं वसानः २।३०।३। यहाँ यातुधानों अथवा राक्षसों का भी स्थान है जो प्राण के विकार हैं, और जिनका हन्ता रक्षोहा अग्नि है (१०।८७।३, ६)।

४. आध्यात्मिक दृष्टि से इन्द्र तब शुद्ध मन और मरुद्गण शुद्ध प्राण। वे आलोक दीप्त होने के कारण 'मरुत' (<√मर 'झिलमिलाना'; तु. 'मर्य' तारूण्य से दीप्त)।

५. इस कारण कहा जाता है 'दिवा यान्ति मरुतः' १।१६१।१४। पूषाः यास्ते पूषन् नावे अन्तः समुद्रे हिरण्ययीर् अन्तरिक्षे चरन्ति ६।५८।३ (तु. पूषा द्वारा सत्य धर्म के हिरण्मय आवरण का मोचन ई. १५)। अग्निः 'अन्तरिक्षे इच्छन्...वव्रिम् अविदत् पूषणस्य १०।५।५ (अर्थात् अग्नि दिग्दर्शक होता है, तु. १।१८९।१ वरुणः मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण ५।५८।५)'

उसका एक परिचय 'समुद्र' है।[६] अन्तरिक्ष के प्रसङ्ग में 'उरु' विशेषण का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है।[७] वस्तुतः प्राण के आयाम अथवा व्याप्ति से ही दिव्य चेतना का उन्मेष होता है। इसलिए अन्तरिक्ष के निकट ऋषि वसिष्ठ की प्रार्थना है कि वह द्युलोक सम्बन्धी क्लिष्टता से हम लोगों की रक्षा करे।[८] पूर्वी क्षितिज पर सविता का उदय और पश्चिमी क्षितिज पर उसका अस्तमयन होता है। दोनों ही पृथिवी और अन्तरिक्ष के सङ्गम स्थल एवं प्रकाश तथा छाया के राज्य हैं। अतः अन्तरिक्ष को एक स्थल पर 'कृष्णं रजः' कहा गया है।[९] इस अंधेरे के स्पर्श के बावजूद स्वरूपतः अन्तरिक्ष 'वसु' अथवा प्रकाश का आधार है; हालांकि उस प्रकाश को प्राण के शौर्य द्वारा छीन लेना पड़ता है।[१०]

लोक-परिचय यहाँ समाप्त हुआ। अब पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौः इन तीनों लोकों में से प्रत्येक लोक के देवताओं का क्रमशः अलग-अलग परिचय प्राप्त किया जाए। पहले पृथिवी स्थानीय देवताओं के द्वारा ही विवेचन शुरू किया जाए; क्योंकि पार्थिव चेतना का उत्क्रमण तो द्युलोक की ओर है – यही आध्यात्मिक जीवन का प्रस्थानबिन्दु है।

---

६. ६।५८।३, अन्तरिक्षम् अतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम् १०।१४९।१।

७. तु. ३।६।७, ५।५२।७, ७।३९।३, १।९१।२२, ३।२२।२, ५४।१९, ४।५२।७, ५।४७।४, ६१।११, ७।९८।३, ९।८१।५, महि अन्तरिक्षम् १०।६५।२, १२४।६, १२८।२ (उरुलोक)। तु. नि. अन्तरिक्ष 'प्यायन' अर्थात प्रसरणशील (१२।१९)

८. पृथिवी नः पार्थिवात् पात्व अंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात् पात्व अस्मान् ७।१०४।२३।

९. तु. १।३५।२, ४, ९ (अस्तमयन के समय अन्धकार से आलोक को ढँकना; किन्तु वह अन्धकार भी आलोक)।

१०. तु. ९।३६।५, ६४।६।

(ग) पृथिवी स्थानीय देवता १: अग्नि

१. रूप, गुण और कर्म

'आर्या ज्योतिरग्राः' – ज्योति की एषणा ही आर्यत्व का एक विशेष लक्षण है। हम एक ज्योति को सूर्य रूप में 'शुचिषत् हंस' के रूप में आकाश में नित्य देखते हैं। यह ज्योति सर्वश्रेष्ठ ज्योति है, उत्तम ज्योति है। यह सूर्य हम सब का जीवन है, प्राण है, उसका 'प्रसव' अथवा प्रचोदना या प्रेरणा हमारी समस्त साधना : (अपः) एवं सिद्धि (अर्थ) के मूल में है।[१३०३] पृथिवी पर उसका ताप एवं प्रकाश द्युलोक से झर रहा है। किन्तु यहाँ इस ज्योति के उत्स को स्वरूपतः या यथार्थतः कहाँ प्राप्त करते हैं?

वस्तुतः वह अग्नि में पाते हैं। जिस प्रकार द्युलोक में सूर्य है, उसी प्रकार पृथिवी में अग्नि है। ये दो विवस्वत् ज्योति हमारे निकट नित्य प्रत्यक्ष हैं।[१३०४] ज्योति ही देवता का स्वरूप है। एक देवता 'अवम्' या सब से नीचे है और एक 'परम' या सब से ऊपर है। यहाँ के इस देवता के माध्यम से वहाँ के उस देवता में पहुँचना होगा: यह ज्योतिरुद्गमन ही आर्य का पुरुषार्थ है।

पार्थिव अग्नि की ऐसी कई विशेषताएँ हैं, जिनके कारण उसे बड़ी आसानी से ही अध्यात्म-भावना के आलम्बन के रूप में ग्रहण

१३०३. तु. ऋ. इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिर् उत्तमं उच्यते बृहत् १०।१७०।३। जीव असुर् नः १।११३।१६, नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन् अर्थानि कृणवन्न अपांसि ७।६३।४।

१३०४. तु. ऋ. अग्निः शुक्रेण शोचिषा बृहत् सूरो अरोचत् (अग्नि = सूर्य), दिवि सूर्यो अरोचत् ८।५६।५; १०।८८ सूक्त, अनुक्रमणिका में सूर्य अथवा वैश्वानर अग्नि देवता। विवस्वान् से अग्नि ४।७।४, ५।११।३, ६।८।४; अग्नि स्वयं विवस्वान् ७।९।३।

किया जा सकता है। अग्नि में प्रकाश है, ताप है; ये दोनों क्रमशः प्रज्ञा एवं प्राण के (शक्ति के) प्रतीक हैं। अग्नि की शिखा कभी भी निम्नगामी नहीं होती। इसे अध्यात्मचेता की ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा के द्योतक के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। शिखा ऊपर उठकर शून्य में मिल जाती है; अभीप्सा का भी अन्तिम परिणाम ब्रह्मनिर्वाण है। इसके अतिरिक्त अग्नि इन्धन में निगूढ़ रहता है, पहले तो उसके अस्तित्व का आभास नहीं मिलता; किन्तु मन्थन मन्प्रज् से अथवा अन्य अग्नि के संस्पर्श से उस इन्धन में ही अग्नि का आविर्भाव होता है एवं धीरे-धीरे वह इन्धन को आत्मसात् करके अग्निमय कर देता है। दिव्य भावना में मनुष्य के देवता हो जाने की यह एक चमत्कारपूर्ण उपमा है।[१३०५]

जब तक व्यक्ति की देह में प्राण रहता है तब तक ताप भी रहता है, और यह ताप प्राणाग्नि का ताप है। चेतना के विस्फारण अथवा उद्दीपन की दिशा में यह ताप बढ़ता है। वही प्रज्ञा एवं सृष्टि की मूलभूत तपःशक्ति है। यही 'तपः' व्यक्ति के भीतर 'ज्योति प्रस्फुटित' करता है और उसे स्वर्लोक ले जाता है।[१३०६] सुषुप्ति में मन नहीं रहता, किन्तु तब भी ताप रूप में प्राण रहता है और इसी प्राणाग्नि के माध्यम से मनोलय के बाद एक निगूढ़ या रहस्यमय आनन्दचिन्मय सत्ता का साक्षात्कार किया जा सकता है।[१] मर्त्य अथवा

१३०५. तु. भागवतपुराण पार्थिवाद् दारुणो धूमस् तस्माद् अग्निस् त्रयीमयः तमसस् तु रजस् तत्मात् सत्त्वं ब्रह्मदर्शनम् १।२।२४।

१३०६. तु. ऋ. तपसा ये अनाधृष्यास् तपसा ये स्वर् ययुः – तपस्या में जो अधृष्य या अजेय, वे स्वर्लोक गए १०।१५४।२, ऋषीन् तपस्वतो .... तपोजान् ५। अग्नि विशेष रूप से 'तपस्वान्' (६।५।४, जिस प्रकार इन्द्र 'जात एव प्रथमो मनस्वान्' २।१२।१), 'तपिष्ठ' वही, 'तप' २।४।६।

१. तु. प्रश्नोपनिषद् प्राणाग्नय एवा. स्मिन् पुरे जाग्रति ४।२; अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानन् अनुभवति.....स यदा तेजसा भिभूतो भवत्य् अत्रैष देवः स्वप्नान् न पश्यत्य अथ तदै. तस्मिञ्च छरीर एतत् सुखं भवति ४।६ (योग निद्रा का वर्णन, उसी से स्वप्नभूमि पर महिमा का अनुभव एवं सुषुप्ति में 'तेज' द्वारा स्वप्न का अभिभव; तीनों भूमियों पर सत् चित् और आनन्द की उपलब्धि)। संहिता में अग्नि = आयु (Life) : आयुर् न प्राणः १।६६।१;

नश्वर संसार में वही अमृत ज्योति और अन्धकार की गहनता में ज्योति का सङ्केत है।[2] आधिभौतिक अग्नि का यह आध्यात्मिक रूप है। हमारे आधार में स्थित इस अग्नि को चिदग्नि कहा जा सकता है 'जो ध्रुव एवं सर्वत्र निषण्ण रहकर ही यहाँ जन्म लेता है, एवं अमर्त्य होकर भी तनु के साथ-साथ बढ़ता रहता है'।[3]

हम पहले ही बतला चुके हैं कि वैदिक देवताओं के रूप का पक्ष अधिक विकसित नहीं है। 'अमूर' अथवा अमूर्त उनकी एक साधारण संज्ञा है और यह संज्ञा विशेष रूप से अग्नि के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुई है। भौतिक अग्नि इन्द्रियग्राह्य है, किन्तु उसका दिव्य रूप अतीन्द्रिय एवं बुद्धि ग्राह्य है। भौतिक अग्नि उस देवता का प्रतीक मात्र है। संहिता में उसके रूप के वर्णन में भौतिक अग्नि का रूप बार-बार उपमान के रूप में उभरा है।

घृत के साथ अग्नि का घनिष्ठ सम्बन्ध[१३०७] है; घृत अग्नि के संस्पर्श में आते ही अग्नि में रूपान्तरित हो जाता है, जिससे घृत का एक विशिष्ट अर्थ 'ज्योतिर्मय' है।[1] फिर इसी आधार पर 'घृतप्रतीक',

---

इन्द्रं न त्वा शवसा (शौर्य द्वारा) देवता (देवताओं के मध्य) वायुं वृणन्ति (पूर्ण करते हैं) राधसा (ऋद्धि द्वारा) ६।४।७; आयोर् ह स्कम्भ उपमस्य नीले १०।५।६, २०।७, ४५।८ (वयोभिः तारुण्य में)।

२. तु. इदं ज्योतिर् अमृतं मर्त्येषु ६।९।४, ध्रुवं ज्योतिर् निहितं दृशये कम् ५, त्वाम् अग्ने तमसि तस्थिवांसम् ७।

३. अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस् तन्वा वर्धमानः ६।९।४।

१३०७. तु. घृतम् अग्नेर् वध्र्यश्वस्य (ऋषि का नाम) वर्धनं घृतम् अन्नं घृतम् व. स्य भेदनम् घृतेना. हुत उर्विया वि पप्रथे सूर्य इव रोचते सर्पिरासुतिः १०।६९।२ 'घृतोन्न' ७।३।१, 'घृतयोनि' ५।८।६।

१. घृत ढ √ घृ 'क्षरण और दीपन' 'सेचन' (नि. ७।२४)। तु. नि. 'अथा.पि नैगमेभ्यो भाषिकाः उष्णं घृतम् इति', अर्थात् घृत शब्द का वेद में एक विशिष्ट अर्थ है, यह शब्द वेद से ही आया है (२।२); फिर अग्नि के संस्पर्श से तरलता का कारण घृत = उदक (निघ. १।१२; तु. १।१६४।४७)। दोनों अर्थ मिला लेने पर 'घृत' ज्योति की धाराः तु. ४।५८ सूक्त, अनुक्रमणिका में देवता 'सूर्यो वा आपो वा गावो वा घृतस्तुतिर् वा'।

'घृतपृष्ठ' 'घृतनिर्णिक', 'घृतकेश' अग्नि के ऐसे विशेषण[2] हैं, जो उसके ज्योतिर्मय रूप के व्यञ्जनावह हैं। अग्निशिखा की कल्पना आस्य (मुख) जिह्वा एवं दाँत के रूप में की गई है। ऋक्संहिता में अग्नि की तीन जिह्वाओं का उल्लेख है, किन्तु अन्यत्र सात हैं।[3] उसकी तीन मूर्द्धाएँ, सात रश्मियाँ एवं चार अथवा हज़ार आँखें हैं।[4] उसके प्रहरण

तु. 'घृणि' अग्नि का विशेषणः उपच्छायाम् इव घृणेर् अगन्म शर्म (शरण) ते वयम्, अग्ने हिरण्य संदृशः ६।१६।३८; 'घर्म' ताप झ 'धाम' ।। 'गरम'। इसके अलावा घृत पञ्चामृत का तृतीय अमृत : 'पयः' आप्यायनी चेतना की मुख्यधारा (तु. अन्तः कृष्णासु रुशद् (उज्ज्वल) रोहिणीषु १।६२।९, कृष्णासु रोहिणीषु च, परुष्णीषु (चित्रवर्णा) रुशत् पयः ८।९३।१३ : तमः एवं रजः से सत्त्व के आविर्भाव की उपमा), घनीभूत होने पर दही, प्रज्वलित होने पर घृत होता है; उसका आनन्दमय साम्य चेतना में रूपान्तर 'मधु' उसके भी घनीभूत होने पर 'शर्करा'। मनु के कथनानुसार स्वाध्याय पाठ का फल 'पयः दधि, घृत, मधु का क्षरण (२।१०७; तु. ऋ. ९।६७।३२)।

२. 'प्रतीक' जो सामने है, मुख; 'निर्णिक' जो माँजा हुआ, चमकीला, स्वच्छ हो, पोशाक। इन विशेषणों का यूरोपीय अनुवाद हास्यास्पद है। तु. अग्नि की उक्ति : घृतं मे चक्षुर् अमृतं म. आसन् (मुख में) ३।२६।७।

३. ३।२०।२ अग्नि के तीन तनु का उल्लेख है' वे 'देववाताः' अथवा देवाविष्ट। वा. में : 'सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वाः' १७।७९ (मु. में उनके नाम हैं – काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी, विश्वरुची १।२।४ जिसमें चेतना का उत्तरायण आभासित), शौ. में : 'सप्त आस्यानि तव' ४।३९।१० : तीन और सात के साथ त्रिलोक और सप्तलोक का सम्बन्ध।

४. 'त्रिमूर्धानं सप्तरश्मिं गृणीषे' १।१४६।१ (तु. इन्द्र एवं उनका रथ सप्तरश्मि २।१२।१२, १८।१, ६।४४।२४; बृहस्पति भी ४।५०।४; फिर इन्द्र = आदित्य); आ यस्मिन्त् सप्त रश्मयस् तता यजस्य नेतरि २।५।२। किन्तु दो शीर्ष या मस्तक ४।५८।३। इसके अलावा रहस्यमय अथवा गूढ़ अर्थ में 'अपादशीर्षा मुहमानो अन्ता' ४।१।११; ६।५९।६। 'चतुरक्ष' १।३१।१३; यही विशेषण यम के श्वान अथवा कुक्कुर का भी है, जो प्राणरूपी हैं १०।१४।१०, ११ (तु. प्राण को लेकर उपनिषद् में ब्रह्म के पाँच

अथवा, अस्त्र का विशेष रूप से कोई उल्लेख नहीं है; किन्तु एक स्थान पर 'अस्ता' अथवा धानुकी के रूप में वर्णन किया गया है।[५] सब मिलाकर अग्नि की सङ्कल्पना में उसके इन्द्रियग्राह्य भौतिक रूप को सामने रखकर उसका चिन्मय रूप ही विशेष रूप से विकसित किया गया है।

इस भाव को दृष्टि में रखकर ही अग्नि की तुलना कई एक पशुओं के साथ की गई है। वह सहस्त्ररेता वृषभ' है[१३०८] अथवा

द्वारपाल)। 'सहस्राक्ष' १।७९।१२; पुरुष भी वही १०।९०।१। फिर अग्नि 'त्वेषं चक्षुः ... चोदयन्मति' – मन को प्रचोदित करती है देवता की जो दीप्त आँख वे वही हैं ५।८।६। सङ्क्षेप में वे, 'ज्योतिरनीक' अथवा पुञ्जज्योति हैं (७।३५।४), इसके अतिरिक्त 'विश्वतः प्रत्यञ्चम्' अथवा सब ओर विच्छुरित (७।१२।१)।

५. ४।४।१ (तु. १।७०।११)। एक स्थल पर केवल 'वाशीमान' १०।२०।६। वाशी अथवा छेनी या रुखानी मरुद्गणों का विशिष्ट प्रहरण।

१३०८. तु. ऋ. ४।५।३ वृषभ वीर्य वर्षी, बाँझपन दूर करता है; यह देवता का एक साधारण उपमान। विश्वस्रष्टा आदि युग्म और धेनुः तु. ३।३८।७, ५६।३...अग्नि एक साथ वृषभ और धेनु दोनों ही (४।३।१०, १०।५।७)। तु. वृषो अग्निः सम् इध्यते अश्वो न देववाहनः .... वृषणं त्वां वयं वृषन् वृषणः सम् इधीमहि, अग्ने दीद्यतं बृहत् ३।२७।१४१५।

[१]'अश्व' अथवा 'सुपर्ण'[२] 'श्येन' अथवा 'हंस' है, एक स्थल पर 'फुफकारता हुआ साँप, वातास या वायु जैसा वेगवान्' कहा गया है।[३]

वैदिक देवता प्रायः रथचारी हैं[१३०९] अग्नि 'विद्युद्रथः 'ज्योतीरथ' 'चन्द्ररथ' 'हिरण्यरथ', 'सुरथ' हैं, उनका रथ भानुमान् है।[१] वे 'रोहिदाश्व' अर्थात् लाल घोड़ा उनका वाहन है। ये घोड़े जिस प्रकार लाल हैं, उसी प्रकार साँवले और सुनहले भी हैं; वे घृतपृष्ठ हैं, प्राणचञ्चल, वायु ताड़ित हैं, मन के इशारे पर उन्हें रथ में जोता जा

१. अश्व ओजः शक्ति का प्रतीक, तु. १०।७३।१०। यह समझाने के लिए अग्नि के लिए 'वाजिन' शब्द का अधिक प्रयोग द्रष्टव्य। एक ही √ वज् से 'वाजिन' एवं 'ओजस्'।

२. तु. दिव्य सुपर्णम् १।१६४।५२ (सूर्य भी सुपर्ण, अग्नि = सूर्य, यही ध्वनि है); अग्नये दिवः श्येनाय ७।१५।४ (सोम का आहर्ता श्येन, अग्नि भी वही; अग्नि द्युलोक से अमृत आनन्दचेतना ले आते हैं); श्वसित्य अप्सु हंसो न सीदन् १।६५।९ (प्राण के प्रवाह में बैठ कर साँस लेते हैं हंस की तरह, तु. १०।१२९।२; हमारे भीतर भी यही क्रिया; फिर सूर्य भी हंस, तु. ४।४०।५)।

३. अहिर् धुनिर् वात इव ध्रजीमान् १।७९।१। अग्नि की शिखा से उपमा। तु. हठयोग में सुषुम्णा अथवा अग्नि नाड़ी के भीतर से कुण्डलिनी का (तु. अपाद शीर्षा गुहमानो अन्ता ४।१।११, साँप जैसी कुण्डलित अग्नि) फुफकार उठना। इसके अतिरिक्त सिंह के साथ भी उपमा है : १।९५।५, ३।२।११, ५।१५।३।

१३०९. देवता उनके रथ एवं रथ के वाहन-यह वैदिक देवता के सम्बन्ध में एक सामान्य भावना है। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा रथी है, देह रथ है, इन्द्रियाँ रथ के वाहन हैं (तु. क. १।३।३-४)। यह चैतन्याधिष्ठित जड़ और प्राण का रूपक है। सारे वाहन पशु और 'प्राणाः पशवः' (तै ब्रा. ३।२।८।९)। अश्व, गर्दभ, बकरा, मृग और गाय – ये कई पशु वैदिक देवताओं के वाहन हैं (द्र. निघः १।१५)।

१. ऋ. ३।१४।१, ज्योतीरथं शुक्लवर्णं तमोहनम् १।१४०।१, १४१।१२, ४।१।८, २।४, ५।१।११।

सकता है।[२] स्पष्ट है कि अग्नि की शिखा उनके अश्व के रूप में कल्पित है।

यहाँ हम देखते हैं कि अग्नि के पुरुषविध् रूप के वर्णन में अतिरञ्जना नहीं है, उनकी भौतिक मूर्ति एक अमूर्त भाव का ही वाहन है। इस भाव की विशिष्ट व्यञ्जना उनके ज्योति रूप में है। वे पुञ्ज ज्योति हैं, आकाश में ध्रुव ज्योति हैं, मर्त्य आधार में अमृत ज्योति हैं, सर्वत्र विभाव बृहत् ज्योति हैं और तुरीय स्वर्ज्योति हैं – यही उनका स्वरूप है।[१३१०] भोर के अँधेरे को चीरकर आकाश को रक्तवर्ण करते हुए जिस प्रकार सूर्य की शुभ्र ज्योति फूटती है, उसी प्रकार इन्धन में अग्नि का आविर्भाव होता है: श्यामल धूम्र फिर रक्तशिखा अन्त में इन्धन को पूरी तरह आत्मसात् करते हुए अग्नि की[१] 'शुक्रम अर्चिः' अथवा शुक्ल दीप्ति दिखाई पड़ती है। द्युलोक और भूलोक में ज्योति के उद्गमन की एक ही रीति है। आध्यात्मिक चेतना में भी ठीक यही घटना घटती है एवं उसने ही आर्यों के मन में ज्योति की प्यास जगाई है।

द्युलोक में तो ज्योति अनायास फूटती है, किन्तु भूलोक में अग्नि का आविर्भाव इतना सहज नहीं। इसी से हम अग्नि में ज्योति के शक्तिरूप को देख पाते हैं। या इस प्रकार भी कह सकते हैं कि

---

२. रोहिदश्वः ४।१।८, ८।४३।१६, अरुषा युजानः ४।२।३, १।९४।१०। हरितो रोहितश् च ७।४२।२ (तु. इड़ा और पिङ्गला; श्यावा २।१०।२; तीन गुणों के रङ्ग) घृतपृष्ठां मनोयुजो १।१४।६, अग्नि 'जीराश्वः' २।४।२, १।१४१।१२, ९४।१०......।

१३१०. तु. ऋ. ज्योतिर्नीकः ७।३५।४, ६।९।५, ९।४, वि ज्योतिषा बृहता भाति ५।२।९, भवा नो अवङ्ङ् स्वर्ण ज्योतिः ४।१०।३। और भी तु. अमृतं ज्योतिः ६।९।४, ध्रुवं ज्योतिः ५; शौ. ऋतस्य ज्योतिष्पतिम् ६।३६।१, ऋ. विपां (कम्प्र हृदय का) ज्योतीषि बिभ्रत ३।१०।५। अनुरूप विशेषण 'दीदिविः, दीदिवान्, वसुः विभावसुः विभावा, शुक्रः ....'।

१. तु. 'विशो मानुषीर् देवयन्तीः प्रयस्वतीर् ईलन्ते शुक्रम् अर्चिः' – प्रवर्त व्यक्ति देवता को चाहते हुए प्रेमपूर्वक जगा देते हैं तुम्हारी शुक्ल शिखा ३।६।३। काली और लाल के बाद शुक्ल शिखा; द्र. टी. १३०९।

अग्निज्योति में इस शक्ति के व्यक्त न होने पर द्युलोक में सूर्य भी नहीं उगता।[१३११] इसका आध्यात्मिक अर्थ अत्यधिक स्पष्ट है: 'ना.यम् आत्माबलहीनेन लभ्यः' – बलहीन इस आत्मा को कभी नहीं प्राप्त कर पाता।[१] अग्नि की ज्योतिः शक्ति की पारिभाषिक संज्ञा 'शोचिः' एवं 'तपः' है; देवताओं में अग्नि ही शोचिष्ठ एवं तपिष्ठ हैं।[२] संहिता में अग्नि से सम्बन्धित शुच् एवं तप् इन दो धातुओं का प्रयोग विशेष रूप से पाया जाता है।[३] दोनों धातुओं में ही दीप्ति के साथ ज्वाला की व्यञ्जना है। अग्नि के इस ज्वलदर्चि रूप का वर्णन शंयु बार्हस्पत्य की इस मन्त्रमाला में इस प्रकार है; 'हे वीर्यवर्षी अभीष्टवर्षी अग्नि तुम जराहीन हो, महान होकर विभात् होओ अर्चि में; अजस्र शोचि (ज्वाला) में प्रज्वलित होकर हे शुचि, सुदीप्ति में होओ सन्दीपन।... जिन्होंने आपूरित किया प्रभा से द्युलोक-भूलोक दोनों को ही; .... सर्वव्यापी श्यामला रात के अँधेरे को पार कर वे दिखाई देते हैं अरुण वीर्य वर्षी (अहा) श्यामल अँधेरे में अरुण वीर्यवर्षी। अपनी बृहत् अर्चि के साथ हे अग्नि, अपनी शुक्ल शोचि के साथ हे देव, भरद्वाज

१३११. तु. ऋ. अग्ने नक्षत्रम् .... आ सूर्यं रोहयो दिवि, दधज् ज्योतिर् जनेभ्यः १०।१५६।४: चिदग्नि का विश्वज्योति में प्रसारण। अग्निहोत्री की भी यही साधना है – अग्निज्योति को सूर्यज्योति में रूपान्तरित करना। 'सुबह आग नहीं जलाने पर अच्छी धूप नहीं होगी, यह यूरोपीय व्याख्या हास्यास्पद है।

१. मु. ३।२।४।

२. 'शोचिष्ठ' ऋ. ५।२४।४ (तु. सूर्य 'हंसः शुचिषत् ४।४०।५), शोचा शोचिष्ठ, दीदिहि (दीप्त हो ओ) विशे (प्रवर्त साधक के निकट), मयो रास्व (आनन्द दो) स्तोत्रे महाँ असि ८।६०।६ (क्रमशः शक्ति, दीप्ति और (महिमा का बोध); 'तपिष्ठ' ६।५।४, १०।८७।२०। तु. निघ. शोचिः। तपः ज्वलतो नामधेये १।१७।

३. वृषाह्य अग्ने अजरो महान् विभास्य अर्चिष्या, अजस्रेण शोचिषा शोशुचच्छुचे सुदीतिभिः सुदीदहि। .... आ यः पप्रौ भानुना रोदसी उभे .... तिरस् तमो ददृशे ऊर्म्यास्व् आ, श्यावास्व् अरुषो वृषा, श्यावा अरुषो वृषा। बृहद्भिर्। अग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा, भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवन् नः शुक्र दी दिहि, द्युमत् पावक दीदिह ६।४८।३, ६,७।

के भीतर समिद्ध होओ हे युवतम; हे शुक्ल, प्राणों के संवेग में, दीप्त होओ, हम सबके लिए प्रद्योत अथवा किरणों में सुदीप्त होओ हे पावक!'[४]

अग्नि की यह ज्योतिः शक्ति इन्धन को जिस प्रकार अग्निमय कर देती है, उसी प्रकार चिदग्नि भी आधार के समस्त 'अघ' अथवा मालिन्य को दग्ध करके उसे शुचि और चिन्मय कर देती है। अतएव संहिता में अग्नि की निरूढ़ अथवा प्रचलित संज्ञा 'पावक' है।[१३१२]

४. 'तपः' तु. 'तपोष्व अग्ने अन्तराँ अमित्रान् तपा शंसम् अररुषः परस्य, तपो वसो चिकितानो अचित्तान् वि ते. तिष्ठान्ताम् अजराअयासः' – खूब दुःखी और सन्तप्त करो हे अग्नि निकट के अमित्रों को, सन्तप्त करो कृपण शत्रु के दुर्भाषण को; हे सचेतन तुम ज्योतिः स्वरूप सन्तप्त करो निश्चेतनों को, दिशा-दिशा में फैल जाएँ तुम्हारी अजर, अश्रान्त ३।१८।२। द्रष्टव्य टीका १३२०।

१३१२. तु. ऋ. उशिक् (उद्विग्न) पावको वसुर् मानुषेषु १।६०।४, शुचिः पावक वन्द्यः २।७।४, शुचिर् ऋष्वः (तीक्ष्णाग्र) पावकः ३।५।७, शोचिष्केशः पावकः ३।१७।१, २७।४, शुचिं पावकम् ५।४।३, पावक भद्रशोचे ४।७ अग्न एषु क्षयेष्व आ (गृह में, आधार में) रेवन् (प्राण संवेग से) नः शुक्र दीदिह द्युमत् (ज्योतिर्मय होकर) पावक दीदिहि ५।२३।४ (= ६।४८।७).....। 'शुचि' और 'पावक' दोनों विशेषण एक साथ : दहन से ही आधार-शुद्धि। सोम भी 'पावक' : शुचिः पावको अद्भुतः ९।२४।६, ७, महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः ९७।७ उनकी 'पावकधारा' १०१।२। वस्तुतः पहले वे 'पवमान' रूप में साध्य, उसके बाद पावक रूप में सिद्ध। पूत अथवा पवित्र होने पर अग्नि और सोम एकाकार हो जाते हैं; उस समय सोम अग्निस्रोत : तु. अग्न आयुंषि पवसे .... अग्निर् ऋषिः पवमानः .... अग्ने पवस्व स्वपा (सुकर्मा) अस्मे वर्चः सुवीर्यम् ९।६६।१९-२१; उसके बाद ही है, 'पवमान ऋतं बृहच छुक्रम ज्योतिर् अजीजनत् (जन्म दिया), कृष्णा तमांसि जंघनत् (वध किया) २४। अतएव आधार में परिपूत अग्नि सोम से 'बृहज्ज्योति' अथवा ब्रह्मज्योति का प्लावन होता है। इस प्रसङ्ग में तु. पवित्र आङ्गिरस के (अथवा वसिष्ठ अथवा दोनों के ही – अनुक्रमणिका के अनुसार) दो पावमानी तृचः– 'पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः, यः पोता स पुनातु नः। यत् ते पवित्रम् अर्चिस्य अग्ने

अग्नि का यह अघमर्षण रूप कुत्स आङ्गिरस के सूक्त में[१] अच्छी तरह उभरा-निखरा है। सूक्त की टेक में ऋषि की यही आकाङ्क्षा है कि 'अप नः शोशुचद् अघाम्' अर्थात् वे हमारी मलिनता को जलाकर दूर

विततम् अन्तरा ब्रह्म तेन पुनीहि नः। यत् ते पवित्रम् अर्चिवद् अग्ने तेन, पुनीहि नः, ब्रह्मसवैः पुनीहि नः। उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च, मां पुनीहि विश्वतः । त्रिभिष् ट्वं देव सवितुर वर्षिष्ठैः सोम धामभि, अग्ने दक्षैः पुनीहि नः। पुनन्तु मां देवजनाः पुनन्तु वसवो धिया, विश्वे देवा पुनीत मा जातवेदः पुनीहि मा' – यह पवमान (सोम) जो विचञ्चल हैं, जो पावक हैं वे अपनी पावनी (शक्ति) द्वारा हमें आज पवित्र करें। हे अग्नि! तुम्हारी पावनी जो अर्चि के भीतर वितत या व्याप्त है, उसके ही द्वारा हमारे बृहत् की भावना को पवित्र करो। हे अग्नि! तुम्हारी पावनी अर्चिष्मती है, उसके ही द्वारा हमें पवित्र करो, बृहत् की भावना की प्रचोदना या प्रेरणा से हमें पवित्र करो। हे देव सविता अपनी पावनी और प्रचोदना दोनों के द्वारा ही मुझे हर प्रकार से पवित्र करो। तीन (पावनी) द्वारा हे देव सविता, सर्वाधिक निर्झरित धामों द्वारा हे सोम, अपने कर्म नैपुण्य द्वारा हे अग्नि, हमें पवित्र करो। मुझे सभीर देवजन पवित्र करें, पवित्र करें वसुगण धी द्वारा; हे विश्वदेवगण, पवित्र करो मुझे; हे जातवेदा मुझे पवित्र करो (९।६७।२२-२७)। अधियज्ञ अथवा आधियाज्ञिक दृष्टि से पवित्र, सोम रस की चालनी (छत्ता) है जो मेषलोम (भेड़ के रोयें) से बनी होती है। आध्यात्मिक दृष्टि से नाड़ी-तन्त्र जिसके भीतर से होकर सोम्य आनन्द की धारा प्रवाहित होती है। यहाँ देवता की पावनी शक्ति। यही शक्ति अग्नि, सविता, सोम में है एवं विश्वदेवता के भीतर है। अग्नि का 'दक्ष' अथवा रूपान्तरकृत क्रियानै पुण्य, सविता का 'सव' अथवा प्रचोदना, सोम का 'धाम' अथवा प्रत्येक कला में उपचय एवं आनन्दनिर्झरण – ये तीन 'पवित्र'। पवित्र के अधिदैवत एवं आध्यात्मिक अर्थ के लिए द्रष्टव्य ३।१।५, २६।८, ९।८३।१; तु. 'अन्त्रहृदा मनसा पूयमानाः १४।५८।६। इसी शक्ति के सायुज्य में ऋषि का भी नाम 'पवित्र'।

१. १।९७ सूक्त

कर दें। ऋषि का कथन है, [२]हमारा समस्त मालिन्य जलाकर दूर करके हे अग्नि! प्रज्वलित हो जाओ प्राणसंवेग के उद्देश्य से; हमारा समस्त मालिन्य जलाकर दूर करके। सुक्षेत्र और सुपथ के लिए, आलोकवित्त के लिए हम तुम्हारा यजन करते हैं.... सर्वाभिभावन, सर्वजित् अग्नि की रश्मियाँ देखो फैल रही हैं चारों ओर....। हे विश्वतोमुख! तुम सब ओर सब कुछ आवृत किए हो.....। सारे विद्वेषो से परे हे विश्वतोमुख, नाविक की तरह पार कर लो....हमें नदी के उस पार नाविकों की तरह ले जाओ स्वस्ति के किनारे, हमारे समस्त मालिन्य को जला कर दूर कर दो।'

जिस प्रकार धुएँ की कुण्डली से मुक्त अग्निखा की उत्क्रान्ति द्युलोकाभिमुखी होती है, उसी प्रकार हमारे अग्निष्वात्त आधार की शुचिता भी ऊर्ध्वमुख होती है, और हम 'देवयु' अथवा देवकाम होते हैं।[१३१३] देवता की कामना करके हम उस आदित्य द्युति को प्राप्त करते

---

२. अप नः शोशुचद् अघम् अग्ने शुशुग्ध्य आ रयिम्, अप नः शोशुचद् अघम्। सुक्षेचिया सुगातुया वसुया च यजामहे, अप नः ....। ....प्र यद् अग्नेः सहस्वतो विश्वेतो यन्ति मानवः, अप नः .....। त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूर असि, अप नः ....। द्विषो नो विश्वतोमुखा. ति नावे व पारय, अप नः ....। स नः सिन्धुम् इव नावया ति पर्षा स्वस्तये, अप नः शोशुचद् अघम् (१।९७।१, ५-८)। 'क्षेत्र' आधार 'पथ' देवयान का, 'स्वस्ति' पारमार्थिक सत्ता। संहिता में अग्नि 'पावक शोचिः', पावक वर्चाः, पुनानः क्रतुम्'।

१३१३. तु. ऋ. 'वर्ष्मन् पृथिव्याः सुदिनत्वे अह्नाम् ऊर्ध्वो भव सुक्रतो देवयज्या,– पृथिवी के निर्झरित (तुङ्गता में) दिन जब होंगे आलोक दीप्त, तब तुम ऊर्ध्वशिखं होना हे सुवीर्य, देवयजन के लिए (१०।७०।१; 'वर्षान्' किसी भी वस्तु या विषय की वह तुङ्गता (ऊँचाई) जहाँ से शक्ति का निर्झरण सम्भव); ऊर्ध्वा शोचींषिदेवयून्य् अस्थुः ७।४३।२; 'अग्रे बृहत्र उषसाम ऊर्ध्वो अस्थान् निर्जगन्वाम् तमसो ज्योतिषागत्'– बृहत् यह अग्नि उषाओं के पहले ऊर्ध्व शिख हुआ, तमिस्रा से निकल कर ज्योति ले आया १०।१।१।

हैं, जो अग्नि की ही [१]विशाल ज्योति है। इसलिए संहिता में अग्नि की एक विशिष्ट संज्ञा [२]'स्वरविद्' है, जो हमें 'स्वः' अथवा तुरीय पुञ्जज्योति को प्राप्त करवाने में सहायक होते हैं। यही 'स्वः' बृहत् है। अग्नि भी 'बृहन्' है, उपनिषद् में जिसका भाषान्तर 'ब्रह्म' अथवा चेतना की अविबोध, अबाधित विपुलता है। [३]यह अवम देवता की बृहत् होकर परम देवता को प्राप्त करा देते हैं, यह आत्मचेतना ही बृहज्ज्योति होती है।[४]

जीवन के पूर्वाह्न में हम प्राण का सहज प्रचय, आयु का प्रतरण और चित् ज्योति का सार्थक उदयन देखते हैं।[१३१४] संहिता में यही आदित्यायने के छन्द में[१] अग्नि का वर्धन है। शिशु अग्नि चेतना के

---

१. ऋ. 'उरु ज्योतिर् नशते देवयुष्टे' – तुम्हारी विशाल ज्योति को ही वह प्राप्त करता है, जो चाहता है देवता को, हे अग्नि। ६।३।१। अग्नि और सूर्य एक द्र. १०।३ सूक्त.

२. तु. ३।३।५ वैश्वानर तव धामान्य आ चके (चाहता हूँ) येभिः स्वर्विद् अभवो विचक्षण (१०; 'धाम' = पद, तु. ऋताय सप्त दधिषे पदानि १०।८।४ जिस प्रकार विष्णु अथवा सूर्य की सप्तपदी; अग्नि 'सप्तधामानि परियन्न अमर्त्यः १०।१२२।३), वैश्वानर मनसा.ग्नि निचाय्य ... स्वर्विदम् (३।२६।१; उन्हें देखना होगा मन के द्वारा) १।९६।४, १०।८८।१। अन्य विशेषण 'स्वर्दृश'। सोम भी विशेष कारणों से 'स्वर्विद' अग्नि की तरह (तु. ८।४८।१५, ९।८६।३, १०९।८, ८४।५। अग्नि और सोम का एक ही व्रत।

३. तु. ८।५६।५।

४. 'बृहज्ज्योतिः' आदित्य एवं अग्नि दोनों की संज्ञा, वा. ११।३, ५४। तु. अग्नि की 'बृहद्भाः, ऋ. ४।५।१, ५।२।९, ८।२३।११।

१३१४. तु. अग्नि का प्रतरण ऋ. 'त्वं वाजः (ओजः शक्ति) प्रतरणो बृहन्न् असि २।१।१२; उषा का : आरैक (मुक्त कर दिया) पन्थां यातवे (जाने के लिए) सूर्याया गन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः १।११३।१६; सोम का : ८।४८।११।

१. 'शिशुः'– 'चित्रः शिशुः परि तमांस्य अक्तून्' – अपरूप शिशु तमिस्रा और रात को पराभूत करते हैं १०।१।२, 'वृषा शिशुः – शिशु वीर्यवर्षी ५।४४।३, चित्र इच्छिशोस् तरुणस्य वक्षथः (वृद्धि) १०।११५।१। गर्भः

स्फुलिङ्ग के रूप में आधार में[1] धीरे-धीरे बढ़ते रहते हैं। मनुष्य का यौवन उनका ही यौवन है। उसका तो अवक्षय है किन्तु इसका नहीं। इसलिए अग्नि की विशिष्ट संज्ञा [3]'अजर' 'युवा' 'यविष्ठ' है। उनकी

(भ्रूण, शिशु) : गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश् च स्थातां (स्थावर का) गर्भश् चरथाम् (जङ्गम का) १।७०।३ (अग्नि सब के अन्तर्यामी), भुवनस्य गर्भ १०।४५।६, १०।८।२। चञ्चल शिखा के कारण 'यह्वः' दुर्दम्य, विशेष रूप से अग्नि का विशेषण ३।१।१२, २।९, ३।८, ४।५।२ ..... 'यह्वः' अदितेर अदाभ्यः – अदिति का दुर्दम्य बालक जिसे कोई वश में नहीं कर सकता १०।११।१।

२. अग्नि की वृद्धिः 'गोपाम् (रक्षक) ऋतस्य दीदिविम्, वर्धमानं स्वेदमे (अपने घर में, वेदि (वेदी) में, हृदय में, तु. १।६०।३) १।१।८; 'ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यास् तन्वा वर्धमानः ६।९।४, स्वयं वर्धस्व तन्वं (अपने को) सुजात ७।८।५; तम् उक्षमाणं (वर्धमान) रजसि स्व आ दमे (अन्तरिक्ष में, प्राणलोक में) २।२।४; 'उक्षा ह यत्र परि धानम् अक्तोर् अनु स्वं धाम जरितुर् ववक्ष' – वे वृषभ, रात्रि के अवसान को परिभूत करके स्तोता या गायक के अपने धाम की (तु. 'स्वधा' आत्मस्थिति) ओर बढ़ने लगे (तु. 'आत्मना विन्दने वीर्यम्' के. २।४, यह वीर्य आधार में सन्दीप्त अग्निवीर्य) ३।७।६; गातेव यद् गरये पथानो जनं जनं धायसे चक्षसे च, वयोवयो जरसे यद् दधान् : परि त्यना विषुरूपो जिगासि' माँ की तरह जब तुम जन-जन का पालन-पोषण करते हो विपुल बृहत् होकर उनकी प्रतिष्ठा और दृष्टि के लिए, बार-बार तरुणता, नवीनता धारण करके जब जागते रहते हो, तब स्वयं विचित्र रूप धारण करके तुम फैल जाते हो चारों ओर ५।१५।४, ...। इस वृद्धि से अग्नि का चरम विस्तारः 'ति यो रजांस्य अभिमीत् सुक्रतुर वैश्वानरो वि दिवो रोचना कविः, परि यो विश्वा भुवनानि पप्रथे अदब्धो गोपा अमृतस्य रक्षिता' – वे वैश्वानर, कवि एवं सुकृत सुकर्मा हैं, जो व्याप्त हैं सारे लोकों और द्युलोक की दीप्ति में, जिन्होंने विश्व-भुवन को प्रसारित किया, जो अमृत के अप्रवञ्चित रक्षक हैं ६।७।७। और उसके फल स्वरूप आनन्द : 'सुम्नं (सोम्य सुख) अग्निर् वनते (जीत लेते हैं) वा वृधानः' ५।३।१०।

३. 'अजर' : तु. १।५८।२, ४, १२७।९, १४४।४, १४६।२ अजरः पिता नः ५।४।२, ६।४, ७।४, ६।२।९, ४।३ अश्याम (हम उपभोग करें) द्युम्नं

उपासना में उनका यौवन हम सबके भीतर भी सञ्चारित होता है अतः वे 'वयोधा'[4] हैं। वे [5]'बृहद् वयः' अथवा सुविपुल तारुण्य हैं, एवं उसी से मर्त्य जीवन के प्रभास्वर पुरोधा हैं।

(द्युति) अजरा जरं ते ५।७ उद् अग्ने भारत द्युमद् (द्योतित होकर) अजस्रेण दविद्युतत् (कौंध कर) शोचा वि भाह्य अजर ६।१६।४५, ४८।३, अग्ने रक्षाणो अंहसः (क्लिष्टता से), प्रतिष्म देव रीषतः (आक्रोशक से) तपिष्ठैर् अजर दह ७।१५।१३, ८।२३।११, २०, १०।११५।४, 'पश्चात् पुरस्ताद् अधराद् उदक्तात् कविः काव्येन परि पाहि राजन्, सखे सखायम् अजरो जरिम्णे अग्ने मर्तां अमर्त्य स त्वं नः' – आगे-पीछे, नीचे-ऊपर सर्वत्र तुम कवि, काव्य द्वारा रक्षा करो हे राजन्; हे सखा, अजर होकर जरा तक सखा की रक्षा करो; हे अग्नि तुम अमर्त्य हो, हम सब मर्त्य हैं, हमारी रक्षा करो १०।८७।२१...। 'युवाः' तु. अग्निनाग्निः सम् इध्यते– 'निर्मथितः सुधित (सुनिहित) साधस्थे 'युवा' कविर् अध्वरस्य प्रणेता (नायक), जूर्यत्स्व (जरा जीर्ण होते जा रहे हैं जो) अग्निर अजरो वनेष्व (काठ में) अत्रा-दधे अमृतं जातवेदाः' (तु. जरा व्याधि मृत्युहीन योगाग्निमय शरीर की भावना, श्वे. २।१२; द्र. नदी अथवा नाड़ी में अग्नि का सञ्चरण ३।२३।४) ३।२३।१; ४।१।१२; ५।१।६; ६।५।१, ७।१५।२, ८।४४।२६, १०२।१......। प्रायशः 'युवा' और कवि विशेषण एक साथ। 'यविष्ठ' दोनों विशेषणों का अधिक प्रयोग हैः तु. १।२२।१०, २६।२, २।६।६, ३।१५।३, ४।१२।४, ५।३।११, ६।६।२, ७।३।५; ३।९।६, ८।७५।३....।

४. 'वयोधाः' (वियस्कृत्') : तु. १।७३।१, ३१।१०, १०।७।७; 'अस्पन्दमानो अचरद् वयोधा वृषा शुक्रं दुदुहे पृश्निरूधः' – निस्पन्द रूप में हैं तारुण्य के आधाता, जब वे वृषभ तब उन्होंने शुभ्र थनों को दुहा पृश्नि रूप में ('पृश्नि' दिव्य धेनु; अग्नि एक ही साथ वृषभ और धेनु रूप में आदि मिथुन, आदियुग्म; शुभ्र थन से ज्योति की धारा क्षरित हुई; अग्नि वृषभ होने पर भी थन उनका ही हैं इसलिए कि वे और पृश्नि अथवा उनकी प्राणशक्ति एक ही है; धारा बह रही है जब, तब वे निस्पन्द हैं और उसी प्रवाह में आधार तारुण्य से अभिषिक्त हो रहा है) ४।३।१०।

५. तु. ५।१६।१।

प्राण के सहज वारुण्य से ही व्यक्ति के भीतर अमृतत्व का आश्वासन प्राप्त होता है। जरा या वार्धक्य न रहे, तो फिर मृत्यु भी नहीं रहेगी।[१३१५] प्रतीर्ण आयु यदि माध्यन्दिन सूर्य की महिमा से भास्वर हो गई, तो उसे फिर हिलने-डुलने न देना, 'विजरो विमृत्यु:' होना[१] ही मनुष्य का पुरुषार्थ है। उसकी सिद्धि उसी अग्नि के सायुज्य में है, जो मर्त्य के भीतर अमृत ज्योति है। वह निश्चय ही भौतिक अग्नि नहीं है; क्योंकि मर्त्य प्राण की तरह वह भी जरा-मृत्यु से ग्रस्त है। यह वही[२] 'देव: अग्नि:' जो मनुष्य के भीतर 'अजो भाग:' है, अन्त्येष्टि में भौतिक अग्नि का आश्रय लेकर उसे अपना ताप देकर शोचि: द्वारा, अर्चि द्वारा तप्त करते हैं जातवेदा रूप में अपनी शिवमयी तनुसमूह द्वारा उसे वहन कर ले जाते हैं सुकृतियों के विशाल लोक में"।[३] देह

१३१५. तु. यम से नचिकेता ने कहा – 'स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति, न तत्र त्वं न जरया बिभेति' क. १।१।१२; 'अजीर्यताम् अमृतानाम् उपेत्य जीर्यन् मर्त्य:' २८। प्राण के अवक्षय का और एक निमित्त व्याधि है, संहिता में जो **'अमीवा'** है। अग्नि 'अमीवचातन:' – व्याधि को दूर कर देते हैं: तु. ऋ. 'कविम् अग्निम् उप् स्तुहि सत्य धर्माणम् अध्वरे, देवम् अमीवचातनम् १।१२।७; ३।१५।१; ये भिस् तपोभिर् अदहो जरूथम् (जरा, तु. ७।९।६, १०।८०।३), प्र नि: स्वरं (?ुपचाप(: चातयस्वामीवाम् ७।१।७, ८।६; ३।१६।३; २२।४। योगाग्निमय शरीर में जरा-व्याधि-मृत्यु नहीं रहते, श्वे. २।१२। तु.

१. विजर विमृत्यु हुआ जा सकता है ब्रह्मपुर के छोटे कमल के घर में आकाश को जानकर, छा. ८।१।५; आत्मा को जानकर ७।१, ३; मृत्यु को देखकर, क. २।३।१८ (पाठान्तर 'विरज:')।

२. संहिता में इस पदगुच्छ का अधिक उल्लेख है। तु. 'देव: प्रथम:' शौ. ५।२८।११, ऋ. देवानां देव:' १।३१।१, परि यद् एषाम् एको विश्वेषां भुवद् देवो देवानां महित्वा (महिमा में) ६८।२, ९४।१३....।

३. तु. अजो भागस् तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस् तपतु तं ते अर्चि: यास् ते शिवास् तन्वो जातवेदस् ताभिर् वहै. नं सु कृताम् उ लोकम् १०।१६।४ मृत्यु के बाद प्राण चेतना का विश्व भर में फैल जाना : सूर्यं चक्षुर् गच्छतु वातम् आत्मा द्यां च गच्छपृथिवीं च धर्मणा, अपो वा गच्छ यदि तत्र से हितम् ओषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरै: १०।१६।३।

जल जाती है, चिता की आग बुझ जाती है किन्तु चेतना की आग नहीं बुझती, वह विश्वचेतना की अनिबाध विपुलता में फैल जाती है। इस अन्त्येष्टि अथवा अन्तिम आत्माहुति की भावना में हम उसी 'अमृत' अग्नि का सन्धान पाते हैं, जिनकी तीन[४] आयु हैं और तीन उषा जिनकी जननी हैं। पृथिवी में, अन्तरिक्ष में और द्युलोक में जो प्राण है, उसके साथ उनकी एकात्मता है, वे[५] 'विश्वायु ' हैं, वे[६] 'अमर्त्य' अथवा 'अमृत' हैं। सारे देवता ही अमृत हैं, क्योंकि वे

---

४. 'त्रीण्य आयूंषि तव जातवेदस् तिस्र आजानीर् (जन्म स्थान, जननी) उषसस् वे अग्ने (३।१७।३; चेतना के उत्क्रमण से भूलोक, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में अग्नि की कालव्याप्ति उनकी तीन आयु हैं; प्रत्येक के मूल में 'दिवोदुहिता' उषा अथवा प्रातिभ संचित की प्रेरणा है; इसी प्रकार तुरीय धाम में अग्नि 'स्वर्‌वित्'; तु. तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन क. १।१।१७, १८)। ये उषाएँ वरुण की अथवा महाशून्यता की 'वेनी:' अथवा प्रिया हैं ८।४१।३। अग्नि उनके एक पुत्र (८।१०१।६)।

५. तु. १।२७।३ (प्रतितुलनीय 'अघायु मर्त्य'), ६७।६, 'चित्तिर अपां दमे विश्वायु:' अप् अथवा प्राण प्रवाह के भीतर चेतना ('das geistige Prinzep, - Geldner) गृह अथवा आधार में सर्वव्यापी प्राण १०, ६८।५, ७३।४, १२८।८, विश्वायुर् यो अमृतो मर्त्येषु ६।४।२, १०।६।३।

६. तु. यो मत्येष्व् अमृत ऋतावा (ऋतमय) १।७७।१ (४।२।१), अमृतो विचेता: (विज्ञानमय) २।१०।१ (२), ३।१।१८, प्रचेतसम् (प्रज्ञानमय) अमृतम् २९।५, अमर्त्यं मर्त्येषु ४।१।१, ११।५, ५।१४।१, २, ६।४।२, १२।३, अयं कविर् अकविषु प्रचेता मर्त्येष्व् अग्निर् अमृतो नि धायि (निहित) ७।४।४ (१०।४५।७), ८।७१।११, अमृतं जातवेदसम् तिरस् तमांसि दर्शतम् (अँधेरा पारकर दृश्यमान ७४।५, १०२।१७, १०।७९।१, 'सप्तधामनि परियन् अमर्त्य:' सात धामों में अनुस्यूत अमर्त्य १२२।३, ८७।२१....। वैश्वानर रूप में अमर्त्य :–३।२।११, ३।१, अमृत....तव क्रतुभिर् अमृतत्वम् आयन् ६।७।४, ९।४। और भी तु. अग्निर् अमृतो अभवद् वयोमि: (तारुण्य में) १०।४५।८; उनकी दृष्टि अमृत का केतु अथवा प्रज्ञापक है) ६।७।६; त्वां .... देवा अकृण्वन् अमृतस्य नाभि ३।१७।४; अमृतस्य रक्षिता ६।७।७। (९।३); अग्नेर् वयं प्रथमस्यामृतानां

चिज्ज्योति हैं; किन्तु संहिता में यह विशेषण विशेषता अग्नि के लिए ही प्रयुक्त है, क्योंकि मर्त्य के भीतर वे ही प्रत्यक्ष अमृत चेतना हैं एवं उनका आश्रय ग्रहण करके ही उसके अमृतत्व की एषणा है।[७]

जो अमृत हैं, वे अक्षर हैं और समस्त मर्त्य विभूति के 'अक्षीयमाण उत्स' हैं।[१३१६] अतएव काल की दृष्टि से वे नित्य[१] हैं। वे सबके [२]'पूर्व्य', [३]'प्रत्न' एवं [४]'प्रथम' हैं। साध्य और साधन दोनों रूपों

मनामहे (मनन करता हूँ, जप करता हूँ) चारु देवस्य नाम (जिसमें अदिति को पाते हैं) १।२४।२.....।

७. द्र. ६।९।४; समिध्यमानो अमृतस्य राजसि (ईशान होओ) ५।२८।२; ३।१७।४।

१३१६. तु. ऋ. विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य (स्थावर-जङ्गम के) १०।५।३; आयोर् ह स्कम्भ उपमस्य नीले. ६ : असन्व च सच् परमे व्योमन दक्षस्य जन्मन्न् अदितेर् उपस्थे, अग्निर् ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्वे आयुनि वृषभश्च धेनुः (अग्नि असत् अग्नि सत्, अग्नि अनादि एवं आदि, पुरुष एवं प्रकृति)७। अग्नि के परम स्वरूप का वर्णन। समस्त सूक्त ही ध्यातव्य। और भी तु. ३।२६।७, अग्नि अथवा साग्निक का वर्णन।

१. तु. 'आयुर् न प्राणः नित्यो न सूनुः' – तुम जीवन हो, प्राण हो और नित्य तनय की तरह हो (१।६६।१; आधार में अग्नि का आविर्भाव काल सापेक्ष है, अतएव वे जातक हैं, किन्तु स्वरूपतः वे नित्य हैं); 'क्रतुर् (सृष्टिवीर्य, सङ्कल्प न नित्यः ५; ३।२५।५, ५।१।७, १०।१२।२।

२. तु. १।२६।५, ७४।२, अमृतेषु पूर्व्यः २।२।९, ३।११।३, १४।३ दश क्षिपः (अँगुली) पूर्व्यं सीम् (उन्हें) अजीजनत् (जन्म दिया, यद्यपि वे सबके मूल तु. १०।१२१।१ हिरण्यगर्भ सबके पूर्व थे, तब भी उनका जन्म हुआ) २३।३, ५।८।२, १५।१, ३ (पूर्व्य अथच 'नवजात्'), २०।३, ८।१९।२, २३।७, २२, 'त्वं ह्यय् असि पूर्व्यः ३९।३, आयुषु (प्राणधारियों में) ..... देवेषु ३९।१०, ७५।१।

३. तु. ३।९।८, त्वाम् अग्न ऋतायवः (ऋतकामी, 'ऋत' जीवन का दिव्य छन्द) सम ईधिरे प्रत्नं प्रत्नासः (देवता एवं यजमान दोनों ही सनातन) ५।८।१, ८।१ ।१०, २३।२०, २५ ४४।७, प्रत्न राजन् १०।४।१, ७।५, 'भूया (= भूयासन्) अन्तरा हृदय् अस्य (प्रत्नस्य) निस्पृशे जायेव पत्य उशनी सुवासाः' – मैं उनके हृदय के बहुत ही निकट उसी प्रकार जाऊँ, जिस

में ही अग्नि का प्राथम्य है। इष्ट की भावना को परम व्योम उत्तीर्ण करना ही साध्य की सीमा है। उस समय देवता आदि देव, और सारे देवता उनकी विभूति हैं।[५]

इसके अतिरिक्त यज्ञ अथवा उत्सर्ग – भावना का प्रथम साधन है और साधना के पथ पर वे ही हमारे [६]'नेता' 'पुरएवा' अथवा

प्रकार उद्विग्न, उत्कण्ठित पत्नी जाती है पति के निकट सुवसना होकर (सज-सँवरकर) १०।९१।१३। प्रायशः 'प्रत्न' के साथ 'ईड्य' (उद्दीप्त करना होगा जिन्हें)।

४. तु. त्वम् अग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिः (देवता और यजमान् का सायुज्य) १।३१।१ (२) 'ओहन्नो (बार-बार जिन्हें बुलाना होगा) अग्निः प्रथमः पिते. व' २।१०।१, स जायत प्रथमः पस्त्यासु (स्रोतस्विनी समूह में, नाड़ी तन्त्र में) ४।१।११, त्वाम् अग्ने प्रथमं देवयन्तो (देवकाम) देवं मर्ता अमृत आ विवासन्ति (पाना चाहते हैं) धीभिः (ध्यानचित्त द्वारा)..... गृहपतिम् अमूरम् ४।११।५, ६।१।१, २, ८।२३।२२, १०।१२।२, १।२४।२; अग्निर् हि नः ऋतस्य १०।५।७....।

५. द्वितीय मण्डल के आरम्भ में ही गृत्समद के अग्नि सूक्त में यही भावना है।

६. तु. अग्ने 'नय' सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि' विद्वान् १।१८९।१, त्वं नेता वृषभः चर्षणीनाम् (चारिष्णुओं के; साधना देवयान् के मार्ग पर चलना) ३।६।५, अग्निर् नेता भग इव क्षितीनां दैवी नाम (द्युलोक वासियों के; भग आदित्य द्युति का प्रथम प्रकटन) २०।४; 'आ यस्मिन्तु सप्त रश्मयस् तता यज्ञस्य नेतरि' – ये सातरश्मियाँ प्रसारित हैं यज्ञ के जिस नेता द्वारा (आध्यात्मिक दृष्टि से 'सप्तरश्मि', लोक की दृष्टि से 'सप्त धाम', तु. 'तम् (अग्नि को) .... निषेदिरे (स्थापित किया) .... सप्त धामभिः ४।७।५; यज्ञ के भी सप्त धाम ९।१०२।२, तु. योग में प्रज्ञा की सप्तभूमि; आधार में ये सप्त धाम आदित्य की रश्मि में ग्रथित हैं, तु. छा. ८।६।२; रश्मि एक ही (तु. छा.।६), किन्तु सात लोक के कारण सात भाग, इसलिए सप्तरश्मि) २।५।२; 'यज्ञस्य नेता प्रथमस्य पायोर् जातवेदो बृहतः सुप्रणीते' – जो यज्ञ आदिम (तु. १०।९०।१६), (विश्व के) रक्षक एवं बृहत्, तुम उसके नेता हो, हे जातवेदा, हे स्वच्छन्द नायक ३।१५।४, 'प्राञ्चं (प्राग्रसर) यज्ञं नेतारम् अध्वराणाम्' (अग्नि स्वयं ही यज्ञ

पुरोगामी एवं 'पुरोहित' हैं। जिस प्रकार वे आदि में हैं, उसी प्रकार अन्त में है। देवयाम का समस्त मार्ग उन्होंने आच्छादित कर रखा है।[७]

पहले ही हम बतला चुके हैं कि देवता परम, निरुपाधिक एवं तत् स्वरूप हैं – यह समझाने के लिए ऋक्संहिता में उनकी रहस्यमय संज्ञा 'असुर'[१३१७] है। जिस प्रकार शून्यता के देवता वरुण हैं उसी प्रकार उनके [१]'भ्राता' अग्नि भी असुर हैं। पृथिवी से अभीप्सा की ऊर्ध्वशिखा द्युलोक में आदित्य की माध्यन्दिन द्युति में पहुँचती है और उसके बाद उसके भी पार वारुणी महाशून्यता में मिल जाती है। वहीं अग्नि [२]असुर अथवा परमदेवता की अनुपारव्यता या अनिर्वचनीयता हैं जो विशुद्ध सन्मात्र या विशुद्ध सत्ता होकर भी विश्व के ऋतच्छन्द के वर्षक हैं, निखिल विश्व के सम्राट हैं। इसके

अथवा साधना का अभियान) १०।४६।४, 'यज्ञस्य रजसश् च (प्राणप्रवाह के) नेता' ८।६, 'नेता सिन्धुनाम्' (प्राण प्रवाह के, नाड़ियों के, तु. ४।५८।५ बृ. २।१।१९) ७।५।२। 'पुरएता' : तु. अदब्धः (अवञ्चित) सु पुरएता भवा नः १।७६।२ (३।११।५); उसी प्रकार 'पुरोगाः पुरोयावा'। पुरोहित' : तु. 'अग्निम् ईले. पुरोहितम् १।१।१, ४४।१०, ५८।३, पुरोहितो दमे दमे १२८।४, १०।१।६, अग्निर् देवानाम् अभवत् पुरोहितः ३।२।८, अग्निं सुम्नाय (सुख के लिए) दधिरे पुरो जनाः (अग्नि सोम की ध्वनि) ३।२।५, ५।१६।१ ....। सारा आर्त्विज्य अथवा ऋत्विक् कर्म उनका ही, तु. १।९४।६। यज्ञ उनका ही, वे ही यज्ञ तु. ७।१६।२, १०।४६।४।

७. तु. अन्तर् (मध्य का) विद्वाँ अध्वनो देवयानान् १।७२।७, 'सुगान् (सुगम) पथः कृणुहि देवयानान् १०।५१।५, 'अग्नेर विश्वाः समिधो देवयानीः २, ५।४३।६।

१३१७. द्र. टी. मूल १२७९ ऋ. ३।५५ सूक्त की टेक 'असुरत्वम् एकम्'।

१. द्र. ४।१।२, ५, अग्नि-वरुण संस्तव जो अनन्य है। अग्नि-सूर्य अथवा अग्नि-विष्णु का संस्तव प्रसिद्ध है। तु. ७।६२।२ (अग्नि, सूर्य, वरुण मित्र अर्यमा का सहचार); विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया अग्नि और वरुण में समानता) १०।११।१।

२. तु. ४।२।५, ५।१५।१, ७।२।३, ऋतस्य वृष्णे असुराय ५।१२।१, सम्राजो असुरस्य ७।६।१ (दोनों ही वरुण की विशिष्ट संज्ञाएँ)।

अतिरिक्त परमपुरुष रूप में जो वरुण हैं– वे ही परमाप्रकृतिरूपें में [३]अदिति हैं। विश्वोत्तीर्णता में एवं विश्वात्मकता में अग्नि भी अदिति और [४]अदिति की तरह वे भी सब हुए हैं।[५] जिस परम व्योम में अदिति का गर्भाशय एवं दक्ष का जन्मस्थान है, एवं असत्-सत् जहाँ

---

३. अदिति ही सब कुछ : तु. अदितिर् द्यौर् अदितिर् अन्तरिक्षम् अदितिर् माता स पिता स पुत्रः, विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर् जातम् (जो कुछ उत्पन्न हुआ है) अदितिर् जनित्वम् (जो कुछ उत्पन्न होगा) १।८९।१०।

४. तु. नि. अग्निर् अप्य् अदितिर् उच्यते ११।२३। जिस प्रकार अग्नि की विशिष्ट संज्ञा 'पावक' है, उसी प्रकार अदित्ति की संज्ञा 'अनामा' अथवा अनपराध (ऋ. ८।१०१।१५) उनके निकट ही हमारे समस्त अपराधों का प्रक्षालन होगा (तु. ४।१२।४, १०।१२।८, १।२४।१५, ५।८२।६, अनागसं तम् अदितिः कृणोतु ४।३९।३ (१।१६२।२२), १०।६३।१०, अनागास्त्वे 'अदितित्वे' ७।५१।१। **आगः** <√ अञ्ज, लेपना, (छोपना) मलना; मलिन करना तु. >'अञ्जन' अतएव 'अनागास्त्व' निरञ्जनत्व, तु. मु. 'तदा विद्वान् पुण्य पापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यं उपैति' ३।१।३; अदिति आजन्त्य की चेतना, अतएव यही परम साम्य अथवा निरञ्जनत्व अथवा अनागास्त्व। अग्नि = अदितिः 'ददाशो (दिया) अनागास्त्वम् अदिते (अग्नि का सम्बोधन) सर्वतातौ (सर्वात्म रूप में सब के भीतर व्याप्त होने से) सर्वात्मभाव ही निरञ्जनत्व) १।९४।१५, २।१।११, अमरः कविर् अदितिर् विवस्वान् (ज्योतिष्मान् दीप्तिमान् परम देवता की संज्ञा; अथ च अमूर्त) ७।९।१३, ८।१९।१४; विश्वेषाम् अदितिर् यज्ञियानाम् ४।१।२०।

५. अग्नि का कथनः 'इयं मे नाभिर् इह मे सधस्थम् इमे मे देवा अयम् अस्मि सर्वः, द्विजा अह प्रथमजा ऋतस्ये दं धेनुर अदुहज् जायमाना' – देखो यह मेरी नाभि (केन्द्रक) है, यहाँ ही मेरा शक्तिकूट है, ये सारे देवता मेरी ही विभूति है, मैं ही यह सब कुछ हो रहा हूँ; मैं द्विजन्मा हूँ (अरणि अथवा द्यावा पृथिवी से जन्मा) और ऋत का प्रथम जातक हूँ; (मेरी) धेनु (अग्नि की अभिन्न शक्ति, तु. १०।५।७) ने दूध की धारा द्वारा क्षरित किया है यह सब (विश्व रूप में) स्वयं उत्पन्न होकर (यह धेनु विश्वमूला वाक् अथवा 'गौरी'; तु. १।१६४।४१.४२) १०।६१।१९; अग्नि ही विश्व अथवा सब है; १।१२८।६।

युगनद्ध हैं, वहीं अग्नि हम सबके निकट ऋत के प्रथम नवजात शिशु रूप में तथा आदिम स्पन्दन से वृषभ और धेनु रूप में प्रतिभात होते हैं।[६]

अग्नि की यह परम परिचिति है। पृथिवी से परम व्योम तक, पार्थिव चेतना के स्फुलिङ्ग से महापरिनिर्वाण की अनिबाध विपुलता तक उनका अधिकार परिव्याप्त है। अनुत्तम अथवा सर्वोत्कृष्ट नीड़ तक उच्छ्रित या उन्नत प्राण के स्तम्भ जैसे वे[१३१८], हम सबके जीवनायन के आदि और अन्त हैं।

यही अग्नि का सत्स्वरूप है, जो हमारी अभीप्सा का परम अयन है। चेतना की अन्तर्मुखता से शुद्ध सत्ता में स्थिति होती है। तब अपने आपमें रहना अथवा स्वयं की स्थिति होती है, संहिता में जिसकी संज्ञा 'स्वधा' है।[१३१९] संहिता में अग्नि भी विशेष रूप में 'स्वधावान्' है।[१] विश्व[२] के आदि छन्द से उत्पन्न होकर वे अपने आप में आनन्दमय सिसृक्षा के स्वाच्छन्द्य रूप में स्थित है; उनका नाम गोपन है और

६. १०।५।७।

१३१८. ऋ. आयोर् ह स्कम्भ उपमस्य नीले १०।५।६ (आयु= प्राण १।६६।१, तु. उपनिषद् का प्राणब्रह्म, संहिता 'अप्' अथवा जल की धारा उसका प्रतीक है, तु. हठयोग की ऊर्ध्वस्रोता कुण्डलिनी, संहिता में 'हिरण्ययो वेतसा (नल, नली) मध्य आसाम' ४।५८।५। और भी द्र. शौ. स्कम्भब्रह्म सूक्त १०।७, ८। पशुयाग का यूप, वनस्पति अग्नि, 'दिवःस्तम्भनी स्थूणा' शिवलिङ्ग – इन सब के मूल में भी यही भावना।

१३१९. तु. ऋ. आनीद् अवातं स्वधया तदेकम्, १०।१२९।२, जहाँ कुछ भी नहीं है, वहाँ तत् स्वरूप वे ही एक अपने आप में स्थित हैं। किन्तु तब भी वे निष्प्राण नहीं, श्वास है। यही उनका 'असुरत्व' है।

१. तु. १।१४।७।२, ३।२०।३, ४।१२।३, ५।२, न त्वद् (तुमसे) धोता पूर्वो अग्ने यजीयान् न काव्यै परो अस्ति स्वधावः ५।३।५, ८।४४।२०, १०।११।८, १४२।३।

२. तु. मन्द्र स्वधाव ऋतजात सुक्रतो १।१४४।७, 'नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि, ५।३।२, तनुर् अवेपाः शुचि हिरण्यम्, तत् ते रुक्मो न रोचत स्वधावः ४।१०।६, महान् कविर् निश्चरति स्वधावान् १।९५।४।

उनका अमलिन शरीर शुचि, हिरण्मय, चमक रहा है, सोने की तरह; वे महान् एवं कवि हैं, अच्युतस्वभाव हैं, आत्मविकिरण में सञ्चारमाण, सञ्चरणशील हैं। अतएव स्वधा उनकी उल्लास एवं वीर्य या बल और कान्ति का आश्रय है।

आकाश में उच्छलित आलोक की तरह सत्ता का यह विच्छुरण या छितराव – फैलाव ही प्रज्ञा है। अतएव अग्नि का मुख्य परिचय है कि वे 'विद्वान्' हैं – वे जानते हैं।[१३२०] क्या जानते हैं वे? [१]जानते हैं पथ का सन्धान, ऋत् का छन्द, इसलिए वे सत् स्वरूप हैं।[२] वे जानते हैं मर्त्य एवं दिव्य जन्म को इसलिए भूलोक और द्युलोक के बीच दूत रूप में विचरण करते हैं, जानते हैं वे, [३]अमृतत्व को सिद्ध करने के लिए कैसे वीर्य और बज्रतेज का आहरण करना होता है, प्रातिभ संवित् की तीन छटाओं में कैसे देवता का प्रसाद आधार में उतार लाना होता है तथा चित्ति और अचित्ति को मर्त्य के मध्य पृथक करना होता है? आधार में सञ्जात होकर बृहत् होते हैं वे, क्योंकि विष्णुरूप में वे जानते हैं अपना तृतीय परम पद, जिसके रक्षक वे स्वयं ही हैं।[४]

१३२०. तु. ऋ. 'प्रजानन् विद्वान्' ३।२९।१६ (प्रज्ञा और विद्या का समाहार), १४।२, ४।१।४, ३११६, ५।४।५, ७।७।१।

१. व्य् अब्रवीद् वयुना (पथ) मर्त्येभ्योऽग्निर विद्वाँ ऋत चिद् धि सत्यः १।१४५।५; विद्वान् पथीनाम उर्व् अन्तरिक्षम् ५।१।११, ७।१।२४, त्वष्टा और वनस्पति रूप में १०।७०।९, १०; देवयान को मार्ग १।७२।७, पन्थानम अनु प्रविद्वान् पितृयाणम् १०।३।७, १।१८९।१, (३।५।६, ६।१५।१०, १०।१२२।२)।

२. तु. अन्तर ह्य् अग्न ईयसे विद्वान् जन्मोभया कवे, दूतः २।६।७, १।७०।६, ४।७।८।

३. तु. अग्निः सनोति वीर्याणि, विद्वान् त् सनोति वाजम् अमृताय भूषन् ३।२५।२, द्र. टीका १३१५

४. तु. चित्तिम् अचित्ति चिनवदे वि विद्वान्....मर्तान् (= मर्तानाम्) ४।२।११। 'अचित्ति' देवता को न देख पाना, आध्यात्मिक अन्धता, दृष्टिहीनता; तु. तपो. वसो चिकितानो अचित्तन्। अरे, ओ आलोक तुम तों देख सकते हो, 'उनकों सन्तप्त करो, जो देख नहीं पाते' ३।१८।२।

वे ऋत्विक् एवं ऋतुपति हैं, इसलिए जानते हैं ऋतुचक्र का आवर्तन और उसके ही छन्द में देवयान का रहस्य।[5] सात अरुणा बहनों के लिए उद्विग्न वे, जानते हैं मधु से कैसे उनको दृष्टि के सम्मुख ले आना होता है?[6] वे जानते हैं उन धेनुओं का परम एवं गुह्य नाम, तप द्वारा आङ्गिराओं ने जिनकी सृष्टि की है यहाँ।[7] एक शब्द में कहें तो

तु. विष्णुर् इत्था, परमम् अस्य (विष्णु का) विद्वाञ् जातो बृहन्न् अभि पाति तृतीयम् १०।१।३। विष्णु का परम पद १।२२।२०, २१, १५४।५, ६, ३,५५,१०, ७।१००।५; वही अग्नि का भी परम जन्मस्थान १।१४३।२, २।९।३, ६।८।२, ७।५।७, १०।४५।१, १८७।५; अग्नि और विष्णु की समानता ५।३।३ Geldner। अग्नि और विष्णु का साम्य समझने के लिए औपनिषद् या औपनिषदिक ब्रह्मघोष; 'योऽसाव असौ पुरुषः सोऽहम् अस्मि' ई., १६; 'स यश् चायं पुरुषे यश् चासाव् आदित्ये स एकः' तै. २।८; 'प्रज्ञानं ब्रह्म' ऐ. ३।१।३; 'तत् त्वम् असि' छा. ६।८।७...।

५. तु. विद्वाँ ऋतूँर ऋतुपते यजेह १०।२।१। जानना होगा कब आदित्य का उत्तरायण? दिव्य ज्योति का क्रमिक उपचय एवं उसके आधार पर चेतना की व्याप्ति?

६. तु. सप्त स्वसॄर् अरुषीर् वावशानो विद्वान् मध्व उज् जभारा दृशे १०।५।५। सात बहनें अग्नि की सात शिखाएँ। 'मधु बहधृत' का विशेषण, आनन्द चेतना का प्रतीक; यहाँ अग्नि चेतना का आनन्दमय सन्दीपन (उद्दीपन) लक्षित (द्र. टीका १३०७)। दृष्टि के सामने जो खिले खुले या विकसित होंगी वह 'विश्वरुचि' (मु १।२।४) अथवा 'बृहद्भानु' (ऋ. १।३६।१५, १०।१४०।१) विश्व को उद्भासित करने वाली ब्रह्मज्योति। तु. उद् उत्यं जातवेदसं (अग्नि में निरूढ़ संज्ञा का सूर्य में एक मात्र प्रयोग) देवं वहन्ति केतवः, दृशे विश्वाय सूर्यम् १।५०।१; उसके बाद सूक्त के अन्त में है उत्तर एवं उत्तम ज्योति का उल्लेख १०।

७. तु. यासाम् अग्निर् इष्ट्या नामानि वेद, या अङ्गिरसस् तपसेह चक्रुः १०।१६९।२। गो अथवा धेनु वाक् का प्रतीक (तु. ८।१०१।१५, १६; यहाँ गोवध के प्रतिषेध का उल्लेख है)। और भी तु. 'ते मन्वत प्रथमं नाम धेनोस त्रिः सप्त मातुः परमाणि विन्दन' – उन्होंने (ऋषियों ने) मनन किया धेनु के प्रथम नाम का, खोज कर प्राप्त किया। माँ के इक्कीस नाम ४।१।१६। प्रथम नाम आदि वाक् 'गौरी' उनके रँभाने की ध्वनि में अक्षर

वे "विश्व वेदाः' हैं – सर्वज्ञ हैं – सब जानते हैं। हम मर्त्य मानव देवताओं के बारे में कुछ भी नहीं जानते। वे ही सब जानते हैं एवं सूक्ष्म रूप में जानते हैं।[9]

अग्नि की प्रज्ञा को समझाने के लिए उनकी एक असाधारण एवं सब से अधिक प्रयुक्त संज्ञा '**जातवेदाः**' है। यास्क ने अपने निरुक्त में

का क्षरण अथवा सृष्टि १।१६४।४[illegible], (तु. 'ओम्') उनके और भी तीन पद या तीन भूमियाँ हैं, [illegible] क्रमानुसार (तन्त्र में पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी) ४५। प्रत्येक [illegible] पर सात 'वाणी' अथवा व्याहृति अथवा लोकसृष्टि के मन्त्र (तु. १।१६४।२४, सात छन्दे भी हो सकते है; ३।१।६ अग्नि उनका एकमात्र शिशु ६।१, ८।४९।३, ९।१०३।३ ऋषियों की)। कुल बाईस नाम (तु. छा. २।१०; वहाँ का द्वाविंश यहाँ का प्रथम, वह है आदित्य के भी उस पार 'ताकं विशोक')। और विष्णु के परम पद आरूढ़ अग्नि गुह्यं गोनाम्' उसी प्रथम नाम अथवा ओम् की रक्षा करते हैं (५।३।३)। सोम भी इस चिद् विवेद निहितं यद् आसाम् अपीच्यं (आच्छादित) गुह्यं गोनाम् ९।८७।३; वरुण भी अघ्न्या या अवध्या धेनु के इक्कीस नाम जानते हैं और साधक को बतला भी देते हैं ८।८७।४। वाक् के इक्कीस गुह्य नाम, अग्नि के इक्कीस गुह्यधाम अथवा विद्याभीप्सिनी चेतना की इक्कीस भूमि; तु. त्रिः सप्त यद् गुह्यानि त्वे इत् (तुम से ही) पदा विदन् (प्राप्त किया) निहिता यज्ञियासः १।७२।६। और भी तुलनीय 'पदं न गोः' (धेनु के पद जैसा) अपगुलहं (वाक् का गोपननाम) विविद्वान् अग्निर् मह्यं प्रेद उ बोचन् मनीषाम् ४।५।३, अर्थात् अग्नि के आवेश से मनीषा का स्फुरण एवं मन्त्र रहस्य का विज्ञान। अग्नि > वाक्।

८. तु. १।२२।१, ३६।३, ४४।७, १२८।८, १४३।४, १४७।३, ३।२०।४; २५।१; ४।४।१३; ३।१९।१, २९।७, कविः काव्येनासि विश्ववित् १०।८१।३....।

९. तु. 'नाहं देवस्य मर्त्यश् चिकेता', (यहाँ नचिकेता, नाम की व्युत्पत्ति) अग्निर् अङ्ग. विचेताः स प्रचेताः १०।७९।४; ३।७९।४; ३।१८।२। अग्नि की प्रज्ञा के सम्बन्ध में 'चिकित्वान्' प्रचेताः इन बोधक संज्ञाओं का अधिक प्रयोग किया गया है। तु. चिकित्व ऋतम् इच् चिकिद्धि (अविष्कार करो) ५।१२।२, ६।१४।२, ७।४।४.....।

इसको विशेष सम्मान देकर अलग व्याख्या की है।[1321] इस नाम के बहुप्रयुक्त होने पर भी संहिता में जातवेदा के लिए दो छोटे सूक्त हैं। जिनमें एक केवल एक ऋक् का है और दूसरे सूक्त में तीन ऋक् हैं।[1] एक स्थल पर अग्नि स्वयं ही कहते हैं, 'मैं जन्म से ही जातवेदा हूँ'[2] संहिता में इस नाम की व्युत्पत्ति का आभास कुछ इस प्रकार मिलता है – [3]'देवता अग्नि सूक्ष्म रूप में जानते हैं सब जन्म', [4]'अग्नि जानते हैं देवताओं का जन्म, जानते हैं मर्त्यों का गुह्य (जन्म-रहस्य)'. [5]'यहाँ जो पितृगण हैं, इसके अलावा जो यहाँ नहीं हैं, जिन्हें हम जानते हैं अथवा हम जानते नहीं, तुम हे जातवेदा जानते हो वे जितने हैं।' अर्थात् देवलोक, पितृलोक अथवा मर्त्यलोक में जो कुछ 'जात' अथवा प्रादुर्भूत है, उसे जो जानते हैं, वे जातवेदा हैं। एक और स्थल पर

१३२१. द्र. नि. ७।१९-२०। ऋक् संहिता में केवल एक बार 'जातवेदाः' सूर्य का विशेषण है (१।५०।१), जिससें अग्नि और सूर्य का एकत्व सूचित होता है।

१. ऋ. १।९९ (सम्भवतः किसी लुप्त सूक्त का प्रथम ऋक्; अग्नि-सोम का सहचार लक्षणीय; अग्नि के प्रति सोमसवन का उल्लेख है, यद्यपि अग्नि विशेष रूप से सोमपायी नहीं; नवम मण्डल में कश्यप मारीच का सोमसूक्त हैं; मण्डल के अन्त में सोमयाग की फलश्रुति के रूप में दो प्रसिद्ध सूक्त उनके द्वारा ही रचे गए हैं; उनके ८।२९ सूक्त में देवताओं का परोक्ष वर्णन अत्यन्त रोचक है); १०।१८८ (ऋषि आग्नेय श्येन हैं, यह नाम सम्भवतः उनकी साधना और सिद्धि का परिचायक है; तु. द्युलोक से श्येन का सोम आहरण ४।२६।४-७, ४।२७ सूक्त ८।६२।९, ९।६८।६...)।

२. अग्निर् अस्मि जन्मना जातवेदा : ३।२६।७ यही अग्नि फिर वैश्वानर एवं यहाँ यज्ञस्वरूप।

३. तु. देवानां जन्म मर्तांश च विद्वान् १।७०।६, अग्निष्टा विश्वा भुवनानि (होना, becoming) वेद ३।५५।१०; अग्निर् जन्मानि देव आ वि विद्वान् ७।१०।२, विश्वा वेद जनिमा जातवेदाः ६।१५।१३।

४. अग्निर् जाता देवानाम् अग्निर् वेद मर्तानाम् अपीच्यम् ८।३९।६।

५. ये चेह पितरो ये च नेह याँश च विद्‌म याँ उ च न प्रविद्‌म त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः १०।१५।१३।

हमने पाया है कि वे मर्त्य एवं दिव्य दोनों जन्म के वेत्ता हैं, और दोनों के बीच उनका आवागमन है।[6] इसे ऐतरेय ब्राह्मण में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि 'जातवेदा प्राण' हैं; क्योंकि जो कुछ जात या उत्पन्न है, वे उसकी जानकारी रखते हैं।[7] अर्थात् जातवेदा प्रत्येक सत्त्व अथवा मौलिक उपादान या स्व-भाव में निहित गुहाचर (ब्रह्म) प्राण चेतना है, जो[8] उसकी उत्क्रान्ति अथवा उत्क्रमण के प्रत्येक पर्व या पड़ान (यही विभिन्न लोक अथवा चेतना के विभिन्न जन्म[9]) का साक्षी है।[10]

ऋक् संहिता के अनेक स्थानों पर बिखरे रूप में जातवेदा के उल्लेख के बावजूद कई मन्त्रों के विवेचन से उनके वैशिष्ट्य का सङ्केत प्राप्त होता है।[1322] लगता है यज्ञ के पहले आविर्भूत दिव्य अग्नि की विशिष्ट संज्ञा 'जातवेदा' है। विश्वामित्र के एक अग्निमन्थन

---

६. २।६।७

७. ऐब्रा. २।३९।

८. तु. ऋ. प्रतिक्षियन्तं (प्रत्येक वस्तु में वास कर रहे हैं) भुवनानि विश्वा २।१०।४, स गर्भम् एषु भुवनेषु दीधरत (स्थापित किया) ३।२।१०, जन्मन् जन्मन् निहितो जातवेदाः ३।१।२०, २१।

९. बौद्ध प्रस्थान में भी यही भावना है : मृत्युक्षण मात्र च्युतिक्षण है, उसके बाद ही लोकान्तर में जन्म, अतएव मृत्यु के रूप में वस्तुतः कुछ नहीं। ऋक् संहिता में अग्नि का एक अनन्य विशेषण है 'प्रेतीषणि' अर्थात् संसार छोड़कर आगे जाने के रास्ते पर वे ही प्रचोदक या प्रेरक हैं ६।१।८।

१०. निरुक्त में 'जातवेदाः' की व्याख्या इस प्रकार है :- 'जातवेदाः कस्मात् जातानि वेद, जातानि वै.न विदुः, जाते जाते विद्यते इति वा, जात वित्तो वा जातधनः, जातविद्यो वा जात प्रज्ञानः', 'यत् तज् जातः पशून् अविन्दतेति तज् जातवेदसो जातवेदस्त्वम्' इति ब्राह्मणम् ७।१९।

१३२२. जातवेदः सूक्त के एक सूक्त में मात्र तीन ऋक् हैं। जातवेदः के लिए रचित इस तरह के और भी तृच का सन्धान प्राप्त होता है : ऋ. ३।१७।२-४ (भाव को दृष्टि से यह पूरा सूक्त जातवेदा का होना सम्भव) ५।४।९-११, ५।११।३-५। और भी द्रष्टव्य १।९४ सूक्त।

के सूक्त के आरम्भ में है : [१]दो अरणियों में निहित है जातवेदा, गर्भिणियों के सुनिहित गर्भ की तरह; दिन पर दिन जाग्रत रखेंगे जागते हुए और हव्य के साथ सारे लोग उसी अग्नि को। ....इलायास्पदे, पृथिवी की नाभि में हम तुमको, हे जातवेदा, हे अग्नि, निहित करते हैं इसलिए कि हव्य वहन करोगे। उसके बाद अग्नि मन्थन की एक सशक्त व्याख्या द्वारा बतलाया जा रहा है : 'यह अग्नि उत्पन्न होकर जो झिलमिलाते हैं, वे सब जानते हैं।' [२]इस कथन में जातवेदा नाम की ध्वनि है। ....किन्तु केवल अरणियों से जातवेदा का जन्म नहीं होता, अथवा चिरकाल वे शिशु ही नहीं रहते। वस्तुत: वे वैश्वानर[३] हैं, भुवन की मूर्द्धा परमव्योम में अव्यक्त असुर से उनका जन्म होता है। फिर विश्वभुवन को वे जन्म देते हैं। [४]उनकी तीन आयु हैं, तीन उषा उनकी जननी हैं। हमारे भीतर जो 'ऊर्क' अथवा चेतना को मोड़ देने की शक्ति है, वे उसी के तनय हैं, जो निहित होते हैं धी अथवा ध्यान चेतना द्वारा।[५] सोमयाग के तीनों सवनों में ही वे सन्तत हैं, व्याप्त हैं।[६] वे अमृत के एवं उरुलोक के अथवा चेतना के अनिवाध वैपुल्य के विधाता हैं; उनका विशिष्ट कृत्य है समस्त दुरितों, पापों से परे हमें

१. अरण्योर निहित्तो जात वेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु, दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर् हविष्मद्भिर मनुष्येभिर् अग्निः। ....इलायास् त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्या अधि, जातवेदो अग्नि धी मह्य अग्ने हव्याय वोल्हर्व ३।२९।२, ४ (तु. १९।१।६; इला पार्थिव चेतना की द्युलोकाभिमुखी एषणा एवं अमृत चेतना में उसका रूपान्तर; वे अग्निमाता – मानवी एवं मैत्रावरुणी दोनों ही; विशेष विवरण द्र. आप्री देवता 'इल'। 'इला यास्पद' इला का स्थान, यज्ञवेदी, तु. १।१२८।१, १०।१९१।१,)। और भी तु. सौ चीक अग्नि १०।५१।१, २,७।

२. जातो अग्नि रोचते चेकितान : ३।२९।७।

३. तु. वैश्वानर......जातवेद: ७।५।८, स जायमान: परमे व्योमन्.....भुवना जनयन् ७; असुरस्य जठराद् अजायत ३।२९।१४; यज् जातवेदो भुवनस्य मर्धन्न् अतिष्ठो अग्ने सह रोचनेन् १०।८८।५।

४. ३।१७।३; द्र. टी. १३१५।

५. ऊर्जो न पाज जातवेद:....धीतिभिर् हित: १०।१४०।३।

६. तु. ३।२८।१, ४, ५। यह भी सम्भवत: जातवेद सूक्त है।

ले जाना और सभी विद्विष्ट अथवा विद्वेषी शक्तियों को खदेड़ देना।[७] अतएव हम देखते हैं कि रक्षोहा अग्नि को विशेष रूप से जातवेदा के रूप में सम्बोधित किया जा रहा है।[८] इसके अतिरिक्त यही जातवेदा जिस प्रकार यज्ञ या जीवन के आरम्भ में हैं, उसी प्रकार उसके अन्त में भी हैं। अत्येष्टि की अग्नि का विशिष्ट नाम जातवेदा है। जो अग्नि मृतदेह को दग्ध करता है या जो क्रव्याद है, ये वह नहीं। बल्कि ये वही दिव्य अग्नि हैं जो देही के 'अजभाग' को प्रतप्त करके उरुलोक में ले जाते हैं और उससे आहुत तनु को दिव्य रूप प्रदान करते हैं। [९]जातवेदा मनुष्य के इसी दिव्य जन्म के वेत्ता हैं।

अग्नि का प्रज्ञान उनके कर्म के साथ नित्य जुड़ा है, जिसके कारण ये देवयान मार्ग के दिशा निर्देशक हैं; और जिसका परिणाम साम्य आनन्द चेतना है,[१३२३] उसी प्रज्ञान के कारण वे 'जागृति' अथवा नित्यजाग्रत हुए। यह विशेषण संहिता में अग्नि और [१]सोम के लिए निरुढ़ है। साधना के आरम्भ में अग्नि और अन्त में सोम देवता दोनों छोरों पर ही नित्य जाग्रत हैं। इसलिए समस्त मार्ग ज्योति का मार्ग है। सारे देवताओं में अनवद्य देवता अग्नि माता, पृथिवी और पिता द्यौ: दोनों की गोद में जागे हुए हैं।[२] द्युलोक की तुङ्गता पर जो लोकोत्तर आनन्द धाम: (नाक) है, वहाँ वे वैश्वानर रूप में आरोहण करते हैं और नित्य जाग्रत रहकर एक ही अग्नि पथ पर यातायात करते हैं।[३]

७. तु. ५।४।१०-११; ९; १।९९।१, ८।११।३। .

८. यातुधनों के हन्ता १०।७७।२, ५, ६, ७, ११।

९. तु. १०।१६।१-५, ९-१०। इसके अतिरिक्त ऐब्रा. में ये गार्हपत्य योनि आहवनीय १।१६; द्र. ऋ. ६।१६।४०-४२।

१३२३. अग्नि का प्रज्ञान एवं कर्म तु. ऋ. १०।८८।६ (तु. १६।९) : देवयान वा २९।२; प्रजानन् विद्वाँ उपयाहि सोमम् ३।२९।१६ (= ३५।४)।

१. तु. सोम ३।३७।८, ९।३६।२, ४४।३, ७१।२, ३७, १०६।४, १०७।६, १२।

२. तु. त्वं नो अग्ने पित्रोर् उपस्थ आ देवो देवेष्व् अनवद्य जागृवि: १।३१।९।

३. तु. वैश्वानर: प्रत्नथा (पहले की तरह ही) नाकम् आरुहत्....समानम् अज्मं पर्येति जागृवि: ३।२।१२ (अजम < √ अज् 'उछल पड़ना', 'अतिशख होना', तु. अग्नि; यहाँ बोध होता है कि 'अग्नि जिस मार्ग पर

उत्साहस के पुत्र हैं वे मनोद्युति के साथ जाग्रत हैं,[४] और अमृतों अथवा देवताओं में नित्य जाग्रत रह कर हम सब के भीतर रत्न विहित किया है।[५] नित्य जाग्रत होने के कारण ही वे देवयान मार्ग पर 'अतन्द्र' दूत और हव्यवाहन हैं।[६] अग्नि की यह नित्य जागृति, आध्यात्मिक दृष्टि से समनस्कता और सदाशुचिता है।[७]

इस प्रसङ्ग में अग्नि की एक और संज्ञा 'कवि' मननीय है। संहिता में इस संज्ञा का सब से अधिक प्रयोग अग्नि के लिए और उसके बाद सोम के लिए किया गया है। वेद में परमदेवता की एक संज्ञा 'कवि' है, यह जगत् उनका अमर काव्य है।[१३२४] यास्क ने कवि की व्याख्या करते हुए उन्हें क्रान्तदर्शन बतलाया है अर्थात् कवि वे हैं जिनकी दृष्टि बहुत दूर तक जाती है।[१] उनकी इस व्याख्या का समर्थन

ऊपर की ओर चलते हैं, वह देवयान का मार्ग है' तु. यदा. क्षिपुर् (पहुँचे) दिव्यम् अज्मम् अश्वाः (अश्वमेध के घोड़े) १।१६३।१०)

४. तु. अग्ने द्युम्नेन जागृवे सहसः सूनो ३।२४।३।

५. दधातु रत्नम् अमृतेषु जागृविः ३।२६।३ ('रत्न' प्रज्ञानघनता का प्रतीक, अग्नि विशेषतया 'रत्नधातम')। 'जागृवि का और उल्लेख ३।३।७, ५।११।१, ६।१५।८।'

६. तु. १।७२।७, ८।६०।१५।

७. तु. क. १।३।८।

१३२४. तु. शौ. 'अविर् वै नाम देवतर्तेना.स्ते परीवृता, तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः। अस्ति सन्तं न जहात्य् अस्ति सन्तं न पश्यति, देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति' – उस देवता का नाम करुणा है, वे ऋत् द्वारा परिवेष्टित होकर आसीन हैं, उनके ही रूप में ये हरे-हरे वृक्ष पहने हैं हरियाली की माला; वे पास हैं, इसलिए कोई उन्हें छोड़ता नहीं, वे पास हैं तब भी कोई उन्हें देख नहीं पाता; देखो देवता का यह काव्य- यह मरता भी नहीं जराग्रस्त भी नहीं होता (१०।८।३९-३२)। तु. ई. कविर् मनीषी परिभूः स्वयम्भूर् याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच् छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ८।

१. तु. नि. मेधावी **कविः** क्रान्तदर्शनो भवति १२।१३। किन्तु व्युत्पत्ति < √क्रम नही : तु. IE. qeu 'to Pay heed to'; Sk. चि, चित्; GK akeuei 'Watches'।

ऋक् संहिता में है :[२] 'नये-नये तन्तु आतत करते हैं सुद्युति अथवा सुदीप्त कविगण समुद्र की गहराई से द्युलोक' तक। इसके अलावा गत्यर्थक कव्-धातु से भी वे 'कवि' की व्युत्पत्ति देते हैं। तब 'कवि' और 'ऋषि' समानार्थक होते हैं।[३] एक और व्युत्पत्ति अभिप्रायार्थक कुन्धातु से सम्भव है। तब 'कवि' और विप्र समानार्थक होते हैं।[४] संहिता में 'कवि' के साथ-साथ 'ऋषि' और 'विप्र' यह विशेषण अनेक स्थलों पर पाया जाता है।[५] जान पड़ता है इन तीन शब्दों में अर्थ का अन्योन्य सङ्क्रमण हुआ है। उससे कवि का अर्थ किया जा सकता है जो 'हृदय की आकूति के प्रति भाव-विह्वल हैं और

---

२. तु. ऋ. नव्यं नव्यं तन्तुम् आ तन्वते दिवि समुद्रे अन्तः कवयः सुदी तयः १।१५९।४। 'समुद्र' हृद्य समुद्र (तु. ४।५८।५, १०।५।१); 'तन्तु' प्रज्ञान की रश्मियाँ, और वह प्रज्ञान देवताओं की द्युलोक-भूलोकव्यापी माया का (द्र. इसी ऋक् का पूर्वार्द्ध)।

३. नि. कवतेर् वा १२।१३ (तु. निघ. २।१४)। यास्क के मतानुसार 'ऋषिर् दर्शनात्' (नि. २।११) < √ऋष् 'देखना'। किन्तु तु. √ऋष् 'बहना, बहते रहना' जैसे 'एता' अर्षन्ति हृद्यात् समुद्रतोत ४।५८।५, पूर्वम् अर्षत् ई. ४ (तु. IE, ers, eras 'to flow')। अतएवं **ऋषि** वे हैं जिनके हृदय से भाव अथवा वाणी की धारा प्रवाहित होती है, और जो द्युलोक की ओर बहते तैरते जा रहे हैं।

४. धात्वर्थ 'अभिप्राय' से 'उतावलापन, उद्विग्नता' वही 'आकूति'। तु. शौ. ६।१३१।२, 'आकूति' वहाँ देवी रूप में कल्पित, पुरुष का मन पाने के लिए कन्या उन्हें प्रणाम करती है – 'आकूतिः सत्या मन सो मे अस्तु' ऋ. १०।१२८।४; हृदय की आकूति द्वारा श्रद्धा को प्राप्त करना १५१।४; सोम 'उशना काव्येन' ९।८७।३; किन्तु 'उशना' < √वश् 'चाहना' 'उद्विन होना', इसलिए 'काव्य' उद्विग्नता है, आकूति हैं जो कवि के भीतर है जिसके कारण वे 'विप्र' हैं। **विप्र** < √विप् 'आवेग में काँपना'; देवता 'विपश्चित' अर्थात् वे हमारे कम्प्र या कम्पमान हृदय के आवेग को जानते हैं।

५. तु. ४।२६।१, सोम 'ऋषिर् विप्रः काव्ये न' ८।७९।१, 'विप्रः कविः काव्येना स्वर्चनाः' (प्यार करते हैं स्वज्योति को) ९।८४।५, ८७।३, १०७।७, विप्राः कवयो वचेभिः .... कल्पयन्ति १०।११४।५।

क्रान्तदर्शी भी हैं।' देवता और यजमान के बीच आकूति सेतु है। देवता को पाने के लिए यजमान श्रद्धा एवं आकूति उसे कवि बनाती है। फिर देवता में 'मनसः प्रथमं रेतः' जो काम या कामना और विसृष्टि की ललक[६] है, वही उन्हें भी कवि बनाती है। इसी ललक या आकूति की अभिव्यक्ति वाक् में होती है। अतएव कवि के साथ वाक् का घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्रद्धा के आवेश में मनुष्य के हृदय में जो आकूति जागती है, वह उसके चिदग्नि की स्फुरण है; उसका ही स्फुरण सूक्त वाक् में है। अतएव वाक् आग्नेयी[७] है, अग्नि इसलिए भी विशेष रूप से कवि हैं एवं सोम भी कवि हैं। काव्य की मूल प्रेरणा हृदय के उद्दीपन एवं आनन्द से प्राप्त होती है।[९]

संहिता में अग्नि का परिचय[१३२५] इस प्रकार है : वैश्वानर की देवमाया से (प्रकट हुए वही) बृहत्, प्रकट हुए (वही) एक कवि

---

६. तु. वाक् का कथन १०।१२५।५; ऋषिगण कवि।

७. तु. विराट् के मुख से अग्नि १०।९०।१३, ऐउ. मुखाद् वाग् वाचो अग्निः १।१।४ अग्निर् वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत् १।२।४....। तु. ऋक।। अर्चिः।। अर्क 'गान'।

९. तु. सोम्यंवचः ऋ. ३।३३।५; 'अभि वाणीर् ऋषीणां सप्त नूषत' – ऋषियों की सप्त वाणी ने सोम का स्तवन किया, आह्वान किया (√१०३।३), फिर सोम भी सहस्र धारः पवते समुद्रो वाचमीङ्खयः – पवमान होकर सहस्रधार समुद्र की तरह बहते रहते हैं वाक् को आन्दोलित करके √१०१।६; तु. ३५।५; पदवीः (दिग्दर्शक) कवीनाम् ९।९६।६, १८ (यही अग्नि का भी विशेषण ३।५।१)।

१३२५. ऋ. वैश्वानरस्य दंसनाभ्यो बृहद् अरिणाद् एकः स्वपस्यया कविः, उभा पितरा महयत्र् अजायताग्निर् द्यावा पृथिवी भूरि रेतसा ३।३।११। मन्त्र का तात्पर्यः अग्नि एक, अग्नि कवि। अग्नि ही 'बृहत' अथवा ब्रह्म हैं, वे वैश्वानर रूप में विश्वव्याप्त हैं, फिर नवजातक रूप में जीव के आधार में जन्म लेते हैं। उनके आविर्भाव से द्युलोक और भूलोक महावीर्य से अभिषिक्त हुए – बाहर और भीतर एक समान। यही उनका कल्याण कर्म है। 'अरिणात्' रेतोरूप में प्रवाहित हुए; यह रेतः वैश्वानर का ही है, अन्यत्र जिसे असत्कल्प आदि देवता का काम कहा गया है

कल्याणकर्म का सङ्कल्प लेकर; पिता और माता दोनों को ही दीप्तिमान् करके उत्पन्न हुए अग्नि, द्युलोक और भूलोक (उसी से हुए) अफुरन्त अशेष वीर्य के आधार। अपने काव्य अथवा कविकृति से वे [१]सत्यधर्मा, स्वधावान् महाकवि हैं, जिनके काव्य की तुलना नहीं। कविरूप में ही वे विश्व[२] के सम्राट हैं समुद्र उनका वसन है, द्युलोक का सीमान्त एवं मेघमाला उनकी द्युति से दीप्त है; वे प्रत्येक लोक को और द्युलोक के सभी नक्षत्रों को आच्छादित किए हुए हैं, दिशा-दिशा में विश्व भुवन को विस्तार दिया है, विन्यस्त किया है। कवि के रूप में ही वे [३]द्वैध हीन, द्विधा रहित प्रचेता हैं, अमर्त्य और मर्त्य दोनों के रहस्य को जानते हैं, जिसके कारण दो विद्याओं के मध्य वे दूत रूप में विचरण करते हैं, और त्रिगुणित तीन विद्याएँ उनके अधिकार में हैं।[४] अथर्वा द्वारा समिद्ध होकर उन्होंने समस्त

(१०।१२९।४)। उसी से द्यावा-पृथिवी भी 'भूरिरेताः'। अरिणात् < √रि।। री 'प्रवाहित होना'। निघ. 'रिणाति'। रीयते गति कर्माणौ (२।१४)। दिवादिगणीय अकर्मक, क्रयादिगणीय सकर्मक एवं अकर्मक दोनों ही। धातु से ये तीन विशेष्यः रीति, रयि, रेतः। यहाँ रेतः के साथ सम्बन्ध लक्षणीय।

१. १।१२।७, ९५।४, न काव्यैः परो अस्ति स्वधावः (आत्मस्थिति से ही अनुपम काव्य का उत्सरण) ५।३।५।

२. ६।७।१, ८।१०।५ प्र यद् आनड् दिवो अन्तान् कविर् अभ्र दीद्यानः १०।२०।४, वि यो रजांस्यमिमीत सुक्रतुर् वैश्वानरो वि दिवो रोचना कविः, परि यो विश्वा भुवनानि पप्रथे ६।७।७।

३. कविम् अद्वयन्तम् प्रचेतसम् ३।२९।५, २।६।७, उभे हि विदथे कविर् अन्तश् चरति दूत्यम् ८।३९।१ त्रीणि त्रिधातुस्य् आ क्षेति विदथा कविः ९ ('विदथ', विद्या, देवता और मानवजन्म के रहस्य की दो विद्याएँ तु. ६, तीन विद्याएँ तीन लोक की – जिसमें तीन भागों में विभक्त तैंतीस देवताओं का अधिष्ठान तु. ९ लोक ओत-प्रोत हैं, इसलिए त्रिगुणित तीन, अथवा प्रत्येक लोक के तीन भाग द्र. टी. १२९१; अर्थात् कवि अग्नि, विश्ववित् ३।१९।१, ५।४।३....)।

४. अग्निर् जातो अथवर्णा विदद् विश्वानि काव्या, भुवद् दूतो विवस्वतो....प्रियो यमस्य काम्यः १०।२१।५ (अग्नि-ऋषि अथर्वा अग्नि मन्थन द्वारा सब के मूर्द्धन्य कमल से आविष्कृत किया ६।१६।१३।) तु. आशुं दूतं विवस्वतो

कविधर्म अधिगत किया और हुए विवस्वान् के दूत, यम के काम्य प्रियजन; और [५]इस कविधर्म के कारण ही वे विश्ववित् हुए। विवस्वान् के आनन्दमग्न कवि वे ऊर्ध्वस्रोतां हैं, कवि रूप में वे ही अदिति एवं विवस्वान् हैं : किन्तु अमूर्त हैं। वे [६]सर्वजन अथवा सामान्य जन के कवि हैं; [७]हमारे भीतर जो बृहत् चेतना है, उसके कवि के रूप में वे हमें क्लिष्टता से बचाते हैं, पाप वासना के स्पर्श से दूर रखते हैं। [८]पीछे आगे, नीचे ऊपर वे कवि और राजा के रूप में हमारी सुरक्षा

विश्वायश चर्षणीर अभि ४।७।४; विवस्वान् परम ज्योति हैं, वे अग्नि को दूत बनाकर उनके पास भेजते हैं, जो चरिष्णु हैं – स्थाणु नहीं अर्थात् जो उद्यमशील हैं। तु रोहित के प्रति इन्द्र का अनुशासन : 'इन्द्र इच् चरतः सखा चरैव'....ऐब्रा. ७।१५। फिर यम भी 'वैवस्वत' अथवा विवस्वान् के पुत्र, वैवस्वत मृत्य योगी की मृत्यु, वह अग्निशिखा के रूप में मूर्धन्य नाड़ी भीतर से उत्क्रान्ति में सम्भव है : तु. मु. १।२।५ आधियाज्ञिक दृष्टि से, छा.८।६।६ आध्यत्मिक दृष्टि से; अग्ने कविः काव्येना सि विश्ववित १०।९१।३ (द्र. टीमू १३२०)।

५. मन्द्रः कविर् उद् अतिष्ठो विवस्वतः ५।११।३, ७।९।३ (विवस्वान् परम ज्योति, आदिति परमा शक्ति, अग्नि स्वरूपतः उनके साथ अभिन्न एक)।

६. विशां कविः ३।२।१०, ५।४।३, ६।१।८ **विश** उपनिवेश की स्थापना करने वाले आर्य-समुदाय के सामान्य जन, कृषि, पशुपालन जिनकी वृत्ति या जीविका के साधन हैं एवं धेनु सम्पद है; तु. ति ३५।१६-१८ : साधना की दृष्टि से ये प्रवर्त हैं; 'क्षत्रः' एवं ब्रह्म क्रमशः साधक एवं सिद्ध के सम्पद; अग्नि 'विश' के कवि अर्थात् सब के कवि हैं। द्र. १३३२।

७. त्वं नः पाह्य् अंहसो जातवेदो अघायतः, रक्षा णो ब्रह्मणस्कवे ६।१६।३० **अंहः** चेतना का सङ्कोचन (तु. Lat. angere 'to throttel,' 'to cause pain,' 'to torment' GK agkhein choke thrsttle, Eng. anxiety, OE. eng 'Narrow') और 'ब्रह्म' = चेतना का विस्तार है। तु. अग्नि के निकट वामदेव की प्रार्थना : 'आरे (दूर हटाओं) अस्मद् अमतिम् आरे अंह आरे विश्वां दुर्मतिं यन् विपासि' ४।११।६।

८. १०।८७।२१ (द्र. टी. १३१४)।

के प्रति सतर्क दृष्टि रखते हैं। वे हमारे [९]'गृहपति युवा कवि' हैं, [१०]यहाँ तक कि जो अकवि हैं उनके भीतर भी प्रचेता कविरूप में वे गुहाहित हैं – और [११]कवियों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या? [१२]उनके काव्य, मनीषा और वाणी की साधना का उत्स यह कवि ही है। अतएव वे [१३]इस मर्मज्ञ विद्वान् कवि के निकट उड़ेल देते हैं अपना सारा काव्य सारी गोपन एवं गहरी बातें, पथ की दिशा – मनन और वाणी रूप में कम्प्र हृदय के साथ। [१४]वैश्वानर कवि के प्रति यही तो ब्रह्मवादियों का मन्त्र है और विप्र के इस आदिम मन्त्र में ही वे कवि अपने तनु को शोभित करके संवर्धि होते हैं। [१५]इस कवि को ही, देवात्म भाव की सिद्धि या सफलता के लिए सुनिर्मथन द्वारा निर्मथित एवं उत्तम स्थान में स्थापित करना होगा।

अग्नि के काव्य में अथवा कवि धर्म में केवल प्रज्ञान एवं आकूति ही नहीं, बल्कि समर्थ्य भी है। इसलिए उनकी एक विशिष्ट संज्ञा 'कविक्रतु' है, अर्थात जिनका सामर्थ्य क्रान्तदर्शी है। देवयान के मार्ग में वे हमारे दिशा निर्देशक हैं; हमारा लक्ष्य क्या है वह उनकी प्रज्ञादृष्टि में स्पष्ट दिख जाता है एवं उसके ही प्रति नियोजित होती है उसकी प्रेषणा या प्रेरणा यही उनके क्रतु का स्वरूप है।[१३२६] इस कारण

---

९. निषसाद दमेदमे, कविर् गृहपतिर् युवा ७।१५।२, १।१२।६, ३।२३।१, ५।१।६, ८।१०२।१, ४४।२६।

१०. अयं कविर् अकविषु 'प्रचेताः ७।४।४।'

११. तु. देवाँ अयजः कविभिः कविः सन् १।७६।५।

१२. त्वद् अग्ने काव्या त्वन् मनीषास् त्वद् उक्था जायन्ते राध्यानि ४।११।३।

१३. एता विश्वा विदुषे तुभ्यं वेधो 'नीथान्य अग्ने' निण्या वचांसि, निवचना कवये काव्यान्य् अशंसिषं मतिभिर् विप्र उक्थैः ४।३।१६; तु. ४।२।२०, ५।१।१२।

१४. तु. १०।८८।१४; अग्निः प्रत्नेन मन्मना शुम्भानस् तन्वं स्वाम, कविर् विप्रेण वा वृधे ८।४४।१२।

१५. तु. ३।२९।१२।

१३२६. 'क्रतु' : 'क्रतुं कर्म वा प्रज्ञां वा'नि. २।२८ ('कर्म' निघ. २।१, 'प्रज्ञा' ३।९)। 'कविक्रतु': तु. ऋ. १।१।५, ३।२।४, १४।७, २७।१२, 'अग्निं वृणाना वृणते कवि क्रतुम्' – अग्नि को जो वरण करते हैं वे वरण करते

से अन्तर की दहकती अभीप्सा में हम परमार्थ का जो आभास पाते हैं, वही हमारे भीतर उत्तरायण का उद्दीपन सुरक्षित रखता है। तब अग्नि को 'प्रेतीषणि' कहते हैं।[१]

वैश्वानर रूप में अग्नि जिस प्रकार असुरः प्रचेता हैं; उसी प्रकार हमारे भीतर आयु के स्कम्भ और अतन्द्र कविक्रतु हैं एवं वेदान्त की भाषा में वे सत् हैं, वे चित् हैं, वे आनन्द भी हैं। सोम के साथ उनके घनिष्ठ सम्बन्ध से यही सूचित हुआ। इसके अलावा हमने देखा है कि अग्नि की कुछ विशिष्ट संज्ञाएँ ज्यों की त्यों सोम की भी संज्ञाएँ हैं। सोमयाग सभी यागों से श्रेष्ठ है, जो मनुष्य के परम पुरुषार्थ अमृतत्व का साधक है।[१३२७] सोम इस [१]यज्ञ की आत्मा है, यज्ञ की ज्योति है और अग्नि उसकी नाभि है, दोनों ही यज्ञ के साधन हैं। अग्नि से यज्ञ का आरम्भ और सोम से उसका समापन होता है। साधना के आरम्भ में अभीप्सा और अन्त में आनन्द। अभीप्सा के सहचर के रूप में जो शक्ति या बल है उसके मूल में आनन्द की ही प्रेरणा है।[२] सोम

हैं कविक्रतु को ही ५।११।४, ६।१६।२३, ८।४४।७। यह संज्ञा सोम का भी विशेषण है, किन्तु अन्य किसी का नहीं तु. (९।९।१, २५।५, ६२।१३)। अभीप्सा साधना का आदि है, आनन्द उसका अन्तः देवता की ९ क्रान्दर्शी प्रज्ञा और वीर्य (शक्ति) दोनों का आधार है।

१. द्र. टी मू. २१५, १३२१।

१३२७. तु. ऋ. ९।११३।८, ११, ८।४८।३।

१. आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः ९।२।१०, ६।८, ज्योतिर् यज्ञस्य ८६।१०; नाभिं यज्ञानाम् ६।७।२ तु. अग्नि 'प्रथमो यज्ञसाध्' १२८।२, १४५।३, ३।२७।२, ८, १।४४।११, विद्थस्य साधनम् १०।९२।२ ('विदथ', विद्या, प्रज्ञा; उसके साधन के रूप में यज्ञ विदथ) ८।२३।९; सोम 'मनुषो यज्ञसाधना'' ९।७२।४, त्वं विप्रो अभवोऽङ्गिरस्तमो मध्वा यज्ञं मिमिक्ष नः १०७।६ (अग्नि का विशेषण सोम में)।

२. तु. इन्द्र .... पिबा सोमं शश्वते वीर्याय ३।३२।२५। इसके अलावा 'सोम इन्द्रियों रसो बज्रः सहस्रसा' – सोम इन्द्र का वही रस और वज्र है, जो सहस्र सम्पद छीनकर लाता है ९।४७।३ (तु. ८६।१०)। इन्द्र की समस्त कीर्त्ति के मूल में उसकी ही मत्तता है (तु. २।१५ सूक्त)। और भी तु.

आनन्द के देवता हैं।[३] अतः वैदिक भावना में अग्नि-सोम एक विशिष्ट देवयुग्म है। वे अन्धतमिस्रा के कवल से बहुतों के लिए वह एक ज्योति छीनकर ले आते हैं जो हम सब के बृहत् की भावना द्वारा संवर्द्धित होकर चेतना के अनिबाध वैपुल्य में हमें मुक्ति प्रदान करती है।[४]

संहिता में इस सोम्य आनन्द का पारिभाषिक नाम 'मद' या मत्तता है। यह मत्तता मुख्यतः देवता से सम्बन्धित है; अतएव 'मन्दान, मन्दमान मन्दसाने, मन्दत्, मन्दन, मन्दिन् और मन्द्र' उनके विशेषण हैं। जिस प्रकार 'सोमस्य मदः' है, उसी प्रकार 'सोम्य मधु' है।[१३२८] एक का आनन्द उद्दीपक-उत्तेजक है, और दूसरे का [१]स्निग्ध है, कोमल है।

पुराण में 'बल' राम का मधुपान और महिषासुर में देवी का। सर्वत्र आनन्द वीर्य (शक्ति) का प्रचोदक अथवा प्रेरक है।

३. सोमेनानन्दं जनयन् ९।११३।६ सोमयाग के फलस्वरूप स्वधा (१०), ज्योति (७, ९) एवं आनन्द (११) = सत्, चित्, आनन्द की प्राप्ति।

४. द्र. टी. १२३१ : अवातिरतं वृसयस्य शेषोऽविन्दतं ज्योतिर् एकं बहुभ्यः, ... ब्रह्मणा वावृधानोरुं यज्ञाय चक्रथुर् उ लोकम् १।९२।४, ६। अग्नि 'सुषुमान' १०।३।१, सायण के अनुसार : 'ओषध्यात्मना स्थितः अंशुः सुष्ठु सूयते इति सुषुः सोमः, तेन तद्वान् शोभन प्रसवो वा'। किन्तु द्वितीय अर्थ में 'सुषु' नही सुषू, तु. सुषूर असूत माता ५।७।८।

१३२८. सोम्य 'मद' का वर्णन ऋ. २।२५ सूक्त। सोम्य 'मधु' पान के लिए अग्नि को आमन्त्रण १।१४।१०, १९।९, २।३६।४, ३७।२, ६।६०।१५; वायु को १।१४।१०, विश्वदेवगण को, वही; इन्द्र को ६।६०।१५, ८।२४।१३, ३३।१३, ६५।८, १०।९४।९; अश्विद्वय को ७।७४।२, ८।५।११, ८।१, ४, १०।४, ३५।२२; सूर्य को १०।१७०।१; मित्रावरुण को २।३६।६।

१. तु. मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः .... १।९०।६-८; मधुमतीर् ओषधीर् द्याव आपो मधुमन् नो भवत्व् अन्तरिक्षम्, क्षेत्रस्य पतिर् (तु. गीता का 'क्षेत्रज्ञ' फिर 'क्षेत्रवित्' ऋ. १०।३२।७, क्षेत्रवित्तर सोम १०।२५।८ ९।७०।९) मधुमान् नो अस्तु ४।५७।३ (भीतर-बाहर सब मधुमय), मधु नो द्यावा पृथिवी मिमिक्षितां (क्षरणं करते हैं) मधुश्चुता मधुदुधे मधुव्रते ६।७०।५ (द्युलोक भूलोक सब मधुक्षर हैं), 'मधुमन् मे परायणम् मधुमत् पुनर् आयनम्' – मधुमय हो यहाँ से मेरा गमन, फिर मधुमय हो यहाँ

वृत्रहन्ता इन्द्र की उत्पत्ति ओज से हुई है, इसलिए वे जो कुछ करते हैं, वह 'सोमस्य मद' में करते हैं; और जो अश्विद्वय द्युलोक की ज्योति के प्रथम आभास हैं, वे 'मधुपातम' हैं, उनसे जुड़ा सब कुछ ही मधुमय है।[२] अर्थात् अन्तरिक्ष में जो आनन्द धीरोद्धत है, वही द्युलोक में धीरोदात्त और कभी धीरललित है। 'सामस्यमद: का पर्यवसान् 'सोम्यं मधु' में है।

अग्नि के 'मद' अथवा मत्तता के बोध के लिए उनकी एक संज्ञा 'मन्द्र' है।[१३२९] वस्तुत: इस विशेषण पर अग्नि का ही एकाधिकार[१]

मेरा पुनरागमन (तु. नचिकेता का 'साम्पराय' अथवा वैवस्वत यम के घर जाना और लौट कर आना) १०।२४।६। सुपर्ण अथवा आलोक के पक्षी 'मध्वद' (१।१६४।२२), एवं जीव 'पिप्पलाद' (२०, २२) अथवा 'मध्वद' (क. २।१।५)।

२. तु. ऋ. अश्वावद् अश्विना .... मधुपातम .... गोमत् .... हिरण्यवत् ('गो' पार्थिव आधार में अवरुद्ध ज्योति का प्रतीक, 'अश्व' प्राण अथवा ओज:शक्ति का एवं 'हिरण्य' परम ज्योति का) ८।२२।१७; 'मध्वा मदेम' सह नू समाना:' – मधुपान में मत्त होंगे अब हम अश्विद्वय के साथ एक होकर ३।५८।६। उनके साथ मधु के सम्पर्क का उल्लेख अधिक है ४।४५ सूक्त।

१३२९. **मन्द्र** <√ मद् ।। मन्द् 'मत्त होना'। निघण्टु एवं निरुक्त में इस धातु का अर्थ इस प्रकार है : 'मत्सर:' सोमो मन्दतेस् तृप्तिकर्मण: नि २।५; 'मन्दते। मदन्ति। मन्द्रयते' अर्चतिकर्माण: (गीत गाने के अर्थ में) निघ: ३।१४; 'मन्दते' ज्वलतिकर्मा निघ. १।१६ (यह अर्थ विशेष रूप से अग्नि को लक्ष्य करके); 'मन्द्रा' मदना ('हर्षकरी तर्पयित्री वा लोकस्य' – दुर्ग) नि. ११।२८; निघण्टु में 'मन्द्रा' वाक् १।११। (पास में ही 'गभीरा । गम्भीरा' इसी अर्थ की ध्वनि है) 'मदेमहि' याञ्चा कर्मा निघ् ३।१९; 'मदाय' 'मदनीयाय' जैत्राय (तत्र दुर्ग: जैत्राय इत्यध्याहृतं भाषा कारणे, द्विविधो हि मद: सम्मोहकरो जैत्रश्च् तयोर् जैत्र इष्ट: सङ्ग्रामे; वही इन्द्र का मद है) 'मन्दू' मदिष्णू ('हर्षशीलौ नित्ये प्रमुदितौ' – दुर्ग नि. ४।१३; 'मन्दमानाय' मोदमानाय, स्तूयमानाय, शब्दायमानाय इति वा नि. ११।९: 'मान्द्रजिह्वम्' मन्दनजिह्वं मोदन जिह्वम् इति वा नि. ६।२३। मूल अर्थ

है। विशेष रूप से 'मन्द्र: होता' के रूप में बहुत बार उनका वर्णन किया गया है।[२] उनका आवाहन देवताओं के उद्देश्य से आनन्द का

'आनन्द'; सहचरित 'ज्वाला उद्दीपना' उसका परिणाम 'स्तुति, गान'। उससे वाक् 'मन्द्रा'। तु. IE. mad to wet, to trickle, **GK** madao 'Iflow'।

१. तु. ऋ. मुन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान् ३।१।१७, २।४, ४।२।७, 'असंमृष्टो जायसे मात्रो: शुचिर् मन्द्रो कविर् उद् अतिष्ठो विवस्वत:' – अपरामृष्ट तुम जन्मते हो माता-पिता से शुचि रूप में, आनन्दमग्न कवि तुम हो विवस्वान् के (यही तो) उठ आए हो (अग्नि के माता-पिता को अरणियाँ, उन्हें छुआ जा सकता है, किन्तु अग्नि को जो इतने शुचि हैं कि उन्हें नहीं छुआ जा सकता; वे विवस्वान् अथवा परम ज्योति के आनन्द और प्रज्ञा के वाहन हैं) ५।११।३, 'तं नाकं चित्र शोचिषं मन्द्रं परो मनीषया' – विशोक वे चित्रज्वालामय है, आनन्दमय हैं, मनीषा के उस पार हैं (शोकातिग पञ्चम लोक 'नाक' है, 'मनीषा' मन के भी उस पार है जो उपनिषद् की विज्ञानभूमि है, उसके बाद ही आनन्दभूमि है) ५।१७।२, 'त्वां हि मन्द्रतमम् अर्कशोकैर् ववृमहे महि: न: श्रोष्य् अग्ने, इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमा:' – इसी से हे परमानन्द! तुम्हें हम गान के दहन या उद्दीपन द्वारा वरण करते हैं, महा (वाणी) हम सब की सुनो हे अग्नि: इन्द्र की तरह तुम शौर्य में एवं देवत्व में अथवा तुम आयु जिसे पुरुषोत्तम जन ऋद्धि से पूर्ण कर देते हैं ('अर्क' सुर की आग तु. अर्चि:, ऋक्; 'आयु' तु. अग्निं ... अद्रे: सूनुम् आयुम् आहुं १०।२०।७; अग्नि की उपासना में पुरुष का जीवन ऋद्धि से भर जाता है ६।४।७, १०।१, 'आ याह्य अग्ने पथ्या अनु स्वा मन्दो देवानां सख्य जुषाण:' – आओ अग्नि अपने सारे रास्ते तय करके देवताओं के सख्य में तृप्त आनन्दमय रूप में (सोम की तरह अग्नि भी नाड़ी-सञ्चारी तु. ९।१५।३ और १०।३।१, विश्वदेवगण का अर्थात् चिद्वृत्तियों या चेतना की तरङ्गों का सौषम्य ही आनन्द है) ७।७।२, 'अग्निर् मन्द्रो मधुवचा ऋतावा' मन्द्र और वाक् की सहचरता लक्षणीय ४, 'अग्निं मन्द्रं .... हृदभिर् .... ईमहे (हम पाना चाहते हैं) ८।४३।३१, ७४।७।

२. १।२६।७, ३६।५, १४१।१२, ३।२।१५, ६।७, ७।९, १०।७, १४।१, ४।६।२, ५, ९।३, ५घ।२२।१, ६।१।६, ११।२, ७।८।२, ९।१, २, १०।५, ४२।३, ८।४४।६, ६०।३, १०३।६, १०।६।४, १२।२, ४६।४, ८।

आवाहन है, और [३]हम सबकी ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा की आनन्द का आवाहन है, अतएव वे 'मन्द्रजिह्वः मधुजिह्वः मधुवचाः हैं। लक्ष्य करने योग्य है कि 'मन्द्र' सोम का भी एक सार्थक विशेषण है; जिस प्रकार अग्नि की शिखा मन्द्रा है, उसी प्रकार सोम की धारा भी मन्द्रा है।[४] साधना का आदि-अन्त सब ही उद्दीप्त वीर्य या शक्ति से आनन्दमय है।[५]

---

३. तु. ८।४३।३१ (किन्तु अग्नि को चाहने का उद्देश्य हे विश्वदेवता को पाने के लिए)। अग्नि 'मन्द्रजिह्वः' ५।२५।२, ४।११।५, 'मधुजिह्वः' १।१३।३, ६०।३, ४४।६; 'मधुवचाः' ४।६।५, ७।७।४; और भी तुलनीय १।७६।५, ५।२६।१, ७।१६।९ इसके अतिरिक्त वाक् भी 'मन्द्रा' : 'मन्द्रा गिरो देवयन्तीः' (जो देवता को चाहते हैं) ७।८।३, ८।९५।५, 'वाक् .... राष्ट्री (वाणी) देवानाम् मन्द्रा १००।१०, मन्द्रेषम् (एषणा) ऊर्जं (अन्तरावर्तन की शक्ति) दुहाना धेनुर् वाक् ११। अग्नि 'मन्द्रहोता' इस परिचय के साथ इस भावना का सम्बन्ध है (तु. 'परमपुरुष के मुख से अग्नि की उत्पत्ति, १०।९०।१३, और वाक् की भी' ऐउ. १।४, २।४....)। भावार्थ सुस्पष्ट है कि आन्तरिक उद्दीपन एवं आनन्द ही कवि के मुख से दिव्या वाक् के रूप में व्यक्त होता है।

४. तु. मन्द्रं....सोमम् ४।२६।६, ९।६५।२९, 'मन्द्र ओजिष्ठो (सब से अधिक ओजस्वी) अध्वरे पवस्व (बहता रहे) मंहयद्रयिः' (संवेग को प्रवृद्ध, समृद्ध करो तुम; सीधे ऊपर की ओर ज्वार की तरह आनन्दधारा के बहते रहने की व्यञ्जना है) ६७।१, मन्द्रस्थ रूपं विविदुर् मनीषिणः .....तत् मर्जयन्त (शोधित किया) सुवृधं नदीष्व आ (नदी यहाँ स्पष्टतः नाड़ी) ६८।६ 'मन्द्रेःस्वर्वित्' १०९।८ मन्द्रया सोमधारया वृषा पवस्व देवयुः (देवकाम) ६।१, १०७।८ ....।

५. अग्नि चन्द्र एवं 'चन्द्रथ' (३।३।५; चन्द्र <√ चन्द् ॥ छन्द्) 'झिलमिलाना' 'चमकना' प्रकाश पाना – ऋग्वेद में इसी अर्थ में प्रयुक्त है); सोम की धारा भी 'चन्द्र' ९।६६।२५, सोम हरिश् (स्वर्णवर्ण) 'चन्द्रः' २६। अग्नि और सोम दोनों ही 'चनोहीतः' आनन्द में निहित (३।२।२, ११।२, ९।७५।१, 'अद्रिभिः सुतो मतिभिश् चनोहितः' – पत्थर से दबा कर निचोड़ना और मनन द्वारा आनन्द में निहित ४; चनः <√ चन्

सोम्य मद का पर्यवसान सोम्य मधु में होता है, उसका धारक एवं वाहक अग्नि है। यही भाव मेधातिथि काण्व के इस एक मन्त्र में स्पष्ट रूप में व्यक्त हुआ है। ऋषि कह रहे हैं; 'हे अग्नि, वायु और इन्द्र के साथ पान करो सोम्य मधु मित्र के समस्त धाम लेकर।[१३३०]' अग्नि पृथिवी स्थानीय देवता हैं, वायु एवं इन्द्र अन्तरिक्ष स्थानीय और मित्र द्युस्थानीय देवता हैं। कविक्रतु अग्नि की ऊर्ध्वशिखा हैं, वायु शुद्ध प्राण हैं[१]; इन्द्र शुद्ध मन है[२] और मित्र सर्वतोभास्वर आदित्य चेतना की द्युति हैं। उनकी अजस्र ज्योति में ही पवमान सोम का अमृत लोक है, जो हम सब का परम काम्य है।[३] पृथिवी से इस परमपद तक मित्र के सात 'धाम' अथवा धर्म के क्रम हैं।[४] वे यज्ञ के भी सात धाम हैं, जिनके भीतर से होकर पवमान सोम प्रवहित होता है।[५] अभीप्सा की अग्निशिखा प्रत्येक धाम में उस सोम्य मधुर धारा

॥ कन् 'खुश होना, आनन्दित होना; आदर करना' तु. 'चा-रु' **Lat** carjus 'dear', beloved', **It.** carezza 'endearment, caress')

१३३०. ऋ. विश्वेभिः सोम्यं मध्व् अग्न इन्द्रेण वायुना, पिबा मित्रस्य धामभिः १।१४।१०

१. वायु विराट् पुरुष के प्राण से उत्पन्न १०।९०।१३। वे 'श्वेत' ७।९०।३, ९१।३।

२. इन्द्र 'जात एव प्रथमोमनस्वान् २।१२।१।' कौउ. में वे 'प्रज्ञात्मक प्राण' हैं ३।२। यास्क के मतानुसार अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओं के आदि में वायु, किन्तु इन्द्र भी अन्तरिक्ष स्थानीय अर्थात् अन्तरिक्ष के एक छोर पर वायु और दूसरे छोर पर इन्द्र द्युलोक के सीमान्त पर। प्राणोच्छ्वासरुपिणी 'सरसी' उनकी माता, किन्तु वे वस्तुतः मन के निकटस्थ, प्राण वहाँ गुणीभूत। इन्द्र वायु की सहचरता का उल्लेख ऋक् संहिता में अनेक स्थानों पर है। वही कौषीतकि उपनिषद् की भावना के मूल में है।

३. तु. ९।११३।७, ९, १०।

४. तु. विष्णु के सात धाम १।२२।१६, मित्र के धर्मः 'विष्णुस् त्रीणि पदा विन्चक्रम उप मित्रस्य धामभिः' ८।५२।३ (तु ५।८१।४)।

५. अभक्त (आविष्ट हुए) यद् गुह्य पदम्, यज्ञस्य सप्त धामभिः ९।१०२।२। तु. अग्नि के सप्तधाम ४।७।५, १०।१२२।३। ये सात धाम अध्यात्म-साधना की सप्तपदी; द्र. ८।७२।१६

का पान करके परमव्योम की ओर उठती जा रही है। यह साधना देवयान के ज्योतिर्मय मार्ग को पार कर आदि से अन्त तक एक आनन्द का अभियान है और अग्नि उसके 'मन्द्रः कवितमः दिग्दर्शक हैं।'

यहाँ हमने देखा कि अग्नि, स्वधावान्, प्रचेताः, मन्द्र एवं कविक्रतु हैं। वे सत्य, चैतन्य, आनन्द एवं शक्ति हैं। उनका यह स्वरूप जिस प्रकार एक ओर विश्वोत्तीर्ण, विश्वातीत है, उसी प्रकार दूसरी ओर विश्व में विलसित है, विश्वमय है[१३३१] विश्वातीत में जो अधिष्ठान रूप में सत्य है, वही विश्व में ऋतच्छन्द में लीलायित है। सृष्टि के आरम्भ में आविर्भूत सत्य और ऋत एक युगबद्ध तत्त्व है, जिसके मूल में सर्वतोज्वलित एक तपः शक्ति है; यह परमव्योम में निषण्ण या प्रसुप्त अग्नि की ही शक्ति है।[१] अतएव अग्नि जिस प्रकार [२]अद्‌भुत सत्य, विद्वान् और ऋतचित् सत्य हैं, उसी प्रकार फिर ऋतस्वरूप भी हैं। ऋत विश्व का शाश्वत छन्दोमय विधान है।[३] जीवन

१३३१. ऋ. १०।८८।८; अग्नि रात में वरुण अथवा लोकोत्तर अव्यक्त ज्योति, और दिन में मित्र की व्यक्त ज्योति। द्र. ६१।११, टी. १२३३ (८)।

१. तु. ऋतं च सत्यं चा. भीद्धात् तपसोऽध्यू अजायत १०।१९०।१।

२. त्वं हि सत्यो अद्‌भुतः ५।२३।२; सहि सत्यो यं पूर्वे....चिद् यम् ईधिरे (समिद्ध किया है) २५।२, अग्निर् विद्वाँ ऋतचिद धि सत्यः १।१४५।५; तु. ४।३।४, ५।३।९। अग्नि का सत्य उनकी भद्रकारिता, कल्याण कारिता, तु. यद् असङ्ग दाशुषे (जो देता है उसके लिए) त्वम् अग्ने भद्रं करिष्यसि तवे त् तत सत्यम् अङ्गिरः १।१।६।

३. **ऋत** (< √ऋ 'चलना') गति, विशेष रूप से आदित्य की एकनिष्ठ अविचलित एवं ज्योति से उद्‌भासित गति। उससे ऋतु का विधान। आदित्य का उदय-बिन्दु दाहिने-बाएँ डोलता है, उससे पृथिवी में प्राण लीला का पर्याय या क्रम दिखाई पड़ता है। आकाश की ज्योति अथवा आलोक में और पृथिवी के प्राण में जिस छन्द का दोलन है, वही ऋतुपरिर्वन है। जिसमें प्राण और चेतना का ज्वार-भाटा या चढ़ाव-उतार होता रहता है। ऋतु के इस रहस्य को जान कर जो यज्ञ करते हैं उन्हें ऋतु याजी या ऋत्विक् कहते हैं। ऋक् संहिता में **ऋत प्रशस्तिः** 'ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर् ऋतस्य धीतिर् वृजिनानि हन्ति, ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा

जब उसका अनुगामी होता है, तब ही हमारे भीतर द्युलोकभिसारी अभीप्सा की शिखा जल उठती है। इसलिए 'ऋतुजात' यह अग्नि की एक विशिष्ट संज्ञा है।[४] जो ऋतजात, वे अवश्य ही [५]धृतव्रत, अप्रमत्त

बुधानः शुचमान आयोः।' ऋतस्य दृल्हा धरुणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंसि, ऋतेन दीर्घम् इषणन्त पृक्ष ऋतेन भाव ऋतम् आ विवेशुः। ऋतं येमान ऋतम् इद् वनोत्य् ऋतस्य शुष्मस् तुरया उ गुव्युः, ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे ऋताय धेनू परमे दुहाते' – ऋत की स्निग्ध धारा ('शुरुधः' शुच अथवा ज्वाला को जो रुद्ध करते हैं, जल नि. ६।१६) सब कितनी है। ऋत का ध्यान करता है सारे पापों का मोचन ('वृजिनानि' < √वृज् 'मोड़ना, 'मरोड़ना') ऋत की श्रुति लोगों के (आयोंः) बधिर कान को वेधकर बोधयोग्य और दीप्तिमान् कर देती है। ऋत की जितनी है दृढ़मूल प्रतिष्ठा एवं जितना है दृष्टि को विभ्रान्त करने वाला सुदीप्त विस्मय 'वपूंषि'; ऋतद्वारा ही दीर्घकाल तक सञ्चारित कर रखा है उन्होंने अमृतस्पर्श को 'पृक्षः', ऋत के द्वारा ही किरणयूथ (गावः) ने प्रवेश किया है ऋत में (आधार में, गुहाहित ज्योति का प्रकाश)। ऋत को जो जकड़े-पकड़े रहता है, वह ऋत ही प्राप्त करता है; ऋत का उच्छ्‌वसनत्वरित गति से खोजता है (गुहाहित) किरणों को; ऋत के लिए ही (द्यावा-) पृथिवी विपुल एवं गहन, ऋत के लिए ही वे दोनों परम धेनुएँ क्षरण करती हैं दुग्ध (४।२३।८-१०)। जीवन में ऋत की प्रतिष्ठा होने पर सूर्य-पवन, द्युलोक-भूलोक, ओषधि-वनस्पति, दिन-रात सब मधुमय हो जाता है, (१।९०।६-८)। ऋत का चरम परिचय है 'ऋतं बृहत्' 'ऋतं महत्', सत्यं 'ऋतं बृहत्'। वेद के सारे प्रधान देवता 'ऋतावा' अथवा ऋतमय हैं।

४. 'नित्वाम् अग्ने मनुर् दधे ज्योतिर् जनाय शश्वते, दीदेथ कण्व ऋतजात् उक्षित'- हे अग्नि, मनु (आदिपिता) ने सब के लिए निहित किया है तुमको ज्योति रूप में, ऋत से उत्पन्न होकर तुम कण्व रूप में जल उठे हो, प्रवृद्ध होकर (सूक्त के ऋषि घोर कण्व, इसके अलावा अग्नि ही कण्व, ऋषि और देवता एक) १।३६।१९, १४४।७, १८९।६ ऋत प्रजात : ६४।१०, ३।६।१०, २०।२, ६।७।९, १३।३।

५. 'धृतव्रत': अग्ने धृतव्रताय ते समुद्रायेव सिन्धवः, गिरो वाश्रास ईरते (वाणियाँ मुखर होकर दौड़ती चलती हैं) ८।४४।२५; तु. त्वे विश्वा सङ्गतानि व्रता ध्रुवा यानि देवा अंकृण्वत १।२६।५ अदब्ध व्रत प्रभतिः

एवं ध्रुव हैं, – वे अपने स्वधर्म से तनिक भी विच्युत नहीं होते। इसलिए वे 'ऋतावा:' (ऋतवान्) – [६]मर्त्यों में 'अमृत ऋतावा' हैं। [७]ऋतवान् होने के कारण ही वे तारों से आच्छादित द्युलोक की तरह विचेता हैं, घर-घर में हँसी-खुशी से निखार देते हैं – ऋजुता की समस्त साधना को। युवा कवि हैं, [८]उन्होंने अनेक के भीतर ऋतवान् होकर छितरा दिया है स्वयं को, धारण किए हैं कर्षकों को उनके भीतर समिद्ध होकर। [९]उनका ऋतच्छन्द हम सब को अवीरता से, मन

(उनके 'व्रत' अथवा इच्छा के स्वातन्त्र्य की उपेक्षा सम्भव नहीं, तु. २।८।३, ६।७।५) २।९।१, 'अथा धर्माणि सनता न दूदुषत्' – और किसी समय भी धर्म का उल्लङ्घन वे नहीं करते ३।३।१। 'अप्रमत्त' (अप्रयुच्छत्) १।१४३।८, ३।५।६, १०।८८।१६। 'ध्रुव' ६।९।४, ५, 'यो मर्त्येषु निध्रुविर्' (गहराई में प्रतिष्ठित, अवस्थित) ऋतावा ७।३।१।

६. १।७७।१, २।५; ऋतुपा ऋतावा ३।२०।४ (तु. 'अग्ने देवाँ इहा वह सादया योनिषु त्रिषु, परिभूष पिब ऋतुना' – हे अग्नि देवताओं को यहाँ बुलाकर लाओ, उनको निवेशित करो तीन योनियों में; दिशा-दिशा में फैल जाओ, और ऋतु के साथ सोमपान करो १।१५।४) 'तीन योनि' तीन अग्निजनन स्थान, आध्यात्मिक दृष्टि से मूर्द्धा भ्रूमध्य एवं हृदय के तीन आवसथ तु. ऐउ. १।३।१२; ऋतु इस मन्त्र में ग्रीष्म का उत्तरार्द्ध मास 'शुचि', तु. २।३६।४, विशेष विवरण द्र. 'द्रविणोदा:'।

७. तु. ऋतावानं विचेतसम् पश्यन्तो द्याम् इव स्तृभि:, विश्वेषाम् अध्वराणां हस्कर्तारं दमेदमे ४।७।३ ('विचेता:' तु. चित्तिम् अचित्तिं चिनवद् वि विद्वान् ४।२।११; तारों से आच्छादित आकाश में वारुणी चेतना की ध्वनि, सारी रात अग्निहोत्री के अग्नि मन्त्र का मनन चलता है, उसके बाद भोर के समय उषा की हँसी फूट पड़ती है १।९२।६, दोनों ही आग्नेयी चेतना अथवा अभीप्सा का परिणाम), सदम् (सर्वदा) इत ऋतावा ७।

८. युवा कवि: पुरुनि:ष्ठ ऋतावा धर्ता कृष्टीनाम् उत 'मध्य इद्ध: ५।१।६।' तु. क. अङ्गुष्ठमात्र: पुरुषो ज्योतिर् इवा. धूमक: .... मध्य आत्मनि तिष्ठति २।१।१३, १२। 'कृष्ट्य:' निघ. २।३, मूलत: कर्षक्, पवर्त साधक का उपमान।

९. ऋ. मा नो अग्ने उवीरते पर दा दुर्वाससेऽमतये मा नो अस्यै, मा न: क्षुधे मा रक्षस ऋतावो मा नो दमे मा वन आ जुहर्था: ७।१।१९। प्राण की

के इस दुर्वासा दारिद्र्य से तथा, क्षुधा एवं राक्षसों से बचाएगा – घर या वन में कहीं भी हमें भूलकर टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर नहीं ले जाएगा। ऋतवान् होने के कारण ही वे बृहत् हैं।[१०] केवल वही नहीं, [११]वे ही ऋत हैं, इसलिए सारे देवता उनके व्रत के अनुगामी हैं। चित्त-संवेग या मनश्चेतना के साथ इस ऋत स्वरूप अमृत की परिचर्या करके ही सब लोग देवता का नाम और देवत्व प्राप्त करते हैं। वे ऋत की प्रेषा हैं, ऋत के ध्यान हैं। [१२]वे विश्व के महत् हैं; ऋत के चक्षु और रक्षक हैं, वे वरुण होकर ऋत के पथ पर चलते हैं। [१३]ऋत के लिए ही है उनकी सप्तपदी और उसी से उनके अपने तनु से मित्र का जन्म।

वीर्यहीनता, मन की निर्लज्ज दरिद्रता, लोलुपता, कार्पण्य, कौटिल्य – ये सब 'अनृत' हैं।

१०. तु. प्र मंहिष्ठाय गायत ऋतावने बृहते ८।१०३।८; अग्ने मित्रो न बृहत ऋतस्याऽसि क्षत्ता (ईश्वर) ६।१३।२; यजा देवाँ ऋतं बृहत् (सारे देवता एवं अग्नि दोनों का बोध होता है) १।७५।५। अग्नि 'बृहत् :' 'त्वं वाजं प्रतरणो वृहन्न असि' – तुम वही ओजस्विता हो, जो सामने आगे-आगे लेकर चलती है, तुम वही बृहत् (ओजस्विता बृहत् को प्राप्त करवा देती है) हो, २।१।१२, १०।१।१, जातो बृहन्न् अभि पाति तृतीयम् (विष्णु का परमधाम; अग्नि और विष्णु की एकता) ३...।

११. तु. ऋतस्य (अग्ने: देवा अनुव्रता) गु: १।६५।३ भजन्त विश्वे देवत्वं नाम ऋतं (अग्नि सपन्तो अमृतम्) एवै: (संवेग के द्वारा) ६८।४; ऋतस्य (अग्ने:) प्रेषा ऋतस्य धीति: (यह सब किया है; विश्व के सब कुछ के मूल में अग्नि का अनुध्यान और प्रेरणा) ५। तु. अग्नेत्रातर् ऋतस् कवि: ८।६०।५; ३।७।८; ७।७।६

१२. भुवश् चक्षुर् मह ऋतस्य गोपा भुवो वरुणो यद् ऋताय वेषि १०।८।५। तु. ५।१२।१-३ (द्र. टीका १३२० (१))।

१३. ऋताय सप्त दधिषे पदानि जनयन् मित्रं तन्वं स्वायै १०।८।४, ८।७२।१६। तु. टी. १३३० (४), (५)। सप्तम भूमि पर मित्र अथवा 'विश्व रुचि' का प्रकाश अग्नि में ही।

शाक्त्य पराशर का कथन है कि ऋतप्रजात यह अग्नि सोम की तरह ही '**वेधाः**' अर्थात् वेधक[१३३२] है। ऋक् संहिता में यह विशेषण विशेष रूप से अग्नि का है अर्थात् वे ही 'वेधस्तमः' हैं।[१] शर लक्ष्यवेध करता है; उसके साथ हम पुरुषार्थ सिद्धि की उपमा

१३३२. तु. सोमो न वेधा ऋता प्रजातः १।६४।१०। **वेधाः** मेधावी निघ. ३।१५; सायण की व्युत्पत्ति < वि √विधाता:भिमत फलस्य कर्ता १।६०।२। वस्तुतः < √विध् ।। विद्ध, व्यध् (विद्ध करना, शर की तरह लक्ष्य तक पहुँचना : तु. 'न विन्धे अस्य सुष्टुतिम' – इनकी शोभन स्तुति के पार नहीं पहुँच सकता १।७।७; 'अयं वां वत्सो मतिभिर् न विन्धते') – (हे अश्विद्वय) यह तुम्हारा वत्स (ऋषि का नाम, इसके अलावा 'सन्तान') मनन द्वारा तुम तक नहीं पहुँच पाता ८।९।६, 'य उक्थेभिर् न विन्धते' – जो (इन्द्र) वाणी से परे हैं उन तक वचन द्वारा पहुँचना सम्भव नहीं ५१।३। √विध् के परिचरण अर्थ का मूल यहाँ है, लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयास ही परिचर्या है। अतएव 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' = किस देवता के निकट आत्माहुति द्वारा पहुँचेंगे हम? (१०।१२१ सूक्त की टेक); √विध् गत्यर्थक होने से ही 'देवाय' इस चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग सङ्गत होता है। इसके अतिरिक्ति निघण्टु में 'वेधाः' ऋत्विक् अर्थात् जिनकी सिद्ध चेतना लक्ष्य तक पहुँच चुकी है : तु. शंसात् उक्थम् उशनेव वेधा : ४।१६।२ (उशना वहाँ सिद्ध चेतना का आदर्श है, ऋक्संहिता के विख्यात ऋषि, एक कवि उशना, इन्द्र के साथ जिनका सायुज्य है ४।२६।१ और एक हैं काव्य उशना) वेधसे स्तोमैर विधेमा अग्नये ८।४३।११ (अग्नि वेधा, लक्ष्य तक पहुँचे ही हुए हैं अब हम उनके निकट पहुँचेंगे गीत की लहर-लहर में)। लक्ष्य तक पहुँचना संहिता में 'मेधा' (< मनस् √धा, तु. मन्धाता) योग में 'समाधि'; निघण्टु में इसीलिए 'वेधाः' मेधावी (तु. 'सनि मेधाम अयासिषम्' पहुँचे हम उस मेधा तक, जिससे लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है १।१८।६)। मु. टी. १३६१ (६)।

१. १।६०।२, अग्निर् वेधस्तम ऋषिः ६।१४।२ ऋषि भी वेधाः, वे भी लक्ष्य की ओर अग्रसर हैं।

उपनिषद् में पाते हैं।[२] संहिता में बतलाया जा रहा है कि जो शरक्षेप करना चाहता है, अग्नि अपने सृष्टि बल के कारण उसके वेधाः अर्थात् देवता का बल अथवा शौर्य ही साधक की ओर से लक्ष्यवेध करता है।[३] शर इधर-उधर हिलता-डुलता नहीं; वह ठीक रास्ता पहचान कर लक्ष्य तक पहुँचता है।[४] उसी प्रकार वेधा अग्नि भी सीधे समस्त घाट-बाट जानते है; क्योंकि देवयान के वे ही दिग्दर्शक हैं। इस मार्ग पर राक्षस बाधा हैं; [५]सुधन्वा अग्नि तप्ततम शरजाल से 'विद्ध करते हैं' – उनका हृदय एवं मर्म। [६]फिर ऊर्ध्वशिख होकर शरक्षेप द्वारा हमारे रास्ते से उनको हटा देते हैं, हमारे निकट प्रकट करते हैं

---

२. तु. मु. २।२।३, ४ : उपनिषत् अथवा प्रणव धनु उपशनिशित् (उपासना द्वारा तीक्ष्णीकृत) आत्मा शर और अक्षर ब्रह्म लक्ष्य; अप्रमत्त होकर लक्ष्य वेध करना होगा, शर की तरह तन्मय होना होगा।

३. ऋ. 'क्रत्वा वेधा इषूयते......वह्रिर् वेधा अजायत' अर्थात् हव्य अथवा आकूति को वहन करके वे लक्ष्य तक पहुँचते हैं १।१२८।४।

४. वेत्था हि वेधो अध्वनः पथश् च ६।१६।३ (तु. अग्ने नय सुपथा राये.... विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् १।१८९।१।)

५. अस्ता. सि (तुम धानुकी; धनुर्द्धर), 'विध्य' रक्षसस् तपिष्ठैः ४।४।१ (तु. रक्षोहा अग्नि के सम्बन्ध में १०।८७।४, ६, १३, १७)।

६. ऊर्ध्वो भव प्रति विध्या ध्य् अस्मद आविष्कृणुस्व दैव्यान्य् अग्ने, अव स्थिरा तनुहि यातुजूनां जामिम् अजामिं प्र मृणीहि शत्रून् ४।४।५ प्रत्यक्ष 'शत्रु' 'अजामि' और मुखौटा धारी 'जामि'। अध्यात्म साधना में अविद्या कभी-कभी मुखौटा लगाकर आती है। वही 'यातु' अथवा 'अदैवी माया' है। (तु. अग्नि 'प्रा. अग्नि मायाः सहते दुरेवाः' – दुश्चरित अदिव्य माया जितनी भी है सब को वे अभिभूत करते हैं ५।२।९; तु. 'पतङ्गम् अक्तम् असुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः, समुद्रे अन्तः कवयो वि चक्षते मरीचीनां पदम् इच्छन्ति वेधसः' – असुर की माया से आच्छन्न इस पक्षी को मर्मज्ञ हृदय और मन द्वारा देखते हैं, कविगण समुद्र की गहराई में देखते हैं और वेधागण अथवा मेधावी मरीची समूह का धाम पाना चाहते हैं १०।१७७।१ : 'पतङ्ग' अन्तर्ज्योति; 'समुद्र' हृद्य समुद्र; 'मरीचियों का धाम' जहाँ चेतना का रश्मि-जाल संहत है; किन्तु (द्र. टी. ११८३(२))।

अपनी समस्त दिव्य शक्ति; जो शत्रु जादू का प्रयोग करते हैं, उनके कठिन धनु को अलग कर देते हैं और वे चाहे आत्मीय हों या अनात्मीय उनको चूर-चूर कर देते हैं, उन्हें नष्ट कर देते हैं। [८]उनकी यह वेध-शक्ति चरिष्णु मनुष्यों के ही प्राणोच्छ्‌वास से उत्पन्न है। [९]इसके अतिरिक्त ये वेधा अग्नि ही देवयान के मार्ग पर आवेगकम्प्रता की समस्त ज्योति लेकर चलते हैं। [९]इसलिए वेधा रूप में वे कवितम हैं।[१०]

---

७. स विप्रश् चर्षणीनां शवसा मानुषाणाम्, अति क्षिप्रे. व विध्यति ४।८।८ (शवसा < √शू 'फूल जाना' : तु. इन्द्र 'शू-र', उनकी माता 'शवसी' ८।४५।५, ७७।२)।

८. विपां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे ३।१०।५। द्रष्टव्य. अग्नि स्वयं 'विप्र' अथवा आवेग कम्पित। हृदय के आवेग की ज्योति ही योग की हार्दज्योति है। अग्नि अथवा अभीप्सा उसका भर्ता या प्रतिपालक है।

९. कवितम: स वेधा: ३।१४।१, ४।२।२०, ३।१६, अग्ने कविर् वेधा असि ८।६०।३, वेधसे कवये वेद्याय ५।१५।१। कवि क्रान्तदर्शी; अतएव समस्त अग्निपथ बोधि अथवा हृदय की दीप्ति से उज्जवल है।

१०. अग्नि की तरह इन्द्र एवं सोम भी वेधा। सात अथवा इक्कीस पाषाणपुरी की ओट में जो वराह है, उसे इन्द्र विद्ध करते हैं (द्र. सायण भाष्य ८।७७।१० १।६१।७ तैस. ६।२।४।३)। सोम : 'त्री ष पवित्रा हृद्य् अन्तर् आ दधे, विद्वान्त, स विश्वा भुवना. भि पश्यत्य् अवाजुष्टान् विधाति कर्ते अव्रतान्' – तीन छालनी या छलनी उन्होंने अन्तर्हृदय में स्थापित किया है; वे विद्वान् हैं विश्वभुवन की ओर दृष्टि रखते हैं, जो अजुष्ट एवं अव्रत हैं, उन्हें विद्ध करके गहरें में फेंक देते हैं ९।७३।६ ('पवित्र' सोमरस को शुद्ध करने के लिए मेषलोम की छलनी; ये तीन छलनी या चलनी हैं अग्नि, वायु और सोम तत्त्व, सायण ९।९७।५५। 'अजुष्ट' जो देवता द्वारा असम्भुक्त या देवता के प्रसाद से वञ्चित हैं। 'कर्त' गर्त, गुहा – जहाँ अविद्या का अँधेरा है। हृदय में अवरुद्ध सोम्य आनन्द की धारा देवता की वेधशक्ति से मुक्त होती है)। अग्नि सोम का वेधकर्म १।६५।१०। इन्द्र सोम : 'इन्द्रा सोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तर अनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम, यथा ना. त: पुनर एकश चनो. दयत्' – हे इन्द्र! हे सोम! दुष्कर्मी दुरा चारियों को कुएँ में गहरे अवलम्बन रहित 'अँधेरे में प्रविद्ध

अग्नि की एक अन्य विशिष्ट संज्ञा 'गोपा:' अथवा रक्षक है।[१३३३] प्रतिदिन जब आकाश में उषा की ज्योति फूटती है और सूर्य के उदय

करो, जिससे उनमें एक भी वहाँ से फिर उठकर न आ सके ७।१०४।३ (तु. ५। 'दुष्कृत' हमारे दुश्चरित की प्रेरक वृत्ति है, पुराण में जो पातालवासी असुर रूप में वर्णित; तु. योग का 'आशय')।' मरुद्गण: 'विध्यता विद्युता रक्ष:' – राक्षसों को विद्युत् से विद्ध करते है, 'ज्योतिष् कर्ता यद् अश्मसि' – जो आलोक या ज्योति हम चाहते हैं उसे प्रस्फुटित करो १।८६।९, १०। हम सर्वत्र देखते हैं कि वेधशक्ति तमिस्रा के आवरण को विदीर्ण करके ज्योति प्रस्फुटित करती है, इसलिए वे 'वेधा:' हैं।

१३३३. < गो √पा, गोपालक, रखवाला। 'गो' अन्तर्ज्योति, अतएव **गोपा:** आलोक रक्षी, ज्योति का रखवाला। पदपाठ में इस शब्द में अवग्रह नहीं, किन्तु व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ के लिए द्र. ऋ. पशून् न गोपा: ७।१३।३ (१०।२३।६), यथू. व पश्वो व्यू उनोति गोपा: ५।३१।१। इससे संहिता में ही धातुरूप गोपाय तम् ६।७४।८; 'गोपायन्ति' १०।१५४।५। गोपा पथ प्रदर्शन एवं विचक्षण अर्थात् जिनकी दृष्टि चारों ओर हो (२।२३।६ बृहस्पति), इस लिए वे 'अदब्ध' हैं अर्थात् कोई उन्हें धोखा नहीं दे सकता। (२।९।६, ६।७।७ अग्नि)। वे 'अविता' हैं अर्थात् उपासक की चारों ओर से रखवाली करते हैं (१०।७।७ अग्नि)। गोपा जिस प्रकार अग्नि का विशेषण है, उसी प्रकार विशेष रूप से अदित्य गण सूर्य और विष्णु का विशेषण है। आदित्यगण विश्व भुवन के गोपा हैं (२।२७।४, ७।५१।२), सूर्य विश्व के स्थावर - जङ्गम के गोपा हैं ७।६०।२, वरुण मित्र, अर्यमा एवं पूषा सब के गोपा हैं (८।३१।१३, 'पूषा अनष्ट पशुर् भुवनस्य गोपा:' १०।१७।३), विष्णु 'अदाभ्यो गोपा: १।२२।१८', गोपा: परमं पाति पाथ: (३।५५।१०) इससे वैष्णव के भगवान् 'गोपाल'। इसके अतिरिक्त सारे तैंतीस देवता ही सभी दृष्टियों से सब के गोपा हैं। ते नो गोपा अपाच्यास् (पश्चिम में) तु उदक्त (उत्तर में) इत्था न्यक् (नीचे अर्थात् दक्षिण में, अत: ऋषि गण हिमवद् वासी), पुरस्तात् (पूरब में) सर्वया विशा ८।२८।३। ये गोपा आदित्य रूप में परम देवता हैं, जिनकी रश्मि हम सब के भीतर आविष्ट है (१।१६४।२१), एवं वायु रूप में विश्व प्राण हैं जो विश्व भुवन के अन्तर में वर्तमान हैं (३१) इस संज्ञा

होने पर नये जीवन की सूचना होती है, तब ये अग्नि होते हैं हम सब के 'गोपा:' अथवा ज्योति रक्षक।[१] नित्य जाग्रत[२] अतएव 'अदब्धो गोपा:' हैं वे प्रवर्त साधकों के [३]ऋजुता के पथ पर[४] लेकर चलते हैं ऋत के छन्द में सब के चक्षु होकर[५], जो परम और चरम है उसके रक्षक होकर।[६] वे केवल यजमान के ही नहीं, बल्कि विश्व में जो

से जुड़ा आध्यात्मिक भावना का उल्लास लक्षणीय। ईसाई धर्म में ईसा मसीह भी मेषपाल।

१. तु. त्वं नो अस्या उषसौ व्युष्टौ त्वं सूर उदिने बोधि गोपा: ३।१५।२ (तु. उद् ईर्ध्वं जीव असुर न आगात् १।११३।१६)। उषा की ज्योति प्रातिभ संवित् का, सूर्य की ज्योति विज्ञान का प्रतीक। अमीसा रूपी अग्नि ज्योति दोनों के बीच सेतु स्वरूप।

२. जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृवि: ५।११।१।

३. विशां गोपा: १।९४।५, ९६।४। द्र. 'विशां कवि:' टी. १३२५ (६)। तु. ८।३५।१५-१६ : वहाँ 'ब्रह्म' अथवा ब्राह्मण का परिचायक 'धी', 'क्षत्र' अथवा 'क्षत्रिय' का 'नृ' (पौरुष) और 'विश्' का 'धेनु' है। उसके साथ 'गोपा' का सम्बन्ध सुस्पष्ट है। भागवत के गोपाल -कृष्ण क्षत्रिय कुल में जन्म लेकर भी विश् या सामान्य जनों के बीच पले; वे केवल भक्तों ब्राह्मणों और राजर्षियों के देवता नहीं हैं, बल्कि स्त्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के भी देवता हैं (गीता ९।३२) अर्थात् वेद की भाषा में वे भी विशां गोपा:।

४. राजान्तम् अध्वराणां गोपाम् ऋतस्य १।१।८। 'गोपाम्' का अन्वय उभयत:। अध्वर (< √ध्वृ।। हवृ 'टेढ़े-पेढ़े चलना') जिसमें धूर्ति अथवा टेढ़ी चाल नहीं। (तु. ८।४८।३; १।१८९।१), आर्जव या ऋजुता की साधना। द्र. टी. १३४४ (६)।

५. तु. १०।८।५, ३।१०।२, १०।११८।७, १।१।८

६. अदब्धो गोपा उत न: परस्पा: २।९।६। 'परस्पा:' – जो 'पर:' अथवा सब से परे है उसके रक्षक (तु. २; अश्विद्वय के प्रति : यातं छर्दिपा उत न: परस्पा भूतं जगत्पा उत नस् तनूपा ८।९।११) – देह, गेह, विश्व एवं विश्वातीत के भी रक्षक (पाता)।

कुछ है, और जो कुछ हो रहा है विचित्र रूप में उन सब के ही गोपा हैं।[७]

'तम आसीत् तमसा गूळ्हम' अग्ने अप्रकेतं सलिलं सर्वम् आ इदम् – अँधेरा अँधेरे से ढँका था सब से पहले, यह जो कुछ सब था प्रचेतना हीन सलिल रूप में सर्वत्र दिशा-दिशा में।[१३३४] उसी अँधेरे के भीतर ज्योति का आभास जागा। ज्ञान की क्रिया में अँधेरे से आलोक पृथक् हुआ। चेतना की यह क्रिया 'चित्ति' है और उसका प्रथम प्रकटन या व्यञ्जना 'पूर्वचित्ति' है।[१] चित्ति में जो अनुभूत होता है, वह 'चित्र' अर्थात् एक अपरूप दर्शन, एक विस्मय है।[२] यह संज्ञा अग्नि के लिए अनेक रूपों में प्रयुक्त हुई है। जड़ता की अन्धतमिस्रा को विदीर्ण करके अग्नि का आविर्भाव होता है, इस अपूर्व अद्भुत आविर्भाव के साथ उनका एक और विशेषण 'दस्म' अर्थात् (तिमिर-) नाशन जुड़ा हुआ है।[३] अग्नि दस्म होने के कारण ही चित्र

---

७. सतशाचगोपां भवतश्च भूरे : १।९६।७।

१३३४. ऋ. १०।१२९।३।

१. चित्ति < √चित्।। कित् 'किसी कुछ के बारे में सचेतन होना'। तु. देवासो अग्नि जनयन्त चित्तिभि: ३।२।३; सब कुछ ही अव्याकृत अव्याख्यात था, उसके भीतर विश्वदेवता के अभिनिवेश या अनुप्रवेश से वैश्वानर अग्नि के संवित् अथवा सचेतनता का प्रस्फुटन हुआ। द्र. टी. ११४६। चित्ति – कहीं 'चित् स्पन्द' (१।६७।५, २।२१।६), कहीं चेतना की एकतानता (८।५९।३, ३।२।३), कहीं विवेकदर्शन (४।२।११), और कहीं केवल चित् शक्ति की क्रिया है (१०।८५।७)।

२. चित्र नि: चायनीय ४।४ < √चाय् 'दर्शन करना' < IE, q (u) ei 'to watch', IE 'squit' 'Bright', 'to shine' सूर्योदय का वर्णन : चित्रं देवानाम् उद् अगाद् अनीकम् १।११५।१।

३. **दस्म** < √दस् 'नष्ट कर देना' < दस्य (नि. ७।२३), 'दास' नि. २।१७। अनुरूप शब्द 'दस्र' अश्विद्वय की रूढ़ संज्ञा है, अँधेरे के भीतर से उनकी ज्योति का अभियान उषा के पूर्ववर्ती काल तक जारी रहता है 'दस्म' इन्द्र का भी विशेषण है, क्योंकि वे भी 'वृत्रहा' वृत्रहन्ता अथवा तिमिरनाशन हैं। भूलोक के केन्द्र में अग्नि, अन्तरिक्ष के केन्द्र में इन्द्र और द्युलोक के केन्द्र में अश्विद्वय – ये तीनों देवता ही दस्म हैं – अँधेरे का आवरण

हैं। इसी आधार या स्थान पर वे गुहाहित थे[४], देवता अथवा विप्र की चित्ति की प्रेषणा से [५]चारों ओर व्याप्त अँधेरे को दूर करके वे चित्र शिशुरूप[६] में आविर्भूत हुए और उषा के चित्र प्रचेतना रूप में; [७]बढ़ते रहे [८]जलदर्चि के चित्र विभाति रूप में, हृदय के निकट दमक उठे सोने की तरह, द्युलोक के वज्र की तरह (गरज उठा) उनका प्राणोच्छ्वास, चिन्मय सूर्य की तरह [९]आँखों के सामने उन्होंने अपावृत किया अपना भानु। इसलिए वे [१०]'चित्रभानु' 'चित्रमहा:' 'चित्र शोचि'

हटाकर गुहाहित ज्योति को चित्र अथवा दर्शनीय करते हैं। दूसरी ओ 'दस्यु' अथवा 'दास' अँधेरे से ज्योति को आच्छादित करते हैं (तु. ऋ. २।११।१८, ४, ४।१६।९...)।

४. चित्रं सन्तं गुहाहित ४।७।६

५. तु. ३।२।३, ३।३

६. चित्रो नयत परि तमांसि ६।४।६, चित्र: शिशु: परि तमांस्य अक्तून् १०।१।२

७. चित्र: प्रकेत उषसो यहाँ असि १।९४।५;

८. चित्रो विभात्य अर्चिषा २।८।४

९. वियद् रुक्मो न रोचस उपाके, दिवो न ते तन्यतुर एति 'शुष्मश चित्रो न सूर:' प्रति चक्षि भानुम् ७।३।६

१०. चिन्त्रभानु : १।२७।६, २।१०।२, तं त्वां....ईमहे (पाना चाहते हैं) चित्रभानो स्वर्दृशम् ५।२६।२, चित्रभानुर् उषसां भात्य् अग्रे ७।९।३, चित्रभानु रोदसी अन्तर उर्वी १२।१, ८।४४।६, तं त्वा यमो अचिकेच् चित्रभानो १०।५१।३ (वैवस्वत मृत्यु चेतना के द्वारा गुहाहित अग्नि का प्रथम दर्शन, यहाँ न मरने पर वहाँ नहीं पाया जाता)६९।११। चित्रमहा: १०।१२२।१। चित्रशोचि: ५।१७।२ (द्र. टीका १३२९ (१)), 'यो अग्नये ददाश विप्र उक्थै:, चित्राभिस् तम् ऊतिभिश् चित्र शोचिर् व्रजस्य साता गोमतो दधाति' – आवेग कम्पित होकर जो अग्नि को दिया, उसे चित्रशोचि अपनी चिन्मय परिरक्षणी शक्ति द्वारा प्रतिष्ठित करते हैं गोयुक्त व्रज के अधिकार में ('गोमान् व्रज' जहाँ आलोकरश्मियों का समूहन, तु. भागवतजनों का 'व्रजधाम' 'गोलोक') ६।१०।३, ८।१९।२। चित्रश्रवस्तम् : अग्निर् होता कविक्रतु: सत्यश् चित्रश्रवस्तम: १।१।५ यह विशेषण देवताओं में केवल अग्नि का तु. १।४५।६; इसके अलावा 'मद' ८।२४।३ एवं द्युम्न ३।५९।६ अथवा दिव्य ज्योति चित्रश्रवस्तम, चित्रश्रव के साधन के रूप में : श्रव;

'चित्रश्रवस्तम' अर्थात् उनकी भाति, महिमा, ज्वाला एवं श्रुति सभी एक चिन्मय अथवा चैतन्यस्वरूप विस्मय है। इसलिए इस तिमिरनाशन चिन्मय अविर्भाव के निकट बार्हस्पत्य भरद्वाज प्रार्थना करते हैं, 'हे चित्र! तुम्हारा चिन्मय संवेग जो सजग सचेतन कर देता है, हे चित्रवीर्य! जो चित्रतम एवं तारुण्य का आधाता है जो आनन्दमुखर एवं प्रभूत वीर्य या बल में बृहत् है, हे आनन्द दीप्त! – अपना आनन्दहिल्लोल (शिखाओं द्वारा) हम सब के भीतर एवं इस गीतिकार या कवि के भीतर निहित करो'।[११]

अग्नि के गुणों का एक संक्षिप्त परिचय यहाँ समाप्त हुआ। यहाँ हमने देखा कि हम सब के ही भीतर वे अजर अमृत की एक गोपन शिखा अर्थात् अतन्द्र अभीप्सा के साथ द्युलोक की ओर ऊर्ध्वमुख रूप में हैं। स्वरूप में वे अक्षर, नित्य, स्वधावान् और शुद्ध सन्मात्र हैं, प्रज्ञान में क्रान्तदर्शी कवि हैं और ऋतच्छन्द में आनन्दमय हैं। वे कविक्रतु हैं, देवयान के मार्ग में हमारे नित्य सहचर हैं, रक्षक हैं और अध्यात्मचेतना के प्रथम उन्मेष के रूप में एक परम विस्मय हैं। ध्यान देने योग्य है कि उनका यह परिचय जिस किसी भी देवता के परिचय

॥ श्लोक: ॥ श्रुतम् ८।५९।६, परावाक् को परमव्योम में सुनना १।१६४।४१, जो सिद्धि का चरम है क्योंकि यह सुनना सब के भाग्य में नहीं होता १०।७१।४, ६।७; साधना के आरम्भ में अग्नि ही वाक् अथवा मन्त्रशक्ति है एवं अन्त में उस वाक् की ही श्रुति – तुरीय पद में १।१६४।४५, 'चित्रं श्रव:' वह चिन्मय श्रुति जो श्रोता को विस्मित करती है, तु. क. १।२।७; यह उसी वाक् की श्रुति है, जिसे विश्वामित्र ने 'ससर्परी' अथवा विद्युत् चकिता कहा है, जिसने 'आ सूर्यस्य दुहिता ततान श्रवो देवेष्व् अमृतम् अजुर्यम्' – सूर्य की दुहिता के रूप में देवगण के भीतर मन्त्रशक्ति को अमृत एवं अजर रूप में प्रसारित किया है ३।५३।१५।

११. स चित्र चित्रं चितयन्तम् अस्मे चित्रक्षत्र चित्रतमं बयोधाम, चन्द्रं रयि पुरुवीरं वृहन्तं चन्द्र चन्द्राभिर् गृणते युवस्व ६।६।७ 'चित्र' एवं 'चन्द्र' की सहचरता लक्षणीय: एक चैतन्य का और एक आनन्द का द्योतक (**चन्द्र** हिरण्य, निघ. १।२); 'चन्द्रश् चन्दते; कान्ति कर्मण:, चारु द्रमति, चमेर् वा पूर्वम, नि. ११।५; धात्वर्थ चारुत्व का अनुषङ्ग लक्षणीय; तु. √छद् ॥ 'दीप्ति देना', इच्छा करना' : IE quand -

के रूप में ग्रहण किया जा सकता है और अग्निगुणबोधक संज्ञाओं के प्रायश: अन्य देवताओं के सम्बन्ध में प्रयुक्त होने के प्रति कोई आपत्ति नहीं। अर्थात् सारे देवता ही स्वरूपत: परम देवता हैं, और देवता-देवता में सौषम्य जितना अधिक है, वैषम्य उतना नहीं है। देवता का इन्द्रिय ग्राह्य प्रतीक उपासक की चेतना के विस्फोट का एक उपलक्ष्य मात्र है। इस विस्फोट की संज्ञा अधिदैवत दृष्टि से संहिता में 'ऋतं बृहत्' और अध्यात्म दृष्टि से उपनिषद् में 'ब्रह्म' है। क्रमश: बाह्य एवं आन्तर दृष्टि से दोनों ही उसी परमदेवता के स्वरूपारव्यान हैं। देवभावना की परिनिष्ठिति ब्रह्मभावना में है। सारे देवता ही स्वरूपत: 'ऋतं महत्' 'स्वर बृहत्' हैं – यह हमने पहले ही देखा है।[१३३५] अग्नि भी स्वरूपत: ब्रह्म हैं। संहिता में उनके वैश्वानर-रूप के भीतर हमें उनका ब्रह्म-स्वरूप प्राप्त होता है। उसके बारे में आगे चलकर प्रकाश डालेंगे।

अब गुण के बाद अग्नि के कर्म के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे। वैदिक देवताओं का वैशिष्ट्य गुण की अपेक्षा कर्म में अधिक स्पष्ट हैं, क्योंकि गुण का आधार भाव है और कर्म का आधार शक्ति है। भाव के अन्तिम बिन्दु पर सारे देवता ही एक हैं, हम उन्हें चाहे जिस किसी भी नाम से क्यों न पुकारें; किन्तु शक्ति की स्फुरत्ता या चेतना के स्वाभाविक स्पन्दन में सूर्य के रश्मि विच्छुरण की तरह उनका वैचित्र्य एवं वैशिष्ट्य प्रकट होता है।

अग्नि का सर्वप्रधान कर्म 'दूत्य' या दौत्य है। मनुष्य एवं देवता के बीच वे 'दूत' हैं। वेद में यह उनकी एक बहुप्रयुक्त संज्ञा है।[१३३६]

१३३५. ऋ. १०।६६।४ सारे देवता ही 'ऋतं महत्'. – स्वर बृहत्; १।१६४।४६ ट. टीमूं. ११७८।

१३३६. दूत <√जू 'दौड़ना' 'बहुत तेजी से चलना' नि. जवतेर वा द्रवतेर् वा वारयते् वा ५।१; तु. IE dÊ 'to move forward', MG Zuwen 'to move forward' । देवताओं में विशेष रूप से अग्नि ही दूत। इसके अलावा कहीं-कहीं सोम दूत, ऋ. ९।४५।२, ९९।५, पूषा ६।५८।३, सूर्य अथवा 'वेन' १०।१२३।६, सरमा १०।१०८।२-४। अग्नि के सम्पर्क में मातरिश्वा दूत १।७१।४, ३।५।४। वैष्णव शास्त्रों में सखियों का दौत्य स्मरणीय।

अग्नि पृथिवी स्थानीय देवता हैं, मनुष्य के साथ उनका सम्बन्ध सब से अधिक घनिष्ठ है। वे हमारे 'गृहपति'[१] हैं, घर के देवता हैं और कभी-कभी आड़ या अन्तराल से आने पर भी हमारे अत्यन्त प्रिय 'अतिथि' हैं।[२] अग्नि[३] अत्यन्त निकट के प्रत्यक्ष देवता हैं और अत्यन्त

महाजनों महापुरुषों का कथन है कि सखियाँ वस्तुत: मनोवृत्तिरूपा हैं। यह भाव ऋक् संहिता में भी है : तु. ६।९।६, 'अच्छा म इन्द्रं मतय: स्वर्विद: सध्रीचीर् विश्वा उशतीर् अनूषत, परिष्वजन्तो जनयो यथा पति मर्यं न शुन्ध्युं मघवनम् ऊतये' – इन्द्र के प्रति मेरी सुदीप्त भावनाएँ सब एक होकर उत्कण्ठित हुई, मुखर हुई, निविड़ आलिङ्गन में इस प्रकार जकड़ लिया उन्होंने मघवा को उनका प्रसाद चाहकर, जिस प्रकार पत्नियाँ पति को, (तरुणियाँ) जिस प्रकार तरुण को बाँहों में (कस लेती हैं) १०।४३।१। अग्नि का दैत्य हमारी 'उशती मति' का ही दौत्य है।

१. तु. कविर् गृहपतिर् युवा १।१२।६, मन्द्रो होता गृहपतिर् अग्ने दूतो विशाम् असि ३६।५, दमूना (जो घर को प्यार करते हैं) गृहपतिर् दम आँ ६०।४, ब्रह्मा चा. सि गृहपतिश्च नो दमे (ब्रह्मा जिस प्रकार सोमयाग के रक्षक हैं तुम भी उसी प्रकार हमारे घर के रक्षक हो) २।१।२ (४।९।४), दमूनसं गृहपतिम् अमूरम् ४।११।५ (५।८।१); ६।१५।१३, १९, ७।१५।२, 'अप्रोषिवान् गृहपतिर् महाँ असि दिवस् पायुर् दुरोणयु:' – अप्रवासी गृहपति तुम महान् द्युलोक के रक्षक एवं आधार में नित्य युक्त हो ८।६०।१९...। पहले ही देखा है कि अग्नि आयु अथवा प्राणचेतना (टी.मू. १३०६, १३२९); इस रूप में ही वे गृहपति हैं और आधार में निविष्ट चित् शक्ति हैं।

२. **अतिथि** : प्राय: अग्नि को ही सर्वत्र अतिथि कहा गया है, के दल एक जगह सूर्य को ४।४०।५ (किन्तु तु. अग्नि ५।४।५), और एक जगह विश्व देवों को अतिथि कहा गया है ५।५०।३ ('गा: अतिथिनी:' सञ्चरणशीला १०।६८।३) नि. अभ्यतितो गृहान् भवति, अभ्येति तिथिषु परकुलानी. ति वा परगृहाणीति वा ४।५ (किन्तु तिथि शब्द संहिता में नहीं है)। अतिथि का मौलिक अर्थ है 'जो घुमक्कड़ है और घूमते-फिरते अचानक किसी के भी घर उपस्थित होता है फिर चला जाता है' (<√अत् 'चलना'; तु. IE et, 'to go', Lat annus 'year' <X atnos) देवता का आविर्भाव भी इसी तरह होता है, वे अकस्मात् आते हैं, हम उन्हें आप्यायित करते हैं,

फिर वे अन्तर्धान हो जाते हैं। तु. ब्रह्म का आविर्भाव विद्युत् के उन्मेष और निमेष की तरह (केनोपनिषद् ४।४)। इस चकित अथवा क्षणिक (कौंध) आविर्भाव को 'अतिथिग्व' अथवा अकस्मात् प्रकाश की झलक कहा जाता है। अग्नि को ही विशेष रूप से 'अतिथि' कहा गया है; क्योंकि उनकी 'चित्ति' अथवा चकित आविर्भाव के प्रत्यक्ष से ही चेतना के उत्तरायण का आरम्भ होता है। ब्राह्मण में सोमयाग में क्रीत सोम अतिथि हैं, उनके प्रति आतिथ्येष्टि का अनुष्ठान होता है, किन्तु ऋक्संहिता में सोम अतिथि नहीं। अग्नि अतिथि हैं : १।४४।४, १२८।४, विशाम् अतिथि : २।२।८ (४।१, ३।२।२), कवि प्रशस्तो अतिथिः शिवो नः ५।१।८, जुष्टौ (अर्थात् तुम्हें पाकर हम प्रसन्न हैं, तुम सादर अभिनन्दीय हो) दमूना अतिथिर् दुरोण इमं नो यज्ञम् उपयाहि विद्वान् ४।५, त्वाम् अग्ने अतिथि पूर्व्यं....गृहपतिं न येदिरे तु. ८।२ (६।१६।४२, १०।१२२।१; गृहपति के रूप में उनकी नित्य स्थिति है अथवा सम्भवतः कभी अव्यक्त; किन्तु अतिथि रूप में आविर्भाव एवं आवेश), 'विश्वायुर् यो अमृतो मर्त्येषूषर्भुद् अतिथिर् जातवेदाः' – जो विश्वप्राण के आधार हैं, वे मर्त्यों में अमृत हैं, उषा में अतिथि रूप में जागे, जिन्हें जातवेदा कहते हैं (श्रद्धा के आवेश से प्रातिभ संवित् का उन्मेष होता है, वही अध्यात्म जीवन की उषा है; उस समय अभीप्सा के रूप में जातवेदा का आविर्भाव होता है ६।४।२, अतिथिम् उषर्बुधम् १५।१) (तु. ८।४४।१; अमूर दस्मा. (तिमिरनाशन)ऽतिथे ८।७४।७, प्रेष्ठं वो अतिथिं... ...मित्रम् इव प्रियम् ८४।१, वामं (प्रिय) शेवम् (शिवमय) अतिथिम् अद्विषेण्यम १०।१२२।१, प्रियो नो अतिथिः, ६।२।७) 'अमूरः कविर् अदितिर् विवस्वान्त् सुसंसन् मित्रो अतिथिः शिवो नः' – वे अमूर्त कवि, अदिति, विवस्वान् और मित्र के एक सुचारु संसत् अथवा समाहार हैं, हमारे शिवमय अतिथि हैं ७।९।३ (द्र. टी. १३१७(४), १३२५(५); इन कई मन्त्रों में अतिथि के प्रति मनोभावों का सुन्दर चित्रण, तु. क. १।१।७-९), अतिथिर् गृहे गृहे १०।९१।२, ३।३।८, २६।२, अतिथि जनानाम् ६।७।१ (१०।१।५), अतिथिं मानुषाणां १।१२७।८ (४।२।२०, ८।२३।२५)।

३. किन्तु तैउ. में अन्तरिक्ष स्थान वायु प्रत्यक्ष (द्र. शान्तिपाठ), ऋक्संहिता में 'दर्शत' (१।२।१); तु. 'अपश्यं' गोपाम अनिपद्यमानम् १।१६४।३१।

दूर के प्रत्यक्ष देवता 'विवस्वान् सूर्य' हैं। हम उन्हें ही और उनकी विभूति विश्वदेवगण[४] को चाहते हैं, इसलिए इस अग्नि को ही उनके निकट दूत के रूप में भेजते हैं। अग्नि चैतन्य और विश्व चैतन्य के बीच अभीप्सा की ऊर्ध्व शिखा ही अतन्द्र और निःशब्द[५] संवाद वाहक होती है।

अनादिकाल से मनुष्य ने अग्नि को ही दूत रूप में वरण किया है; क्योंकि वे अध्वर (सिद्धि) के अभिलाषी होने के कारण दूत के सारे कर्त्तव्य जानते हैं, भूलोक और द्युलोक दोनों के अन्तराल की सम्यक् चेतना उनमें हैं, द्युलोक में आरोहण के सोपानों की जानकारी

अधिदैवत वायु अथवा अध्यात्म प्राण को लेकर भी साधना की एक धारा संवर्ग विद्या जैसी थी (छा. ४।२-३) तु. संहिता में मातरिश्वा अथवा वायु का आनयन एवं मन्थन इत्यादि ऋ. १।७१।४, ६०।१, ६।८।४, ३।५।१०, ९।५......। मातरिश्वा के दूत रूप में विवस्वान् के निकट से अग्नि को यहाँ लाने पर भी (६।८।४), दौत्य प्रधानतः अग्नि का ही।

४. तु. 'आकीं सूर्यस्य रोचनाद् विश्वान् देवाँ उषर्बुधः, विप्रो होते : ह वक्षति' – उषाकाल में जागे विश्वदेव गण को आवेगकम्प्र ये होता यहाँ ले आएं (१।१४।९।) **आकीम्** अनन्य प्रयोग। पदपाठ में अवग्रह नहीं है। निघण्टु में सर्वपद समाम्नाय खण्ड में उपसर्ग और निपात के उदाहरण के रूप में उल्लिखित ३।१२। विश्वबन्धु शास्त्री की उपस्थापना के अनुसार : आ + घ + ईम्, 'आ' 'वक्षति' का, उपसर्ग, 'ईम्' इनके अर्थात् पूर्व मन्त्र में उल्लिखित देवताओं के। विश्वदेव के सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों की २।३।७, १२।४।४।६; 'अथ यद् एनम्' (अग्निम्) एकं सन्तं बहुधा विहरन्ति तद् अस्य वैश्वदेवं रूपम् ऐ. ३।४, 'सर्व वै विश्वेदेवाः' श. ३।९।१।१४, ४।४।१।९, १।७।४।२२, ५।५।२।१०....। द्र. टी. १२८७ मू.।

५. अतन्द्र : तु. ऋ. अन्तर विद्वाँ अध्वनो देवयानान् अतन्द्रो दूतो अभवो हविर्वाट् १।७२।७, अतन्द्रो दूतो यजथाय देवान् ७।१०।५। निःशब्दः तु 'न योर् उपब्दिर् अश्व्यः शृण्वे रथस्य कश्चन, यद् अग्ने यासि दूत्यम्' – तुम्हारे चलते हुए रथ के घोड़े की टाप बिल्कुल सुनाई नहीं देती, जब हे अग्नि! तुम दूत बनकर जाते हो १।७४।७।

और किसी को नहीं है उनकी जैसी[१३३७] उनका दौत्य मनुष्य के लिए, उत्कण्ठित देवताओं को जगा देने के लिए है, जिससे वे यहाँ उतर कर 'बर्हि' पर आसन स्थापित करें।[१] इसके अलावा यह दौत्य केवल हमारे आत्मदान की अपेक्षा रखता है : जो मर्त्य मानव समिध् और हवि की आहुति देता है इस अमृत देवता के लिए, उसके ही वे होते हैं होता, उसके दूत बनकर देवताओं के निकट बतलाते हैं उस की बात, और होते हैं उसके ऋत्विक्, उसके अध्वर्य।[२] आध्यात्मिक जीवन के आरम्भ में श्रद्धा के उन्मेष से आत्मदान की प्रेरणा जागती है। इसलिए उषा का प्रकाश जब झिलमिलाता है, तब अग्नि भी अलख के दूत रूप में चमक उठते हैं; क्योंकि वे ऋत का चिरन्तन सम्यक् दर्शन ही चाहते हैं।[३] दीर्घकाल से वही होता आया है; आकाश में उषा की

१३३७. तु. ऋ. वेर् अध्वरस्य दूत्यानि विद्वान् उभे अन्ता रोदसी संचिकित्वान् दूत ईयसे प्रदिन उराणो विदुष्टरो दिव आरोधनानि ४।७।८। वे: <√वी 'कामना करना, सम्भोग करना'। 'उराण:' <√वृ 'वरण करना'। 'आरोधनानि' तु. ४।८।२, ४, द्र. ८।७२।१६। यज्ञ के सप्तधाम द्वारा गुह्यपद में आविष्ट होना ९।१०२।२; अनुरूप विष्णु का सप्तधाम १।२२।१६।

१. तु. 'ताँ उशतो वि बोधय यद् अग्ने यासि दूत्यम्, देवैर् आ सत्सि बर्हिषि १।१२।४; बर्हि कुश का आस्तरण, इसके अलावा अग्नि के प्रतीक रूप में आप्री सूक्त के चतुर्थ देवता, अध्यात्म दृष्टि से हृदय में स्थापित उन्मुख, उत्सुक प्राण का आसन (तु. छा. ५।१८।२; विस्तृत विवरण के लिए द्र. 'आप्री देवगण')। द्रष्टव्य है कि देवता उद्विग्न हैं, किन्तु जाग नहीं पा रहे हैं, उन्हें मेरी अभीप्सा जगा देगी।'

२. ऋ. यस् तुभ्यम् अग्ने अमृताय मर्त्य: समिधा दाशद् उत वा हविष्कृति, तस्य होता भवसि यासि दूत्यम् उप ब्रूषे यजस्य् अध्वरीयसि १०।९१।११। और भी तु. 'शश्वत्तमम्' ईलते दूत्याय हविष्मन्तो मनुष्यासो अग्निम् – शाश्वतेतम इस अग्नि का दौत्य के लिए जाग्रत कर लेते हैं वे लोग, जिनके पास आहुति का उपचार है १०।७०।३;

३. पूर्वीर् ऋतस्य संदृशश्चकान: सं दूतो अद्यौद् उषसो विरोके ३।५।२। संदृश < सम् √दृश् (देखना) सम्यक् दर्शन; तु. 'सूरो न संदृक्' (अग्नि:) १।६६।१, अस्य (अग्ने:)....श्रेष्ठा...संदृक् चित्रतमा मर्त्येषु ४।१।६; तव (अग्ने) प्र यक्षि संदृशम् ६।१६।८। तव (अग्ने)....आ संदृशि

ज्योति जब से फूटी है तब से ही हमारे पूर्व पुरुषों ने इस देवता को द्युलोक का दूत बनाया है, आहुति के उपचार से किया है उसका यजन; और तब ये देवता भी मर्त्य मानव और ज्योति के देवताओं द्वारा समिद्ध हो गए हैं संवेगों के सङ्ग से।[४] उषा की ज्योति फूटते ही वे सूर्य की तरह दीप्तिमान् हो गए हैं और यज्ञ को वितत या विस्तृत कर रहे हैं उत्कण्ठऋत्विक् गण मनन के साथ-साथ; देवता अग्नि सब जन्मों का रहस्य जानते हैं, इसलिए देवताओं के निकट जाने के लिए तीव्र गति से चले ये सब से अधिक प्रिय उनके दूत होकर।[५] लोक

श्रिय: २।१।१२.....। पूर्वी: परिपूर्ण, चिरन्तन। अत्र तु. षल् अस्तभ्ना (इन्द्र) विष्टिर: पञ्च संदृश: परि परो अभव: २।१३।१०; यहाँ पाँच लोकों या भुवनों के पाँच सम्यक् दर्शन की चर्चा। षष्ठ भुवन में इन्द्र का दर्शन, फिर वे भुवनातीत भी हैं। कुल सात धाम। यह 'पञ्च संदृश:' आलोच्य मन्त्र का 'पूर्वी: संदृश' हैं। इस प्रकार विश्वरूप का सम्यक् दर्शन ही अभीप्सा का लक्ष्य है। तु. त्वाम् इद् अस्या उषसो व्युष्टिषु (प्रारम्भ में) दूतं कृण्वाना अयजन्त मानुषा:, त्वां देवा 'महयाय्याय (महिमा के लिए) वावृधु: १०।१२२।७, १।४४।३।'

४. त्वाम् अस्या व्युषि देव पूर्वे दूतं कृण्वाना अयजन्त हव्यै:, संस्थे यद् अग्न ईयसे रयीणां देवो मर्तैर् वसुभिर् इध्यमान: ५।३।८। देवता 'वसु' अथवा ज्योति: स्वरूप। देवता के प्रसाद या अनुग्रह से और मनुष्य के प्रयास से अग्नि समिन्धन (तु. 'देवाँ अच्छा यातवे जातवेदसम् अग्नि ईळे व्युष्टिषु' – भोर के उजाले में देवताओं के निकट जाने के लिये मैं अग्नि को उद्दीपित करता हूँ १।४४।४)। 'संस्थे रयीणाम्' तु. संगथे रयीणाम् २।३८।१०, अपाम् अनीके समिथे ४।५८।११ – प्राण की समस्त धारायें जहाँ आकर मिली हैं, वहाँ ही अग्नि का आविर्भाव; अत: अग्नि 'अपसुजा:' (तु. यद् अग्ने दिविजा अस्य अप्सुजा वा सहस्कृत ८।४३।२८; 'सहस्कृत' मन्थनजात पार्थिव अग्नि)।

५. स्वरण वस्तोर् उषसाम् अरोचि यज्ञं तन्वाना उशिजो न मन्म, अग्निर् जन्मानि देव आ वि विद्वान् द्रवाद् दूतो देवयावा वनिष्ठ : ७।१०।२। उशिज <√वश् 'आकुल होकर चाहना' नि. उशिग् वष्टे कान्ति कर्मण: ६।१०; निघ. कान्तिकर्मा २।६, 'मेधावी' ३।१५; तु. IE uek - 'To wish Gk. hekon ' 'Willing'। उशिकों द्वारा यज्ञ का वितनन अथवा अनुष्ठान और

और लोकोत्तर के बीच यह उनका दौत्य है, वे अलखु के अभिसारी हैं।[६]

मनुष्य जिस प्रकार अभीप्सा की शिखा को देवता की ओर दूत रूप में आगे बढ़ा देता है और चुपचाप उससे कह देता है, देवता को यहाँ उतार ले आने के लिए,[१३३८] उसी प्रकार देवता भी उत्कण्ठ अथवा उतावले हैं मनुष्य के लिए?[१] वे भी अग्नि को दूत बनाकर मनुष्य के

मनन का वितनन एक ही कार्य के अगल-बगल हैं, द्र. टी. ११४७। मन्त्र के तृतीय पाद में 'जातवेदा' की व्युत्पत्ति पाई जाती है।

६. तु. 'त्वं दूतस् त्वम् उप नः परस्पास, त्वं वस्य आ वृषभ प्रणेता' – तुम दूत हो, तुम ही हमारे लोकोत्तर के रक्षक हो, हे वीर्यवर्षी! तुम ही उत्तर ज्योति के अग्रणी हो २।९।२। 'वस्यः' <वसु + ईयस् ('तर' प्रत्यय के अर्थ); तु. वसिष्ठ; द्र. १।५०।१०। 'परस्पाः' द्र. टी १३३३ (६)।

१३३८. तु. ऋ. अग्निं दूतं पुरोदधे हव्य वाहम् उप ब्रुवे, देवाँ सादयाद इह ८।४४।३। 'पुरो दधे' उसी से अग्नि 'पुरोहित' ९।१।१; गुहाहित थे, अब वे सामने हैं।

१. देवता की व्यग्रता, उत्कष्ठा उतावलापन तु. १।१२।४, ७।३९।४, ८।६०।४, १०।१।७, २।१, ७०।४...। अग्नि और देवता दोनों व्यग्र एक दूसरे के लिए : उशन् देवाँ उशतः पायया हविः २।३७।६, 'यथा होतर् मनुषो देवताता यज्ञेभिः सूनो सहसः यजासि, एवा नो अद्य समना समनान् उशन्न अग्र उशतो यक्षि देवान्' – हे होता, हे शक्तिपुत्र मनुष्य के देवात्म भाव के लिए बार-बार जिस प्रकार तुम यज्ञ के द्वारा यजन करते हो, उसी प्रकार आज हमारे लिए एक समान व्यग्र देवताओं के लिए यजन करो हे अग्नि, व्यग्र होकर ६।४।१, 'उत द्वार उशतीर् वि श्रयन्ताम्, उत देवाँ उशत आ वहेह' – इस बार बेचैन द्वारों का कपाट खुल जाए, इस बार उतावले देवताओं को यहाँ लेकर आओ (तु. आप्री सूक्त का 'देवीर् द्वारः' अथवा ज्योति का द्वार, अग्नि का ही एक रूप; द्र. 'आप्री देवगण') ७।१७।२। दिव्य पितृगण अग्नि एवं मनुष्य का उतावलापनः 'उशन्तस त्वा नि धीमह्य उशन्तः सम् ईधीम हि, उशन्त आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे' – आकुल आग्रहन्वित होकर हम सब तुम्हें स्थापित करते हैं, उत्सुक होकर समिद्ध करते हैं, तुम जल्दी से आकुल उतावले पितृगण को हविर्भक्षण के लिए लेकर आओ १०।१६।१२।

निकट भेजते हैं।[२] अग्नि जब मनुष्य के दूत होते हैं, तब वे उसके समिद्ध चित्त की देवयानी अभीप्सा हैं, और जब वे देवताओं के दूत होते हैं, तब वे उसी चित्त के परम आवेश हैं।[३] पहले श्रद्धा उसके बाद रुचि – जिस प्रकार वैष्णव कहते हैं, पहले देवता व्यग्र होते हैं मेरे लिए, फिर मैं उनके लिए व्यग्र होता हूँ। सम्भवत प्रथा के अनुसार मैं ही हव्यवहन के लिए वेदी में अग्नि को समिद्ध करता हूँ, किन्तु एक दिन वह अग्नि समिन्धन अकस्मात् सार्थक हो उड़ता है, जब वे तरुणतम अग्नि, देवता के दूत बनकर आधार की गहराई में एक प्रज्वल चक्षु के रूप में मन्त्र चेतना के प्रचोदक या उत्प्रेरक के रूप में मेरे भीतर आविर्भूत होते हैं,[४] तब मैं समझता हूँ कि अग्नि मैंने नहीं प्रज्वलित किया है, बल्कि देवताओं ने ही उनके दूत रूप में वरुण, मित्र और अर्यमा होकर प्रज्वलित किया है; मैं मर्त्य मानव हूँ, मैं केवल उनमें अपना सब कुछ उड़ेल दे सकता हूँ और देवता मेरे लिए विश्व की समस्त सम्पदा जीतकर ले आ सकते हैं।[५] सभी देवता

---

२. त्वां विश्वा सजोषसो (तृप्ति में सन्तुलित सुषम होकर, क्योंकि सारे देवता उस एक ही देवता की विभूति हैं; द्र. टी. १२८४ (१) और मूल) देवासो दूतम् अक्रत, सपर्यन्तस (मनुष्य परिचारक) त्वा कवे यज्ञेसु देवम् ईलते ५।२१।३। तु. ८।१९।२१।

३. आवेश श्रद्धा के रूप में, तु. नचिकेता में श्रद्धा का आवेश, क. १।१।२, और भी तु. 'श्रद्धयाग्निः सम इध्यते श्रद्धया हूयते हविः १०।१५१।१, यही श्रद्धा 'कामायनी' अथवा कामजा। द्र. टी. १३४६ (२)।

४. तु. त्वाम् अग्ने समिधानं यविष्ठ्य देवा दूतं चक्रिरे हव्यवाहनम् .... त्वेषं चक्षुर् दुधिरे चोदयन्यति ५।८।६।

५. देवासस् त्वा वरुणो मित्रो अर्यमा संदूतं प्रत्नम् इन्धते, विश्वं सो अग्ने जयति त्वयाधनं यस्ते ददाश मर्त्यः १।३६।४। वरुण अव्यक्त ज्योति के देवता हैं जो सत्स्वरूप हैं; मित्र ज्योति के देवता हैं जो चित्स्वरूप हैं, और अर्यमा सम्भोग या उपभोग के देवता हैं (२।४।१) जो आनन्दस्वरूप हैं। इस त्रयी का उल्लेख ऋक्संहिता में अनेक स्थलों पर है। सच्चिदानन्द ही अग्नि को हमारे भीतर दूत रूप में समिद्ध या सन्दीप्त करते हैं। धन <√धन 'दौड़ना' मनुष्य जिसके पीछे दौड़ता भागता है, लक्ष्य, द्र. टी. १३४८ (१)।

जानते हैं कि ये अग्नि मर्त्यों में अमृत चेतना की नाभि अथवा मध्य बिन्दु हैं, इसलिए इस हव्यवाहन को अपना 'अरति' अथवा दूत बनाया है।[६] देवताओं के ये दूत विचित्र रूप से प्रेरित होकर हमारे निकट आते हैं, समस्त मालिन्य दग्ध करके हम सब को निरञ्जन, निर्विकार, कल्मषशून्य करते हैं और सर्वात्मभाव या आत्मा की विश्वरूपता के अनुभव के योग्य पात्र के रूप में हमें घोषित करते हैं।[७]

---

६. तु. त्वां दुतम् अरतिं हव्यवाहं देवा अकृण्वन्‌ अमृतस्य नाभिम् ३।१७।४। अरति <√ऋ. 'चलना' जो आवाजाही (आना-जाना) करता है, चञ्चल। दूत का पर्याय शब्द विशेष रूप से अग्नि के लिए प्रयुक्त। अग्नि 'अरति' देवताओं के (२।४।२), द्यावा पृथिवी के (१।५९।२, २।२।३, ६।४९।२, १०।३।७) द्युलोक के (२।२।२, १०।३।२), पृथिवी के (६।७।१), तु. देवासो देवम् अरतिं दधन्विरे (दौड़ाया) ८।१९।१। नाभिः जिस प्रकार चक्र अथवा मनुष्य की देह का मध्यबिन्दु, वहाँ सब आकर संहत होता है। तु. द्युलोक के सहस्रधार स्रोत या उत्स से चार 'नाम' अथवा नाभि के भीतर से होकर सोम्य अमृतप्रवाह का उतर आना ९।७४।६।

७. तु. देवानां दूतः पुरुध प्रसूतो ऽनागान् नो वोचतु सर्वताता ३।५४।१९। अनागाः अनपराधः (नि. १०।११)। ऋक्संहिता में अनागास्त्व' के साथ अदिति का बिशेष सम्बन्ध है, जो अनन्तता की देवी हैं : द्र. टीका १३१७ (४); तु. यच् चिद्धि ते पुरुषत्रा (पुरुष अथवा मनुष्य रूप में) यविष्ठा अचित्तिभिशु (अविवेक के कारण) चकृमा कच्चिद् आगः, कृधी ष्वस्मां अदितेर् अनागान् ४।१२।४, मित्रो नो अत्रा अदितिर् अनागान्-त्सविता देवो वरुणाय वोचत् (अदिति के साथ वरुण की सहचरता द्रष्टव्य, अदिति और वरुण दोनों ही आकाश के देवता हैं एवं आकाश ही निरञ्जन है) १०।१२।८, ८।१०१।१५, १।२४।१५ (वरुण सहचरित) ९४।१५ .....।

सर्वताति : उसके लिए अदिति के निकट विशेष रूप से प्रार्थना, तु. १।९४।१५, आ सर्वतातिम् अदितिं वृणीमहे (१०।१०० सूक्त की टेक) आदित्यगण के साथ सम्बन्ध (१।१०६।२, १०।३५।११) उसका सम्बन्ध स्वस्ति के साथ : तु. आ ते स्वस्तिम् ईमहे (हम चाहते हैं) .... अद्या च सर्वतातये श्वश् च सर्वतातये (पूषन्) ६।५६।६, अजीतये (जिससे पराजय न हो) अहतये पवस्व (सोम) स्वस्तये सर्वतातये बृहते (बृहत् का सम्बन्ध

सारी देवज्योतियों के मूल में एक परम ज्योति है, जिसकी संज्ञा 'विवस्वान्' है। संहिता में विशेष रूप से अग्नि को विवस्वान् का दूत

लक्षणीय) ९।९६।४। शम्बर के ९९ पुरों के नष्ट होने के बाद सौ वें पुर में सर्वताति आविष्कृत होता है : तु. अहं (इन्द्रो वा वामदेवो वा) पुरो मन्दसानो (सोमपान में मत्त होकर) व्यैरं (लुटाया है) नव साकं नवतीः शम्बरस्य (पहुँचा हूँ) शततमं वेश्यं (धाम) सर्वताता (शततम पुरी में वृत्र का नहीं, बल्कि इन्द्र का अधिष्ठान है, इसलिए वे शतक्रतु हैं) ४।२६।३। इसके अतिरिक्त जब सविता मेरे, आगे, पीछे, उत्तर दक्षिण हैं अर्थात् उन्हें जब सर्वत्र अनुभव करता हूँ तभी सर्वताति का आविर्भाव : तु. सविता पश्चातात् सविता पुरस्तात् सवितोत्तरात्तात्, सर्वता धरात्तात्, सविता नः सुवतुः सर्वतातिम् १०।३६।१४। इस प्रकार 'यज्ञ' एवं 'धी' को सिद्ध करके सभी देवता हमारे भीतर 'रत्न' की दीप्ति विकसिल करना चाहते हैं इस सर्वताति के लिए : तु. इयम् एषाम् अमृतानां (अमृत देवताओं के लिए) गीः सर्वताता ये कृपणन्त (आकाङ्क्षा करते हैं, कृपण जिस प्रकार धन चाहता है, उसी प्रकार; <√ कृपण, नामधातु, तु. तत् तद् अग्निर् वयो दधे यथायथा कृपण्यति ८।३९।४) रत्नम्, धियं च यज्ञं च साधन्त स्ते नो धान्तु वसव्यम् (देवज्योति, तु. १०।७३।४) असामि (अविकल, पूर्ण) १०।७४।३। अतएव 'सर्वताति' उपनिषद् का सर्वात्मभाव (ई. ७, छा. ७।२६।२, प्र. ४।११....)। अदिति चेतना के बिना यह सम्भव नहीं। सर्वताति जैसा ही है 'देवताति' अथवा देवात्मभाव। सर्वताति की व्युत्पत्ति करते हुए यास्क कहते हैं, 'सर्वासु कर्म ततिषु' अर्थात् 'ताति' <√ तन्। सायण देवताति की व्याख्या करते हुए कहते हैं 'देवानां विस्तारयुक्ताय यागाय' (१।१२७।९), अतएव उनकी भी व्युत्पत्ति <√ तन्। लक्षणीय, पदपाठ में अवग्रह है। अथच पाणिनि की व्युत्पत्ति सर्व अथवा देव + तातिल् स्वार्थे (४।४।१४१); किन्तु शिवताति इत्यादि की व्याख्या करते हुए कहते हैं 'शिवं करोतीति शिवस्य भावो वा इति शिवतातिः (द्र. १२८४, १२८५)। तो फिर सर्वताति एवं देवताति के बारे में ही क्यों नहीं? जान पड़ता है यहाँ दो भाववाची प्रत्ययों का समावेश हुआ है, जिस प्रकार प्रत्यय की आवृत्ति 'पश्चातात्' प्रभृति शब्दों में देखते हैं (तु. १०।३६।१४....)। देव ।। देवता, उसके बाद भाव में 'ति' एवं फिर उसी आदर्श के अनुसार अन्य शब्दों का गठित होना सम्भव। 'सर्वताति' अवेस्ता में haurvatat।

कहा गया है।[१३३९] उसी परम चैतन्य से ही आधार में अग्नि समिन्धन की प्रेरणा प्राप्त होती है। देवयजन की भूमि पर हम जिन्हें दुःसाहस के वीर्य से उत्पन्न जानते हैं और देवताओं के निकट जिनके महाघोष में अपना आह्वान भेजते है, वे वस्तुतः उसी विवस्वान् के ही अमृत-दूत हैं जो स्वतः प्रसन्नता पूर्वक हमारे निकट दौड़कर आते हैं, उन्हें उत्तेजित करना या उकसाना नहीं पड़ता; वे सर्वापेक्षा सहज, सुगम पथ से आते हैं, विश्वभुवन में छा जाते हैं और हमारी ही हवि द्वारा देवताओं की परिचर्या करते हैं देवात्मभाव के लिए।[१] विवस्वान्

१३३९. विवस्वान् और मातरिश्वा के निकट ही द्युलोक में अग्नि का प्रथम आविर्भावः तु. ऋ. त्वम् अग्ने प्रथमो मातरिश्वन आविर् भव सुक्रतूया (स्वच्छन्द प्रज्ञावीर्य या प्रज्ञाशक्ति द्वारा) विवस्वते १।३१।३; स जायमानः परमे व्योमन्य् आविर् अग्निर् अभवन् मातरिश्वने १४३।२। तो फिर ये अग्नि स्वयम्भु एवं विश्वादि। उनका दौत्य उसी आदिकाल से है, वे 'पूर्व्यः' शिवो दूतो विवस्वतः' (८।३९।३)।

१. तु. नू चित् सहोजा अमृतो नि तुन्दते होता यद् दूतो अभवद् विवस्वतः वि साधिष्ठेभिः पथिभी रजो मम आ देवताता हविषा विवासति १।५८।१। 'सहोजाः' सर्वाभिभावी वीर्य से उत्पन्न (द्र. टी. १३४७ (४))। 'नू चित् .... नि तुन्दते' जिन्हें उकसाना नहीं पड़ता, अश्व की उपमा। **देवताति** : द्र. 'सर्वताति' टी. १३३८ (७)। सायण अन्यत्र पाणिनि का अनुसरण करते हुए कहते हैं 'स्वार्थिकम् तातिल् प्रत्ययः, तेन देवताति शब्देन देवसम्बन्धी यज्ञो लक्ष्यते, देवताता मखः (निघ. ३।१७) इति तन्नामसु पठित्वं (१।३४।५)। एक अन्य रूप 'देवतात्', तृतीया में 'देवताता' (१।१२८।२ चतुर्थी में 'देवताते' ९।९६।३, ९७।१९, २७), सप्तमी में 'देवताति' ८।७४।३, १०।८।२) तृतीया का यह एक मात्र उदाहरण : तं यज्ञसाधम् (अग्निम्) अपि वातयामस्य (हम अनुकूल करते हैं) ऋतस्य पथा नमसा हविष्मता देवताता हविष्मता १।१२८।२, वहाँ साधन अथवा यज्ञ अर्थ उपयुक्त है; अन्यत्र सिद्धि अथवा यज्ञ के परिणाम में देवात्मभाव का बोधक है (तु. अविदाम देवान् ८।४८।३, ९।११३।७-११, १।५०।१०.....)। लक्षणीय, ऋकसंहिता में अग्नि के सम्बन्ध में ही देवताति शब्द का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है, उसके बाद ही सोम के सम्बन्ध में ही देवताति शब्द का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है, उसके

बाद ही सोम के सम्बन्ध में। देवताति के लिए ही अग्नि का आविर्भाव होता है एवं वे जैसे उसी परम लक्ष्य के प्रति एक तीव्र संवेग हैं; तु. (त्वम् अग्ने सहसा (सर्वाभिभावी वीर्य या अजेय शक्ति में) सहन्तमः शुष्मिन्तमो (प्राणोच्छ्वास में प्रबलतम) जायसे देवतातये रयिर् न देवतातये १।१२७।९)। यह 'मनुषो देवतातिः' अथवा मनुष्य का ही देवता होना है : उसके लिए ही शुभ्र वैश्वानर् अग्नि का आवाहन – जो विश्वप्राण मातरिश्वा एवं बृहत् भावना के नायक बृहस्पति (३।२६।२) हैं, होतृरूप में विचित्र यज्ञ के द्वारा परमदेवता का यजन उनका (६।४।१), अर्यमा और मरुद्गण के द्युलोक में तीन ज्योतिर्मय लोकों का स्थापन है (५।२९।१; अर्यमा यहाँ आदित्यगण का उपलक्षण या बोधक है; दो गणों का समावेश लक्षणीय – एक अन्तरिक्ष अथवा प्राणलोक का और एक दिव् अथवा प्रज्ञालोक का बोधक है; यह सूक्त इन्द्र का है, जिसके भीतर प्राण और प्रज्ञा का समाहार है – उसके बाद ही है 'त्वम् ऋषिर् इन्द्रा. सि धीरः' तु. 'अध्वर या यज्ञ जब आगे बढ़ता चलता है तब देवताति के लिए प्रेमभरा आवाहन' ८।३।५, उनका वृत्रहन्ता अनुत्तम शौर्य इसके लिए ही है ६।२।८, इन्द्र और वरुण ही देवताति के श्रेष्ठ प्रचोदक या उत्प्रेरक हैं ६।६८।२)। देवताति के लिए, बृहत् होने के लिए हम अग्नि के पास ही दौड़कर जाते हैं – क्योंकि वे ही हमारे अपने हैं, हम सब के अधिक निकट हैं : तु. त्वाम् इद्धि नेदिष्ठं देवतातय आपिं नक्षामहे वृधे ८।६०।१०। उनके निकट हमारी प्रार्थना : 'त्वं नो अग्ने अग्निभिर् ब्रह्म यज्ञं च वर्धय, त्वं नो देवतातये वायो दानाय चोदय' – हे अग्नि, तुम अग्नियों द्वारा हमारी बृहत् की भावना एवं उत्सर्ग की साधना को संवर्द्धित करो; तुम हमें देवात्मभाव के लिए प्रेरित करो, देवता को प्रेरित करो संवेग प्रदान करने के लिए (१०।१४१।६; यह सूक्त अग्नि का है, किन्तु ऋषि 'अग्नि तापस' अर्थात् अग्नि के साथ एकात्मकता है उनकी; 'अग्निभिः' एक ही अग्नि की अनेक वृत्तियाँ हैं जिसका परिचय आप्री देवगण में और उपनिषद् की पञ्चाग्नि में मिलता है)। यह देवताति विशेष रूप से धी-योग का साध्य : तु. 'कविर् बुध्नं परि मर्मृज्यते धीः सा देवताता समितिर् बभूव' – क्रान्तदर्शी धी पूरी तरह गहराव के बोध को, परिमार्जित करती है (और उसी लिए ही तो) वही (धी) देवात्मभाव की साधना में एक

समाहार (अर्थात् अनेक भावनाओं का पुञ्ज) हुई है १।९५।८; 'कवि' यानी क्रान्तदर्शी अर्थात् उसकी दृष्टि सुदूर लक्ष्य की ओर निबद्ध होती है; 'बुध्न' गहराई का बोध (द्र. टी. ११४६) जो खान के भीतर हीरे की तरह अभी अमार्जित है, धी उसे बार-बार परिमार्जन द्वारा सुव्यक्त करती है, तु. धीभिर् विप्राः ....मृजन्ति (सोमं) देवतातये ९।१७।७; 'समिति' दिव्य भाव का समाहार, जो धी-योग का परिणाम तु. यद् अग्न एषा समितिर् भवति देवी देवेषु ....१०।११।८; धी का मन्त्र भाव योग की भाषा में चित्त की एकाग्रता है, जो देवात्मभाव का प्रयोजक है)। देवताति ही यज्ञ का लक्ष्य है; इसलिए अग्नि 'प्रदक्षिणिद् देवतातिम् उराणं सं रातिभिर् वसुभिर् यज्ञम् अश्रेत्' – दक्षता और श्रद्धा के साथ देवात्म् भाव को वरण करके यज्ञ को आधार बनाया (मनुष्य का) दान और (देवता की(ज्योति लेकर (अर्थात् मनुष्य हवि देगा और उसके विनिमय में देवता देंगे ज्योति, वही यज्ञ का तात्पर्य है एवं उससे ही देवात्मभाव की सिद्धि और उस सिद्धि के सुनिपुण धारणकर्ता हैं अग्नि ३।१९।२। 'प्रदुक्षिणित्' प्रदक्षिण् क्रम से – यह श्रद्धा का ज्ञापक अथवा दक्षता की सहायता से, तु. २।४३।१, ३।३२।१५, ५।६०।१, १०।२२।१४; 'उराणः' <√वृ 'वरण करना')। अग्नि जिस देवमण्डली का यजन करते हैं; वह हम सब के भीतर इस देवात्मभाव को उतार लाने के लिए है: तु. स आ वह देवतातिं यविष्ठ शर्धो (समूह) यद् अद्य दिव्यं (देवताओं का) यजासि ३।१९।४। यह देवताति रत्नसम्भवा है सोमयाग की परमा सिद्धि है : तु. 'त्वम् अग्ने शशमानाय सुन्वते रत्नं यविष्ठ देव तातिम् इन्वसि' – हे अग्नि, तुम तत्पेर सोम सेवन करने वाले को आच्छादित कर देते हो रत्न से, हे तरुणतम, जो शायद देवताति है (१।१४१।१० ; स्मरणीय, अग्नि रत्नधातमम् १।१।१; इस मन्त्र में ही उन्हें 'महिरत्न' कहा गया है; अन्यत्र वे 'देमदमे सप्त रत्नादधानः' ५।१।५, सोम एवं रुद्र वही ७।७४।१)। देवताति उसी बृहत् की चेतना है, जिसके भीतर अमृत देवताओं का आसन है, जिसके ध्यान में सोम् निरन्तर मग्न रहते हैं : तु. एष् पुरू धियायते बृहते देवतातये, यत्रा, मृतास् आसते (९।१५।२, उसके बाद के मन्त्र में ही सोम को अन्तर के शुभ्र पथ पर स्रोत के प्रतिकूल बहा ले जाने के वर्णन है)। देवताति का प्रसङ्ग अन्यत्रः ३।१९।१, ४।६।१, ७।३८।१, ७।२।५, १।३४।५। Geldner ने सब जगह

के ये शीघ्रगामी दूत सभी व्यग्र उपासकों के ही निकट दौड़े चल आते हैं; उस समय जो प्राणवान् हैं उन्होंने परम देवता के इस भृगुतुल्य सङ्केत को प्रवर्त साधक के लिए ग्रहण किया है।[2] अग्नि-ऋषि अथर्वा ने व्रती-ब्रह्मचारी के मूर्द्धन्य कमल का मन्थन करके अग्नि को अवश्य ही[3] उत्पन्न किया था, किन्तु स्वरूपतः वे विवस्वान् के ही दूत हैं और यम के काम्य प्रिय जन हैं।[4] जिस प्रकार वे जीवन की प्रभास्वरता में हैं, उसी प्रकार मरण की परःकृष्णता में हैं।[5]

'Gottesdienst' divine service अर्थ नहीं किया है, कहीं कहा हैं 'Gottersehar' divine troop, या फिर कहीं Gotterschaft, divine essence। पाणिनि के स्वार्थिक प्रत्यक्ष को मान लेने पर देवताति = देव जो देवात्म भाव का ही व्यञ्जक है।

२. आशुं दूतं विवस्वतो विश्वा यश = चर्षणीर् अभि, आजभ्रुः के तुम आयवो भृगवाणं विशेविशे ४।७।४। 'मृगवाणं' भृगुर इव चरन्तम् (सायण)' ऋक् संहिता में ही भृगु वंशीय ऋषिगण 'पितरः सोम्यासः' (१०।१४।६) एवं सिद्ध पुरुषः – 'सूर्या इव विश्वम् इद् धीतम् आनशुः' – जैसे सूर्य, जिसका ध्यान किया है वही पाया है (८।३।१६; तु. देवताओं के साथ उल्लिखित ३५।३)। अथर्वा और अङ्गिरा की तरह वे भी मानव-समाज में अग्निविद्या के प्रवर्तक। गुहाहित अग्नि का उन्होंने आविष्कार किया था (१०।४६।२), उसके कारण अग्नि मनुष्य के निकट भृगुओं का दान है (३।२।४)। मनुष्य के भीतर देवता के आविष्ट होने से मनुष्य और देवता एकाकार हो जाते हैं, इसलिए अग्नि भी अङ्गिरा १।१।६; अथवा भृगु (तु. १।७१।४)। गुहाहित अग्नि का प्रथम प्रकाश 'केतु' (तु. चित्ति' पूर्वचित्ति') जो परम देवता का सङ्केतवाहक है। इसी मन्त्र में विवस्वाम् परम देवता। साधक के तीन पर्याय – विश, चर्षणि, आयु; भृगु सिद्ध।

३. द्रष्टव्य ६।१६।१३

४. भुवद् दूतो विवस्वतो ....प्रियो यमस्य काम्यः १०।२१।५।

५. यम के साथ अग्नि का सम्बन्ध अन्त्येष्टि में, द्र. १०।१६ सूक्त। उस समय अग्नि 'क्रव्यात्' एवं 'कव्यवाहन' (९-११)। किन्तु जातवेदा अग्नि वह नहीं, बल्कि वे दिव्यतनु के निर्माता हैं (१-८)। यहाँ तक कि यज्ञ यम के निकट जाते हैं अग्निदूत (१०।१४।१३), अर्थात् मृत्यु के बाद उत्सर्ग की साधना अग्नि को दूत बनाकर परमधाम में पहुँचती है (तु. मु.

हम देखते हैं कि अग्नि मनुष्य के दूत के रूप में देवताओं के निकट जाते हैं, फिर देवताओं के दूत के रूप में मनुष्य के बीच उतर आते हैं। भूलोक और द्युलोक के बीच उनके दौत्य का उल्लेख और इस पार – उस पार में आदान-प्रदान का वर्णन संहिता में अनेक रूपों में वर्णित है। त्रित आप्त्य का कथन है, 'देवताओं और मर्त्य मानवों के बीच तुम दूत हो; और दोनों के बीच महान् रूप में अपनी प्रभा के साथ गतिशील हो।[१३४०]' पथ पर चलते हुए सिन्धु की प्रस्वनित ऊर्मियों की तरह चमक उठती हैं उनकी अर्चियाँ, शिखाएँ[१]। द्युलोक और भूलोक के बीच दूत रूप में उनका यातायात होता रहता है अँधेरे को चीर-चीर कर[२], सत्य का वाहन होकर[३] और कवि की क्रान्तदर्शिता में देवता और मानव दोनों का जन्म रहस्य जानकर।[४] इसलिए उनका यह अभियान प्रज्ञा का अभियान है, दो विद्याओं के बीच मनुष्य होकर देवता को और देवता होकर मनुष्य को जानने के बीच आवागमन कवि की दृष्टि के साथ।[५] उनके स्वधर्म के अनुसार मनुष्य और देवता दोनों के ऊपर ही उनका अधिकार है; उसी से देवता के दूत रूप में

१।२।६)। ये यम वैवंस्वत हैं कठोपनिषद् के यम की तरह (तु. विवस्वन्त हुवे यः पिता ते १०।१४।५)। ये एवं अव्यक्त के देवता वरुण एक ही तत्त्व (तु. उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यसि वरुणं च देवम् १०।१४।७) अग्निअन्त्येष्टि में हम सब को इसी यम के निकट ले जाते हैं। उत्क्रान्ति की धारा इस प्रकार है– अग्नि-मातरिश्वा-सूर्य-यम (तु. १।१६४।४६; द्र. टी. ११८४)।

१३४०. ऋ. दूतो देवानाम् असि मर्त्यानाम् अन्तर महाँश चरसि रोचनेन १०।४।२।

१. यद् .... अन्तरो यासि दूत्यम् सिन्धोर् इव प्रस्वनितास ऊर्मयो ऽग्नेर् भ्राजन्ते अर्चयः १।४४।१२।

२. ३।३।२

३. .७।२।३

४. २।६।७ ('जन्म' आविर्भाव – मनुष्य के भीतर देवता का एवं 'आरोधन' अथवा आरोहण के फल स्वरूप देवता के भीतर मनुष्य का ४।८।२, ४; ७।८; तु. जातो जाताँ उभयाँ अन्तर् अग्ने दूत ईयसे ४।२।२)।

५. ८।३९।१, द्र. टी. १३२५ (३)।

द्युलोक और भूलोक में वे छाये हुए हैं। यदि हम उनकी धीति और सुमति को वरण कर लें, तो तीन वर्म (कवच) द्वारा हम सब की रक्षा करेंगे शिव रूप में।[६]

इस प्रकार प्रत्येक मर्त्य आधार में निषण्ण ये ही 'अमृत ज्योति' हैं, और परम देवता के ये ही 'प्रथम होता'[१३४१] हैं, केवल उपासक के नहीं[१], बल्कि सर्वजन के दूत हैं, विश्व के दूत हैं। इसके अतिरिक्त वे प्रबुद्ध जीवन के प्रभात[२] में देवकाम मनुष्य के आधार में समिद्ध 'दूतः कविः प्रचेताः' हैं, जो[३] आनन्दमय हैं, कामना में व्यग्र, आवेग कम्प्र हैं, [४]वरेण्य और [५]अमर्त्य हैं किन्तु [६]पलित या शुभ्रकेश दूत हैं।

---

६. तु. विभूषन्न् अग्न उभयाँ अनुव्रता दूतो देवानां रजसी सम् ईयसे यत् ते धीतिं सुमितिम् आवृणीमहेऽध स्मा नस् त्रिवरूथः शिवो भव ६।१५।९। अभीप्सा और आवेग के रूप में मनुष्य एवं देवता के बीच सम्बन्ध स्थापित करना अग्नि का 'व्रत' है। यही सम्पर्क स्थापित करने का मार्ग देवायान का मार्ग है (द्र. १।७२।७)। देवता की 'धीति' हमारा शिवानुध्यान है एवं 'सुमति' सौमनस्य अथवा प्रसाद है। **'त्रिवरूथ'** प्रायशः 'शर्म' शब्द का विशेषण है ८।४२।२, ९।९७।४७, ५।४।८, १०।६६।७, १४२।१। तु. ब्रह्मकृतो अमृतो विश्ववेदसः शर्म नो यं सन् त्रिवरूथम् अंहसः १०।६६।५ : 'अंहः' चेतना सङ्कोच, सिकुड़न, 'वरूथ' (<√ वृ 'आच्छादित करना') का विलोम है वैपुल्य, जिसकी एक और संज्ञा है उरुलोक, (द्र. टी. ११७६, १२९१ (५))। ये तीन वरूथ तीन लोक में चेतना की व्याप्ति है, वही यथार्थ शर्म अर्थात् शरण अथवा स्वस्ति (६।४६।९) है; वही देवता का वर्म अथवा 'कवच' भी है।

१३४१. तु. ऋ. ६।९।४।

१. १।३६।५, ४४।९, ४।९।२, विश्वस्य दूतम् अमृतम् ७।१६।१।

२. आ देवयुर् इनधते दुरोणे ४।२।७+१०।११०।१।

३. उशिग् दतश् चनोहितः ३।११।२।

४. ८।१०२।१८, १०।१२२।५।

५. १।४४।११, ६।१६।६।

६. 'नि वेवेति पलितो दूत आस्व् अन्तर् महाँश् चरति रोचनेन, वपूंषि विभ्रद् अभि नो. विचष्टे महद् देवानाम् असुरत्वम् एकम्' – शुभ्रकेश दूतवे

दूत के रूप में अग्नि के ये दो कार्य - आवाहन एवं आवहन हैं। एक में उनकी संज्ञा 'होता' आवाहन कर्त्ता है और दूसरे में 'वह्नि' है। 'हव्यवाह' अथवा 'हव्यवाहन' के रूप में वे मनुष्य के 'वह्नि' हैं – देवता के निकट उसकी आहुति दूत के रूप में ले जाते हैं। तब वे 'यशस्वी वह्नि, विद्या के केतन, सुतर्पण दूत, लक्ष्य तक अविलम्ब पहुँचनेवाले, द्विजन्मा, श्लाघ्य संवेग की तरह होते हैं – जिन्हें मातरिश्वा भृगु के निकट से दान रूप में लेकर आए हैं।'[१३४२]

औषधियों में रममाण हैं, व्याप्त हैं, (द्युलोक और भूलोक) के अन्तर में महान् होकर विचरण करते हैं, दमकती द्युति के साथ, विचित्र तनु की प्रच्छटा के साथ हम सब की ओर देख रहे हैं : निश्चय ही देवताओं का महत् असुरत्व एक ही है ३।५५।९। 'वेवेति' <√ वी 'सम्भोग करना'। ओषधि जड़ पदार्थ में प्राण चेतना का प्रथम प्रकटन, 'ओष' अथवा अग्नि का तेज उनके भीतर निहित। अश्वत्थ उनका आश्रय है और सोम उनका राजा है (१०।९७।५, १८, १९)। भावों का यह अनुषङ्ग द्रष्टव्य : अश्वत्थ ब्रह्मवृक्ष; अग्नि वनस्पति; देह एक ऊर्ध्वमूल अवाक्शाख वृक्ष की तरह, नाड़ी तन्त्र उसकी शाखा-प्रशाखा; अग्नि अथवा सोम उनके भीतर सञ्चरण करते हैं, सोमलता मध्यनाड़ी-सुषुम्ना। इससे जान पड़ता है कि यहाँ ओषधि में अग्नि का रमण नाड़ी तन्त्र में द्रविणोदा अग्नि का सञ्चचरण है। यह अग्नि सनातन है, इसलिए पलित (तु. १।१६४।१); और औषधियाँ प्राण शक्ति का वाहन होने के कारण नित्य तरुणी, शाश्वत नवयौवना हैं (द्र. १०।९७ सूक्त)। नाड़ी तन्त्र में अग्नि का यह सञ्चरण धीरे-धीरे विश्वव्यापी अग्नि सञ्चरण का बोध ले आया, योग की भाषा में पिण्ड और ब्रह्माण्ड एकाकार हो गए। उसके बाद द्युमूर्द्धा में वैश्वानर अग्नि के विचित्र 'वपु' का दर्शन, वहाँ वे सर्वसाक्षी हैं (तु. १०।५।१)। यही देवता का 'महत् असुरत्व' अथवा अनिर्वचनीय महिमा है।

१३४२. ऋ. वह्निं यशसं विदथस्य केतुं सुप्राव्यं दूतं सद्योअर्थम्, द्विजन्मानं रयिम् इव प्रशस्तं रातिं भवद् भृगुवे मातरिश्वा १।६०।१। **यशस्** <√ यश् ।। ईश् (तु. √ यज् ।। ईज्, यह् ।। ईह्) 'ईश्वर अथवा प्रशास्ता होना'; विशेषण होने पर अन्तोदात्त। 'विदथ' प्रज्ञान, अग्नि उसका 'केतु' है अथवा प्रज्ञापक है। 'सुप्रावी' सुष्ठु प्रावयति प्रत्यर्पयति यो देवता: स सुप्रावी यष्टा (स्कन्द १।३४।४, तु. १०।१२५।२; सायण 'रक्षिता' १।६०।१); यहाँ वह्नि रूप में

[१]हव्यवाहन ये देवता हम सब के नित्य तरुण पिता हैं, [२]हम मर्त्य मानव उन्हें पकड़े हुए हैं; क्योंकि हम जानते हैं कि देवता के निकट हमारी आहुति वहन करके वे ही ले जाएँगे और हमारे उत्सर्ग की समस्त साधना की वे ही युवतम मनुष्य रूप में अपने सामर्थ्य द्वारा रखवाली कर रहे हैं। [३]वे देवताओं के मध्य विराजमान थे, किन्तु हमारा हव्य वहन करने के लिए अविष्ट हुए इस मर्त्य आधार में। उनके आवेश से हम जाग[४] उठे, आवेग कम्पित हम सब का कण्ठ स्मृति मुखर हुआ, अपने उत्साहस से वर्धमान अमर्त्य हव्यवाहन को समिद्ध किया। उस समय द्युलोक के अभियात्री देवता ने [५]वह्नि रूप में अपावृत किया तमिस्रा का द्वार, और [६]रहस्य के प्रज्ञान द्वारा हमारे

अग्नि ही यजमान। 'अर्थ' लक्ष्य, परमदेवता। 'द्विजन्मा' : अग्नि के दो जन्म : अधियज्ञ दृष्टि से उत्तरारणि एवं अधरारणिं से ३।२९।१) अधिदैवत दृष्टि से द्यावा-पृथिवी से (१०।१।२)। मातरिश्वा ने अग्नि विद्या भृगु को प्रदान की एवं भृगृ ने मनुष्य समाज को (द्र. टीका १३३९ (२))। इस अग्नि में है ईशना (तु. क. २।१।१२, १३), प्रज्ञान एवं संवेग; तब भी वे देवता के प्रसाद। हम सब की अभीप्सा भी वही।

१. ऋ. हव्यराल् अग्निर् अजर: पिता न: ५।४।२

२. तं त्वा मर्ता अगृभ्णत् देवेभ्यो हव्य वाहन, विश्वान् यद् यज्ञाँ अभिपासि मानुष तव क्रत्वा यविष्ठ्य ३।९।६। 'मानुष' : देवता और मनुष्य स्वरूपत: एक। इन्द्र को भी मानुष (मनुष्य) सम्बोधित किया गया है १।८४।२०। उपनिषद् में 'इस पुरुष में जो है और आदित्य में जो है दोनों ही एक' तै. २।८, ई. १६; तु. ऋ. १।१६४।२०।

३. अग्निर् देवेषु राजत्य् अग्निर् मर्तेष्वा विशन् अग्निर् नो हव्यवाहन: ५।२५।

४. तं त्वा विप्रा विपन्यवो जागृवांस: सम् इन्धते, हव्यावाहम् अमर्त्यं सहोवृधम् ३।१०।९। सह: वही वीर्य या शक्ति जो सारी बाधाओं को पराभूत करे। सह् धातु की प्राचीन व्यञ्जना 'साहस' अथवा उत्साह में है, किन्तु 'सहन' में उसकी अवनति हुई है।

५. अप द्वारा तमसो वह्निर् आव: ३।५।१।

६. उपविदा वह्निर् विन्दते वसु ८।२३।३। **उपवित्** (तु. निवित्) अग्नि-विद्या अथवा प्रज्ञान (तु. २।६।७, देवता और मनुष्य दोनों के रहस्य का ज्ञान)। तु. 'उपदृक्' निकट जाकर देखना ८।१०२।१५, ९।५४।२ 'सूर्य इवोपदृक्'।

लिए खोज कर प्राप्त की ज्योति। तब यही [७]हव्यवाट् अग्नि ही नित्य तरुण आनन्दघन वैश्वानर हुए।[८]

इसके अलावा वे देवताओं के भी 'वह्नि' हैं, मनुष्य के निकट उनके दूत हैं।[१३४३] मनुष्य की भी प्रार्थना है कि[१] उत्सुक ज्योति के द्वार एक-एक करके खुल जाएँ, और ये पुरोगामी दूत व्यग्र देवताओं को यहाँ आवाहन कर हमारे निकट लाएँ और वहन करके ले आएँ [२]वसु, रुद्र और आदित्य इन तीन गणों में विभक्त [३]तैंतीस देवताओं को [४]वहन

---

७. हव्यराळग्निर् अजरश् चनोहितः ३।२।२ (वैश्वानर सूक्त)।

८. अग्नि मुख अथवा जिह्वा द्वारा अर्थात् शिखा द्वारा हव्य वहन करते हैं १०।११५।३, वह्निर् आसा १।७६।४, ६।१६।९ (७।१६।९); तु. 'त्वं होता मन्द्रतमो नो अध्रुग् देवो विदथा मर्त्येषु, पावकया जुह्वा वह्निर् आसा ऽग्ने यजस्व तन्वं तव स्वाम' – तुम सबसे अधिक आनन्द में मतवाले हमारे द्रोह हीन होता हो मर्त्य के अन्तर में देवता होकर (सिद्ध करते हो) विद्या की साधना, पावक अपनी जिह्वा और मुख में वहन करते हो (इविः); हे अग्नि! तुम्हारे अपने तनु का यजन तुम स्वयं करते हो (६।११।२; अग्नि देवयाजी होकर आत्मयाजी, मनुष्य भी वही, तु. बृ. १।४।१०)। और भी द्रष्टव्यः 'हव्यवाहन' : त्वां देवासो मनवे दधुर इह यजिष्ठं हत्यवाहन १।३६।१०, ८।१९।२१, १।४४।२, ५।११।४, २।४१।१९, ५।२८।६, दूतो हव्यवाहनः ६।१६।२३ (८।२३।६....) ७।१५।६.....। 'हव्य वाट्' : १।१२।२, ६, १२८।८, ३।११।२, १७।४, ४।८।१, ५।६।५, ६।१५।४, ७।१०।३, ८।४४।३, १०।४६।४....। और भी द्र. १०।१२।२, ५१।५, १।१८८।१....।

१३४३. तु. ऋ. वह्निर् देवा अकृण्वत ३।११।४ (७।१६।१२), देवो दूतं चक्रिरे हव्य वाहनम् ५।८।६ (द्र. टी. १३३७ (४))।

१. ७।१७।२ (द्र. टी. १३३७ (१)); पुरोगामी : अग्निर् देवानाम् अभवत् पुरोगाः १०।११०।११, १२४।१, १।१८८।११। वहन करके ले आने के अर्थ में आ √ वह् धातु का प्रचुर प्रयोग है देवताओं के सम्बन्ध में : १।१२।३, १४।१२, २।३।३, ३।३।६, ४।२।४, ५।२६।१, ६।१६।६, १०।११०।१....।

२. १०।१५०।१, ७।१०।४

३. १।४५।२, ३।६।९

४. ३।६।९, १।२२।९-१०

करके लाएँ देवपत्नियों को, [५]देवयान के मार्ग में ले आएँ सुषम सन्तुलित होकर महती एवं बृहती ऋतज्ञा रूपिणी देवी अरमति को मधुपान में मत्त होने के लिए – जिन्हें हमने हव्य दिया है एक नमस्कार में; और उसके ही परिणाम स्वरूप ये तरुणतम देवता हमारे लिएं वहन कर देवात्मभाव की महिमा ले आएँ।[६] मनुष्य और देवता के बीच अभीप्सा के अतन्द्र दौत्य का यह सार्थक परिणाम है।

देवकाम की जिस सुकृति[१३४४] को अवलम्बन करके अग्नि का यह दौत्य है, उसका पारिभाषिक नाम 'यज्ञ' है।[१] यज्ञ देववाद का

---

५. आ नो महीम् अरमतिं सजोषा ग्नां देवीं नमसा सतहव्याम्, मधोर् मदाय बृहतीम् ऋतज्ञाम् आग्ने वह पथिभिर् देवयानैः ५।४३।६ (देवी **अरमति** का विशेष परिचय ऋक्संहिता में नहीं प्राप्त होता : अवेस्ता में वे 'पृथिवी' एवं 'प्रज्ञा'; सायण बतलाते हैं 'भूमि' ७।३६।८, ४२।३; पदपाठ में अवग्रह नहीं है; शौनकसंहिता में 'रमति' विश्रान्ति ६।७३।२, ७।७९।२; तो फिर नञ् समास के साथ अरमति = जगती? तु. अरममाणः ऋ. ९।७२।३। द्र. वैदिक पदानुक्रमकोष; एकाधिक स्थान पर उनका 'मही' विशेषण; शौनकसंहिता का पृथिवी सूक्त, द्र. १२।१ : हिरण्यवक्षा हैं ६, २६, अदिति ६१, परमव्योम में उनका अमृत हृदय सत्य के द्वारा आवृते है ८ जो कुछ 'प्राणद् एजत् उसकी वे धात्री हैं ४, वे माता, मैं उनका पुत्र हूँ १२ : ऋक् संहिता में भी अरमति को दो बार 'पनीयसी' अथवा स्तुत्यतरा बतलाया गया है १०।६४।१५, ९२।४; वर्तमान मन्त्र की स्तुति शौनक संहिता की स्तुति के अनुरूप है)।

६. ३।१९।४ (द्र. टी. १३३८ (१))।

१३४४. याज्ञिक की एक संज्ञा 'सुकृत' ऋक्संहिता में बहुप्रयुक्त। 'उरुलोक' अथवा अनिबाध चेतना का वैपुल्य (द्र. टीका ११३६)। उनका पुरुषार्थ – जिस प्रकार जीवन में उसी प्रकार मरण में। तु. 'यस्मै त्वं सुकृते जातवेद उ लोकम् अग्ने कृणवः स्योनम्, अश्विनं स पुत्रिणं वीरवन्तं गोमंत रयिं नशते स्वस्ति'– अर्थात् हे अग्नि! हे जातवेदा! जिस सुकृत के लिए तुमने उरुलोक को किया है सुखकर, सुकर, वह प्राप्त करता है अश्ववान्, पुत्रवान्, वीरवान्, गोमान् संवेग, (जिनका परिणाम) स्वस्ति (५।४।११; सन्धा भाषा में अभ्युदय एवं निःश्रेयस दोनों के अनुकूल सम्पद या सौभाग्य का वर्णन : 'अश्व' ओजः अथवा प्राणशक्ति १०।१०३।१०, 'गो'

साधनाङ्ग है, जिस प्रकार उपासना एवं ध्यान ब्रह्मवाद का साधनाङ्ग है। अग्नि के सहारे ही हम देवता को प्राप्त करते हैं, क्योंकि वे ही

ज्योति अथवा प्रज्ञा, 'वीर' वीर्य, 'पुत्र' साधक के भीतर देवता आविर्भाव नवजातक रूप में और सब के अन्त में 'स्वस्ति' अथवा निःश्रेयस तु. १०।३५ सूक्त की टेक 'स्वस्त्य् अग्निं समिधानम् ईमहे'); यास् ते शिवास् तन्वो जातवेदस् ताभिर् वहै.नं सुकृताम् उ लोकम् १०।१६।४ (तु. मु. 'एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः १।२।६)। इस ज्योतिर्मय उरुलोक की प्राप्ति ही सोमयाग फल है : तु. तन् नु सत्यं पवमानस्यास्तु .... ज्योतिर् यद् अह्ने (अनस्तमित दिन के लिए) अकृणोद् उ लोकम् ऋ. ९।९२।५; लोका यत्र ज्योतिष्मन्तः ११३।९, यस्मिन् लोके स्वर् हितम् .... अमृते लोके अक्षित।

१. यज्ञ 'देवकर्म' : तु. 'यो यज्ञो विश्वतस् तन्तुभिस् तत एक शतं देवकर्मेभिर् आयतः, इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वया. प वयेत्य् आसते तते – जो यज्ञ चारों ओर से अनेक तन्तुओं द्वारा वितत (प्रसारित) है और एक सौ एक देवकर्मों द्वारा आस्तृत है उसको वयन किया है इन पूर्व पुरुषों (पितृगण) ने जो यहाँ आए हैं, इस वितत यज्ञ में बैठे हैं और कह रहे हैं 'उस ओर बुनते चलो, इस ओर बुनते आओ, १०।१३०।१। तन्तुओं से निर्मित वस्त्र के साथ यज्ञ की उपमा (तु. ६।९।२, ३)। पितृपुरुषों ने जिस रूप में यज्ञ किया है, हम सब उसका ही, अनुसरण कर रहे हैं। वे हमारे यज्ञ में अधिष्ठित रहकर देवकर्म में हमें प्रेरित करते हैं। 'प्रवयन' बुनते-बुनते सामने की ओर जाना अर्थात् पृथिवी से द्युलोक की ओर; और 'अपवयन' उधर से बुनते-बुनते इधर उतर आना अर्थात् फिर द्युलोक से पृथिवी तक (तु. नचिकेता का प्रथम वर, क. १।१।१०-११)। अनुष्ठान की दृष्टि से यज्ञ 'तन्त्र' है और परिनिष्ठिति की दृष्टि से **कल्प** (<√क्लृप् 'गढ़ना') तु. 'तेन चाक्लृप्रे ऋषयो मनुष्याः ' देवयज्ञ के आदर्शानुसार मानव ऋषियों ने मनुष्य यज्ञ की कल्पना की १०।१३०।५, ६। इसके अलावा तमिस्रा का हनन करके सोमयाग द्वारा दिव्य तनु गढ़ लेना भी 'कल्प' है (तु. ९।९।७; ऐब्रा. 'यजमानं संस्कृत्याग्नौ देवयोन्यां जहोति, अग्निर्वै देवयोनिः, सो ग्नेर् देवयोन्या आहुतिभ्यः सम्भूय हिरण्य-शरीर ऊर्ध्वः स्वर्गं लोकम् एति २।१४, ३।१९)। देव यज्ञ में विश्वदेव यजमान, और परम देव यजनीय : देवा देवम् अयजन्त विश्वे (१०।१३०।३; तु. १०।९०।६....)।

देवताओं के पुरोहित हैं[2] और इस कारण यज्ञ के साथ उनका सम्बन्ध सबसे घनिष्ठ है। यज्ञ के पर्यायवाची शब्दों में 'अध्वर', ऋत', 'विद्थ' मुख्य हैं।[3] 'यज्ञ एक साधारण संज्ञा है, जिसका तात्पर्य है देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य त्याग एवं परिणाम स्वरूप देवताति' अथवा देवता का सायुज्य प्राप्त करना।[4] 'अध्वर' का व्युत्पत्तिलभ्य

---

२. तु. ३।२।८।

३. निघण्टु में यज्ञ के नामों में 'ऋत' नहीं है। किन्तु तु. नि. ऋतं सत्यं वा यज्ञं वा ४।१९; ऋ. ७।२१।५; द्र. टी. १२०८।

४. तु. 'यज्ञैर् अथर्वा प्रथमः पथस् तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि, आ गा आजद उशना काव्यः सचा यमस्य जातम् अमृतं यजामहे' – यज्ञ द्वारा अथर्वा ने पहले पथ को विततत किया, उसके बाद व्रत-रक्षक एवं प्रिय, बन्धु सूर्य ने जन्म लिया : साथ ही साथ कवि गोत्रीय उशना को हाँककर ले आए, यम से उत्पन्न अमृत का हम यजन करते हैं (१।८३।५; पृथिवी से द्युलोक का मार्ग यज्ञ के परिणामस्वरूप खुल गया और उसी से अन्तर में सूर्य का उदय हुआ; आलोक धेनुएँ गुहा की आड़ में थीं, वे सामने आईं; देवजन्म में हम मृत्यु के देवता यम के निकट से ही नचिकेता की तरह अमृत अथवा अमरता का अधिकार प्राप्त करते हैं। 'उशना काव्य' सायण के मतानुसार 'भृगु' हैं। यज्ञ के प्रवर्तक पितृगण का उल्लेख किया जा रहा है। इसके पूर्वमन्त्र में अङ्गिराओं का उल्लेख है और पणियों के गोधन हरण का सङ्केत भी है। 'अमृत' को वेङ्कट, सायण, स्कन्द सब ने इन्द्र समझा है, केवल स्कन्द का मन्तव्यः 'यम इति यज्ञ नाम शाकपूणिना पठितम्, अथवा यमोऽत्रादित्य एव, षष्ठी निर्देशाच्च सकाशाद् इति वाक्यशेषः, आदित्य सकाशाज् जातम् अमृतं यजामह इति'); ये (अङ्गिरागण) यज्ञेन दक्षिणया समक्ता (सङ्गताः' सायण ऋषि रूप में) इन्द्रस्य सख्यम् अमृतत्वम् आनश (प्राप्त किया) १०।६२।१, 'य ऋतेन सूर्यम् आरोहयन् दिवि' ३; 'अग्नि यं यज्ञम् अध्वरं विश्वतः परिभुर् असि (व्याप्त हो) स इद् देवेषु गच्छति' १।१।४; अङ्गिरा गण 'देवपुत्रा ऋषयः' १०।६२।४; यः समिधा य आहुती (आहुति द्वारा) यो वेदेन (वेद अथवा प्रज्ञान द्वारा) ददाश (दिया है) मर्तो अग्नये, यो नमसा स्वध्वरः, (जिसकी अध्वर साधना अनायास) .... न तम् अंहः (संकोच) देव कृतं कुतश्चन न मर्त्यकृतं नशत् (निकटता प्राप्त करना) ८।१९।५, ६ (अर्थात् यज्ञ के

अर्थ है 'धूर्ति' अथवा टेढ़ी चाल का अभाव, ऋजुता, अमायिकता,[५] निष्कपटता; इससे यजमान के चारित्र अथवा चाल-चलन का परिचय मिलता है। 'ऋत' विश्व के छन्द के साथ जीवन के छन्द का सामञ्जस्य स्थापित करना है अर्थात् व्यक्ति के स्वभाव एवं आचरण में धर्म और न्याय का स्फुरण ऋत है, जो उसी चारित्र का फल है।[६]

फलस्वरूप उसका अभ्युदय एवं निःश्रेयस दोनों ही उदार होता है); शुभ्रम् अग्निं .... हवामहे ... मनुषो देवतातये ३।२६।२।

५. **अध्वर** इति यज्ञ नाम, ध्वरतिर् हिंसाकर्मा। तत्प्रतिषेधः' नि. १।८; तु. यज्ञ. संहिता की व्युत्पत्ति : 'अध्वर में देवता असुर द्वारा अध्वृत अथवा अध्वर्तव्य' तै. ब्रा. ३।२।२।३, मैं. ३।६।१०, काठ. २३।७। <√ ध्वर् ॥ ह्वृ 'टेढ़े-तिरछे (तु. 'जुहुराणम् एनः' ऋ. १।८९।१)। अध्वर का विलोम धूर्ति, उससे बचने की प्रार्थना १।१८।३ (७।९४।८), पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेर् अराव्णः (जो देवताओं को देता नहीं) ।१।३६।१५, ७।१।१३, न तं धूर्तिर् वरुण मित्र मर्त्यं (प्राप्नोति) यो वो धामभ्योऽविधत् (लक्ष्य पर एकाग्रचित्तता) ८।२७।१५, ४८।३; इसके अलावा 'धूर्ति' माया जैसे वरुण की १।१२८।७। और एक रूप है 'ध्वरस्' : न तम् अंहो न दुरितं (दुश्चरित, बदचलन, ग़लत रास्ते पर चलना, तु. क. १।२।२४) 'कुतश्चन ना रातयस् तितिरुर् (वश में किया है) न द्वयाविनः (दुमना, शङ्काशील, प्रवञ्चक), विश्वा इद् अस्माद् ध्वरसो (सङ्कोच, दुश्चरित, कार्पण्य, प्रवञ्चना आदि) वि वाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते' ऋ. २।२३।५; द्रुहं जिघांसन् ध्वरसम् अनिन्द्राम् (चित्त का जो द्रोह को स्वीकार नहीं करता) ४।२३।७। तो फिर अध्वर इन सब टेढ़ी चालों से रहित, तु. प्रतेषाम् असौ विरजो ब्रह्मलोके न येषु जिह्मम् अनृतं न माया चेति' १।१६। आधुनिक व्युत्पत्ति < **IE** – 'to go', **Pali** अन्धति 'he goes', **GR** one no then 'the comes forth', hence' 'a way, a course, 'अध्वन' शब्द के बारे में प्रयोज्य है, अध्वर के नहीं। द्र. 'ह्वरः' कौटिल्य, कुटिलता ऋ. २।२३।६, ५।२०।२... तु. **ENG** whorl, whore कुलटा।

६. जो देवता को चाहता है, वह 'देवयु' है, उसी प्रकार ऋत को जो चाहता है वह **ऋतयु** अथवा **ऋतयत्**। तु. ८।७९।६, ५।८।१, ऋतावानम् (अग्निम्) ऋतायवो यज्ञस्य साधनं गिरा (वाणी द्वारा) उपो एनं जुजुषुर् (पाकर तृप्त हुए) नमसस् पदे (देवता के लिए जहाँ प्रणति है, हृदय में :

और उसका परिणाम 'विदथ' अथवा विद्या, प्रज्ञान है।[७] अग्नि के प्रसङ्ग में यज्ञ का वर्णन संहिता में नाना रूपों में अनेक स्थानों पर बिखरा हुआ है। उपर्युक्त चारों संज्ञाओं के बारे में हम एक बहुत सङ्क्षिप्त विवृति दे रहे हैं। ऋक्संहिता के प्रथम मण्डल के प्रथम मन्त्र से आरम्भ कर रहे हैं। मधुच्छन्दा वैश्वामित्र का कथन है; 'अग्नि को मैं उद्दीप्त करता हूँ, उनका स्तवन करता हूँ, वे पुरोहित हैं, वे दिव्य ऋत्विक् हैं, होता हैं, वे अनुत्तम रत्नधा हैं।'[८]

पहले ही हम बतला चुके हैं कि ऋग्वेद होतृवेद है, जिसकी संहिता देवप्रशस्ति का सङ्कलन है। देवताओं के आदि में अग्नि है। अतः संहिता के प्रायः सभी मण्डल अथवा उपमण्डल के आरम्भ में अग्नि की प्रशस्ति है। देववाद की साधना यज्ञ है, जो साधक है, वे 'यजमान' हैं, साधना में सिद्ध होने पर वे 'ऋत्विक्' अर्थात् 'ऋतुयाजी' हैं। यज्ञ-भावना एवं साधना आदित्यायन के छन्द के साथ ग्रथित है। ऋत्विक् उस अयन अथवा ऋतु के रहस्य को जानते हैं, वे 'अहर्विद' हैं[१३४५] मनुष्य-ऋत्विक् वस्तुतः देव-ऋत्विक् के प्रतिभू अथवा प्रतिनिधि हैं, जिस प्रकार मनुष्य-यज्ञ देवयज्ञ का ही अनुवर्तन है।[१३४६] अग्नि ही वह दिव्य ऋत्विक् हैं, जो ऋतु के अनुसार मनुष्य

तु. स्तोमो, नभस्वान् हृदा तष्टः १।१७१।२) ८।२३।९, २।१।२, १।९०।६-८ (फलश्रुति...)।

७. अग्नि 'विदथ्य' अर्थात् विद्या की साधना द्वारा लभ्य ३।५४।१।

८. अग्निम् ईळे. पुरोहितं यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्, होतारं रत्नधातमम् १।१।१।

१३४५. ऋक्संहिता में ऋत्विक् गण अहर्विद (१।२।२), अश्विद्वय (८।५।९, २१) एवं विष्णु (१।१५६।४)। 'अहः' अनस्तमित, अशेष आलोक या ज्योति का प्रतीक है, उसको प्राप्त करना ही पुरुषार्थ है (तु. ९।९२।५)। द्युलोक में ज्योति का अभियान अश्विद्वय के संवेग से शुरू होता है और विष्णु के परमपद में समाप्त होता है।

१३४६. तु. ऋत्विक् वरण के समय ऋत्विक् प्रधान ब्रह्मा के लिए मन्त्र है : 'ओम् अहं भूपतिर् अहं भुवनपतिर् अहं महतो भूतस्य पतिः, भूर् भुवः स्वः देव सवितर् एतं त्वा वृणुते बृहस्पतिं ब्रह्माणम् .... बृहस्पतिर् देवानां ब्रह्मा हं मनुष्याणाम्' तै ब्रा. ३।७।६। मनुष्य यज्ञ उत्सृष्टि अथवा उत्सर्ग है

की ओर से देवता का यजन करते हैं।[१] देवयजन देवता की सायुज्य-प्राप्ति के लिए ही किया जाता है। मर्मज्ञों की दृष्टि में वह यजन मैं नहीं करता, बल्कि[२] मेरे भीतर ध्रुव या स्थिर ज्योति के रूप में निहित जो देवता हैं वे ही यजन करते हैं;[३] यह आधार उनका अपना घर है, उसी घर में वे स्वयं बढ़ते चलते हैं, [४]प्रचेता रूप में मेरे भीतर सारी विश्ववारा अथवा विश्ववरेण्य प्राण की धाराओं को परिव्याप्त करते हैं और उनकी ही[५] चेतना में मेरी अचित्ति को चित्ति में रूपान्तरित करते हैं। यही उनका 'सुक्रतु' अथवा अनायास सृष्टि-वीर्य है।[६]

किन्तु उनके इस दिव्य कर्म में मेरा भी हिस्सा है। वे ही मेरे भीतर अपना तनु रचते हैं,[१३४७] तब भी मेरे निकट वे अपना 'शंस'[१]

और देवयज्ञ विसर्ग या विसृष्टि है (द्र. टी. १३४३ (१))। दोनों के ही मूल में आत्माहुति है।

१. ऋ. 'यत् पाकत्रा ममसा दीन दक्षा (अज्ञान मन एवं दीन सामर्थ्य लेकर); तु. ४।२४।९, वहाँ 'दक्ष' बुद्धिमान्) न यज्ञस्य मन्वते (यज्ञ का तत्त्व नहीं जानते) मर्त्यासः, अग्निष्टद धोता क्रतुविद् विजानन् यजिष्ठो देवाँ ऋतुशो यजाति' ('ऋत्विक' संज्ञा का मूल यहाँ ही) १०।२।५; अग्ने यज्ञं नय ऋतुथा ८।४४।८, दैव्या होतारा....देवान् यजन्ताव् ऋतुथा २।३।७, १०।११०।१०। अग्नि, 'देवऋत्विक्' ५।२२।२ (२६।७)।

२. तु. ६।९।५ :

३. ६।९।४, वर्धमानं स्वे दमे १।१।८;

४. य इन्वति द्रविणानि प्रचेता विश्ववाराणि ६।५।१;

५. तु. ४।२।११।

६. 'क्रतु' निघ. कर्म २।१ प्रज्ञा ३।९; तु. नि. २।२८। आगे चलकर यज्ञार्थ में व्यवहृत। 'सुक्रतु' अग्नि का यज्ञ सम्बन्ध तु. इमं यज्ञं .... देवत्रा धेहि सुक्रतो ३।१।२२, यजथाय सुक्रतु : ५।११।२, देवयज्याय सुक्रतुः ७।३।९।

१३४७. तु. ऋ. 'स्वयं यजस्व दिवि देवान् किं ते पाकः (अज्ञान, निर्बोध) कृणवद् अप्रचेताः, यथायज ऋतुभिर् देवान् एवा यजस्व तन्वं (स्वयं को) सुजात' (१०।७।६ अज्ञान मेरे ही भीतर है, उसे पराजित करके अनायास तुम्हारा आविर्भाव हो); ६।११।२ (द्र. टी. १३४२ (८)। तु. 'विश्वकर्मा का आत्मयजन' १०।८१।५, ६।

अथवा स्वीकृति चाहते हैं और चाहते हैं कि उनका चञ्चल हृदय मेरे हृदय को भी चञ्चल करे।[२] उस समय उनके आवेश से मन के आकाश में श्रद्धा की अरुणिमा में मेरे हृदय की आकूति रूप धारण

---

१. शंस देवता की प्रशस्ति, जिसके मूल में है उनका अनिराकरण अथवा स्वीकृति (तु. छा. शान्ति पाठ); उसके विपरीत 'निद्' जैसे देवनिदों का। अग्नि 'आयोः शंसः' ४।६।११, प्राण उन्हें स्वीकार कर लेता है; इन्द्र 'यज मानस्य शंसः' १।१७८।४, 'नरां शंसः' ६।२४।२। अग्नि 'नराशंस', एक स्थान पर केवल 'शंसः' ७।३५।२।

२. तु. 'आ योनिम् अग्निर् घृतवन्तम् अस्थात् पृथु प्रमाणम् उशन्तम् उशानः' – यहाँ ही अग्नि ज्योतिर्मय उत्स में अधिष्ठित हुए – फैल गया है जिसका पथ, अस्थिर है जो, वे भी तो अस्थिर हैं ३।५।७। 'घृतवन्तं योनिम्' : तु. अग्ने ... ऊर्णावन्तं प्रथमः सीद योनिम्, कुलायिनं घृतवन्तम् (६।१५।१६; ऊर्णावान् के अर्थ में बर्हि अथवा कुश बिछाया गया है जिस पर; अध्यात्म दृष्टि में बर्हि हृदय (वक्षस्थल) के लोम, द्र. छा. ५।१८।२); श्येनो न (सोम) योनिं घृतवन्तम् आसदम् (आसन ग्रहण) – ९।८२।१; प्रजानन्न् अग्ने तव योनिम् ऋत्वियम् (कालोपयोगी) इलायास्पदे घृतवन्तम् आसदः (आसन ग्रहण किया) १०।९१।४; आ यस् ते (इन्द्र) घृतवन्तं योनिम् अस्वाः (स्तुति गान किया <√ स्वर् 'गीत गाना' १०।१४८।५। रहस्यार्थ 'ज्योतिर्मय उत्पत्ति स्थल'; आधियाज्ञिक दृष्टि में उत्तरवेदि, आध्यात्मिक दृष्टि से हृदय।। अभीप्सा की आग यहाँ ही जल उठती है। वस्तुतः हृत् शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ भी वही है। (द्र. टी. १३४६ (३))। 'घृत' प्रयोग। तु. (अग्निः) पृथुप्रगामा सुशेवः १।२७।२। 'पृथुः' फैल गया है 'प्रमान' पथ (<√ प्र √गा 'आगे बढ़ना') जिसका। तु. विष्णु 'उरुगाय', क्योंकि उनकी किरणें चारों ओर फैल जाती हैं) वहाँ से अनेक रास्ते फैले हुए हैं (तु. ऋ. ४।५८।५)। उपनिषद् में 'हृदयस्य नाड्यः' अथवा हृदय की नाड़ी के रूप में इस पथ (रास्ते) का वर्णन किया गया है (क. २।३।१६, बृ. ४।२।३)। 'उशन्तम् उशानः' – (<√ वश् 'चाहना', 'कामना करना'; एक तो योनि का विशेषण है और एक अग्नि का विशेषण है।) हृदय अग्नि को चाहता है, और अग्नि हृदय को चाहता है।

करती है।[३] वही श्रद्धा मुझे जिस प्रकार यज्ञ की दृष्टि से वेदी में, उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से हृदय में अग्नि के समिन्धन में प्रवर्तित करती है।[४]

इस समिन्धन से यज्ञ का आरम्भ।[१३४८] देवयज्ञ में जो अग्नि समिद्ध होते हैं, वे वैश्वानर हैं। वे द्युलोक के मूर्द्धा हैं शीर्ष हैं, पृथिवी की नाभि हैं, पृथिवी और द्युलोक के बीच उनका उठना-गिरना, चढ़ाव-उतार जारी रहता है; देवताओं ने आर्यों के लिए उनको परम ज्योति के रूप में [१]चित्ति [२]या चेतना की सहायता से उत्पन्न किया।

३. द्र. श्रद्धा सूक्त ऋ. १०।१५१। अनुक्रमणिकाकार का कथन है कि **श्रद्धा** 'कामायनी' अथवा कामजाता है हृदय की आकूति से उसकी उत्पत्ति होती है। (१०।१५१।४), और फिर देवता के आवेश से भी श्रद्धा का जन्म होता है (तु. क. १।२।२)। 'श्रद्धामना' का देवयजन ही सार्थक है (ऋ. २।२६।३)। 'श्रद्धा' श्रद् धानात्-नि. ९।३०; **IE.** Kred-dhe 'to put in heart, **Lat.** credo 'I believe'; श्रद् ॥ हृद् **Lat.** cord-(is) cor, **GK.** Kardia, **OE.** heorte 'Heart'। पुनः हृद ॥ √ हृ ॥ √ घृ 'दीप्त होना'।

४. तु. रयीणामस्मद्धृदो भूरिजन्मा वि चष्टे १०।५।१ (द्र. टी. १२७२ और मूल)। और भी तु. 'उर एव वेदिर् लोमानि बर्हिर् हृदयं गार्हपत्यं, छा. ५।१८।२। तु. ऋ. 'तं नव्यसी (नूतनतर) हृद आ जायमानम् अस्मत् (जायमाना) सुकीर्तिर् (यह सुन्दर कीर्तन) मधुजिह्वम् अश्याः (पहुँचे) १।६०।३। यहाँ Geldnor की अपेक्षा सायण का अन्वय सरल है, उससे वाक्य को मरोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं।

१३४८. संहिता के आप्रीसूक्तों में उसकी एक संक्षिप्त रूपरेखा प्राप्त होती है— आरम्भ 'समिद्ध' अग्नि द्वारा, और समापन 'स्वाहाकृति' द्वारा। द्र. 'आप्री देवगण'।

१. तु. ऋ. मूर्धा दिवो नाभिर् अग्निः पृथिव्या अथाभवद् अरती रोदस्योः, तं त्वा देवासो अजनयन्त देवं वैश्वानर ज्योतिर् इद् आर्याय १।५९।२। उनकी मूर्द्धा द्युलोक से ऊपर होने पर वे 'अतिष्ठा' हैं; और नाभि के रूप में पृथिवी के चित् केन्द्र में उनकी 'प्रतिष्ठा' है। तु. तन्त्र में नाभि अथवा मणिपुर अग्निस्थान है, यह भाव जठराग्नि के अन्नपचन से आया है (गी. १५।१४)। भुक्त अथवा खाया हुआ अन्न शीर्षण्य प्राणों की शिखा में

किन्तु मानव-यज्ञ में यजमान् को मन्थन द्वारा अग्नि समिन्धन करना पड़ता है। ऋक् संहिता के दो सूक्तों में इस मन्थन की एक वर्णाढ्य विवृति प्राप्त होती है।[३] छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार यह एक 'वीर्यवत् कर्म' है, प्राण और अपान की क्रिया को रुद्ध करके व्यान की क्रिया द्वारा, वह सिद्ध या निष्पन्न करना पड़ता है।[४] संहिता में वीर्य की संज्ञा 'सहः' है अर्थात् सारी बाधाओं को दूर करने का अधृष्य अजेय सामर्थ्य। अतएव अग्नि वहाँ 'सहसः सूनुः' [५]अथवा वीर्य के पुत्र हैं। बाधा इन्धन की जड़ता है। 'इन्धन में अग्नि तो हैं ही' — इस श्रद्धा की सहवर्ती शक्ति द्वारा उसे अभिभूत करना होगा। अतः सुतम्भर

रूपान्तरित होता है (तु. श. १३।१।७।४...) उनका समाहार ही मनोज्योति है, जो उदान की प्रेरणा से शून्य में मिल जाती है (द्र. छा. प्राणाग्नि होत्र ५।११-२४)। विश्व प्राण मातरिश्वा इस अग्नि को पृथिवी में अथवा नाभि में प्रतिष्ठित् करते हैं (ऋ. यं मातरिश्वा मनवे परावतो देवं भाः परावतः १।१२८।२, लोकोत्तर से मातरिश्वा का अग्नि-आनयन मनुष्य जाति के आदिपिता मनु के लिए)।

२. तु. ३।२।३; यह चित्ति अवश्य 'पूर्वचित्ति' अर्थात् अन्धकार के भीतर प्रथम चेतना की निकषरेखा है।

३. द्र. ३।२३, २९।

४. तु. अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानः।... अतो यान्य् अन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाग्नेर् मन्थनम् आजेः सरणं दृढ़स्य धनुष आयमनम् अप्राणन् अनपानंस् तानि करोति १।३।३, ५। हठयोग का मूल इस वैदिक् व्यानवृत्त प्राणायाम में है। वायुरोध के फलस्वरूप साथ-साथ पूरे शरीर में अग्नि का ताप फैल जाता है। तु. अग्निर् यत्राभिमथ्यते वायुर् यत्राधिरुध्यते, सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र सञ्जायते मनः-श्वे. २।६ : अग्नि के अध्यात्म मन्थन के समय (श्वे. १।१४) वायु का रोधन एवं उसके परिणामस्वरूप अग्निवाहित सोम अथवा आनन्दचेतना का उपचय एवं मनोज्योति का नवजन्म — योगविधि का संक्षिप्त ख्यापन या स्पष्टीकरण है।

५. ऋ. १।५८।८, १४३।१, ३।१।८, २५।५, ४।२।२, ११।६, ५।३।९, ६।१।१०, १३।४, ७।१।२१, ३।८, ८।१९।७, ७५।३, १०।११।७, ४५।५ .... यह विशेषण एक मात्र अग्नि के लिए ही प्रयुक्त।

आत्रेय बतला रहे हैं कि प्रति काष्ठ-खण्ड में अग्नि गुहाहित हैं, अग्निऋषि अङ्गिराओं द्वारा निर्मन्थन के फलस्वरूप वे 'महत् सह:' के रूप में आविष्कृत होते हैं और वे उन्हें 'सहस: पुत्र' कहकर पुकारते हैं।[६]

मन्थन केवल बाहर नहीं, बल्कि इस देह के भीतर भी एक अध्यात्म-मन्थन चलता है। अग्निऋषि अथर्वा सारे व्रतचारियों के मूर्द्धन्य कमल से इस अग्नि को निर्मथित करते हैं।[१३४९] और उनकी ही

६. त्वाम् अग्ने अङ्गिरसो गुहाहितम् अन्व अविदञ्छिश्रियाणं वनेवने, स जायसे मथ्यमान: सहो महत् त्वाम् आहु: सहसस् पुत्रम् अङ्गिर: ५।११।६। तु. यम् आपो अद्रयो (पाषाण) वना गर्भम् ऋतस्य पिप्रति (पोषण करते हैं), सहसा (उत्साहस द्वारा) यो मथितो जायते नृभि: पृथिव्या अधि सानवि (शिखर पर) ६।४८।५ : अग्नि स्वरूपत: 'ऋतस्य शिशु' हैं अर्थात् अभीप्सा ही संवर्द्धित होकर जीवन को ऋतमय करती है; वे निहित हैं चेतना के अन्धतामिस्त्र में अथवा ज्वलनोन्मुख इन्धन में अथवा विद्युत् रूप में प्राण की धारा में; जो 'नर' अथवा वीर्यवान् पुरुष हैं उनके मन्थन से वे आविर्भूत होते हैं वेदी में अथवा हृदय में – जहाँ द्युलोक से अन्तरिक्ष पार करती हुई पवमान सोम की धाराएँ उतर आती हैं (९।६३।२७) पृथिवी का सानु (शिखर) अग्नि एवं सोम अर्थात् अभीप्सा एवं आवेश दोनों का ही आश्रय है।

१३४९. त्वाम् अग्ने पुष्कराद् अध्य अथर्वा निर् अमन्थत, मूर्ध्नो विश्वस्य वाघत: ६।१६।१३। मूर्द्धन्य कमल से अग्नि हृदय में उतर आते हैं। वहाँ भी एक कमल है : तु. 'उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठो र्वश्या : ब्रह्मन् मनसोऽधि जात:, द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्यान् विश्वे देवा: पुष्करे त्वा. ददन्त' – हे वसिष्ठ! हे ब्रह्मन्! तुम तो मित्रावरुण के पुत्र हो, उर्वशी के मन से उत्पन्न हुए हो; परमदेवता की बृहत् भावना से जो बिन्दु च्युत या चुआ, विश्वदेवों ने उसे कमल में ग्रहण कर लिया ७।३३।११। अग्नि की एक संज्ञा 'वसिष्ठ' (२।९।१, ७।१।८ वसिष्ठ मण्डल में; ६।११९।१ वैश्वानर अग्नि) अर्थात् प्रज्वलतम है। ऋषि वसिष्ठ पृथिवी में इस अग्नि के प्रतिभू हैं, अग्नि की तरह वे भी सर्वभूत की अन्तर्ज्योति हैं– यही उनकी महिमा है। मित्रावरुण व्यक्त और अव्यक्त आनन्त्य के देवता हैं, उर्वशी आदि जननी बृहद्दिवा हैं (५।४१।१९, ४२।१२)। एक ही देवता– जब

प्रवर्तना अथवा प्रेरणा से[१] ऋषि दध्यङ् वृत्रहन्ता इस पुरन्दर की समिद्ध करते हैं और वृषापाथ्य इस अनुत्तम, सर्वोत्तम दस्युहन्ता धनञ्जय को समिद्ध करते हैं, जो प्रत्येक समर में विजयी है। यह मन्थन आज भी

पुरुषविध तब मित्रावरुण का युग्म, फिर जब अपुरुषविध तब केवल दैव्य ब्रह्म'। 'द्रप्स' उनका चिद् बीज है; परमार्थ दृष्टि में योनि उर्वशी है अध्यात्म दृष्टि में 'पुष्कर' अथवा 'कुम्भ' (७।३३।१३) अर्थात् निषिक्त बीज की तृतीय 'आवसथ' है (तु. ऐत. १।३।१२)। आधार में अगस्त्य अथवा वसिष्ठ का जन्म मनुष्य का ऋषिजन्म है; इन दोनों संज्ञाओं से ही अग्नि का बोध होता है (७।३३।१३)। मूल 'वाघत्' निघ. 'ऋत्विक्' ३।१८, नि. वोढ़ारो मेधाविनो वा ११।१६; तु. **IE.** (e) wēg 'W'h-, (e) wōg 'W'h-, 'to offer sacrifice, Pray, VOW; **GK.** eukhomai 'to Pray' eukhe VOW, Wish'। मूर्द्धन्य कमल में अग्निमन्थन के साथ तु. 'शिरोव्रत' मु. ३।२।१० ('शिरसि अग्निधारणलक्षणम्'–शङ्कर)।

१. ऋ. तम् उ त्वा दध्यङ्ङ् ऋषि: पुत्र ईधे अथर्वण:, वृत्रहणं पुरन्दरम् तम् उ त्वा पाथ्यो वृषा सम् ईधे दस्यु हन्तमम्, धनञ्जयं रणे-रणे ६।१६।१४, १५। इन तीनों मन्त्रों में भावना का एक क्रम है। प्रथमत: अथर्वा के मन्थन के फलस्वरूप आधार में चिदाग्नि का आवेश। किन्तु अग्नि यहाँ आकर गुहाहित होकर रहे, सन्धाभाषा में वृत्र अथवा आवरणकारी शक्ति के 'पुर' में या दुर्ग में अवरुद्ध या बन्दी हो गए। इन्धन द्वारा दध्यङ् ने उन्हें मुक्त किया; किन्तु वृत्र की बाधा दूर होते ही 'दस्यु' की बाधा और तामसिक आवरण दूर होते ही राजसिक विक्षेप उपस्थित हो गए। 'इद्ध' अग्नि को वृषा ने 'सामिद्ध' किया और 'रणे-रणे धनञ्जय' रूप में उनको आविष्कृत किया। 'धन' परमार्थ परम सत्य और 'रण' आनन्द (तु. 'महे रणाय चक्षसे' – महान् आनन्द का दर्शन करूँगा १०।९।१)। दस्युहा (दस्युहन्ता) अग्नि आनन्दमय; सङ्घर्ष है सत्य; किन्तु जय का आनन्द भी है। शब्रा. यहाँ तीन ऋषि क्रमश: प्राण, वाक् एवं मनोदृष्टि का उपदेश दे रहे हैं (६।४।२।२-४); प्राण सिद्ध, किन्तु वाक् और मन साधन। दध्यङ् अथर्वा के पुत्र हैं, किन्तु वृषा पाथ्य का कोई परिचय नहीं प्राप्त होता। दध्यङ् ने अश्वशित रूप में अश्विद्वय को मधुविद्या का उपदेश दिया था (ऋ. १।११६।१२, ११७।२२, ११९।९, ९।६८।५; श ब्रा. ४।१।५।१८, १४।१।१।१८)।

जारी है। आज भी लक्ष्य की ओर तन्मय 'वेधा'[२] अथवा मेधावी, ऋत्विक् गण अथर्वा की तरह ही इस अग्नि का मन्थन करते हैं और बाकी-तिरछी इस अमूर्त ज्योति को अन्ध तमिस्रा से बाहर ले आते हैं। उसके बाद उन्हें पृथिवी की वरेण्य भूमि में, 'इलायास्पद' में स्थापित करते हैं, इसलिए कि दिन का प्रकाश झिलमिला उठे; उस समय मनुष्य के भीतर अग्नि दृषद्वती, सरस्वती और आपया में प्रबल वेग से दीप्त हो उठते हैं।[३] उपनिषद् में बार-बार ध्यान निर्मन्थन के द्वारा

२. तु. इमम् उ त्यम् अथर्ववद् अग्निं मन्थन्ति वेधस्ः, यम् अङ्कूयन्तम् आनयन् अमूरं श्याव्याभ्यः ६।१५।१७ 'श्याव्या' अव्यक्त। उससे आहृत, उपार्जित अग्नि बिद्युत् की तरह टेढ़ी तिरछी। मन्थन के फलस्वरूप मूर्द्धा से इस बिद्युत् के उतर आने के साथ तुलनीय अग्नि ऋषि जगदग्नि की 'ससर्परी वाक्' (३।५३।१५, १६)। अगले मन्त्र में कहा जा रहा है कि यह अग्नि 'सर्वताता स्वस्तये' अर्थात् सर्वात्मभाव के लिए है, स्वस्ति के लिए है। दोनों ही हम सब का परम पुरुषार्थ।

३. तु. नि त्वा दधे वर आ पृथिव्या इलायास् पदे सुदिनत्वे अह्नाम्, दृषद्वत्यां मानुषं आपयायां सरस्वत्यां रेवद् अग्ने दिदीहि ३।२३।४। 'इलायास् पदे' : 'इला' अग्निशक्ति, मनुष्य के भीतर द्युलोकाभिमुखी अभीप्सा (विशेष विवरण द्रष्टव्य 'इला' आप्रीदेवगण)। 'इलायास्पद' हृदय आदि आध्यात्मिक केन्द्र स्थान। 'वर' अथवा श्रेष्ठ इलायास्पद के अर्थ में पूर्वोक्त मूर्द्धा। मन्त्र में स्पष्ट ही कहा जा रहा है कि अग्नि प्रत्येक मनुष्य के आधार में प्रज्वलित हो उठते हैं। आधियाज्ञिक दृष्टि से जो प्रज्वलन नदी के तट पर, आध्यात्मिक दृष्टि से वही नाड़ी में। तीनों नदियों के नाम हैं यहाँ दृषद्वती, सरस्वती और आपया (महाभारत में 'आपगा' कुरुक्षेत्र में प्रवाहिता ३।८३।६८) मनु के मतानुसार दृषद्वती और सरस्वती ये दोनों देवनदी हैं; दोनों के बीच मध्य देश (२।१७)। 'दृषद्' पत्थर उसके साथ इन्द्र के वज्र की उपमा है (७।१०४।२२)। दृषद्वती के साथ तु. तन्त्र की ओजोवाहिनी वज्राणी नाड़ी, जो अन्ध तामिस्र के आवरण की विदीर्ण करती है। दृषद्वती जाकर गिरती है सरस्वती में। (ताण्ड्य ब्राह्मण २५।१०।१३, १४)। सरस्वती ऋक्संहिता में 'पावीरवी कन्या चित्रायुः'— अर्थात् वज्रदुहिता कन्यका है, जिसका प्राण चिन्मय है। सरस्वती का उत्स 'प्लक्ष प्रस्रवण' है, स्वर्ग में जाने के लिए सरस्वती की धारा पार करके

देवदर्शन का जो सङ्केत हमें मिलता है उसकी बुनियाद इन मन्त्रों में है।[४]

मन्थन से उत्पन्न अग्नि इन्धन के आश्रय में संवर्द्धित होते हैं। इसलिए अग्निमन्थन का कर्म अग्निसमिन्धन है। दोनों में जो सूक्ष्म पार्थक्य है, वह संहिता में इस प्रकार व्यक्त हुआ है: 'हे अग्नि जब तुम जन्मते हो, तब तुम वरुण हो; जब तुम समिद्ध होते हो, तब तुम मित्र होते हो; हे उत्साहस के पुत्र, तुम्हारे ही अन्तर्गत विश्वदेव गण हैं।'[१३५०] हम जानते हैं कि वरुण अव्यक्त ज्योति के और मित्र व्यक्त

वहाँ जाना होगा (ताण्ड्य. २५।१०।१२, १६। अतएव दृषद्वती की धारा भी पार करना चाहिए। तन्त्र की भाषा में वज्राणी पार करके चित्राणी में और उसे पार कर ब्रह्माणी में जाना होगा। आपया (मौलिक अर्थ 'जलपूर्णा') तो फिर ब्रह्माणी, ताण्ड्य ब्राह्मण में वर्णित 'प्लक्ष प्रस्रवण' है। प्लक्ष एक ब्रह्मवृक्ष (Ficus Religiosa), है जो ऊर्ध्वमूल अवाक्शाख के प्रसङ्ग की याद दिला देता है (क. २।३।१; तु. ऋ. १।२४।७)। इसी आपया अथवा प्लक्ष प्रस्रवण अथवा ब्रह्माणी नाड़ी के मुख से सहस्रधाराओं में सोम का क्षरण होता है (तु. ऋ. सहस्रधारं वृषभं दिवो दुहुः ९।१०८।११)। इस स्थिति में बोध होता है कि दृषद्वती एवं सरस्वती को पार कर आपया में पहुँचना आध्यात्मिक दृष्टि से प्राण और प्रज्ञा की साधना द्वारा बृहत् के शतधार अक्षीयगाण उत्स की ओर आरोहण करना है। वहाँ केवल दिन का ही प्रकाश है।

४. तु. श्वे. २।१४, ऋ. ३।२९।२। मनुष्य का अग्निमन्थन वस्तुतः विश्व प्राण मारिश्वा का ही दिव्य कर्म है: तु. १।१४१।३, १४८।१, ३।९।५, समिन्धन ५।१०।

१३५०. ऋ. त्वम् अग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः, त्वे विश्वे सहसस् पुत्र देवाः ५।३।१। 'सहसस्पुत्र' सम्बोधन में मन्थन की द्योतना है। उसके बाद ही अग्नि की सर्वदेवमयता का वर्णन है (२, ३); तु. २।१।३-७। और भी तु. 'मित्रो अग्निर् भवति यत् समिद्धो मित्रो होता वरुणो जातवेदाः, मित्रो अध्वर्युर् इषिरो दमूना मित्रः सिन्धूनाम् उत पर्वतानाम्' — ये अग्नि जब समिद्ध होते हैं, तब मित्र होते हैं, वे ही होतृरूप में मित्र एवं जातवेदों के रूप में वरुण होते हैं और अध्वर्यु रूप में घर को प्यार करके तेज गति से चलते हैं, वे मित्र हैं नदियों एवं

ज्योति के देवता हैं, दोनों अहोरात्र की तरह नित्य सङ्गत हैं। गुहाशयन से अग्नि का प्रथम आविर्भाव होता है, अतः वे वरुण हैं, उसके बाद प्रज्वल दीप्ति में मित्र हैं। [1]समिद्ध अग्नि वस्तुतः विश्वरुचि है।[2] उसका एक सुन्दर चित्र विश्ववास आत्रेयी ने इस सूक्त में आँका है; [3]'समिद्ध

पर्वतों के ३।५।४। सायण का कथन है कि यह ऋक् सर्वात्म रूप में अग्नि की स्तुति है। वे सारे रूपों में ही मित्र हैं : यह पद श्लिष्ट है, इससे विश्वज्योति एवं बन्धु दोनों का ही बोध होता है। 'अध्वर्यु' ऋजुपथ के पथिक (द्र. टी. १३४३ (५))। 'इषिर' एषणशील (स्कन्द), वायु (सायण) – जो तीर की तरह सीधे तेज़ गति से चलते हैं। सिन्धु की साधना गति की साधना है और पर्वत की साधना स्थिति की साधना है – एक की साधना है अविच्छिन्न प्रवाह के साथ बहते रहना, और एक की साधना है थम-थम कर ऊपर उठना किन्तु व्यक्ति चेतना का अनुभव दोनों के ही अन्त में। प्राण की आग कभी एक बार भी ऊपर उठ जाती है, अथवा कभी दमक-दमक कर।....समिध् द्वारा अग्नि का संवर्द्धन तु. 'वयम् उ त्वा गृहपते जनानाम् अग्ने अकर्म समिधा बृहन्तम्, अस्थूरि नो गार्हपत्यानि सन्तु तिग्मेन नस् तेजसा सं शिशाधि'– जन साधारण के गृहपति हे अग्नि, हमने तुमको बृहत् किया समिध् द्वारा; पूर्ण हो, हम सब को गार्हपत्य, तीक्ष्ण तेज द्वारा हम सब को शाणित करो, नियोजित करो ६।१५।१९ ('स्थूरि' एक घोड़े की गाड़ी, द्र. सायण), १।९५।११, (९६।९)।

१. तु. १०।८८।६ (द्र. टी. १३३१), दृशेन्यो (दर्शनीय) यो महिना (महिमा में समिद्धो ऽरोचत दिवियोनिर् विभावा (वरुण उनके उत्स हैं, मित्र रूप में विभामय हैं) ७, १।१४३।२ (परम व्योम में उनका जन्म, मातरिश्वा के निकट उनका प्रथम आविर्भाव, समिद्ध होकर द्युलोक-भूलोक दोनों को जगमगा दिया)।

२. ३।५।९, १०; मु. १।२।४।

३. ऋ. ५।२८; समिद्धो अग्निर् दिविशोचिर् अश्रेत् प्रत्यङ्ङ् उषसम् उर्विया वि भाति, एति प्राची विश्ववारा नमोभिर् देवाँ ईलानो हविषा घृताची ।१। समिध्यमानो अमृतस्य राजसि हविष् कृण्वन्तं सचसे स्वस्तये, विश्वं स धत्ते द्रविणं यम् इन्वस्य आतिथ्यम् अग्ने नि च धत्त इत् पुरः ।२। अग्ने शर्ध महते सौभागाय तव द्युम्नान्य् उत्तमानि सन्तु, सं जास्पत्यं सुयमम आ

हुए हैं अग्नि; द्युलोक में व्याप्त हुई है उनकी शुभ्र ज्वाला। उषा के सम्मुख फैल गई है उनकी विभा, प्रभा आगे-आगे चलती जा रही है विश्ववास बहुत प्रणाम लेकर, आहुति में देवताओं को सम्बुद्ध प्रबुद्ध करती हुई वह ज्योतिरभियात्रिणी।। समिद्ध होते-होते तुम होते हो अमृत के राजा; जो आहुति देता है उसे घेरे-अगोरे, जुड़े रहते हो स्वस्ति के लिए। तुम जिसे चाहते हो जिसकी रक्षा करते हो अर्थात् जो तुम्हारी छाया में रहता है, उसके अधिकार में सारी प्राण की धाराएँ होती हैं; और तुम्हारे सामने वह उपस्थित करता है अतिथि का उपचार, हे अग्नि!।। अपनी शक्ति को प्रकट करो हे अग्नि, विपुल सौभाग्य के लिए; तुम्हारी समस्त ज्योतियाँ सर्वोत्तम हों। दाम्पत्य को सुन्दर सुसंयमित करो; विरुद्धाचारियों की महिमा खर्व (कम) करो।। प्रज्वलित तुम्हारी महिमा उद्यत हुई; वन्दना करती हूँ हे अग्नि तुम्हारी श्री की। वीर्यवर्षी हुए हो तुम ज्योतिर्मय, सभी अध्वर-साधना में समिद्ध हुए हो।। समिद्ध हुए हो अग्नि, आहुति प्राप्त हुई है तुम्हे; अध्वर के हे सहज साधक, देवताओं का यजन करो। हव्यवाहन तुम ही तो हो।। अध्वर की साधना आगे बढ़ती जा रही है; तुम सब आहुति दो अग्नि को, उनकी परिचर्या करो; वरण करो इस हव्यवाहन को।।'

अग्नि को संवर्द्धित करना होता है 'समिध्' द्वारा। समिध् लकड़ी का एक टुकड़ा जो एक बित्ता लम्बा होगा और अँगूठे से अधिक मोटा

कृणुस्व शत्रुयताम् अभितिष्ठा महांसि ।३। समिद्धस्य प्रमहसो ऽग्ने वन्दे तव श्रियम्, वृषभो द्युम्नवाँ असि सम् अध्वरेष्व् इध्यसे ।४। समिद्धो अग्न आहुत देवान् यक्षि स्वध्वर, त्वं हि हव्यवाल्सि ।५। आ जुहोता दुवस्यताऽग्निं प्रयत्य् अध्वरे वृणीध्वं हव्यवाहनम् ।६। प्रथम ऋक् का 'विश्ववारा घृताची' अनुमेय जुहुर् का यदि विशेषण हो (Geldner) तो फिर स्पष्टतः ऋषि का स्वयं को उसके साथ अभिन्न समझती हैं एवं यही उनकी आत्माहुति का सूचक है। 'शर्ध' (३) उत्सहस्व बलम् आविष्कुरु (उव्वट भा. ३३।१२); मन्त्र के तृतीये पाद में नारी हृदय की आकाङ्क्षा की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। इसी मण्डल में एक और समिन्धन सूक्त इष आत्रेय द्वारा रचित है (८)। जो पुरुष की रचना के रूप में जिस प्रकार सशक्त एवं समृद्ध है, उसी प्रकार यह कोमल, सुकुमार और सरल है।

नहीं होगा। पलाश की लकड़ी हो, तो सब से अच्छा नहीं तो खदिर, अश्वत्थ, शमी, बेल इत्यादि 'याज्ञिय' वृक्ष के होने से भी काम चलेगा। द्रव्य यज्ञ के मूल में ज्ञानयज्ञ है, इसलिए यज्ञ से सम्बन्धित जो सब कुछ है उसको एक विशेष दृष्टि से देखने का विधान है। यही कारण है कि संहिता और ब्राह्मण में समिध् को असाधारण महत्त्व दिया गया है। संहिता के अनुसार[१३५१] अग्नि का समिध् 'देवयानी' अर्थात् पृथिवी से द्युलोक में उनके जाने का मार्ग है। उनका स्तुत्यतम समिध् द्युलोक में प्रदीप्त हो रहा है। रहस्य की दृष्टि से देखने पर जो प्राण चञ्चल[१] होकर चारों ओर फैल गए, उन्हीं अग्नि की तीनों समिध् को समुत्सक मृत्युहीन देवताओं ने पवित्र किया; उनमें एक को उन्होंने सम्भोग या उपभोग के लिए पृथिवी में स्थापित किया और दो ने आत्मीय विपुल ज्योतिर्लोक की ओर गमन किया। मनुष्ययज्ञ के मूल में देवयज्ञ है जिससे विश्व की रचना होती है, जिसके यजमान विश्वदेवगण हैं एवं जिसके आलम्भनीय पशु स्वयं परम पुरुष हैं, उस यज्ञ में जो अग्नि प्रज्वलित होते हैं, उनके दिव्य समिध् इक्कीस हैं।[२] समित् के सम्बन्ध में यह अधिदैवत दृष्टि है।

१३५१. तु. ऋ. १०।५१।२; ते पनीयसी समिद् दीदयति द्यवि ५।६।४।

१. तिस्रो यह्वस्य समिधः परिज्मनोऽग्नेर् अपुनन् उशिजो अमृत्यवः, तासाम् एकाम् अद्धुर् मर्त्ये भुजम् उ लोकम् उ द्वे उप जामिम् ईयतुः ३।२।९। यह तीन समिध् तु. (१।१६४।२५) वैश्वानर के तीन उद्दीपन-केन्द्र हैं – चेतना की तीन भूमियों या स्तरों पर। एक केन्द्र पृथिवी में और दो अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में। अग्नि 'परिज्मा' (तु. 'परिभू' ई. ८), तु. क. २।२।९। 'अपुनन्' समिध् का जड़त्व दूर करके उन्हें प्रदीप्त किया। मूलतः उसमें अग्नि का प्रकाश व्यामिश्र है, उसे विशुद्ध करना ही विश्वदेवता का काम है। बहुवचन में 'उशिजः' से यजमानो का बोध होता है। यहाँ विश्वदेवगण ही यजमान हैं, जिस प्रकार पुरुष सूक्त में। मर्त्यलोक और अमृतलोक, पृथिवी और द्युलोक एक ही सत्ता के दो पार्श्व हैं इसलिए वे 'जामि' (तु. १।१५९।४, १८५।५)।

२. त्रिः सप्त समिधः कृताः १०।९०।१५। इक्कीस समिध् के अर्थ में उव्वट एक बार गायत्री आदि छन्द (तु. १०।१३०।३-५) और एक बार मन से लेकर पञ्चमहाभूत तक इक्कीस तत्त्व बतलाते हैं; महीधर ब्राह्मण का

इसके अलावा ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार अध्यात्म-दृष्टि से समिध् प्राण है।[३] उत्सर्ग की आग प्राण द्वारा प्रज्वलित करनी होगी। समस्त जीवन ही एक यज्ञ है, जिसकी सूचना सावित्री-दीक्षा में है। समिध् का आहरण एवं आहुति इसीलिए अन्तेवासी का दैनन्दिन व्रत है। विद्यार्थी को आचार्य के निकट समित्पाणि होकर जाना पड़ता है। उसका अनेक बार उल्लेख उपनिषदों में है।

अग्नि समिन्धन मनुष्य का साध्य है। किन्तु मनुष्य की साधना के मूल में देवता की प्रेरणा है।[१३५२] इसलिए अग्नि भी वस्तुतः 'देवेद्ध' अथवा देवताओं द्वारा समिद्ध हैं।[१] परम व्योम में मातरिश्वा के निकट ही उनका प्रथम आविर्भाव हुआ और मातरिश्वा की ही सिसृक्षा के विपुल सामर्थ्य से समिद्ध उनकी ज्वाला ने द्युलोक और भूलोक को उद्भासित किया।[२] अतएव अग्नि समिन्धन तत्त्वतः एक दिव्य क्रतु है।

उद्धरण देते हैं, 'द्वादश मासाः पञ्च ऋतवः त्रय इमे लोकाः असौ आदित्यः' अर्थात् प्रजापति (तु. ऐ. १।१९) (वा. ३१।१५ भाष्य)। किन्तु अधियज्ञ दृष्टि से यज्ञ के सात धाम एवं प्रत्येक धाम में समिध् यह भी कहा जा सकता है।

३. तु. प्राणा वै समिधः ऐ. २।४, श. १।५।४।१; श. ९।२।३।४४।

१३५२. तु. ऋ. मनुष्य 'देवगोपाः' अर्थात् देवता उसके रखवाले हैं ५।४५।११, ७।६४।३, ८।४६।३२; अथो देवोषितो मुनिः १०।१३६।५; मनुष्य का 'रयि' अथवा प्राणसंवेग 'देवजूतः' ४।११।४ ७।८४।३।

१. तु. १।३६।४, ७।१।२२, १०।६४।३, ५।२५।२, ३।८ (द्र. टी. १३३६ (४)); सजोषस (तृप्ती में सुषम) त्वा दिवो नरः (दिव्य पुरुषगण) यज्ञस्य केतुम् इन्धते, यद् ध स्य मानुषो जनः सुम्नायुर् (आनन्दकाम) जुह्वे (आहुति देते हैं) अध्वरे ६।२।३।

२. स जायमानः परमे व्योमन्य् आविर् अग्निर् अभवन् मातरिश्वने, अस्य क्रत्वा समिधानस्य मज्मना प्र द्यावा शोचिः पृथिवी अरोचयत् १।१४३।२ (द्र. टी. १३३८, १३५० (१)); मज्मना ऋक्संहिता में केवल यही तृतीयान्त रूप ही प्राप्त होता है : निघ. मज्म इति बलनाम २।९; <√ मह् ।। मज् 'विपुल होना, समर्थ होना'; तु. **GK** mègas 'large' **Lat.** magnus 'great', majestus 'dignity, 'grandeur')

अथवा यह स्वयम्भू अग्नि की लीला है; अग्नि से ही अग्नि का समिन्धन।[३]

वही समिद्ध अग्नि सब से पहले मानवों के आदि पिता मनु के मन में उतरते हैं वे ही विश्व के 'समिद्धाग्नि' प्रथम यजमान हैं।[१३५३] उसके बाद मनु ने ही विश्व-जन के लिए अग्नि को उनके भीतर ज्योतिरूप में निहित किया, इसलिए अग्नि की एक संज्ञा 'मनुर्हित[१]' है। अंङ्गिरा गण भी विशेष रूप से 'इद्धाग्नि'[२]; दध्यङ् आथर्वण एवं वृषा पाथ्य का उल्लेख पहले ही कर चुके हैं।[३] तदुपरान्त मनुष्य अग्नि

---

३. तु. अग्निनाग्निः सम् इध्यते १।१२।६। तु. देवेभिर् अग्ने अग्निभिर् इधानः ६।११।६, विश्वेभिः ६।१२।६। और भी तु. .... होतर् अग्ने अग्निभिर् मनुषः इधानः, स्तोमम्...६।१०।२। यहाँ 'मनुषः अग्निभिः'यह अन्वय ही सहज है; Geldner का 'मनुषः होतर्' और सायण का 'मनुषः स्तोमं' दोनों ही दुरान्वय। अधियज्ञ दृष्टि से यह गार्हपत्य से आहवनीयादि अग्नि का समिन्धन है (तु. ता. १६।१।३)। किन्तु गृहपति अग्नि 'नित्य इद्ध', पुरुष उनको 'ध्रुवा क्षिति' में अथवा ध्रुव भूमि में जकड़ लेता है १।७३।४ (तु. ६।९।४)। एक अग्नि की अनेक विभूतियाँ भी प्रमाणित (तु. १।२६।१०, ७।३।१, ८।६०।१, १०।१८१।६....)। द्र. प्रश्नोत्तरी १०।८८।१८ और ८।५८।२।

१३५३. तु. ऋ. येभ्यो होत्रां (आहुति) प्रथमाम् आयेजे (समर्पण किया था) मनुः समिद्धाग्निर् मनसा सप्त होतृभिः (मानसयाग मे सात शीर्षण्य प्राप्त होता; तो फिर यज्ञ साधाना वाक्, चक्षु श्रोत्र, प्राण और मन द्वारा जिन्हें उपनिषद् में ब्रह्म का द्वारपाल कहा गया है) १०।६३।७; ७।२।३। मनु के निकट अग्नि का आविर्भाव द्र. १।३६।१०, १२८।२।

१. १।३६।१९ (द्र. टी. १३२९)(४)। 'मनुर्हितः' १।१३।४, १४।११, ६।१६।१९, ८।१९।२१, २४, ३४।८।

२. १।८।३।४

३. द्र. टी. १३४८(१))।

की साधना में स्मरणातीत काल से अथर्वा अङ्गिरा इत्यादि पितृगण को, विशेष रूप से मनु को अपना आदर्श मानता आया है।[४]

जो देवता-अग्नि देवताओं के पुरोहित है।, उन्हें मनुष्य ऋषियों ने आकुल चित्त की कामना के साथ समिद्ध किया[१३५४]। [१]वह कामना[२] परम देवता को प्राप्त करने की है तथा जीवन को [३]ऋतच्छन्द एवं [४] सोम्य आनन्द से आप्लुत अथवा सिक्त स्नात करने की कामना है। उसी कामना की प्रचोदना से हृदय[५] की वेदी में अग्निसमिन्धन करना होगा।

---

४. तु. मनुष्वत् त्वा नि धीमहि मनुष्वत् सम् इधीमहि, अग्ने मनुष्वद् अङ्गिरो देवान् देवयते यज ५।२१।१ (अग्नि के साथ मनु एवं अङ्गिरा का सायुज्य लक्ष्णीय); तु. १।३१।१७, ४४।११, ४५।३, ६२।१, ७८।३, ३।१७।२, ६।१५।१७, ७।२।३.....।

१३५४. तु. ऋ. अग्निर् देवो देवानाम् अभवत् पुरोहितोऽग्निं मनुष्या ऋषयः सम् ईधिरे १०।१५०।४। तु. तं (बृहस्मतिं) प्रतास ऋषयो दीध्यानाः (ध्यान करके) पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ४।५०।१।

१. तु. १०।१६।१२ (द्र. टी. १३३७ (१)); त्वं नृभिर् दक्षिणावद्भिर् अग्ने सुमित्रेभिर् इधच से देवयद्भिः १०।६९।८ (मन्त्र के ऋषि का नाम सुमित्र है, समस्त देव योनियो के प्रतिभू के रूप में उन्होंने स्वयं की कल्पना की है।

२. देवयद्भिः समिद्धः ३।५।१, आ देवयुर् इनधते (समिद्ध करता है) दुरोणे ४।२।७

३. त्वाम् अग्न ऋतायवः (ऋतकाम) सम् ईधिरे प्रत्नं प्रत्नासः .... दमूनसं गृहपतिं वरेण्यम् ५।८।१ (द्र. १३३४(६)); समिद्धे अग्नाव् ऋतम् इद् वदेम् (घोषणा कर सकें) ३।५५।४।

४. तु. त्वाम् अग्ने-सुम्नायवः (जो सोम्य आनन्द चाहते हैं) सम् ईधिरे ५।८।७; और भी तु. अग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः ३।२।५ (= १०।१४०।६; अग्नि सोम की ध्वनि)।

५. तु. सं जागृवद्भिर् जरमाण (जो जागरूक हैं) इध्यते दमे दमूना इषयन् (प्रेरणा जगा कर) इलस् पदे (अधियज्ञ दृष्टि से उत्तर वेदि में ओर अध्यात्म दृष्टि से हृदय में) १०।९१।१; तं त्वा विप्रा विपन्य वो जागृवांसः सम् इध्यते ३।१०।९ (द्र.टी. १३४१(४); श्रद्धयाग्निः सम् इध्यते १०।१५१।१। तु. अग्नि के जागरण का चित्रः यो जागार तम् ऋचः

जाग्रत चेतना की उद्यति और श्रद्धा लेकर, [६]विश्व देवता के निकट निरञ्जन मार्जना की आकूति और प्रणति लेकर, [७]अग्नि के नित्य सामीप्य की भावना लेकर[८], [९]प्रातिभ संवित् की द्युति से समुज्ज्वल मन और धी लेकर, अन्तर में यज्ञानुकाशिनी मानवी इला की वैद्युती लेकर,

---

कामयन्ते यो जागार तम् उ सामानि यन्ति, यो जागार तम् अयं सोम आह तवा.हम् अस्मि सख्ये न्योका: (तुम्हारे सख्य में मेरा गहन निवास)।। अग्निर् जागार तम् ऋच: कामयन्ते अग्निर् जागार तम् उ सामानि यन्ति, अग्निर् जागार तम् अयं सोम आह त्वा.हम् अस्मि सख्ये न्यो का: ५।४४।१४-१५। ऋक् की आवृत्ति में यजमान और अग्नि का सायुज्य अथवा अभेद ध्वनित हो रहा है। हम सब के भीतर अग्नि के नित्य जाग्रत रहने से ही वेद का स्फुरण और सोम्य आनन्द का निगूढ़ आस्वादन सम्भव।

६. तु. सो अग्न एना (यह) नमसा समिद्धो इच्छा (निकट) भिन्नं वरुणं इन्द्रं वोचे: यत् सीम् (जो कुछ) आगस् (अपराध, मन का अञ्जन अथवा काजल) चकृमा तत् सुमृल. (क्षमा करो) तद् अर्यमा अदिति: शिश्रयन्तु (अपराध क्षमा करें, शिथिल कर दें) ७।९३।७। 'देवताओं का विन्यास लक्षणीय: अग्नि अभीप्सा, इन्द्र ओज : शक्ति (१०।७३।१०), वरुण मित्र, अर्यमा क्रमश: सत् चित् आनन्द और अदिति सर्वदेवमयी महाशक्ति। निरञ्जनत्व की साधना का पूरा खाका।

७. तु. 'इमां मे अग्ने समिधम् इमाम् उपसदं वने: इमा उ षु श्रुधी गिर:' – हे अग्नि ! मेरे इस समिध से, इसे उपसत्ति से नन्दित होओ तुम, सुनो मेरी यह सब वाणी २।६।११ 'उपसद्' द्र. वेमी. २६९।

८. ऋ. अग्निम् इन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्य:, अग्निम् ईधे विवस्वभि: (जो आलोक दीप्त हैं उनके साथ समिद्ध करता हूँ : वे कौन ? यज्ञ के सप्त होता अथवा शीर्षण्य सप्त प्राण) ८।१०२।२२। तु. १।९४।३, धी समिन्धन का साधन।

९. तु. अग्न इला सम इध्यसे। 'इला' अध्यात्म दृष्टि से 'एषणा, अभीप्सा'; अधिदैवत दृष्टि से ज्योतिर्मयी अग्निमाता, आलोक यूथ की जननी, द्युलोक से निर्झरिता, मानव प्रशास्त्री। तै ब्रा. में वे -मानवी यज्ञानुकाशिनी' – मनुष्य की अभीप्सा रूपिणी मनुकन्या, उत्सर्ग साधना के अन्त में विद्युत की तरह दीप्त हो उठती हैं (१।१।४।४)। द्र. आप्री देवता गण की 'इला'।

[१०]रक्ष: शक्ति के अभिघात को रोकने का सङ्कल्प और सामर्थ्य लेकर, [११]सर्वोपरि देवता के सायुज्य बोध का उद्दीपन लेकर।

उस समय समिद्ध अग्नि[१३५५]। हृदय में उषा की ज्योति प्रस्फुटित करते हैं, जो उगते हुए सूर्य के ज्योति: प्लावन का आभास देती है।[१] वृत्र की जो माया ज्योति के ऊपर अन्धकार का आवरण रचती है, देवता उसकी अर्गला तोड़कर अन्तर में सुप्त किरणयूथ का प्रतिबोध ले आते हैं।[२] तब समिद्ध अग्नि धर्म के पोषक एवं सहस्र-जित् होते

---

१०. तु. १०।८७।१, २; १।३६।७।

११. तु. त्वं ह्य अग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन्त् सता, सखा सख्या सम् इध्य से ८।४३।१४। जो अग्निसमिन्धन् करता है, वह भी अग्नि – उनकी ही तरह विप्र सत्य एवं सखा (अग्नि के)।

१३५५. ऋक् संहिता मे आप्री सूक्तों के प्रथम देवता 'समिद्ध' अग्नि। ऐ ब्रा. के मतानुसार उनके द्वारा यजमान की प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है (२।४) देवात्मभावना का यह प्रथम सोपान है। उसका पर्यवसान 'स्वाहाकृति' में। विशेष विवरण द्र. 'आप्रीदेवगण'।

१. तु.ऋ. उषा उच्छन्ती (जो खिल उठी हैं) समिधान अग्ना उद्यन्त सूर्य उर्विया (सब का अतिक्रमण करके) ज्योतिर् अश्रेत् (आश्रम प्राप्त किया) १।१२४।१ अग्नि समिन्धन में अभीप्सा का जागरण, उषा प्रातिभ संवित की अरुणिया, सूर्य प्रज्ञान की दीप्ति।

२. वृत्रवध: अग्निर् वृत्राणि जंघनद् (हनन करें) द्रविणस्युर् (प्रत्येक नाड़ी में अग्निशिखा के प्रवहन की इच्छा करके'; तु. इन्द्र के अनुरूप वृत्रवध १।३२।८-१०, २।१८।११) विपन्यया (हमारी प्रशस्ति द्वारा) समिद्ध शुक्र आहुत: ६।१६।३४। तमोनाश : ३।५।१ (द्रष्टव्य. टी. १३४१ (५)) समिद्धस्य रुशद् (दीप्त) अदर्शि (दिखाई दिया) पाज : (वीर्य) महान् देवस् तमसो निर् अमोचि (निर्मुक्त) ५।१।२, ७।६७।२; ज्योति का द्वार खोल देना १७।२ (द्र.टी. १३३७ (१))। गो का प्रतिबोध : 'प्रति गान: समिधानं बुधन्त' – उनके समिद्ध होने पर सारं किरणयूथ प्रतिबुद्ध हुए (गो, प्रातिभ संवित, अरुणी गुलाबी आभा वाली गौएँ उषा का वाहन निघ. १।१५; 'प्रतिबोध' बोधि, अभीप्सा की शिखा उद्यत होने पर बोधि का जागरण)।

हैं।[3] हम उनके शरणागत होकर सविता की अनुत्तम प्रेरणा तथा मित्र और वरुण के सामीप्य में निरञ्जनता एवं स्वस्ति अनुभव करते हैं।[4] विश्व देवता के सायुज्य में यह स्वस्ति प्राप्ति ही हृदय की वेदी में अग्नि-समिन्धन का परम फल है।[5]

---

३. समिधान : सहस्रजिद् अग्ने धर्माणि पुष्यसि – ५.२६.६ (तु. सर्वं वै सहस्रम् श. ४।६।१।१५, ६।४।२।७, कौषीतकि ब्रा. ११।७, २५।१४; भूमा वै सहस्रम् श. ३।३।३।८; परमं सहस्रम् ता. १६।९।२; और भी त. ऋ. ६।६९।८। ऐ ब्रा. ६।१५ 'धर्म' देवयज्ञ, जो विश्व का प्रथम धर्म तु. ऋ. १०.९०।१६; और भी द्र. १।२२।१८; समिध्यमानः प्रथमानु धर्मा ३।१७।१, १०.९२।२, १।१६४।४३, ५०। समिद्ध अग्नि 'रत्नकृत' ३।१८।५ ('रत्न' द्र. टी का १३६४ (२))।

४. ऋ. महो अग्नेः समिधानस्य शर्मण्य् अनागा 'मित्रे वरुणे स्वस्तये, श्रेष्ठे स्यामः सवितुः सवीमनि १०।३६।१२ सविता की प्रेरणा हमें पहुँचा देगी मित्र की बृहत् ज्योति में एवं वरुण की महाशून्यता में जब आधार में प्रज्वलित हो जाएगी अभीप्सा की शिखा।

५. तु. 'स्वस्त्य् अग्निं समिधानम् ईमहे' – समिध्यमान अग्नि के निकट चाहते हैं **स्वस्ति** १०।३५ सूक्त टेक। यह सूक्त विश्वदेव के प्रति, प्रदीप्त गम्भीर आकूति में पूर्ण; 'सर्वताति' अथवा सर्वात्मभाव उस का लक्ष्य (११) देवताओं के निकट स्वस्ति के लिए प्रार्थना : 'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः' जैसे ऋषि वसिष्ठ की अजपा, सप्तम मण्डल के अन्त में यह प्रार्थना है। गय प्लात एक सूक्त में प्रायः प्रति मन्त्र में स्वस्ति के लिए प्रार्थना है (१०।६३), उसमें स्वस्ति के स्वरूप का परिचय मिलता है। स्वस्ति हम सब के 'अंहः' अथवा चेतना के सङ्कोचन से मुक्ति, देवता की जिस मौका में कभी पानी नहीं भरता उस पर सवार होकर कल्याण-मार्ग की यात्रा करना, पार जाना – जो आदि से अन्त तक स्वस्ति से आच्छादित है (तु. ६, १०, ७, १६)। एक वाक्य में स्वस्ति परमार्थ है, एक परम अस्तित्व में अवगाहन करने के फल स्वरूप सर्वव्यापी सौषम्य का अनुभव है। तु. १।८९।६, ५।५१।११-१५ (स्वस्ति पंथाम् अनु चरेम सूर्यचन्द्रमसाव् इव पुनर् ददता अघ्नता जनिता सं गमेमहि' – हम सब स्वस्ति में राह पकड़े चले जाएँगे सूर्य चन्द्र की तरह, जाकर उनसे मिलेंगे जो हमें फिर देंगे, आघात नहीं करेंगे जानेंगे। अर्थात् उसी परम को प्राप्त करेंगे, जो हम

प्रत्येक कर्मानुष्ठान का एक राहस्यिक अथवा निगूढ़ तात्पर्य है, अग्नि समिन्धन का भी है। अधियज्ञ दृष्टि से अग्नि 'इल. स्पदे' अथवा उत्तरवेदि में समिद्ध होते है।[1356]; किन्तु यह इला वस्तुतः हम सब की ही एषणा अथवा आकृति है, अतएव अध्यात्मदृष्टि से वे 'मानुष जने' अथवा मानव जाति में – प्रत्येक यजमान और साधक के 'मध्य'[2] उसके हृदय में 'चतुरक्ष' होकर समिद्ध होते हैं। आधार के सोमपात्र में जहाँ प्राण की धाराओं का सङ्गम होता है[3] वहीं वे

सब को अदिति चेतना में पहुँचा देगा; तु. को तो मह्या अदितये पुनरदात १।२४।१)।

१३५६. तु. ऋ अग्निः पिते. वे. ल. स पदे मनुषा यत् समिद्धः : २।१०।१; 'सं सम् इद् युवसे वृषन् अग्ने विश्वान्य अर्य आ, इल. स पदे सम इधयसे से नो वसून्य् आ भर' – हे अग्नि ! हे वीर्यवर्षी ! स्वामी या मालिक बनकर तुम पूरी तरह स्वयं को सब कुछ के साथ मिला दो ('देवेषु मध्ये त्वम् एव सर्वाणि भूत जातानि व्याप्नोषि, ना.न्य इत्यार्थः' – सायण) इल. स्पदे समिद्ध हो ओ ('पृथिव्याः स्थाने उत्तरवेदिलक्षणे एतद् वा इलयास्पदं यद् उत्तर वेदो नाभिः ऐब्रा १।२८' सायण) वही तुम हमारे लिए लेकर आओ और ढेर सारी ज्योति १०।१९१।१ ('युवसे वृषन्' यहाँ वीर्याधान की ध्वनि है, तु.६।४७।१४ 'अर्य' तु. 'अर्य' स्वामि वैश्ययोः' पा. ३।१।१०३; अग्नि का विशेषण ऋ. ४।१।७, २।१२....)। ऋक् संहिता के अन्त में संज्ञान सूक्त का प्रथम मन्त्र है। प्रत्येक मन्त्र के आरम्भ में 'सम' उपसर्ग पूर्णता का द्योतक है। लक्षणीय, जिस प्रकार संहिता का आरम्भ अग्नि द्वारा किया गया है, उसी प्रकार अग्नि द्वारा ही समापन किया गया है।

१. तु. त्वं हि मानुषे जनेऽग्ने सुप्रीत इध्यसे ५।२१।२ (तु. तम् अध्वरेष्व ईल. ते देवं मर्ता अमर्त्यं यजिष्ठं मानुषे जने ५।१४।२, २।२३।४ (द्र.टी० १३४९ (३)), त्वम् अग्ने .... हितः देवेभिर् मानुषे जने ६।१६।१।

२. तु. कृष्टीनाम् उत मध्य इद्धः ५।११।६ (द्र. टी. १३३१ (८)), जने न शेव (सुञ्जङ्गल) आहर्यः ('आह्वतव्यः' वेङ्कट माधव और सायण ; 'ह्वव कौटिल्ये, चञ्चलत्वाज् ज्वालानां कुटिल सन्, स्कन्द) मध्ये निषत्तः रण्वो (आननद मय) दुरोणे १।६९।४, ६।१२।१।

३. तु. 'त्वम् अग्ने यज्व्यवे पायुर् अन्तरोऽनिषङ्गाय चतुरक्ष' – हे अग्नि ! निरस्त्र यजमान के रक्षक हो तुम, उसके अन्तर में समिद्ध होओ चतुर्नयन

प्रज्वलित हो उठते हैं।[४] उसके बाद हमारे पौरुष के द्वारा प्रेरित होकर तीन 'सधस्थ' में अथवा सङ्गम स्थल में जल उठते हैं;[५] इस प्रकार वे

होकर (१।३१।१३; 'चतुरक्ष' यम के कुकुर 'वे मी. प्रथम खण्ड टीका ३३६ ; तु. १०।७९।५।

४. ऋ. अग्ने अपां समिधय से दुरोणे नितयः सूनो सहसो जातवेदः, सधस्थानि महयमान ऊती (मण्डल समूह को महिमान्वित करते हैं तुम्हारे प्रसाद द्वारा) ३।२५।५। सायण का अन्वय 'अपां दुरोणे' ; Geldner बतलाते हैं 'अपां (न पात्)'। किन्तु यह कष्ट कल्पना है। तु. घृतधारा की सोमरूप में वामदेव द्वारा स्तुति : अपाम 'अनी के समिथे' (अन्तर्मुख सङ्गम-स्थल में) य आभृतस् तम् अश्याम मधुमन्तं त ऊर्मिम ४।५८।११ (अप् अथवा प्रौण की धाराएँ जहाँ मिलती हैं वहाँ सीमा मधु तरङ्गायित हो उठता है और वहाँ ही आग जल उठती है)। यही 'समिथ' उपनिषद् में 'आवसथ' (ऐ. १।३।१२) एवं संहिता में ही 'पुष्कर' अथवा 'पदम्' है (ऋ. ६।१६।१३, द्र. टी. १३४९)। यहाँ वही दुरोण। इस शब्द की व्युत्पत्ति ज्ञात नहीं। ऋ. के पदपाठ में अवग्रह वहीं है, किन्तु तै. सं. ओर सामसंहिता का पदपाठ 'दुः ओन' (१।२।१३।३; २।६५४)। यास्क द्वारा की गई व्युत्पत्ति 'दुस् √ अव + न' (४।५); आधुनिक शब्दशास्त्रज्ञ के अनुसार < dhur 'door' , a house fitted with door (तु. 'शत-दुर' गृह ऋ. १।५१।३, १०।९९।३)। निघण्टु में 'दुरोण' गृह (३।७)। सीधे यही अर्थ ऋक् संहिता के दो स्थानों पर उपयुक्त है (१।११७।७, १०।३७।१०; १०।१०४।४ मान लिया जा सकता है)। किन्तु एक और व्युत्पत्ति सम्भव < 'द्रोण' काठ से निर्मित सोमपात्र < 'द्रु' वृक्ष (तु. GK. druas 'an oak, a tree', drumas 'forest'), स्वरभक्ति के फलस्वरूप 'दुरोण' अग्नि के सम्बन्ध में इस शब्द का प्रयोग सब से अधिक किया गया है, अग्नि के साथ सोम की सहचरता स्मरणीय। आधार युगपत अधरारणि, और फिर सोमपात्र भी है; साधन बल से उसके भीतर ही अग्नि की अभिव्यक्ति होती है, अतएव आधार की संज्ञा 'द्रोण' है : तु. क्रत्वा हि द्रोणे अज्यसेऽग्रे ६।२।८ (तु. प्रो द्रोणे हरयः कर्माग्मन् पुनानास ऋज्यन्तो अभूवन् – द्रोण में ज्योतिर्मय सोमधाराएँ कर्मरत हो गई, पवित्र होते-होते वे ऋजगामी होती रहीं ६।३७।२; आधार में सोम की उन्मादना के ऊर्ध्वस्रोता होने का वर्णन)। तु. 'अतिथिर् दुरोणसत्' सोम, क्योंकि होता अग्नि

ऋत के उत्स में और फिर उसके भी परे अव्यक्त के उत्स में[६] जल उठते हैं। उनके समिन्धन का स्वरूप दिव्य अश्व दधिक्रावा के

उल्लेख उसके पूर्व ही है। संहिता में साधारणतः अग्नि ही अतिथि, किन्तु ब्राह्मण में सोम अतिथि। अतः राहस्यिक अर्थ की ओर लक्ष्य या दृष्टि रखकर 'दुरोण' को 'द्रोण' का अपभ्रंश बतलाना ही सङ्गत।

५. तु. अग्निं नरः त्रिषधस्थे सम् ईधिरे ५।११२। नर का लक्षण पौरुष। ये नर ही अर्हन् होकर अग्निसमिन्धन करते हैं; तु. रण्वा (आनन्दमय) नरः नृषदने (वीर परिषद् में, यज्ञ में ; तु. 'यज्ञे दिवो नृषदने पृथिव्या नरो यत्र देवयवो मदन्ति – द्युलोक' और पृथिवी के वीर जहाँ आसन स्थापित करते हैं, जहाँ वे देवत्व की कामना में मत्त अथवा उल्लसित होते हैं ७।९७।१ अर्हन्तश् चिद्यम् इन्धते ५।७।२ 'अर्हन्' के साथ 'नर' का सम्बन्ध लक्षणीय (तु. ५।५२।५, १०।९९।७)। इसी से परवर्ती काल में वीर साधक जैन एवं बौद्ध भी 'अर्हत्'। त्रिषधस्य आधियाज्ञिक दृष्टि से तीन अग्निवेदियाँ, आध्यात्मिक दृष्टि से तीन 'असवसथ' (ऐ उ. १।३।१२;), तु. कठोपनिषद् का 'त्रिणाचिकेत रहस्य'; और भी तु. श. में वा एते प्राणा एव यद् अग्नयः, प्राणोदानाव् एवा आहवनीयश्च गार्हपत्यश्च, व्यानोऽन्वहार्यपचनः २।२।२।१८ उत्तम सधस्थ अथवा आवसथ मूर्द्धा में है : तु. ऋ. यस् त इध्मं जभरत् (वहन करके ले आया) सिष्विदानो (स्वेदाक्त होकर) मूर्धानं वा ततपते (प्रतप्त करता है) त्वाया (तुमको चाहकर) ४।२।६; मूर्धतपन केवल सर् पर काठ ढोने के लिए ही नहीं (सायण, तु. १।९४।४, ४।१२।२), वस्तुतः अग्निस्रोत मा थे पर उठने के लिए। वही उपनिषद् में 'शिरोव्रत' है एवं जो इस प्रकार मूर्द्धा में अग्नि धारण करते हैं वे 'तपमूर्द्धा' (ऋ. १०।१८२।३, सूक्त के ऋषि बार्हस्पत्य तपुर्मूर्धा)।

६. तु. समिद्धः शुक्र दीदिह्य ऋतस्य योनिम् असाद : ससस्य योनिम् आसदः ५।२१।४ निघ. में सस अन्न (२।७)। ऋ. में इस शब्द के जितने प्रयोग हैं उनमें यह अर्थ केवल दो स्थानों पर उपयुक्त : 'गृभ्णन्ति जिह्वया ससम' – जिह्वा द्वारा 'सस' को ग्रहण करते हैं ८।७२।३ किन्तु कौन ? उसके पहले ही है : 'अन्तर इच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया' – मनीषा के ऊपर जो है, उसी रुद्ररूपी अग्नि को जीव के अन्तर में चाहते हैं। यहाँ भी प्रश्न उठता है कि वे कौन ? सायण उभयत्र बतलाते हैं

'ऋत्विक् गुण' एवं अन्तिम चरण की व्याख्या करते हैं : 'ससं' स्वपन्तम् अग्निं 'जिह्वया' के लिए जनक शब्द:, जिह्वा प्रभवया स्तुत्या गृभ्णन्ति अङ्गुलिभि:। Geldner 'सस' को सर्वत्र अन्न के अर्थ में ग्रहण करते हुए कहते हैं कि कर्त्ता सम्भवत: देवतागण हैं – वे अग्नि जिह्वा द्वारा हवि ग्रहण करते हैं। किन्तु ऋक् के पूर्वांश के साथ मिलाकर पढ़ने से सायण की व्याख्या ही सङ्गत जान पड़ती है : जो अग्नि सुप्त एवं अव्यक्त और मनीषा भी अम्य हैं, उन्हें यजमान के भीतर ऋत्विक् गण उतार लाना चाहते है। और अव्यक्त की गहराई में उनकी आविष्कृत करके वाक् के द्वारा अर्थात् मन्त्र शक्ति में अधिगत करते हैं। 'अन्न' अर्थ और एक जगह सम्भावित : 'ससं न पक्वम् अविदच् छुचन्तम्' पके सस' (अन्न) की तरह उन्हें दीप्यमान अवस्था में प्राप्त किया (१०।७९।३)। सायण की व्याख्या : ससं न पक्वम् अन्नम् इव शुचन्तं दीप्यमानं नीरसं वृक्षाम् अविन्दत् विन्दति (अग्नि:)। किन्तु इस व्याख्या में परिवर्ती चरण के 'रिरिह्वांं सम्' के साथ 'सस' का सम्बन्ध दिखाना कठिन हो जाता है। यास्क (एवं दुर्ग) ने यहाँ सस का अन्न अर्थ ग्रहण नहीं किया और 'अविन्दत्' का कर्त्ता अग्नि को भी नहीं माना है। यास्क की दृष्टि में 'ससम् स्वपनम् एतन् माध्यमिकं ज्योतिर् अनित्य दर्शनं तद् इवा. विदज् जाज्वल्यमानम् – (कश्चिद् ऋषि: अन्यो वा इति दुर्ग:) नि. ५।३। अर्थात् विद्युल्लेखा की तरह भास्वर अवस्था में उन्हें ऋषि ने प्राप्त किया (रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्त:' – पृथिवी की गोद में लेहन शील)। देखने में आता है कि जिन दो स्थानों पर निघण्टु के अनुसार 'सस' का अर्थ अन्न सम्भावित, वहाँ भी आचार्यों ने 'सुप्ति' अर्थ ही ग्रहण किया है। सायण (किन्तु यास्क नहीं) जहाँ अन्न अर्थ ग्रहण करते हैं (१०।७९।३), – वहाँ अन्न की औपनिषदिक 'जड़' (matter) के अर्थ ग्रहण करना सङ्गत। किन्तु यहाँ भी यास्क की व्याख्या ही समीचीन जान पड़ती है, क्योंकि 'सस' जिस अग्नि का विशेषण है वह अनुक्रमणी के अनुसार 'सौचीक' नामक गुहाहित अग्नि अथवा वैश्वानर अग्नि है। जो गुहाहित हैं, वे ही वैश्वानर हैं, इससे विद्युल्लेखा की उपमा के लिए तु. ऋ १।१६४।२९, ". टी. १३८७। 'सौचीक' अग्नि का विवरण आगे चलकर द्रष्टव्य। .... वस्तुत: 'सस' निद्रा निद्रित < √ सस 'सोन' ऋ. संहिता में जिसका बहुत प्रयोग है (तु. १।१२४।४, १३५।७, १३४।३, १०३।७,

४।३३।७, ५१।५, ६।२०।६...)। निद्रा अव्यक्त में चेतना का लय होना है इसलिए 'सस' का पारिभाषिक अर्थ हुआ 'अव्यक्त'। यही अर्थ ऋक् संहिता की चार ऋचाओं में प्राप्त होता है; एवं लक्षणीय प्रत्येक ऋचा अग्निसूक्त की है। प्रथम ऋक् में बतलाया जा रहा है : 'ससस्य चम्रनन अधि चारु पृश्नेर् अग्रे रुप आरुपितं जबारु' – पृश्नि का सुचाह (थन) है 'सस' के चर्म के ऊपर, पृथिवी के अग्रभाग में आरोपित है आदित्य मण्डल ४।५।७। पृश्नि विश्वप्राण मरुद्गण की माता हैं, उनका थन (स्तन) अमृत का निर्झर है, वह अव्यक्त के ऊपर है; पार्थिव लोक के प्रत्यन्त में अर्थात् समीपवर्ती भाग में आदित्यद्युति का मण्डल है। 'ससस्य चर्म' अथवा अव्यक्त को आवरण उपनिषद् की भाषा में हुआ सूर्यद्वार के भेदन के बाद (मु. १।२।११) मिलता है हिरण्मय पुरुष का जो 'नीलं पर: कृष्णं' (छान्. १।६।६० जिसके भीतर हैं अव्ययात्मा अमृत पुरुष (मु. वही)। दूसरे ऋक् में कहा जा रहा है : 'ससस्य यद् वियुता सस्मिन् ऊधन् ऋतस्य धामन् रण्यन्त देवा:' – जब 'सस' को हटा दिया गया, तब (स्वर्धेनु के) उसी थन में ऋत के देवतागण आनन्दमग्न हो गए ४।७।७। यहाँ भी उसी एक भाव की ही प्रतिध्वनि। तृतीय ऋक् में : 'ससस्य चर्म घृतवत् पदं वेस् तद् इद अग्नी रक्षत्य अप्रयुच्छन्' – 'सस' का आवरण और ज्योतिर्मय पद उसी सुपर्ण के हैं, अग्नि उसकी ही रक्षा करते हैं अप्रमत्त होकर ३।५।६। यहाँ भी 'ससस्य चर्म' अव्यक्त का आवरण। किन्तु दिव्य सुवर्ण अथवा आदित्यमण्डल उसके इस पार है या उस पार है? 'अग्नि उसकी रक्षा करते हैं' यह कहने से तो लगता है इस पार है। नासदीयसूक्त में जो इस प्रकार है – 'तम: ..... तमसा गूल.हम् ... .. अप्रकेतं सलिलम्' जहो 'तच्छय' होकर उन्मिषन्त अथवा उन्मिषित या सद्य: विकसित प्राण को ढँके हुए हैं १०।१२९।३। हम सब के आधार की गहराई में वह रहस्यमय अव्यक्त की निथरता या निस्तब्धता है, और ऊर्ध्व में उसी दिव्य सुपर्ण की दीप्ति है। दोनों के बीच अप्रमत्त अग्नि चेतना का यातायात, आना-जाना होता रहता है। इस 'सस' का उल्लेख अन्यत्र भी है : 'अचित्रे अन्त: पणय: ससन्त्व अबुध्यमानास् तमसो विमध्ये' अचित्ति की गहराई में सारे पणि सोते रहें अँधेरे में ४।५१।३ टीका के आरम्भ में उल्लिखित ऋक् का तात्पर्य है कि 'समिद्ध अग्नि शुभ्र छटा के साथ दीप्तिमान होकर जिस प्रकार ऋत की योनि में उसी प्रकार सस

आदित्याभिमुखी अभियान में[६] व्यक्त होता है। समिन्धन के बाद अग्नि का 'ईलन्न', जिसके उद्देश्य द्वारा ऋक् संहिता के आरम्भ की सूचना प्राप्त होती है[१३५७]। ईड धातु के मूल में 'यज्' धातु है;[१] अतएव ईल.न

अथवा अव्यक्त की योनि में उत्थापित होते हैं।' यहाँ षष्ठी विभक्ति तादात्म्य वाचक है; अर्थात् ऋत ही योनि है, सस ही योनि है। ऋत विश्वमूल छन्द है, सस विश्वमूल अव्यक्त है। अन्यत्र ऋत सत् है और सस असत् है : अग्नि परमव्योम में दोनों ही हैं (तु. १०।५।७; और भी तु. सत् का वृन्त असत् में १०।१२९।४। तो फिर 'सस' जिस प्रकार अचिति का अव्यक्त है उसी प्रकार अतिचिति अथवा अतिचेतना का भी अव्यक्त है।

६. तु. 'यो अश्वस्य' दधिक्रावणो अकारीत् समिद्धे अग्ना उषसो व्युष्टौ, अनागसं तम् अदितिः कृणोतु स मित्रेण वरुणेना सजोषाः' – उषा की ज्योति फूटने पर एवं अग्नि समिद्ध होने पर जिसने अश्व दधिक्रावा की (उपासना) की हो, अदिति उसको निरञ्जन, निष्पाप करें; मित्र और वरुण के सायुज्य में वे (दधिक्रावा) तृप्त हो ४।३९।३।४।५ में यह दधिक्रावा ही 'शुचिषत् हंस'। इसके अलावा वर्तमान ऋक् में मित्र और वरुण की सहचरता के कारण वे दिव्य अग्नि हैं। (तु. १।११५।१ : सूर्य, अग्नि मित्र एवं वरुण के चक्षु हैं)। 'दधिक्रावा' के सम्बन्धा में आगे चल कर द्रष्टव्य।

१३५७. तु. ऋ. 'स इधानो .....ईले.न्यो गिरा १।७९।५, ३।२७।४, १४, ७।८।१; समिद्धे अग्नौ सुत सोम (जिसने सोम का सवन किया) ईहे ४।२५।१ (इन्द्र का ईल.न), ५।२८।१। आप्री सूक्त में भी 'ईल.' अग्नि का स्थान 'समिद्ध' के बाद है।

१. ईड नि. अध्येषण (= याञ्चो) – कर्मा पूजा कर्मा वा (७।५); याचन्ति, स्तुवन्ति, वर्धयन्ति, पूजयन्तीति वा (नि.८।१); स्तुवन्ति (१०।१९)। फिर 'ईल. ईट्टेः स्तुतिकर्मणः, इन्धतेर् वा (नि. ८।८) < √यज्.द, द कार का मूर्धन्य परिणाम, उसके बाद अन्तरङ्ग सन्धि एवं यकार का सम्प्रसारण और दीर्घत्व। आधुनिक शब्द शास्त्रज्ञ की व्युत्पत्ति, < IE ais ' Praise (With d extension)। अग्नि के सम्बन्ध में समिन्धन की व्यञ्जना सहज ही उभरती है। यज्ञ का अर्थ ही है, अपने भीतर आग जलाकर उसमें सब कुछ की आहुति देना। √ईड प्रधानतः अग्निम ईल.। यजध्यै ऋ. ८।३९।१।

का मौलिक अर्थ यजन है। अब समिद्ध अग्नि 'यज्ञसाधन' होते हैं। किन्तु यजन एक सामान्य संज्ञा है, जिसकी व्यञ्जना बहुमुखी है। यास्क के निर्वचन में उसका एक परिचय मिलता है। ईल.न का अर्थ वे 'याचन, स्तवन, वर्धन, पूजन, इन्धन' करते हैं। सङ्क्षेप में जिसका अर्थ हो सकता है 'हृदय की आकूति द्वारा समिद्ध अग्नि को स्तुति एवं आत्मनिवेदन के उपचार से सन्दीप रखना।' संहिता में ईड् धातु एवं उससे उत्पन्न शब्द के प्रायः समस्त प्रयोग ही अग्नि से सम्बन्धित हैं।[२] इस प्रसङ्ग में विशेष रूप से 'अध्वर' का उल्लेख लक्षणीय है। अग्नि का ईल.न 'गीः' अथवा वाक् द्वारा (स्तवन),[३] 'हविः' द्वारा (वर्धन)[४] और 'नमः' द्वारा (पूजन) किया जाता है।[५]

अग्नि का मन्थन एवं समिन्धन कायिक अनुष्ठान की अपेक्षा रखता है, किन्तु ईल न उसके ही साथ-साथ चलने वाला वाचिक एवं मानसिक कर्म है।[१३५८] देह और मन की अरणि में प्राण रूप में निहित जो देवता हैं, वे जब ध्यान निर्मन्थन द्वारा आविर्भूत हो जाएँ, तब जाग्रत चित्त की उद्यति एवं आत्माहुति की आकूति के साथ दिन प्रति दिन उनको रखना होगा – यही ईल न का यथार्थ तात्पर्य है।[१] हम

---

२. ऋ. ४।७।१, ५।२२।१, ७।१०।५, ८।११।१., १०।३०।४। तो फिर अग्नि का ईल...। अध्वर गति को लक्ष्य करता है' – जिससे समिद्ध शिखा सीधे ऊपर की ओर उठ जाए।

३. तु. १।७९।५, ३।२७।२, ६।२।२, ७।९३।४, ८।१९।२१, ३१।१४, १०।११३; 'गाथाभिः' ८।७१।१४। तु. वाचम् अक्रत देवाँ ईला. ना १०।६६।१४, ईल.। ना(वाक) ८।१०२।२; और भी तु. ७।२४।५, ४५।४, १०।

४. १।८४।१८, ३।१३।२, २७।१४, २९।१४, २९।२, ५।९।१, ६।१६।४६, ७।८।१, ८।७४।६, १०।७०।३, १२२।४; तु. ५.।२८।१। 'यज्ञेभिः' ६।२।२; स्रुचा ५।१४।३; 'आज्येन देवान्' १०।५३।२।

५. ५।१।७, १२।६; तु. ५।२८।१, १०।८५।२२।

१३५८. इस कारण से प्रातिपादिक 'ईड्' की सार्थकता, तु. ऋ. ८।३९।१ः यहाँ 'यज्' अनुष्ठान और 'ईड्' भावना है। जहाँ हवि का उल्लेख है (तु. १।८४।१८, ५।२८।१, ८।७४।६), वहाँ भी भाव ही प्रधान है।

१. तु. ३।२९।२। कठोपनिषद् में यही ऋक् उद्धृत है २।१।८। जिसके अन्त में 'एतद् वै तत्' यह महावाक्य सूचित करता है कि यह चिदग्नि ही ईत्मित्

सब के 'इलस्पद' में निषण्ण होकर उसकी प्रेरणा वे ही जगाते हैं।[२] और तब बिना इन्धन ही प्राण की गहराई में जल उठते हैं, जब विप्रगण उन्हें अध्वर में सन्दीप्त करते हैं।[३] उस समय द्रव्य यज्ञ ज्ञान यज्ञ में रूपान्तरित होता है और शरीर (यज्ञाग्निमय होता है। 'ईलि.त' अग्नि और 'पवमान' सोम तब एक हो जाते हैं; सोम्य आनन्दचेतना की धाराओं के साथ आधार में वे एक ओजस्वी प्रवेग के रूप में विराजते हैं।[४] जो गुहाहित थे, वे तब मर्त्य की चेतना में अचित्ति और

होकर वही तत्स्वरूप होते हैं, जो त्रिणाचिकेत ब्रह्मविद् के निकट 'छाया' हैं १।३।१। और भी तु. श्वे. १।१४। द्र. टी. १३२२ (१) और मूल। ईलन के फलस्वरूप अग्नि 'अद्रि' अथवा अचित्ति के पाषाण का भेदन करते हैं अपनी तपः शक्ति एवं ज्वाला द्वारा : तु. सप्त होता रस् (अध्यात्म दृष्टि से सात शीर्षण्य प्राण, जिन्हें ऊर्ध्वस्रोता करना ही हम सब का लक्ष्य है; तु. बृ. २।२।३) तम् इद् ईलते त्वा....भिनत्स्य अद्रिं तपसा वि शोचिषा ऋ. ८।६०।१६ (तु. १०।१२२।४)।

२. 'अधा होता न्य् असीदो यजीयान् इलस्पद इषयन् ईड्यः सन, तं त्वा नरः प्रथमं देवयन्तो महा राये चितयनते अनुग्मन्' –इस कारण से याजकों के होता हो तुम (अर्थात् उनके होतृत्व में ही यज्ञ की सिद्धि है) निषण्ण हुए इलस्पद में (हृदय में) एषणा जगा कर – सन्दीपन या प्रज्वलन की प्रतीक्षा में : उसी प्रथम (पुरोहित) का देवकाम सभी वीर अनुगमन करते हैं महिमा अथवा गौरव की प्रेरणा प्राप्त करने के लिए सचेतन होकर ६।१।२ 'इषयन्': तु. १०।९१।१ (द्र. टी. १३५४ (५)), प्रेतीषणिम् इषयन्तं पावकम् ६।१।८। 'महो राये' : तु. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् १।१८९।१।

३. यो अनिध्मो दीदयद् अप् स्व अन्तर यं विप्रास ईलते अध्वेरेषु, अपां नपात् (अप् की सन्तति अग्नि २।३५ सूक्त, विशेष रूप से ४, १०; विवरण बाद में) १०।३०।४।

४. तु. ईलेन्यः पवमानो रयिर् वि राजति द्युमान्, मधोर् धाराभिर ओजसा ९।५।३। यह ऋक् आप्रीसूक्त के अन्तर्गत है, जिसके देवता अग्नि हैं। किन्तु प्रत्येक ऋक् में सोम के विशिष्ट विशेषण 'पवमान' शब्द के प्रयोग में अग्नि और सोम के एकल की सूचना प्राप्त होती है। इसी से इसे सोममण्डल में स्थान मिला है। अग्नि-सोम की सहचरता तन्त्र में

चित्ति के विवेक के रूप में पकड़ में आते हैं– यही उनके ईल.न की सार्थकता है।[५]

उसके बाद ईलित अथवा चेतना में स्पष्टीकृत अग्नि का आधान अथवा सादन किया जाता है।[१३५९] मुख्य आधान है गुहाशयन से उनको चेतना के 'पुरोभाग' में स्थापित करना अर्थात् उनके बारे में नित्य सचेतन रहना। अग्नि तब हमारे जीवन-यज्ञ के 'पुरोहित' हैं।[१]

शिव-शक्ति के सामरस्य में रूपान्तरित हुई है। उल्लिखित ऋक् में 'ईलेन्य रयिः' ऊपर की ओर बहती हुई ज्वार जैसी अग्नि की धारा है और 'मधोर धाराः' भाटे की तरह उतरती हुई सोम की धारा है। दोनों के सङ्गम में आधार 'ओजस्वी द्युति से विराट' होता जा रहा है। यह योगाग्निमय शरीर की अपूर्व व्याख्या है।

५. तु. त्वाम् अग्ने मानुषीर् ईलते विशो (जन साधारण, प्रवर्त साधकगण)... विविचिं...गुहो सन्तं विश्व दर्शतम् ५।८।३+'अग्ने कदा त आनुषम् भुवद् देवस्य चेतनम्, अधा हि त्वा जगृभ्रिरे मर्तासो विक्ष्व् ईड्यम्' – हे अग्नि! तुम्हारी देवचेतना कब हम सब के भीतर अच्छी तरह जागेगी? इस कारण से तो तुमको ग्रहण कर रखा है मर्त्यों ने, कि तुम सर्वसाधारण के मध्य दीपनीय हो ४।७।२।

१३५९. समस्त श्रौतकर्म सस्त्रीक आहिताग्नि का करणीय। अतः 'अग्न्याधान' ब्राह्मण में एक विशिष्ट कर्म। उसकी व्याख्या बाद में की जाएगी। संहिता में भाव का प्राधान्य है, यहाँ अभी उसका ही अनुसरण किया जा रहा है। अधियज्ञ दृष्टि से सादन 'बर्हिः' में (६।१६।१०) अथवा कुशास्तरण में; अध्यात्म दृष्टि से हृदय में (तु. तस्य ह वा एतस्या त्मनो वैश्वानरस्य....उर एव लोमानि बर्हि छा. ५।१८।२)। आप्री सूक्त में बर्हि : अग्नि रूप में चतुर्थ देवता।

१. **पुरोहित** : < पुरः √ धा, जिन्हें सामने या आगे रखना होता है दिग्दर्शक के रूप में नि. पुरः एवं दधति २।१२; तु. 'राजा यक्ष्यमाणो ब्राह्मणं पुरो दधीत' ऐब्रा. ८।२४; 'ब्राह्मणं च पुरो दधीत विद्याभिजन वाग् रूप वयः शील सम्पन्नं न्याय वृत्तं तपस्विनम्, तत्प्रसूतः कर्माणि कुर्वीत, गौतम धर्म सूत्र ११।१२-१३; क्षत्रिय को यदि वीर साधक का आदर्श मान लिया जाए तो फिर पुरोहित उनकी अर्द्धात्मा हैं, उन्हें छोड़कर वे अकेले नहीं चल सकते, 'अर्धात्मा ह वा एष क्षत्रिस्य यत् पुरोहितः ऐ ब्रा. ७।२६)। ऋ. में

देवात्मभाव की सिद्धि के लिए अभीप्सा की शिखा के रूप में अन्तर में उनका प्रथम आविर्भाव होता है और उसी से उत्तरायण के मार्ग पर वे हमारे दिग्दर्शक हैं। इसलिए वे प्रथम पुरोहित हैं;[२] देवता और मनुष्य के बीच दूत के रूप में वे जिस प्रकार हम सब के पुरोहित हैं, उसी प्रकार देवताओं के भी हैं।[३] चेतना में जब प्रातिभसंवित् का उन्मेष सम्भव होता है तभी वे हमारे भीतर समिद्ध होते हैं, इसलिए वे उषा के पुरोहित हैं।[४] तब से सोम्य आनन्द की प्रत्याशा में हम उन्हें निरन्तर अपनी दृष्टि के सामने रखते हैं, और किसी भी सूरत में उन्हें ओझल नहीं होने देते।[५] तब वे हमारे पुर-एता-शीघ्रगामी रथ जैसे, नित्य नूतन

विशेष रूप से अग्नि ही पुरोहित, तु. १।१।१, ४४।१०, १२, ५८।३, ९४।६, पुरोहितो दमे दमे १२८।४, ३।३।२, ११।१, ५।११।२.....।

२. तु. यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितं अग्निं नरस् त्रिषधस्थे सम् ईधिरे ५।११।२ (द्र. टी. १३५६ (५); और भी तु. 'हविष्मन्त ईलते सप्त वाजिनम् १०।१२२।४)

३. तु. यद् देवानां मित्रमहः पुरोहितो ऽन्तरो यासि दूत्यम् १।४४।१२।

४. १०।९२।२।

५. तु. अग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः ३।२।५ (१०।१४०।६; द्र. टी. १३१६ (६), १३५४ (४))।

हैं;[६] वे देवताओं के भी 'पुरोगाः' हैं।[७] सन्धा भाषा में उनका आधान एक हिरण्मय ज्योति को दिव्य सुपर्ण के भीतर आहित करने जैसा है।[८]

उसके बाद आधार में आहित अग्नि का दिव्य कर्म अर्थात् यज्ञ की साधना शुरू हुई।[१३६०] इस साधना की सूचना 'केतु'[१] अथवा बोधि की झलक द्वारा होती है। 'अहः' अथवा क्लिष्टचेतना के आवर्त में

---

६. तु. अदाभ्यः (जिसे काई धोखा नहीं दे सकता) पुरएता विशाम् अग्निर् मानुषीणाम्, तूर्णी रथः सदा नवः ३।११।५ (तु. १।७६।२)।

७. पुरोगा अग्निर् देवानाम् १।१८८।११, १०।११०।११, १२४।१। लक्षणीय पुरोहिती इन्द्र की १।५५।७, ६।१७।८ २५।७, ८।१२।२२, २५; बृहस्पति की ४।५०।१; ब्रह्मणस्पति की २।२४।९; सोम की ८।१०१।१२ ९।६६।२०। मित्रावरुण की ७।६०।१२, ६१।७; इन्द्रावरुण की ८३।४। इसके अलावा आप्रीसूक्त में अग्नि और आदित्य रूपी दो दैव्य होता भी 'प्रथम पुरोहित' ३।४।७, १०।६६।१३, ७०।७। अग्नि के पुरोधान की तरह आधार की गहराई में निधान का भी उल्लेख है : १।४४।११, १४५।५, १४८।१, समिद्धो अग्निर् निहितः पृथिव्याम् २।३।१, ३।२३।४, ५।२।६, ४।३, ६।१५।८, १५....।

८. चन्द्रम् इव सुरुचं ह्वार आ दधु : २।२।४ अध्यात्म दृष्टि से आत्म ज्योति को विश्वज्योति में रूपान्तिरित करना।

१३६०. अग्नि की संज्ञा तब 'यज्ञसाध' 'यज्ञसाधन'। तु. ऋ. १।४४।११, प्रथमं यज्ञसाधम् ९६।३, १२८।२, १४५।३, ३।२७।२, ८, ८।२३।९, यो यज्ञस्य प्रसाधनस् तन्तुर् देवेष्व् आततः १०।५७।२।

१. **केतु** : निघ. 'प्रज्ञा' ३।९; <√ कित् ।। चित् (देख पाना; चेतन होना); तु. 'केतः', 'चित्तिः' 'चेतनम्'। यह अँधेरे में ज्योति की रेखा देखते जैसी बात है। इसलिए केतु 'रश्मि' (विशेष रूप से बहुवचन में तु. १।२४।७, ५०।१, ३, ८।४३।५, ९।७०।३...); आध्यात्मिक दृष्टि से वही बोधि की झलक है, जो रहस्य की जानकारी देती है। ऋक्संहिता में आलोक के साथ केतु का सम्बन्ध घनिष्ठ है – अहन्, अग्नि, उषा, सविता, सूर्य इनके प्रसङ्ग में ही इस शब्द का अधिक प्रयोग (तु. १।७१।२, ३।५५।२, ३।६१।३, ४।१४।२, ७।६३।२...) केवल एक जगह पताका की ध्वनि है (७।३०।३), इसके अतिरिक्त यह अर्थ कहीं भी नहीं प्राप्त होता है। तु. अग्नि का विशेषणः यज्ञस्य यज्ञस्य के तुं रुशन्तम् १०।१।५।

जब हम आवर्तित होते हैं और देवद्रोही अरातियों या शत्रुओं द्वारा सताए गए होते हैं तथा निष्प्राण निश्चलता में जब मुँह के बल गिरे ज़मीन के ऊपर पड़े होते हैं, तब अकस्मात् इस देवता का केतु उत्शिख होकर हमारे भीतर जल उठता है, जगा देता है ऊर्ध्व अभीप्सा– विचरण करने के लिए, जीने के लिए और हमारे प्रज्वल आग्रह को विश्वदेव के निकट पहुँचा देता है।[२] हमारी उत्सर्ग-भावना का आरम्भ उसी से होता है और अग्नि उसके प्रज्ञापक हैं।[३] और इस कारण से वे पूर्वकालीन द्यावापृथिवी के दो सदनों के बीच 'केतु' अथवा आलोक के सङ्केत हैं[४] और उसके प्रत्यन्त या अन्तिम छोर पर द्युलोक के केतु हैं;[५] यज्ञ के तन्तु भी इन दोनों के मध्य प्रसारित हैं,[६] और उसका आतनन अग्नि का ही साध्य है।[७] इस प्रकार उत्सर्ग की भावना में सब के जीवन को वे चिन्मय करते हैं; इसलिए वे विश्व के केतु हैं।[८]

---

२. तु. ऊर्ध्वो नः पाह्य अंहसो नि केतुना विश्वं सम् अत्रिणं दह, कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे विदा देवेषु नो दुवः १।३६।१४; अगले मन्त्र में है: पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेर् अरावणः (द्र. टी. १३४४ (५))। 'अत्रिन्' अदिव्य शक्ति (तु. ९।१०५।६), हम सब के भीतर राक्षसी वृत्ति (तु. ९।१०४।६), (वाणिक् वृत्ति) बनिया-स्वभाव (तु. जही न्य् अत्रिणं पणिं वृको हि यः (६।५१।१४)। लक्ष्य करता है' – जिससे समिद्ध शिखा सीधे ऊपर की ओर उठ जाए।

३. इसलिए ऋ. संहिता में अनेक स्थलों पर वे 'यज्ञस्य केतुः' :१।९६।६ (१०३।१) १२७।६, केतुं यज्ञानां विदथस्य (विद्या की साधना के) साधनं विप्रासो अग्निं महयन्त (महिमान्वित किया) चित्तिभिः ३।३।३, ११।३, ५।११।२, ६।२।३ ७।२, ४९।२, १०।१।५, १२२।४....; केतुर् अध्वराणाम् अग्निः ३।१०।४, विदथस्य १।६०।१, अध्वराणाम् चेतनम् ३।३।८

४. पुराण्योः सद्मनोः केतुर् अन्तः ३।५५।२,

५. तु. १।२७।१२, ३।२।१४।

६. तु. १०।१३०।१, २ (द्र. टी. १३४४ (१))।

७. इसलिए वे 'यज्ञम् आतनिः' २।१।१०।

८. तु. विश्वस्य केतुर् भुवनस्य गर्भः (अन्तर्निहित, अन्तर्यामी, तु. टी. १३३९ (६) और मूल) १०।४५।६

यज्ञ केवल बाहरी अनुष्ठान नहीं है, बल्कि वह 'विदथ' अथवा विद्या की साधना है। उसके मूल में धी अथवा ध्यान चित्तता की प्रेषणा या प्रेरणा है।[१३६१] यह धी देवता का प्रसाद है।[१] इस दृष्टि से जब हम देखते हैं, तब यज्ञ वस्तुतः ही 'देवकर्म' है। यज्ञ के ऋत्विक् हम नहीं बल्कि देवता स्वयं हैं। हम समिध् वहन करके ले आ सकते हैं, आहुति की सामग्री सजाकर रख सकते हैं, यहाँ तक कि चेतना को हर स्वर पर जाग्रत भी रख सकते हैं; किन्तु कर्म को धी में रूपान्तरित करके उसे सम्पन्न करना, अपनी आदित्य द्युति की तीव्र कामना को सार्थक करना, जीने जैसी जीवनी शक्ति प्राप्त करना यह तो देवता का साधना है; अग्नि के अरिष्ट सख्य का परिचय है।[२]

१३६१. निघ. में धी कर्म (२।१; द्र. टी. २)। तु. ऋ. 'यज्ञेन गातुम् अप्तुरो विविद्रिरे धियो हिन्वाना उशिजों मनीषिणः' यज्ञ द्वारा रास्ता ढूँढ़ निकाला उद्विग्न अस्थिर मनीषियों ने धाराओं के विपरीत जाकर, धी को (निरन्तर) प्रेरणा देकर २।२१।५ ('अप्' प्राण की धारा, विसृष्टि १०।१२९।६; सत्य उसके ऊपर की ओर) और भी तु. 'मा तन्तुश् छेदि वयतो धियं में' – मैं ध्यानचेतना को बुनता जा रहा हूँ, उसके तन्तु कहीं टूट न जाएँ २।२८।५। यज्ञ अथवा उत्सर्ग की भावना एक तनन है, जिसके फल स्वरूप 'यानि स्थानान्य् असृजन्त धीरा यज्ञं तन्वानास् तपसाभ्य् अपश्यम्' – जिन सब स्थानों की सृष्टि की है ध्यानियों ने; यज्ञ के आतनन द्वारा, मैंने तपस्या द्वारा उनको देखा ८।५।६। तु. 'तन्तुं तन्वन्' (अर्थात् यज्ञ के निरन्तर आतनन से) रजयो भानुम् अन्व् इहि (प्राण लोक की भाति या दीप्ति का अनुसरण करो) ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान् १०।५३।६।

१. 'दिवश् चिद् आ. पूर्व्या जायमाना वि जागृविर् विदथे शस्यमाना, भद्रा वस्त्राण्य अर्जुना वसाना से यम् अस्मे सनजा पित्र्या धीः' – यही पुरातनी धी, द्युलोक से जन्म लेती हैं यहाँ, नित्य जाग्रता हैं वे, विद्या की साधना में उनका नित्य शंसन; वे शुभ्र सुमङ्गल वस्त्रा, पितृ पुरुषों के निकट से प्राप्त नित्य जाता वही धी हम सब की हो ३।३९।२। यहाँ हमें सर्वशुक्ला सरस्वती का आभास मिलता है।

२. तु. शकेम त्वा समिधं साधया धियः ...भरामेध्मं कृणवामा हवींषि ते चितयन्तः पर्वणा पर्वणा वयम्, जीवातवे प्रतरं साधया धियोऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव १।९४।३-४।

मर्त्यों के सोम्य आधार में वह नित्य अमृत देवता ही तो राजा की तरह विद्थ की साधना में अतन्द्र होकर विराजमान है।[३] अतएव मनुष्य के जीवन-यज्ञ में अग्नि ही दिव्य ऋत्विक् हैं।[४] सारा आत्विज्य अथवा ऋत्विक् कर्म उनका ही है – वे ही होता, अध्वर्यु प्रशास्ता, पोता, नेष्टा, अग्नित् एवं ब्रह्मा हैं।[५] वे ही यज्ञ के नेता एवं नियन्ता हैं, बृहत् अध्वर के ईशान हैं।[६]

अग्नि ही यज्ञ के दिव्य ऋत्विक् हैं, सारे ऋत्विक् भी वे ही हैं – तब भी विशेष रूप से वे 'होता' हैं।[१३६२] वे हमारे देवकाम हृदय

---

३. 'नि दुरोणे (द्र. टी. १३५६ (१)) अमृतो मर्त्यानां राजा ससाद विदथानि साधन' ३।१।१८।

४. तु. १।१।१ (द्र. टी. १३४६ (१))

५. तु. त्वम् अध्वर्युर् उत होता. सि पूर्व्यः प्रशास्ता पोता जनुषा (जन्म से) पुरोहित, विश्वा विद्वाँ आर्त्विज्या धीर पुष्यसि १।९४।६; तवाग्रे होत्रं तव पोत्रम ऋत्वियं तव नेष्ट्रं त्वम् अग्निद् ऋतायतः (ऋतकामी के), तव प्रशास्त्रं त्वम अध्वरीयसि ब्रह्म चासि गृहपतिश्च नो दमे २।१।२ (= १०।९१।१०।...और भी तु. २।५।१-७) (Geldner बतलाते हैं कि सातवें मन्त्र के ऋत्विक् अग्नित्)। कुल ऋत्विक् सात हैं; एवं उनकी साधारण संज्ञा है 'होता' (तु. ३।१०।४, ८।६०।१६, ९।११४।३, १०।३५।१०, ६१।१, ६३।७, १२२।४), जो फिर विशेष रूप से अग्नि का विशेषण (द्र. टी. १३६२)। अष्टम् ऋत्विक् 'गृहपति' (२।१।२, यज्ञ के नेता२।५।२; आध्यात्मिक दृष्टि से ये 'अङ्गुष्ठ मात्रः पुरुषो ज्योतिर् इवा. धूमकः' क. २।१।१३ एवं सात ऋत्विक् सात शीर्षण्य प्राण हैं द्र. टी. १३५८ (१)) अग्नि स्वयं हैं, जो 'जनुषा पुरोहितः' (ऋ. १।९४।६), जन्म से ही चेतना के पुरोभाग या अग्रभाग में स्थित हैं। उनके साथ तु. बृ. का 'अन्तर्यामी' ३।७। यहाँ उद्गाता का नाम नहीं है, किन्तु अन्यत्र है (ऋ. २।४३।२)। तु. २।३६, ३७ सूक्त।

६. 'नेता' : तु. २।५।२ (३।१५।४), १०।८।६, ३।२३।१; 'यन्ताः' ३।१३।३; 'ईशान' : ७।११।४।

१३६२. ऋ. संहिता में कहीं अन्य देवता के लिए प्रयुक्त। इस संज्ञा में अन्य ऋत्विकों का भी अन्तर्भाव लक्षणीय। 'मन्द्रो होता' अग्नि का एक विशिष्ट परिचय (द्र. टी. १३२८)।

की अभीप्सा हैं, इसलिए हमारी तरह ही वे 'देवयुर होता' हैं। उत्सर्ग-साधना के लिए यदि हम उनका आहरण करें, तो वे स्वयं प्रज्वल दीप्ति के साथ दृष्टि गोचर होते हैं – फिर हम देखते हैं कि वे पथिको के लिए एक ज्योतिर्मय रथ जैसे हैं।[१] मनुष्य के दूत रूप में देवता को आह्वान करके यहाँ ले आने का उनमें अथक उत्साह हैं।[२] हमें केवल होतृरूप में उनको वरण कर लेना होगा और हृदय की वेदी में[३] उनका आसन बिछा देना होगा, हालाँकि अनादि काल से मनु ने ही हम सब के भीतर इसी रूप में उनको निहित कर रखा है।[४] विद्या की साधना में जब भी मनुष्य इस होता को उत्पन्न करता है, तब ही उसके निकट स्वर्लोक का आभास लेकर ऊषा झिलमिलाने लगती हैं; और आर्य हृदय तिमिरनाशन होता के रूप में जब भी अग्नि को वरण करता है, तभी ध्यानचेतना का जन्म होता है और उनकी ही प्रेषणा से विहङ्गम 'श्येन' विपुल-विश्वतश्चक्षु उस अमृत-बिन्दु को अध्वर में वहन करके ले आता है।[५] मनुष्य के मनन को इस होता की तरह और

---

१. ऋ. अयम् उष्य प्र देवयुर होता यज्ञाय नीयते, रथो न योर् (पथिक के) अभीवृतो घृणी वाञ् (ज्योतिर्मय, तु. 'घृत') चेतति त्मना १०।१७६।३। 'अभिवृतः' तु. १।७४।७ (और भी तु. हिरण्माय पात्र द्वारा अमिहित (ढँका हुआ) सत्य मुख ई. १५)।

२. होता का दौत्यः १।५८।१, ४।१।८; द्र. १०।९१।११, टी. १३३६ (२)।

३. वरेण्य होता : १।२६।७, ५८।६, २।७।६, ५।१३।४....; उनका 'निषादन' ४।६।११, ६।१६।१०, ८।२३।१७, १०।१२।१, ४६।१, ५३।२....।

४. ६।१६।९, १।१३।४, १४।११, ८।३४।८। तु. १।३६।१९, (द्र. टी. १३३० (४)); अर्थात् मनुष्य ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा लेकर ही जन्म लेता है।

५. उषा उवास मनवे स्वर्वती.....यद् ईम् .... अग्निं होतारं विदथाय जीजनन्। अधत्यं द्रप्सं विभ्वं विचक्षणं विर् आ. भरद् इषितः श्येनो अध्वरे यदी विशो वृणते दस्मम् आर्या अग्निं होतारम् अध धीर् अजायत १०।११।३, ४। 'श्येन' दिव्य सुपर्ण, वैद्युताग्नि का प्रतीक। द्युलोक से सोम आहरण उनका काम है (द्र. ४।२६।४-७, २७ सूक्त) वही सोम यहाँ 'द्रप्स' अथवा अमृत-बिन्दु है, किन्तु अग्निधर्मा। अग्नि सोम की सहचरता का वर्णन और भी अनेक प्राप्त हुए हैं। इस मन्त्र में पर्याय-क्रम से अग्नि का वरण, धी

कोई सुरक्षित रख सकता नहीं; उनकी ही प्रेरणा से उसमें मेधा का उन्मेष होता है और उसकी विद्या की साधना को वे ही सम्पन्न करते हैं। इसलिए आहुति द्रव्य अल्प ही या अत्यधिक ही हो, मनुष्य हमेशा उन्हें ही वरण करता है, उनके अतिरिक्त और किसी को नहीं।[६] यह होता [७]कविक्रतु, [७]विश्ववेदा है : और हम बिल्कुल ही कुछ नहीं जानते। इसलिए देवता के व्रत में हम प्रसादग्रस्त हो जाते हैं। देवताओं के पथ पर हम चलते हैं, अपने सामर्थ्य के अनुसार स्वयं को आगे ले जाना चाहते हैं। किन्तु होता अग्नि सब कुछ जानते हैं। अतएव देवयजन का भार उनके ही ऊपर है, अध्वर और उसके ऋतु की व्यवस्था वे ही करेंगे और हमारे समस्त प्रमाद का आपूरण भी वे ही करेंगे।[८] इसलिए होतृरूप में 'यजिष्ठ' या याजकों में अनुत्तम अथवा सर्वोत्तम हैं। [९]बहुलतम विशेषण है, वे मन्द्र हैं[१०] अर्थात् आनन्दोच्छल हैं।

का जन्म, श्येन द्वारा अमृत-बिन्दु का आहरण आध्यात्मिक दृष्टि से क्रमशः अभीप्सा, प्रज्ञान एवं अमृत चेतना।

६. तु. 'मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनम् अग्निं होतारं परिभूतमं मतिम्, तम् इद् अर्भे हविष्य् आ समानम् इत् इन् महे वृणते नान्यं त्वत्' १०।९१।८, अगला मन्त्र भी द्रष्टव्य। 'मेधाकार' तु. अग्नि 'मन्धाता' १०।२।२; 'मेधा' < मनस् + √धा, मन आधान, मनोयोग चित्त का समाधान, योग की समाधि।

७. १।१।५, ६।१६।२६;

७. १।१२।१, ३६।३, ४४।७, विश्वविद् ५।४।३...।

८. तु. आ देवानाम् अपि पन्थाम् अगन्म यच् छन्क वाम तद् अनु प्रवोल् हुम्, अग्निर् विद्वान् स यजात् से. द. उ होता से अध्वरान्त स ऋतून कल्पयाति। यद् वो वयं प्रमिनाम व्रतानि विदुषां देवा अविदुष्टरासः, अग्निष् टद् विश्वम् आ पृणाति विद्वान् येभिर् देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति १०।२।३, ४। अगली ऋचा भी द्रष्टव्य; तु. टी १३४६ (१)।

९. १।७७।१, १२८।१, २।६।६, ४।१।४....। होता और याजक एक. तु. नि. 'होतारं जुहोतेर् होतेत्य् और्णवाभः ७।१५।'

१०. द्र. टी. १३२८।

हमने देखा कि अग्नि यज्ञ साधन हैं, वे यजिष्ठ होता हैं। यज्ञ का फल यजमान का देवजन्म है। इस प्रजनन् में अग्नि जिस प्रकार देवयोनि हैं,[१३६३] उसी प्रकार फिर बीजप्रद पिता भी हैं। संहिता में यह बात धेनु-वृषभ की उपमा द्वारा समझाई गई है; अग्नि जिस प्रकार वृषभ उसी प्रकार धेनु भी हैं।[१] आधार में शक्तिपात बोधक 'वृषभ' संज्ञा देवताओं के सम्बन्ध में बहुप्रयुक्त है।[२] देवताओं का शक्तिपात आधार को पुष्ट करके समर्थता प्रदान करता है, अतः अग्नि 'वृषभः पुष्टिवर्धनः' हैं।[३] उसी समर्थ आधार में उच्छलित प्राण की धाराओं में वृषा अग्नि गर्भाधान करके स्वयं ही 'अपांनपात्' रूप में जन्म लेते हैं। उसके बाद आधार की शक्तियों एवं हृदय की आकूति द्वारा आप्यायित[४] एवं संवर्द्धित होकर वही शिशु अग्नि ही पुनः वृषा होते हैं। उस समय उनका दिव्य सामर्थ्य अमृत आनन्द की ज्योतिर्मय धारा बरसाता है।[५] तब हमारे भीतर देवता का जन्म हमें भी देवता में उसी प्रकार रूपान्तरित कर देता है, जिस प्रकार आग ईंधन को आग में रूपान्तरित कर देती है। तब हम सब भी वृषा होते हैं, वृषा रूप में वृषा अग्नि

१३६३. द्र. अग्नि् वै देवयोनिः .... ऐब्रा. १।२२, २।३; तु. श. १२।९।३।१०।

१. तु. ऋ. १०।५।७; तृषा और पृश्नि साथ साथ ४।३।१०।

२. वृषभ < √वृष् 'वर्षण करना, कराना'। रूपान्तरः 'वृषन्' कहीं 'वृषण'। विशेष रूप से अग्नि-सोम 'वृषा' जिस प्रकार इन्द्र 'वृषभ' (तु. २।१।३)। 'जो वीर्य वर्षण करते हैं' इस यौगिक अर्थ में ही अधिक प्रयोग हुआ है, यद्यपि उपमान की छवि नितान्त दुर्लभ नहीं, जैसे 'सहस्रश्रृङ्ग' ५।१।८, 'तुविग्रीव' ५।२।१२, 'ककुद्मान्' १०।८।२, कनिक्रदत् १।१२८।३, 'रोरवीति' ४।५८।३, १०।८।१। अग्नि 'अरुष' या अरुणवर्ण 'वृषा' यह परिचय कई स्थानों पर है, उसमें भी उपमान का रूप स्पष्ट है (३।७।५, ५।१२।६, ६।८।१, ४८।६...)। वृषभ के साथ वीर्य वर्षण और गर्भाधान का अनुषङ्गः १।१७९।१, २।१६।८, ४।४१।६, ५।४१।६, वृषभः कनिक्रदद् दधद् रेतः १।१२८।३, सहस्ररेता वृषभः ४।५।३, ३।५६।३, ५।६९।२.....।

३. १।३१।५ : तु. १।१।३।

४. तु. 'स ईं वृषा. जनयत् तासु गर्भं स ईं शिशुर धयति तं रिहन्ति २।३५।१३।' 'अपांनपात्' वैद्युत अग्नि, आगे चलकर द्र.।

५. तु. श्चोतन्ति धारा मधुनो घृतस्य वृषा यत्र वा वृधे काव्येन ३।१।८।

को शाश्वत काल तक समिद्ध करते चलते हैं और उनकी द्युति बृहत् होकर फैल जाती है।[६] यह दिव्य सामर्थ्य ही देवात्म भाव का स्वाभाविक परिणाम है।

होता अग्नि की श्लाघ्यतम कृति, वे 'रत्नधा' हैं। सामान्यतया सारे देवता ही रत्नधा हैं।[१३६४] किन्तु उन सब में अग्नि 'रत्नधातम' हैं।

---

६. तु. वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः सम् इधीमहि, अग्ने दीद्यतं बृहत् ३।२७।१५; तु. पहले के दो ऋक्।

१३६४. साधारणतः सारे देवता ही रत्नधाः तु. ३।८।६, ७।९।५, ३७।२। विशेष रूप से रत्नधाः अश्विद्वय १।४७।१, ४।४४।४, ५।७५।३, ७।६७।१०, (६९।८), ७०।४, ८।३५।२२-३४, वाचं वाचं जरितू रत्निनीं कृतम्....नासत्यौ। १।१८२।४; उषा ६।६५।४, ७।७५।६, ८, ८१।३; सविता १।३५।८, २।१।७, ३८।१, ४।५४।१, ५।४८।४ (अनिरुक्त) ४९।२, ८२।३, ७।३८।१, ६, ४०।१, ५२।३, १०।३५।७; भग ५।४९।१, ६।१३।२, ७।३८।१; आदित्य गण १।४१।५-६। ये सभी द्युस्थनीयदेवता हैं। अन्तरक्षिस्थानीय देवताओं में रत्नधा : रुद्र ६।७४।१ (सोम के साथ), मरुद्गण १०।७८।८, बृहस्पति ३।६२।४, इन्द्र ४।४१।३ (वरुण वं साथ) ६।१९।१०, ७।२५।३, ८।९५।९। भूलोक में अग्नि के अतिरिक्त रत्नधाः द्यावा पृथिवी ७।५३।३; नदियाँ तु. सजोषस आदित्यैर् मादयध्वं सजोषस ऋभवः पर्वतेभिः, सजोषसो दैव्याना सवित्रा सजोषसः सिन्धुभी रत्नधेभिः ४।३४।८ (ऋभु आगे चलकर द्रष्टव्य; रत्नधा सिन्धु (नदी) के साथ तुलनीय द्रविणोदा अग्नि; सिन्धु नाड़ीवाही प्राण प्रवाह का प्रतीक, जिस प्रकार स्तब्ध एवं उत्तुङ्ग पर्वत ध्यान चेतना का प्रतीक, (तु. छा. ७।६।१, ऋ. ३।५४।२०)। इसके अतिरिक्त रत्नधा हैं त्वष्टा १।१५।३ एवं ग्नास्पत्नियाँ (दिव्यशक्तियाँ) ४।३४।७ (अगला ऋक् द्र.)। अग्नि जब रत्नधा, तब सोम भी रत्नधा होंगे, यह प्रत्याशित है : ९।३।६, ४७।४, ५।१९, देवेषु रत्नधा असि ६७।१३, ८६।१०, ९०।२, आ रत्नधा योनिम् ऋतस्य सीदस्य् उत्सो देव हिरण्ययः १।१०७।४ दमेदमे सप्त रत्ना दधाना ६।७४।१ (रुद्र के साथ)। वामदेव के कथनानुसार ऋभुगण विशेष रूप से रत्नधा : ४।३४।१, ४, ११, ३५।१, २, ८, यत् तृतीयं सवनं रत्नधेयं कृणुध्वम् ९ (तु. १, फिर ३४।४)। सोमयाजी में वे इक्कीस रत्न आहित करते हैं १।२०।७ (इस उपलक्ष्य में उनके प्रति रचित स्तोत्र भी 'रत्नधातम' १) ऋभुओं ने मर्त्य मानव होते हुए भी अमृतत्व प्राप्त किया

'रत्न'[१] अमृत चेतना की दीप्ति है उपनिषद् की भाषा में प्रज्ञानघनता है[२] अर्थात् चित् शक्ति की घनीभूत ज्योति है। आलोक दीप्त ऊषाएँ

था १।११०।४)। सोमयाग में वे तृतीय सवन में सोमपान करते हैं; अर्थात् याग के अन्त में। तो याग का फल 'रत्न' लाभ है। उसके अतिरिक्त अश्विद्वय 'वाजरत्न' ४।४३।७, ऋभुगण भी ४।३४।२, ३५।५; सविता 'सुरत्न'७।४५।१ त्वष्टा भी १०।७०।९; ऊषा 'रत्नभाज' ७।८१।४; यजमान भी सविता के अनुग्रह से 'रत्नी' ७।४०।१ 'सुरत्न' ७।६७।६, ८४।५, ८५।५, १०।७८।८; नारियाँ 'सुरत्ना' (साधारण अर्थ में) १०।१८।७।

१. १।१।१, ५।३। : इस संज्ञा का केवल एक और प्रयोग ऋभुओं के उद्दिष्ट स्तोम के लिए किया गया है १।२०।१। अग्नि 'रत्नधा' : १।८४।१४, १४१।१०, त्वं देवः सविता रत्नधा असि २।१।७, ३।१८।५, सुवीर्यं स्वश्व्यं दधातु रत्नम् अमृतेषु जागृविः (अश्व = ओजः १०।७३।१०) २६।३, ४।२।१३, १२।३, १५।३, ६।१३।२, ७।१६।६, ६२, १७।७, ३।२।११, १०।११।२ इसके अतिरिक्त अग्नि महिरत्न १।१४१।१०

२. 'रत्न' निश्चय ही उपमान है, उसका सामान्य गुण है प्रकाश का घनीभूत होना। अतएव उपनिषद् में जो 'प्रज्ञानघन' अथवा 'विज्ञानघन' है, और वेदान्त में निद्घन है, वही 'रत्न' है। इसके साथ प्रतीक के हिसाब से तु. 'रत्न' एवं 'मणि'। सम्भवतः ऋक् संहिता का 'रत्न' मुक्ता - समुद्र से प्राप्त। अन्तरिक्ष और द्युलोक दोनों ही समुद्र रूप में कल्पित, दोनों ही व्याप्तिधर्मा हैं। तो फिर रत्न इसी प्रमुक्त चेतना की घनीभूत दीप्ति है : तु. 'अस्ति देवा अंहोर् उर्व् अस्ति रत्नं अनागसः, आदित्या अद्भुतैनसः' हे देवगण! हे आदित्यगण! जो निरञ्जन या कल्मषशून्य है, जिसके भीतर पाप की सम्भावना नहीं, उसके लिए है क्लिष्टता से वैपुल्य; है रत्न (८।६७।७)। यहाँ क्लिष्टचेतना से वैपुल्य में मुक्ति का उल्लेख प्राप्त होता है, जो ब्रह्मसद्भाव का लक्षण है; हम उसी निर्मलता से ही रत्न का आविर्भाव देखते हैं। और 'मणि' मूल्यवान् पत्थर है, उसका आकार या उत्पत्ति स्थान पृथिवी है। इसलिए वह पार्थिव चेतना के प्रतीक के रूप में असुरभोग्य है (तु. १।३३।८ वहाँ असुरों को 'हिरण्येन मणिना शुम्भ मानाः' कहा गया है; किन्तु इन्द्र सूर्य की ज्योति से झलमल; लक्षणीय, तन्त्र की ब्रह्मग्रन्थि 'मणिपुर' जो लौकिक सुख का आकार है)। हमने पहले ही देखा है कि द्युस्थानीय देवता ही विशेष रूप से अविश्द्वय से

लेकर भग तक सभी रत्नधा हैं। इसके अलावा उनमें सविता रत्नधा रूप में विशिष्ट हैं उनके आविर्भाव से पृथिवी की आठों दिशाएँ, तीन मरुप्रान्तर और सप्तसिन्धु जगनगाने लगते हैं (१।३५।८) फिर 'रत्न' चेतना में देवता का आवेश (देवभक्तम. ४।१।१०) है, आकाश की ज्योति का आवेश (द्युभक्तम ४।१।१८; 'भक्त' < √भज् ।। भञ्ज 'तोड़कर प्रवेश करना, आविष्ट होना' – भौलिक अर्थ में; भौलिक अर्थ में; अतएव 'भक्त' देवाविष्ट; द्र. 'भग')। 'रत्न' कहीं – दीप्ति 'द्युम्न' ७।२५।३, 'वसु' १।४१।६, ३।२।११, १०।११।८; 'रोचना' ८।९३।२६ (Geldner के मत से अग्नि की उक्ति) कहीं आनन्द ('मयः' ७।८१।३), कहीं अग्निस्त्रोत ('द्रविण' १।९४।१४, ४।५।१२)। एक जगह (१०।३५।७) रत्न को रत्नधा सविता का 'श्रेष्ठ वरेण्य भाग' बतलाया जा रहा है; यहाँ 'वरेण्य भर्ग' की ध्वनि सुस्पष्ट (३।६२।१०) है। रत्न के ये सभी विशेषण लक्षणीयः रत्न सुवीर्य (७।१६।१२), वीरवत् (७।६५।८), अतएव गोजित् एवं अश्वजित् (९।५९।१; तु. अश्वावत्.... वीरवत् ७।७५।८) रण्यजित् (आनन्द के जेता वही), प्रजावत् (सन्तान अथवा जिसकी अविच्छिन्न अनुवृत्ति है ३।८।६, ८।५९।१), अमृक्त (सुगोल सुपुष्ट ७।३७।२)। इस रत्न को प्राप्त करने के लिए सोए रहने से काम नहीं चलेगा (तु. १।५३।) क्योंकि द्युलोक-भूलोक के स्वधा की आड़ में वह छिपा है। ९।८६।१० इस लिए उसके लिए जाग्रत चित्त की तपस्या चाहिए (तु. ३।२६।३, २८।५)। रत्न उसी के लिए तो 'विधत्' अथवा लक्ष्य तक पहुँचने के लिए आग्रही तु. ४।२।१३, १२।३, ३४।४, ४४।४, ६।६५।३, ७।१६।१२, ७५।६। रत्न प्राप्ति होती है प्रेम द्वारा अग्नि की परिचर्या करने से (सपर्यामि प्रयसा यामि रत्नम् १।५८।७ = ३।५४।३)। हमारे 'धीर' पितरों ने सोम के मार्गदर्शन में देवताओं के मध्य जाकर रत्न प्राप्त किया था (तु. 'तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवषु रत्नम् अभजन्त धीराः' १।९१।१)। सोम जब यजमान की धी को परिष्कृत कर निर्मल करते हैं, तब उनकी इच्छा से ही उसके आवेशविह्वल हृदय में रत्न का आविर्भाव होता है (विप्राय रत्नम् इच्छति यदी मर्मृज्यते धियः ९।४७।४, तु. धी 'वाजरत्ना' अथवा वज्रदीप्ति से दीपित, प्रकाशित (६।३५।१, ९।४७।४; 'धी' की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती, उनके साज रत्नधा हैं : 'यस ते स्तनः शशयो यः मयोभुर् येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि, यो रत्नधा वसुविद् यह

जब अपनी प्रथम रत्नच्छटा आकाश में बिखेर देती हैं, तब अग्नि प्रसन्न मन से उनकी ओर ताकते हैं[3] : यही दीप्ति सुकर्मा के आधार में उन्हें भी प्रस्फुटित करनी होगी। उसके बाद हिरण्याक्ष सवितृ आते हैं; उनकी दृष्टि में पृथिवी के आठ दिगन्त, योजन व्यापी तीन आन्तर और सप्तसिन्धु छा जाते हैं तथा जिसने दिया है, उसके भीतर निहित करते हैं रत्नराजि।[4] तब अमृतों वा अमरों में नित्य जाग्रत वैश्वानर भी समिद्ध होकर उसके भीतर निहित करते हैं रत्न की दीप्ति[5] बाहर का आकाश और भीतर का आकाश उसमें एक हो जाता है। उनके शरीर में जो शुभ्र है, शुचि है उससे ही वे हम सब के भीतर रत्नच्छटा

सुदत्रः सरस्वति तम् इह धातवे कः' – तुम्हारे छलकते स्तन, जो आनन्दमय हैं जिनके द्वारा पुष्ट करती हो समस्त वरेण्य सम्पद, जो निहित करते हैं रत्न, और प्राप्त करते हैं ज्योति, जो अपनी इच्छानुसार उड़ेल देते हैं हे सरस्वती, यहाँ उन्हें बढ़ा दो, खोल दो पान करने के लिए १।१६४।४९)। रत्न प्राप्ति का अन्तिम परिणाम है 'देवताति' (तु. १।१४१।१०, द्र. टी. १३३८ (७)) एवं 'सर्वताति' (तु. १०।७४।३, द्र. टी १३३९ (१))।.... रत्न की निरुक्ति सुनिश्चित नहीं। निघ. में 'रत्न' धन (२।१०), यास्क के अनुसार 'रमणीय' होने से रत्न < √रम्, नि. ७।१५।) Gelnder अर्थ करते हैं 'जयलब्ध सम्पद' (SIEGESPRIES) अथवा 'दक्षिणा' (Belohnung) किसी का कहना है कि दानार्थक् √रा से रत्न, कोई तुलना करते हैं, IE. rent, rnt, Irish ret 'thing' के साथ। किन्तु < √ऋ? तु. AV. 'रतू'।

३. ऋ. प्रत्य् अग्निर् उषसाम् अग्रम् अख्यद् विभातीनां सुमना रत्नधेयम् ४।१३।१ अगले दो चरणों में अश्विद्वय एवं सूर्य का उल्लेख है, वे भी रत्नधा हैं।

४. तु. 'अष्टौ व्य् अख्यत् ककुभः पृथिव्यास् त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून्, हिरण्याक्षः सविता देव आगाद् दधद् रत्ना दाशुषे वार्याणि' १।३५।८। सविता के प्रभास या ज्योति से आकाश की मौक्तिक शोभा के नीचे पृथिवी का सुन्दर चित्र। वही शोभा या छटा उसके भीतर उतर आती है, जो स्वयं को सौंप दे सकता है उनके निकट।

५. तु. ३।२६।३

प्रस्फुटित करते हैं, अँधेरे को पराजित करके।[६] अद्भुत है उनकी स्फुरत्ता, ऊर्जस्विता; तीन 'पवित्र' द्वारा पवित्र करते हैं वे गगन की शिखा को – हृदय के प्रज्ञान द्वारा ज्योति के अनुगामी मनन को जानकर; निरन्तर निर्झरित रत्नदीप्ति की सृष्टि करते हैं अपनी स्वप्रतिष्ठा की शक्ति द्वारा, उसके बाद ही अपनी दृष्टि प्रसारित कर देते हैं द्यावा पृथिवी के ऊपर।[७] इस प्रकार प्रत्येक आधार में सात रत्न निहित करते है वे चेतना की सात भूमियों पर।[८] तब अध्वर की साधना भी रत्नदीप होकर अमृतों के बीच नित्य जाग्रत रहकर देवता के सान्निध्य में पहुँचती है। उसी में उसकी श्लाघ्य सार्थकता है।[९]

ऋक् संहिता के प्रथम मण्डल के प्रथम मन्त्र के आधार पर अग्नि के दिव्य कर्म की अथवा यज्ञ-सम्बन्धी एक सङ्क्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत की गई। साथ-साथ उनके रूप, गुण और कर्म के विवेचन की भूमिका में यहाँ उनका साधारण परिचय भी समाप्त हुआ। उसके बाद हमारा आलोच्य है अग्नि के जन्म का रहस्य।

---

६. तु. यत् ते शुक्रं तन्वो रोचते शुचि तेना. स्मभ्यं वनसे रत्नम् आ त्वम् १।१४०।११ (√वन् 'छीन कर ले आना' तु. win!)

७. त्रिभिः पवित्रैर् अपुपोद्ध्य् अर्कं हृदा मतिं ज्योतिर् अनुर् प्रजानन्, वर्षिष्ठं रत्नम् अकृत स्वधाभिर् आद् इद् द्यावा पृथिवी पर्य् अपश्यत् ३।२६।८।

८. 'पवित्र' जिसके द्वारा पूत या शुद्ध किया जाए, पावक, शुद्धि का साधन। वे अग्नि के ही तीन रूप हैं - पृथिवी में अग्नि, अन्तरिक्षं में विद्युत् अथवा वायु एवं द्युलोक में सूर्य। उनके आवेश से देह अग्निष्वात्त होगी, प्राण विद्युन्मय होगा और मन ज्योतिर्मय। ज्योति लक्ष्य है, वहाँ पहुँचने का साधन है मन, हृदय एवं प्रज्ञान की वृत्ति। 'वर्षिष्ठ रत्न' के साथ तु. पतञ्जलि का 'धर्ममेघ'। सिद्धि का अन्तिम परिणाम वैश्वानर का सर्व साक्षित्व। दमेदमे सप्तरत्ना दधानः ५।१।५; तु. ६।७४।१ (सोम-रुद्र); शौनक संहिता ७।२९।१ (अग्नि-विष्णु; यह सर्व देवता का प्रत्याहार ऐब्रा. १।१। फिर इक्कीस रत्न ऋ. १।२०।७। तु. बौद्ध 'त्रिरत्न'।)

९. अथा देवेष्व् अध्वरं विपन्यया धा रत्नवन्तम् अमृतेषु जागृविम् ३।२८।५।

२. जन्म रहस्य

देवता स्वरूपतः अजर एवं अमृत हैं, किन्तु उनका जन्म है – इस वैदिक भावना का वैशिष्ट्य प्रणिधान योग्य है। वस्तुतः देवता नित्य हैं, सनातन हैं, उनका जन्म भी नहीं, मरण भी नहीं। किन्तु मुझ में गुहाहित रहकर भी अर्थात् अन्तर्यामी रूप में प्रच्छन्न रहने के बावजूद साधना के फलस्वरूप वे जब मेरे भीतर 'आविर्भूत' होते हैं, तब वही उनका 'जनिम' अथवा जन्म[१३६५] है। यह आविर्भाव, यह

१३६५. तु. श्रेष्ठ पुरुष की उक्ति : 'नित्य सिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता' रूपगोस्वामी, 'भक्तिरसामृतसिन्धुः' १।२।२। ऋक् संहिता में सोम के जन्म के सम्बन्ध में ऋषि का कथन: 'सं दक्षेण मनसा जायते कविर् ऋतस्य गर्भो निहितो यमा परः, यूना ह सन्ता प्रथमं वि जज्ञतुर् गुहा हितं जनिम नेमम् उद्यतम्–'(यजमान के) दक्ष मन के साथ उत्पन्न होते हैं (ये) कवि (जो) ऋत के भ्रूण रूप में निहित थे युगल के उस पार; ये दोनों युवा आविर्भूत होते ही पहले (उन्हें) विशेष रूप से जान पाए हैं; गुहाहित है (उनका) आधा ही प्रकटित ('दक्ष मन' सङ्कल्प में समर्थ, इसलिए देवदर्शन उसके लिए सहज होता है, तु. प्र. ४।५। 'ऋत' विश्व का आदि विधान या विश्व के मूल में सत्य का सुश्रृङ्खल शाश्वत विधान (तु. ऋ. १०।१९०।१, 'धर्म' ९०।१६), सोम अथवा अमृत चेतना वहाँ गुहाहित; सृष्टि के मूल में आन्नद। 'यम' अश्वियुगल (तु. २।३९।३, ३।३९।३) उन्होंने ही पहले आथर्वण दध्यङ् ऋषि से मधुविद्या अथवा सोमरहस्य प्राप्त किया था (द्र. १।११६।१२, ११७।२२; तु. बृ. २।५।१५-१९); वे ही 'दो युवा' अन्तरिक्ष के उस पार द्युस्थानीय देवताओं में प्रथम, दिव्य चेतना का आदिम उन्मेषु। सोम्य आनन्द का आधा ढँका रहता है लोकोत्तर में और आधा यहाँ छलक पड़ता है (तु. १।८४।१५ द्र. टी. १२४८) ९।६८।५। तु. मुण्डकोपनिषद् का वही महत् पद जो 'गुहाचर' होकर ही 'आविः' २।२।१। और भी तुलनीय, ऋ. 'दश क्षिपः (अङ्गुलि) पूर्व्यं सीम् (उनको) अजीजनन्' (जन्म दिया) ३।२३।३। वामदेवः 'गर्भे नु सन्न अन्व् एषाम् अवेदम्....अहं जनिमानि विश्वा' अर्थात् मातृगर्भ में रहते हुए ही उनकी दिव्य चेतना का उन्मेष हुआ था (४।२७।१), इसलिए तन्त्र की

विद्युत् की तरह क्षणस्थायी भी हो,[१] तब भी वह उनके नित्यस्वरूप को ही मेरे अनुभव में प्रत्यक्ष करता है। इसलिए वेद के देवता 'जात', किन्तु अमृत हैं, अमर हैं।[२]

अग्नि के जन्म को आधियाज्ञिक, आधिलौकिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक इन चार दृष्टियों से देखा जा सकता है। प्रत्यक्षत: अग्नि यज्ञ के साधन हैं, इसलिए उनके आधियाज्ञिक जन्म की कथा पर ही पहले प्रकाश डालना उचित है।

यज्ञ अरणिमन्थन द्वारा अग्नि का जन्म प्रत्यक्ष है। इस मन्थन की चर्चा पहले ही की गई है।[१३६६] उनका यह जन्म प्रतिदिन[१] भीतर-बाहर दिन का उजाला फूटने के पहले, उषा और रात्रि के रहस्यलोक में,

---

भाषा में वे 'योगिनीभू'; द्र. गी. ४।५, ऐउ. २।४।५। यह उन्मेष ही देवजन्म है। 'जनिम्' <√'जनी प्रादुर्भावे'।

१. तु. के. ४।४, ऋ. १।१४६।२९ द्र. टी. ११८७।

२. तु. वेदान्त का सिद्धान्त: अविद्या का आदि नहीं, किन्तु नाश है; उसी तरह विद्या का आदि है, किन्तु नाश नहीं। निश्चित रूप से यह तथाकथित 'आदित्व' हमारी प्रत्यभिज्ञा मात्र है।

१३६६. द्र. टी. १३४८, १३४९ और मूल। लक्षणीय, अधियज्ञ दृष्टि से मन्थन द्वारा अग्नि का जन्म वर्णित हुआ है ऋ. ३।२९ सूक्त में; उसकी ही रहस्यपूर्ण विवृति हम ३।१ सूक्त में पाते हैं। और ये दोनों सूक्त तृतीय मण्डल के आग्नेय उपमण्डल के अन्त एवं आदि में हैं। अर्थात् पहले भावना, उसके बाद उसका आश्रय लेकर कर्म (द्र. ११४४ और मूल)।

१. तु. दिवेदिवे जायमानस्य दस्म (हे तिमिरनाशन) २।९।५, दिवेदिवे ईड्यो जागृवद्भि: ३।२९।२, 'तम् अर्वन्तं न सानसिम् अरुषं न दिव: शिशुम्, मर्मृज्यन्ते दिवेदिवे' – वे (इष्टार्थ छीन कर ले आए अश्व जैसे, द्युलोक के अरुण, शिशु जैसे (तु. सोम का वर्णन ९।३३।५, ३८।५) उनका वे मार्जन करते हैं प्रतिदिन ४।१५।६। और भी तु. एता ते अग्ने जनिमा सनानि (चिरन्तन), प्र पूर्व्याय नूतनानि वोचम् ३।१।२० : अग्नि का जन्म जिस प्रकार प्राक्तन और चिरन्तन है उसी प्रकार नित्य नूतन है, हालाँकि वे सब के प्राग्भावी हैं अर्थात् उनका अस्तित्व पहले से है।

देवकाम की दृष्टि में आदित्य ज्योति की प्रत्याशा जगाकर होता है।[२] इस आधियाज्ञिक जन्म में उत्तरारणि एवं अधरारणि उनके पिता और माता हैं, उनके भीतर वे गर्भिणियों के गर्भ में सुनिहित भ्रूण की तरह निहित हैं।[३] दो अरणियों से जन्म लेने के कारण उनका एक नाम 'द्विमाता' है।[४] किन्तु याद रखना होगा कि अरणिमन्थन द्वारा अग्नि के

---

२. तु. अग्निम् अच्छा (ओर) देवयतां मनांसि चक्षूंषीव सूर्ये सं चरन्ति, यद् (जब) ईं (इन्हें) सुवाते उषसा (उषा एवं नक्तया रात्रि) विरूपे (क्योंकि एक उजली एक काली)श्वेतो वाजी जायते अग्ने आह्नाम् ५।१।४। सूर्य ज्योति में अग्निज्योति के परिणमन की ध्वनि सुस्पष्ट है : आत्मचैतन्य ही विश्व चैतन्य में विस्फारित होता है। उषा जिस अग्नि को जन्म देती है, वे मित्र है; और नक्ता अथवा रात्रि जिस अग्नि को जन्म देती है, वे वरुण हैं। वरुण की अव्यक्त ज्योति से ही फिर पूर्वाह्न में मित्र की व्यक्त ज्योति के रूप में उनका आविर्भाव श्वेत अश्व की तरह होता है (तु. ५।३।१; द्र. टी. १३५० और मूल)। उपनिषद् की भाषा में एक सम्भूति की चेतना है और एक असम्भूति की। दोनों का सहचार लक्षणीय (तु. १०।१२९।४; ई. १४;)।

३. ३।२९।२; द्र. टी. १३२२ (१), १३५८ (२)। ल. अनेक गर्भिणियों को एक भ्रूण: तु. एकं गर्भं दधिरे सप्तवाणी: सप्तवाणी: ३।१।६ द्र. टी. १२३३। उत्तरारणि पिता और अधरारणि माता– इसे 'उत्ताना' कहते हैं तु. ३।२९।३, २।१०।३, उत स्म यं शिशुं यथा नवं जनिष्टारणी ५।९।३।

४. तु. द्विमाता शयु: (शयान) कतिधा चिद् (कितने प्रकार से ही) आयवे (जीव के लिए, यजमान के लिए; आयु मनु की तरह ही हम सब के पूर्वपुरुष,– आयु प्राण, मनु मन तु. ८।१५।५; इसके अलावा आयु देवता, विशेष रूप से अग्नि तु. ५।४१।२, द्र. टी. १३०६ (१); अग्नि प्रत्येक आधार में ही प्राण के मूल में हैं तु. जन्मन् जन्मन् निहितो जातवेदा: ३।१।२०, २१), १।११२।४, ३।५५।६, ७; और भी तु. १।१४०।३, ५।११।३ (द्र. टी. १३२९ (१)), शेषे (सोया है) वनेषु (काठ में, ईंधन में, कामना में)– मात्रो: सं त्वा मर्तास इन्धते ८।६०।१५ (सभी काठों में ही अग्नि है, तब भी अभीप्सा रूपी अग्नि का जन्म अरणि से ही होता है तु. श्वे. १।१४), १०।७९।४, ११५।१....। और भी तु. 'द्विजन्मा' (द्र. टी. १३४२), १।१४९।४, ५। अरणि मन्थन करना होता है दोनों हाथ से– दस

जन्म देने का कार्य केवल कायसाध्य नहीं, वास्तव में ध्यान साध्य भी है।[५]

इसके अतिरिक्त अरणि एक टुकड़ा 'वन' या काठ है, अतएव अग्नि का और एक नाम 'वने-जा:' है।[१३६७] एक जगह अधरारणि को 'वना' कहा गया है – 'सुभगा' अथवा चिदविष्टा होकर वह 'विरूप' अग्नि को जन्म देती है।[१] काठ में आग है, वह अरणि मन्थन से जल उठती है एवं समिध् का आश्रय लेकर बढ़ती जाती है; इसलिए वन के साथ अग्नि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। किन्तु 'वन' शब्द वस्तुत: श्लिष्ट है, उसमें कामना की ध्वनि है। अग्नि जब छोटी-छोटी कामनाओं का वन जलाकर छारखार करते हैं, तब वे 'वनेषाट'[२]; फिर

उँगलियों से; अतएव वे भी अग्नि की माता है : द्र. १।९५।२, ३।२३।३, २९।१३, ४।६।८...। वे आपस में बहने हैं (स्वसार:)।

५. तु. अग्निं नरो दीधितिभिर् (ध्यानाभ्यास द्वारा) अरण्योर् हस्तच्युती (हाथ चलाकर) जनयन्त प्रशस्तम् दूरे दृशं गृहपतिम् (तु. ई. ५) अथर्युम् (संचरमाण; अग्नि और एक संज्ञा; तु. 'अथर्वा' अवेस्ता. अथर् > आतश् 'आग'; नि. 'अतनवन्तम्' <√ अत् 'चलना', तु. 'अतिथि' ५।१०) ७।१।१, ३।२६।१ (द्र. टी. १३१३ (२))।

१३६७. तु. ऋ. ६।३।३, १०।७९।७; ५।१।५। और भी तु. गुहाहितं...शिश्रियाणं वनेवने ५।११।६ (द्र. टी. १३४८ (६)), १०।९१।२।

१. वना जजान सुभगा विरूपम् ३।१।१३। **वनम्** – गाछ, वृक्ष, वन, काठ; वना भी वही, स्त्रीलिङ्ग में एक मात्र प्रयोग – अधरारणि का बोध कराने के लिए। क्लीब लिङ्ग में 'वनस्' ऋक्संहिता में एकमात्र असमस्त प्रयोग, 'आ याहि (उषा:) वनसा सह' १०।१७२।१, अर्थ 'प्रीति' अथवा 'रति'। <√ वन् 'चाहना' खोजना सङ्ग्रह करना, छीन लेना' तु. **Lat.** venus 'Love' < wen 'to wish', **OS. OHG.** winnan 'to strive after'. 'विरूपम्' नानाविधरूपम् (सायण) अथवा 'अन्यरूप' जड़ काठ चिन्मय अग्नि में रूपान्तरित।

२. 'अधासु मन्द्रो अरतिर् विभावा अवस्यति द्विवर्तनिर् वनेषाट्' – उसके बाद इनके भीतर ('विक्षु' प्रवर्त साधकों के भीतर अनुमेय) आनन्द मत्त (प्राण–) चञ्चल ज्योतिर्मय (देवता) सन्निविष्ट होते हैं 'वन' को अभिभूत, करके; तब उनके दो आवर्तन अथवा गतिपथ १०।६१।२० पहले के ऋक्

उनको अभीप्सा में रूपान्तरित करके जब ऊर्ध्वशिख करते हैं, तब वे 'वनस्पति:' कहलाते हैं।[३] कामना के जीर्ण न होने, से, उसका रस न मरने से आधार में आग नहीं जलती; किन्तु उसके बाद ही अजर, अमृत जीव रूप में देवता का आविर्भाव होता है।[४] तपश्चर्या की भावना इसी से आई है एवं इसीलिए वेद में अग्नि विशेष रूप से तपोदेवता हैं।[५]

अग्नि के इसी अधियज्ञ जन्म से उनके अधिलोक जन्म की भावना आती है। यज्ञ विश्वभुवन की नाभि अथवा प्राणकेन्द्र है, यज्ञ की वेदी पृथिवी का परम अन्त है, सीमा है,[१३६८] और उत्तर वेदि में ही देवता अग्नि का प्रत्यक्ष पार्थिव जन्म होता है। एक स्थान पर बतलाया जा रहा है कि अग्नि ने पहले द्युलोक से जन्म लिया, उसके बाद हम सब से जातवेदो रूप में उनका द्वितीय जन्म हुआ।[१] तभी वे हम सब के 'सहस: सूनु:' उत्साहस के परिणाम कहलाए, जो पथ की सारी

में अग्नि का कथन है, 'मैं ही सब हुआ हूँ।' प्रत्येक आधार में जड़ता को पराजित करके उनका चिन्मय आविर्भाव। एक ऊर्ध्व में द्युलोक की ओर और एक चारों ओर दावानल रूप में– तब वे 'कृष्णयाम' (६।६।१) अथवा 'कृष्णवर्तनि' (८।२३।१९)

३. वनस्पति आप्री सूक्त के विशिष्ट देवता हैं, विवरण आगे चलकर द्र.

४. तु. ३।२३।१ (द्र. टी. १३१४ (३)), 'आद इत् ते विश्वे, क्रतुं जुषन्त, शुष्काद् यद् देव, जीवो जनिष्ठा :' – इसी से वे सभी (पितृगण) तुम्हारे सामर्थ्य से सुतृप्त हुए, जब शुष्क (इन्धन) से हे देवता! तुम जीवित रूप में जन्मे १।६८।३।

५. तु. यो न: सनुत्यो (दूर से) अभिदासद (छारखार या राख कर देता है) अग्ने, यो अन्तरो (निकट से) मित्रमहो (हे मित्र ज्योति) वनुष्यात् (सर्वनाश करके हमारा) तम् अजरेभिर् वृषभिस् तव स्वै: (दहन द्वारा) तपा तपिष्ठ तपसा तपस्वान ६।५।४ (द्र. टी. १३११ (४) और मूल)।

१३६८. ऋ. इयं वेदि: परो अन्त: पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभि: १।१६४।३५। तु. आध्यात्मिक दृष्टि से समस्त जीवन ही यज्ञ है (छा. ३।१६, १७), एवं हृदय ही वेदि (वेदी) है (छा. ५।१८।२)।

१. तु. १०।४५।१, द्र. टी. २३०।

बाधाओं को दूर करता है; वे हमारे 'ऊर्जो नपात्' अथवा अन्तर्मुखता की उस सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं जो हमारी चेतना को मोड़ देता है।[२]

किन्तु दिव्य-भावना में आधियाज्ञिक दृष्टि जब विस्फारित होती है, तब हम देखते हैं कि अग्नि केवल इन दो अरणियों में निबद्ध नहीं, बल्कि वे 'शिश्रियाणो वने-वने' अर्थात् प्रत्येक 'वन' का आश्रय ग्रहण करते हुए गुहाहित हैं।[१३६९] अन्तर्यामी रूप में प्रच्छन्न हैं। अपनी पार्थिव चेतना की प्रत्येक निगूढ़ रहस्यमय कामना को निर्मशित करके एक 'महत् सहः' रूप में अग्नि को हम जीवन में जन्म दे सकते हैं। उस समय वे जिस प्रकार 'शतवल्श' (शतशाख) वनस्पति होकर इस पृथिवी को फोड़कर अङ्कुरित होते हैं, विकसित होते हैं उसी प्रकार हम सब भी 'सहस्रवल्श' होकर अङ्कुरित, विकसित हो उठते हैं।[१]

और भी गहरी दृष्टि होने पर देखते हैं अग्नि का पार्थिव जन्म केवल 'वन' से नहीं बल्कि 'ओषधि' से भी[१३७०] होता है। वन शुष्क

---

२. 'सहसः सूनुः' द्र. टी. १३७३; (५) तु. सहस्पुत्रः ३।१४।१ (६), १८।४, ५।३।१, 'सहसो युवन्' १।१४१।१० 'सहसो यहो' १।२६।१०। ऊर्जो नपात् २।६।२, ३।२७।१२, ६।१६।२५, ४८।२, १०।२०।१०, ऊर्जः पुत्रः १।९६।३। अग्निमन्थन की अध्यात्म व्यञ्जना द्र. टी. १३४८ (४) और मूल।

१३६९. तु. ऋ. ५।११।६, द्र. टी. १३४८ (६)।

१. तु. वनस्पते शतवल्शो वि रोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम ३।८।११। यह सूक्त यूप से सम्बन्धित हैं **यूप** जिस प्रकार वनस्पति है, उसी प्रकार अग्नि भी वनस्पति है। आध्यात्मिक दृष्टि से यजमान अथवा साधक ही यूप है, ऐब्रा. २।३, तैब्रा. ३।९।५।२ शब्रा. ३।७।१।११। इसके अलावा प्राणाग्नि की शिखा आदित्य में सङ्गत होती है, अतएव यूप आदित्य है, ऐब्रा. ५।२८, तैब्रा. २।१।५।२; 'वैष्णवो हि यूपः' शब्रा. ३।६।४।१। यूप, वज्र भी है, ऐब्रा. २।१, ३, शब्रा. २।६।४।१९। तु. हठयोग का 'सुषुम्ण काण्ड' जिसके भीतर से होकर संहृत प्राण अग्नि रूप ऊर्ध्वस्रोता होता है।

१३७०. तु. ऋ. अपां गर्भं दर्शतम् (दर्शनीय, दृश्यमान) ओषधीनाम् ३।१।१३ (१।१६४।५२), स जातो गर्भो असि रोदस्योर् अग्ने चारुर् विभृत् ओषधीषु (अध्यात्म दृष्टि से भूलोक मूलाधार, द्युलोक सहस्रार, और सोमराज्ञी ओषधी 'सुषुम्ण काण्ड' है जिसके भीतर से होकर अग्नि का सञ्चरण

हो, तभी उसे आग पकड़ती है;[१] किन्तु ओषधि रसयुक्त होने से ही अग्नि की माता है, उसी प्रकार वनस्पति भी अग्नि स्वरूप है – यह भावना लक्षणीय है। ओषधि अग्निगर्भा है, वह उसके नाम से प्रकट होता है,[२] किन्तु रहस्य की दृष्टि से वह रसचेतना का प्रतीक है।

होता है तु. उपनिषद् की हिता नाड़ी) १०।१।२, तम् ओषधीर् दधिरे गर्भम् ऋत्वियं (समयोचित, आधार में समय पूरा होने पर अभीप्सा जागती है), तम् आपो अग्निं जनयन्त मातरः, तम् इत् समानं (तुल्यरूप में) वनिनश् (सारेवृक्ष) च वीरुधो अन्तर्वतीश् (गर्भिणी) च सुवते च विश्वहा (सब समय) ९१।६।

१. १।६८।३, ४।४।४, ६।१८।१०; शोचञ्छुष्कासु हरिणीषु जर्भुरत् ('शुष्कास्वोषधीषु ज्वलन् हरितवर्णासु आर्द्रास्वोषधीषु कुटिलं गच्छन्'–सायण) १०।९२।१।

२. **ओषधि** < ओष (उषा की ज्योति अथवा अग्निदीप्ति) <√ उष्(दहन करना, जलाना)।। √ वस् (उजाला देना+धि <√ धा (निहित करना, सा. ६।४९।१४); नि. में <√ धे (पान करना) ९।२७। सामान्यतः उद्भिद की संज्ञा। यज्ञ के साथ उसका मुख्य सम्बन्ध अरणि अथवा समिध् रूप में, यूपरूप में, एवं सोमलता के रूप में है। हमने देखा कि अरणि अग्निमाता, यूप वनस्पति अग्नि और सोम आनन्द चेतना है। आधियाज्ञिक, दृष्टि से साधना के प्रारम्भ में अग्निसमिन्धन, उसके बाद पशुबन्धन और पश्वालम्भन एवं सबसे अन्त में सोमपान से अमृतत्व प्राप्ति। ओषधि सम्बन्धी इन तीनों प्रक्रियाओं में अध्यात्म-साधना का एक क्रमिक विकास दिखाई पड़ता है। आध्यात्मिक दृष्टि से अरणिमन्थन में अभीप्सा की आग जलती है, उसके बाद यूप में बँधे पशु के संज्ञपन में प्राणजय एवं अन्त में सोम के सवन में एवं पान में दिव्य आनन्द-प्राप्ति। जड़ में प्राण चेतना का प्रथम उन्मेष ओषधि में : चेतना वहाँ सम्मूढ़ एवं आच्छन्न, मनु की भाषा में 'अन्तः संज्ञा'। यह तामस चेतना पशु में राजस एवं मनुष्य में सात्विक अर्थात् आत्मस चेतन है (द्र. टी. १२५० (१)) साधन की दृष्टि से देह के साथ ओषधि की एक समानता है : अन्तर्योग में यह देह ही अरणि अथवा वनस्पति एवं अन्त में सोमलता है। ओषधि का चरम उत्कर्ष सोमलता के रूप में। तब ओषधि नाड़ी का प्रतीक है। ऋक् संहिता के ओषधि सूक्त में (१०।९७) ओषधियाँ 'सोमराज्ञी' अर्थात् सोम

पार्शिव सोम ओषधियों में श्रेष्ठ ओषधि 'सोमराज्ञी' है।[३] अतएव ओषधि में अग्नि और सोम अर्थात् तपोवीर्य अथवा तेज और आनन्द दोनों तत्त्वों का सङ्गम हुआ है। आध्यात्मिक अनुभव में वनस्पति अग्नि जिस प्रकार नाड़ी तन्त्र में सञ्चरणशील द्रविणोदा है[४] उसी प्रकार ओषधियाँ भी प्रत्येक नाड़ी में विद्युन्मय सोम्य आनन्दधारा का वाहन

उनके राजा हैं (१८, १९)। किन्तु ओषधिरूपी प्राणचेतना के मूल में बृहत् की चेतना कार्य करती है, इसलिए ओषधियाँ विशेष रूप से 'बृहस्पति प्रसूता' हैं – 'अंहः' अथवा क्लिष्टचेतना से वे हमें छुटकारा दिलाती हैं, हमारे भीतर देववीर्य निहित करके (१५, १९)। इसके अतिरिक्त अन्य एक दृष्टि से ओषधियों का प्रतिभू या प्रतिनिधि 'अश्वत्थ' (५) है। ऊर्ध्व मूल अवाक्शाख अश्वत्थ प्राचीन काल से ही मनुष्य देह का विशेष रूप से नाड़ी जाल का प्रतीक है : वह ब्रह्मवृक्ष एवं संसारवृक्ष भी है (तु. सोम = अश्वत्थं १।१३५।८ सायण)।.... और भी तु. अग्नि का 'वर्चः' अथवा तेज ओषधि में निहित (३।२२।२) है, सारी औषधियों में वे 'आविष्ट' (१।९८।२ हैं, 'बहुधा प्रविष्ट' (१०।५१।३) हैं, 'अद्रोघो न द्रविता चेतति त्मन् अमर्त्यो अवर्त्र ओषधीषु' – द्रोहहीन होकर दौड़ते रहते हैं वे आत्म सचेतन रूप में ओषधियों के भीतर अमर्त्य एवं अवारण अनिवार्य (६।१२।३ : प्रत्येक नाड़ी में अग्नि का स्वच्छन्द अमृत प्रवाह; 'द्रविता' में 'द्रविणोदा' अग्नि की ध्वनि लक्षणीय) 'ग्ना वसान ओषधीर् अमृध्रस् त्रिधातुशृङ्गो वृषभो वयोधाः' – पत्नी रूप में उन्हें जकड़े हुए हैं ओषधियाँ, जिनकी अवज्ञा सम्भव नहीं, किसी भी तरह, त्रिधाशृङ्ग वीर्यवर्षी जो तारुण्य के आधाता हैं (५।४३।१३ : ओषधियाँ उनकी शक्ति हैं, वस्त्र की तरह उनसे लिपटी हैं, और वे वीर्यधान करते जा रहे हैं उनके भीतर तीन स्तर पर; 'त्रिधातु शृङ्गः' त्रिप्रकार शृङ्गवदुन्नत लोहित शुक्ल कृष्णवर्णज्वालः (सायण)।

३. तु. १०।९७।७, १८, १९, २२; ९।११।३, ५९।२ (सोम का बहना); ओषधियाँ सोम का धाम है १।९१।४ (इन्द्र ओर अग्नि का भी अधिष्ठान १।१०८।११, अतएव ऋक संहिता के तीन प्रधान देवता ही नाड़ी सञ्चारी हैं; तु. तन्त्र की सुषुम्णा, वज्राणी और चित्राणी)। सोम ओषधि १०।८५।३।

४. द्र. 'द्रविणोदाः' आगे चलकर।

है।[५] इस दृष्टि से वैदिक भावना में ओषधि और वनस्पति का सहचार[६] विशेष अर्थपूर्ण है। दोनों मिलकर अग्नि-सोम रूपी देव युग्म के प्रतीक; अथच तपः शक्ति के रूप में अग्नि दोनों में अनुस्यूत है। ओषधि का समानार्थवाची एक और शब्द 'वीरुध' है[७] : अग्नि को कहीं-कहीं 'वीरुधां गर्भः' एवं सोम को 'वीरुधां पतिः' बतलाया गया है।[८] ओषधि-वनस्पति से अग्नि के जन्म प्रसङ्ग में अप से अग्नि के जन्म की बात अपने आप आ जाती है, क्योंकि अप् इनकी जीवनी शक्ति है; किन्तु उस प्रसङ्ग में आगे चलकर बात करेंगे।[९]

उसके बाद हम देखते हैं कि पार्थिव अग्नि का जन्म 'अश्म' अथवा 'अद्रि' से होता है।[१३७१] प्रत्यक्ष रूप से जान पड़ेगा जैसे यह चक़मक़ पर चोट करने का कार्य है।[१] किन्तु इस रूप में अग्निजनन तो यज्ञीय विधि नहीं। वस्तुतः 'अश्म' संज्ञा के साथ 'वल का

---

५. तु. ९।८४।३ (द्र. टी. १२५६ (३))।

६. १।१६६।५, २।१।१, ३।३४।१०, ५।४१।८, ४२।१६, ७।३४।२३, ८।२७।२, १०।६५।११...।

७. और भी तु. ऋ. इमां खनाम्य् ओषधिं वीरुधम् १०।१४५।१; फिर ९७।३, २१।

८. तु. २।१।१४, वि यो वीरुत्सु रोधन् महित्वो १।६७।१० (ऊर्ध्व सञ्चार की ध्वनि लक्षणीय), १०।९१।६, ७९।३; सोम ९।११४।२।

९. तु. पर्जन्य द्वारा ओषधि में गर्भाधान ५।८३।१। 'ओष' रूप में अग्नि ही यह गर्भ है। इसी से ओषधि और अप् का सहचार ३।५५।२२, ५।४१।११, ७।३४।२३, २५, ५६।२५, ८।५९।२, १०।५८।७। तु. अप्स्व् अग्ने सधिष (निवास) टव सौषधीर् अनुरुध्यसे (साथ साथ धारा के विरुद्ध चलो) ८।४३।९।

१३७१. तु. ऋ. त्वम् अश्मनस् परि...जायसे शुचिः २।१।१, यो (इन्द्रः) अश्मनोर् अन्तर् अग्निर् जजान २।१२।३; अद्रि में १।७०।४, यम् आपो अद्रयो वना गर्भम् ऋतस्य पिप्रति (ऋत के बीज रूप में पुष्ट करता है) ६।४८।५ (द्र. टी. १३४८ (६)), अद्रेः सूनुम् आयुम् आहुः (पाषाण से उत्पन्न प्राण रूप में, द्र. टी. १३२९ (१)), १०।२०।७।

१. तु. तैत्तिरीय संहिता सायण भाष्य 'त्वम् अश्मनस् परि' पाषाणस्यो परि पाषाणान्तर सङ्घट्टनेन जायसे ४।१।२।५।

गो-निगूहन' अर्थात् आवरणकारी शक्ति द्वारा अन्तर्ज्योति के चारों ओर पत्थर की दुर्भेद्य प्राचीर रचने का प्रसङ्ग जुड़ा हुआ है।[२] इसी अन्तर्ज्योति को कहीं 'गो' अथवा कहीं 'अग्नि' बतलाया गया है।[३] इन्द्र जब दो अश्म से अग्नि उत्पन्न करते हैं, तब वज्ररूपी अश्म[४] द्वारा अचिति के अश्म पर चोट करते हैं, एवं उसी से चिदग्नि उज्जवलित, प्रज्वलित हो उठता है। इस प्रकार वे 'गो' अथवा ज्योति की धारा को भी अश्म के आवरण से मुक्त करते हैं।[५] बृहस्पति अपने वज्रनाद अथवा मन्त्रवीर्य द्वारा भी वही करते हैं।[६] उनका अनुसरण करते हुए ऋतम्भर ऋषिगण भी वही करते हैं।[७] इसके अतिरिक्त जब अग्नि को 'अद्रिपुत्र' कहा जाता है,[८] तब उसका भी वही तात्पर्य है। लेकिन 'अश्म' एवं 'अद्रि' पर्यायवाची शब्द हैं, फिर भी अद्रि में विशेष रूप से सोम कूटने के पत्थर के अर्थ की भी यहाँ ध्वनि है। अग्निमन्थन

---

२. वल का आख्यान ऋ. १०।६८।५-९; तु. ६७।३-८, पणि-सरमा संवाद १०।१०८ सूक्त .....।

३. तु. यस्य (सोमस्य) 'गा' अन्तर् अश्मनो मदे दृलहा अवासृजः (इन्द्र) ६।४३।३; बाहुभ्यां धमितं ('मन्थनोत्पादितम्' सायण) 'अग्निम्' अश्मनि २।२४।७; अन्यत्र गुहानिहित दिव्य निधिः अविन्दद् दिवो निहितं गुहा निधि वेर् (पक्षी का) न गर्भं परिवीतम् अश्मन्य् अनन्ते अन्तर् अश्मनि १।१३०।३, तु. २।२४।६।

४. तु. २।१४।६, 'अश्म' वज्र, उसी से शम्बर का पुरभेदन।

५. ६।४३।३।

६. तु. बृहस्पतिर् उद्धरन्न् अश्मनो गाः .... वि त्वचं (वलस्य) बिभेद (उससे आधार 'सूर्यत्वच्' हुआ, तु. अपालाम् इन त्रिष्पूत्व्य् अकृणोः सूर्यत्वचम् ८।९१।७) १०।६८।४, ८; और भी तु. ६७।३५, ९....।

७. २।२४।७। सोम भी वही करते हैं : य उस्रिया (आलोक दीप्त) अप्या (अर्थात् प्राणोच्छल) अन्तर् 'अश्मनो निर् गा अकृन्तत् (तोड़कर लाए) ओजसा ९।१०८।६ ('अश्मनो मेघनामै तत्' सायण; मेघ भी आवरणकारी शक्ति तु. नि. २।१६)।

८. ऋ. १०।२०।७; तु. 'अद्रिजा' ४।४०।५, सूर्य में अग्निधर्म का उपचार; ६।७८।५, अद्रौ चिद् अस्मा (इनको आहुति दो) अन्तर् दुरोणे (आधार में) १।७०।४।

अथवा सोमसवन दोनों का ही अर्थ है शक्ति और आनन्द को अचित्ति की पकड़ से मुक्त करना।

तो फिर पार्थिव अग्नि का जन्म वन, ओषधि एवं पाषाण से निश्चय ही प्रत्यक्षतः एवं राहस्यिक अर्थ में भी होता है। वे पृथिवीस्थानीयदेवता हैं, इसलिए पृथिवी के जिस स्थान पर प्राण और चेतना के रूप में तपः शक्ति का आविर्भाव होता है, वहाँ ही वे हैं; सङ्क्षेप में वे 'पृथिवी की नाभि' हैं।[१३७२] इसके अतिरिक्त वे पृथिवी के पुत्र भी हैं।[१] किन्तु पृथिवी यदि उनकी माता है, तो द्युलोक उनका पिता है। अग्नि द्यावा-पृथिवी के पुत्र हैं, इसका उल्लेख अनेक स्थानों पर है।[२] अग्नि का प्रत्यक्ष आश्रय पृथिवी है, इसके बावजूद स्वरूपतः वे द्युलोक के शिशु हैं,[३] उनका जन्म परमव्योम[४] में होता है और मातरिश्वा द्युलोक से ही उनको मनुष्य के बीच ले आए हैं;[५] अर्थात् हमारे भीतर जो अभीप्सा की शिखा उन्मुख होती है, वह दिव्य चेतना के ही आवेश अथवा शक्ति से उन्मुख होती है।[६]

१३७२. तु. शौ. ये अग्नये अप्स्व् ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु, य आवि वेशोषधीर् यो वनस्पतीन् ... यः सोमे अन्तर् यो गोष्व् अन्तर् य आविष्टौ वयः सु यो मृगेषु, य आविवेश द्विपदो यश् चतुष्पदः ... ३।२१।१-२, १२।१।१९, यो नो अग्निः पितरो हृतस्व् अन्तर् आविवेशा मृतो मर्त्येषु २।३३; ऋ. १।७०।३, १०।४५।६, ३।२७।९; १।५९।२ (टी. १३४८ (१))।

१. तु. तं ... गर्भं भूमिश् च...बिभर्ति ७।४।५; और भी तु. अस्मद् द्वितीयं परि जातवेदोः (१०।४५।१: .... यह द्वितीय जन्म देवयोनि में – उत्तरवेदि में अथवा अरणि में)।

२. तु. १।५९।४, ३।१।७, २।२, ३।११, ७।७।३, १०।१।२, २।७, १४०।२ ...., द्युलोक-भुलोक के 'उपस्थ' में १।४६।१ ६।७।५, ७।६।६ .... ; अतएव द्विजन्मा' १।१४९।४, ५, २।९।३ .....।

३. तु. ४।१५।६, ३।२५।१, १०।४५।१, ८ असुरस्य जठरात् ३।२९।१४।

४. तु. १।१४१।४; १४३।२ ६।८।२, ८।११।७।

५. तु. १।९३।६, ६।८।४, १०।४६।९।

६. तु. श्रद्धा के आवेश से नचिकेता के भीतर अभीप्सा का जागरण, क. १।१।२।

द्युलोक में जिस प्रकार अग्नि का प्रथम जन्म, फिर हम सब के भीतर द्वितीय जन्म होता है, उसी प्रकार उनका तृतीय जन्म 'अप्' में होता है[१३७३] इसलिए वे 'अपां गर्भः' हैं[१] एवं इसी कारण उनकी एक विशिष्ट संज्ञा 'अपांनपात्' हुईं।[२] पृथिवी में जल बहकर नदी की धारा

१३७३. ऋ. दिवस् परि प्रथमं जज्ञ अग्निर् अस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः, तृतीयम् अप्सु नृमणा .... अजस्रम् इन्धान एनं जरते स्वाधीः' – सब से पहले अग्नि द्युलोक से जन्मे, दूसरी बार हम सब से (जन्मे) जातवेदा; तीसरी बार अप् के भीतर नर के मन के साथ; अविराम समिद्ध रखकर स्वच्छन्द ध्यानी इसकी स्तुति गाते हैं १०।४५।१। द्युलोक में अग्नि का जन्म सूर्यरूप में (सायण), भूलोक में उत्तरवेदि में जातवेदो रूप में और अन्तरिक्ष में वैद्युत् 'अपां नपात्' रूप में (द्र. २।३५ सूक्त)। लगता है, द्युलोक और भूलोक हमारे अस्तित्व के सुमेरु और कुमेरु हैं; उसके मध्य अन्तरिक्षचारी विद्युत की दीप्ति या कौंध – नाड़ी चक्र में (लक्षणीय अपानपात् 'नाद्य अथवा नदीजात २।३५।१) अथवा हृद्य समुद्र में (तु. ३; 'ऊर्व' समुद्र)। **नृमणाः** ('नृम्ण' निघ. 'वल' २।९ 'धन' २।१०) < नृ (।। नर <√ नृत्, तु. 'नरा मनुष्या नृत्यन्ति कर्मसु' अर्थात् कर्म जिनके लिए नृत्य जैसा है, निरुक्त. ५।१)+ मनस्। 'नृ' भाववचन में पौरुष, ओजस्विता (तु. निघ. 'मनुष्य' २।३; 'अश्व' १।१४, द्र. ऋ. १०।७३।१०)। विशेषु रूप से वृत्र का वध अन्तरिक्ष लोक में ही; इसलिए अग्नि वहाँ 'नृमणाः'।

१. १।७०।३; तु. ३।१।१२, १३, ७।९।६, २।१।१, ५।८५।२; १०।८।१।

२. द्र. २।३५ सूक्त; व्याख्या आगे चल कर। ऋक् संहिता में उनका वर्णनः 'स शिवतानस् तन्यतू रोचनस्था अजरेभिर् नानदद्भिर् यविष्ठः'– (विद्युत में) चमचमाते वज्र हैं वे, ज्योतिलोक में स्थित हैं– जरा हीन (शिखाओं के) निनाद में तरुणतम ६।६।२; ज्योतिर्लोक में स्थित हैं – जरा हीन स्तनयन् (प्रतिध्वनित करके) इव द्यौः क्षामा (पृथिवी) रेरिहद् वीरुधः समञ्जन् (लिप्त करके, भिगोकर) १०।४५।४ (उसके बाद ही 'आभा' का वर्णन); तैब्रा, वैश्वानरो यदि वा वैद्युतो असि ३।१०। ५।१। और भी तु. क. पञ्चाग्नि में 'नेमा विद्युतो भान्ति' २।२।१५। अन्तरिक्ष में ही अग्नि स्वरूपतः 'अब्जाः' पृथिवी में उसका ही उपचार या साधर्म्य नदी में एवं सिन्धु में। नदी में : तु. ऋ. 'यो अग्निः सप्तमानुषः' (आधि याज्ञिक दृष्टि

में जाकर समुद्र में गिरता है, किन्तु नदी के जल का उत्स अन्तरिक्ष में पर्जन्य के मूसलधार वर्षण में है। वहाँ हम अग्नि को विद्युत् रूप में देख पाते हैं।[३] अतएव अन्तरिक्ष में यह अग्नि का तृतीय जन्म है; जिसमें विश्व प्राण मरुद्गण का ज्योतिर्मय आवेश है।[४] वृष्टि और वायु के आधार के रूप में अन्तरिक्ष प्राण लोक है। वह प्राण अग्निगर्भ है, रेतोधा पर्जन्य उसको ओषधि में निषिक्त करते हैं।[५] ओषधि का 'रस' या सार पुरुष अथवा मनुष्य है, क्योंकि उसके शरीर-प्राण-मन जो भी कहें, सब ओषधि के परिणाम हैं।[६] इस रूप में अप् अग्नि, ओषधि एवं प्राण अन्योन्यसम्पृक्त हैं। अतएव अग्नि का पार्थिव जन्म जिस प्रकार अभीप्सा की शिखा के रूप में और दिव्य जन्म परम चेतना के रूप में होता है; उसी प्रकार उनका यह तृतीय जन्म भुवन सञ्जीवन अन्तरिक्षचर महाप्राण के रूप में हुआ।

द्युलोक, भूलोक एवं अन्तरिक्ष इन तीन लोकों में अग्नि के तीन जन्म का उल्लेख ऋक्संहिता में नाना रूप में है।[१३७४] वे विश्वभुवन में

से सात होता, आध्यात्मिक दृष्टि से सात शीर्षण्य प्राण) श्रितो विश्वेषु सिन्धुषु। तु. २।३५।१

३. तम् आगन्म त्रिपस्त्यं (त्रिस्रोता अथवा 'त्रिषधस्थ') मन्धातुर् (समाधिमान पुरुष के) दस्युहन्तमम् ८।३९।८। समुद्र में : त्रीणि जाना (जन्म) परिभूषन्त्य् (यजमान को घेरे है) अस्य समुद्र एकं दिव्य् एकम् अप्सु १।९५।३, समुद्रे त्वा नृमणा (यजमान) अप्स्व् अन्तर् नृचक्षा (देववत् सर्वसाक्षी द्र. टी. १४५० (४)) ईधे दिवो अग्न ऊधन (थन में, ज्योतिःक्षर) १०।४५।३; तु. समुद्रवाससम् ८।१०२।४ (लक्षणीय 'और्वभृगुवत्' वही; पुराण में समुद्र की अग्नि 'और्व' तु. ऋ. २।३५।३)।

४. तु. तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसम् अपाम् उपस्थे महिषा (ज्योतिर्मय मरुद्गण) अवर्धन् १०।४५।३।

५. तु. ५।८३।१, ४, ५, ६, ७, ७।१०१, ६, १०२।२।

६. तु. छा. एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसो अपाम् ओषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग् (<अग्नि) रसः १।१।२; और भी तु. ६।५।१।

१३७४. तु. ऋ. उत त्रिमाता विदथेषु सम्राट् ३।५६।५ (तु. द्विमाता होता विदथेषु सम्राट् ५५।७; तीन माता 'ऋतावरीर् योषणास् तिस्रो अप्याः त्रिर् आ दिवो

व्याप्त त्रिधास्थित अर्चि हैं, [1]दीप्ति हैं– द्युलोक में सूर्य रूप में, अन्तरिक्ष में वायुरूप में एवं पृथिवी में अग्नि रूप में स्थित हैं। उस कारण वे 'त्रिषधस्थ' अर्थात् विश्व भुवन के चित्केन्द्र[2] में अवस्थित हैं। इसी केन्द्र से वे सर्वत्र विच्छुरित एवं अनुप्रविष्ट हैं इसलिए वे पुन: 'भुवनस्य गर्भ:' अर्थात् विश्वभुवन के अन्तर्यामी चिद् बिन्दु हैं।[3]

विदथे पत्यमाना:' – ऋतम्भरा तीन अब्जा नारी दिन में तीन बार अर्थात् तीन सोमसवन में जो विदथ की ईश्वरी होती हैं ५६।५, सायण के मतानुसार इला, सरस्वती भारती जो पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक की अन्तर्यामिनी हैं), १०।८८।१० (द्र. टी. १२९० (१)), १।९५।३, १०।४५।१, त्रिर् अस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा (हमारे स्पृहणीय) देवस्य जनिमान्य् अग्ने: ४।१।७, १०।२।७ (त्वष्टा पिता और त्रिलोकी माता; इसलिए अग्नि सर्वव्यापी; तु. ४६।९ तु. शौ. १२।१।२०।

१. द्र. टी. १२९० (१)। अग्नि वायु-सूर्य, तीन लोक में तीन ज्योति, द्र. ऋ. शम् अग्निर् अग्निभि: करच् छं नस् तपतु सूर्य:, शं वातो वात्व् अरपा (चुपचाप) अप (दूर करके) स्त्रिध: अरिष्ट, अमंगल सब) ८।१८।९, १०।१५८।१, १।१६४।४४ (अग्नि-वायु-सूर्य तीनों ही 'केशी' अर्थात् रश्मिविशिष्ट; किन्तु 'ध्राजिर् एकस्य ददृशे न रूपम्' अर्थात् एक में वेग है, किन्तु उनका रूप नहीं दिखाई पड़ता; तु. 'घोषा इद् अस्य शृण्विरे न रूपम्' १०।१६८।४, यद्यपि अन्यत्र वायु 'दर्शत' १।२।१, तु. अपश्य गोपाम् १६४।३१)।

२. द्र. ३।२०।२, ५।४।८, ११।२, ६।८।७, १२।२; 'त्रिपस्त्य' ८।३९।८। अधियज्ञ दृष्टि से तीन अग्निवेदि, अध्यात्म दृष्टि से तीन 'आवसथ'।

३. तु. विश्वस्य केतुर् (चिद्विन्दु, चिल्लेखा) भुवनस्य गर्भ आ रोदसी अपृणाज् जायमान: (उनके आविर्भाव मात्र से चेतना का विश्वमय विस्फारण, फैलाव), वीलुं. (अचल) चिद् अद्रिम् अभिनत् परायञ् (व्याप्त होते हुए) जना यद् अग्निम् अयजन्त पञ्च १०।४५।६। **पञ्चजना:** वेद में यह एक बहुप्रयुक्त पदगुच्छ है, ऋक् संहिता के प्रत्येक मण्डल में उल्लिखित। ऐ ब्रा. की दृष्टि में, देव, मनुष्य, 'गन्धर्वाप्सूरसे:' सर्प एवं पितृगण अर्थात् ति र्यक् योनि अथवा मानवेतर प्राणी जाति, मनुष्य और तीन ऊर्ध्वजन (तु. तैउ. आनन्द मीमांसा २।८) २।३। यास्क बतलाते हैं– 'गन्धर्वा: पितरो देवा असुरा रक्षांसि इत्येके, चत्वारो वर्णा निषाद: पञ्चम

इसके अतिरिक्त रहस्यवेत्ता की दृष्टि में वे ही सब कुछ होने के[4] कारण एक साथ पिता-माता-पुत्र अर्थात् स्वयम्भू विश्वसम्भूति हैं।[5]

इत्यौपमन्यव: (नि॰ ३।८)। निघण्टु में मनुष्य नाम के अन्तर्गत 'पञ्चजना:' प्राप्त होता है (२।३) Roth और GELDNER के विचार से 'मनुष्य जाति' – चारों ओर अनार्य, मर्ध्य में आर्य। Zimmer का कहना है – अनु, द्रुह्य, यदु, तुर्वश और पुरु यही पाँच आर्य जाति हैं, (१।१०८।८; ७।१८ सूक्त द्रष्टव्य, किन्तु वहाँ अनेक जातियों का उल्लेख है)। ऋक् संहिता में हम देखते हैं कि तीन प्रधान देवता 'पाञ्चजन्य' हैं (अग्नि ९।६६।२०, इन्द्र ५।६२।११, सोम 'ये वा जनेषु पञ्चसु' ९।६५।२३)। इसके अलावा देखते हैं पञ्चजन सरस्वती के तट पर (सरस्वती 'त्रिषधस्था सप्तधातु: पञ्चजाता वर्धयन्ती' ६।६१।१२); अत्रि ऋषि पाञ्चजन्य (१।११७।३)। इससे यूरोपीय पण्डितों का कहना है कि पञ्चजन तो विश्वजन हो सकता नहीं। किन्तु ठीक इन्हीं कारणों से ही पञ्चजन से जीवमात्र का बोध होता है क्योंकि अग्नि, इन्द्र, सोम और चित्राणी नाड़ी सबके भीतर ही हैं, सभी उत्तरायण के पथिक हैं, अतएव 'अत्रि' (<√ अत्) तु. अग्नि 'अतिथि') यह भावना आर्य-भावप्रवण के मन में सहज में ही आएगी। ऐतरेय ब्राह्मण द्वारा तिर्यक् योनि अथवा मनुष्येतर प्राणियों को भी पञ्चजन के अन्तर्गत स्वीकार करके विश्वभूत में व्यापक दृष्टि का परिचय दिया गया है। जान पड़ता है 'पञ्च जना:' एक वैदिक वाग्-भङ्गिमा है, जैसे हमारे 'पाँच जन' = सभी (तु. 'पञ्चायत' जो इस देश का अति प्राचीन प्रतिष्ठान है; इतिहास में श्रीकृष्ण का 'पाञ्चजन्य' अर्थात् उसका ब्रह्मघोष सब के लिए है तु. गीता ९।३२, ३३ क्योंकि वे 'विशांगोपा:' हैं)। जैउब्रा. में अधिदैवत दृष्टि से बतलाया जा रहा है– 'ये देवा असुरेभ्य: पूर्वे पञ्चजन्य आसन्, य एवा. सावा दित्ये पुरुषो पुरुषो यश् चन्द्रमसि यो विद्युति यो अप्सु यो इयम् अक्षन् अन्तर् एष एव ते, तद् एषा (= अदिति: ऋ. १।८९।१०) एव' १।४१।७। रूपान्तर: 'पञ्चमानुषा:' कृष्टय: क्षितय: चर्षण्य: जातानि, मानवा:'।

४. द्र. ऋ. १०।६१।१९ (टी. १३१७ (५))।

५. तु. 'धिया चक्रे वरेण्यो भूतानां गर्भम् आ दधे, दक्षस्य पितरं तना' – ध्यान चेतना में (ये) वरेण्य समिद्ध हुए, भूतसमूह के बीज को उन्होंने आहित किया (अपने भीतर: अग्नि स्वयं भूतबीज १०।४५।६, १।७०।३; फिर वे

उनके जन्म के रहस्य के चरम बिन्दु का स्पर्श करते हुए बार्हस्पत्य भरद्वाज कहते हैं : माँ के गर्भ में वे पिता के पिता हैं, बिजली की तरह अक्षर परम व्योम में कौंधते रहते हैं– जब आ-सन्न या आगतप्राय रूप में ऋत की योनि में अवस्थित होते हैं।[६]

ही सब कुछ में गर्भ के आधाता है ३।२।१०; यह सब कुछ अदिति १।८९।१०, एवं अग्नि भी अदिति द्र. टी. १३१७ (४); अतएव अग्नि एक ही साथ पिता, माता एवं पुत्र अदिति की ही तरह) (आहित किया) दक्ष के पिता को (भूतबीजरूपी स्वयं को : दक्ष एक जन आदित्य ऋ. २।२७।१ एवं देवगण के पिता ६।५०।२, ८।६३।१०) अतएव अग्नि के भी पिता; किन्तु परमदेवता के रूप में अग्नि दक्ष के भी पिता हैं) निरन्तर (**तना** <√ तन्, विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय, द्र. १।३।४ 'नित्यम्' सायण भाष्य; अन्तोदात्त 'तनया' १०।९३।१२; सायण द्वारा अन्वय एवं व्याख्या-'पितरं अग्निं दक्षस्य तना तनया वेदिरूपा धारयति) ३।२७।९।

६. तु. गर्भे मातुः पितुष् पिता विदिद्युतानो अक्षरे, सीदन् ऋतस्य योनिम् आ ६।१६।३५। अग्नि की माता पृथिवी ३।२९।१४ (सायण), ५।१।३, अथवा अदिति १०।५।७ द्र. टी. १३१७, १३१६ (६)। उनके पिता अव्यक्त 'असुर' ३।२९।१४ द्यौ, २५।१, त्वष्टा (विश्वरूप) १।९५।२, ५, ३।७।४.... , अथवा दक्ष २७।१०। वे पिता के भी पिता ३।२७।९) जब वे परमव्योम में सदसत् के उस पार १०।५।७। उनका विद्योतन तु. के. ४।४। **ऋतस्य योनिः** निघ. में– **'उदक'** १।१२; तु. सलिलानि ऋ. १।१६४।४१, अम्भः .... गहनं गभीरम् १०।१२९।१, तम् आसीत् तमसा गूल् हम अग्रे अप्रकेतं सलिलं सर्वम् आ इदम् ३....। ऐउ. में द्युलोक, अन्तरिक्ष एवं मर्त्यलोक के चारों ओर 'अम्भः' (कुहासे की तरह) एवं आपः (लबालब छलक रहे हैं) १।२।२। पुराण में कारणसलिल प्रसिद्ध। वही 'ऋत' की अथवा शाश्वत विश्वविधान की 'योनि' अथवा उत्स है। स्मरणीय 'योनि का मौलिक अर्थ है। गर्भवेष्टनी (नि. २।८)। अग्नि 'प्रथमजा ऋतस्य' ऋ. १०।५।७, ६१।१९। सोम भी 'सीदन्न् ऋतस्य योनिम् आ' ९।३२।४, ६४।११। पदगुच्छ का प्रयोग सोम के लिए भी बहुत ज़्यादा किया गया है। इसके अलावा विश्व के मूल में है एक 'अभीद्धंतपः' (१०।१९०।१), जिससे ऋत एवं सत्य का जन्म होता है। अतएव वह विश्वादि अग्नि भी 'ऋतस्य योनिः'।

इसके बाद अधिदैवत दृष्टि के अग्नि का जन्म। 'द्यौः'– आलोक दीप्त आकाश जिसका प्रतीक है– वह विश्व का आदिपिता है,[१३७५] क्योंकि उसके सब कुछ के मूल में एक अनिबाध व्याप्ति चैतन्य की ज्योतिर्मय प्रेषणा है। अन्यान्य देवताओं की तरह अग्नि भी इसी द्यौः के 'सुनू' अथवा 'शिशु' है[१] अतः उनका प्रथम जन्म द्युलोक में अथवा परमव्योम में होता है; अर्थात हमारी ज्योतिरभीप्सा उस परम ज्योति का ही प्रसाद है। इसके अलावा विश्व सृष्टि की दृष्टि से विश्वकर्मा आदि पिता को 'त्वष्टा विश्वरूपः' कहा जाता है– जिस प्रकार बढ़ई काठ को काट-छाँट कर सुडौल बनाता है, उसी प्रकार वे स्वयं को ही विश्व के रूप में 'तक्षण' करते हैं; गढ़ते हैं।[२] अग्नि त्वष्टा के भी पुत्र हैं; क्योंकि अपादशीर्षा गुहाहित[३] अग्नि को मातरिश्वा एवं देवतागण तक्षण करके ही मनुष्य के भीतर जन्म देते हैं।[४] मनुष्य का जो अग्निमन्थन है, वही देवताओं का है एवं उसके

१३७५. तु. ऋ. द्यौः .... नः पिता १।९०।७, द्यौर् मे पिता जनिता नाभिर् अत्र १६४।३३, द्यौष् पिता जनिता ४।१।१०। द्र. द्यौः।

१. ३।२५।१, ४।१५।६, ६।४९।२। तु. यो अस्य परे रजसः शुक्रो अग्निर् अजायत १०।१८७।५।

२. ३।५५।१९, १०।८१।४; तु. १।१६४।४१। द्र. आप्री देवगण 'त्वष्टा'।

३. तु. ४।१।११। द्र. टी. १३०७ (४)।

४. तु. ऋ. द्यावा यम् अग्निं पृथिवी जनिष्टाम् आपस् भृगवो यं सहोभिः (उत्साहस के वीर्य से), ईलेन्यं (जिन्हें जगाना पड़ता है) प्रथमं (क्योंकि यज्ञ अथवा उत्सर्ग की भावना के आदि में वे ही हैं) मातरिश्वा देवास् ततक्षुर् (तक्षण किया, काटा-छाँटा, तराशा) मनवे यजत्रम् (यजनीय का) १०।४६।९। अव्यक्त अग्नि को वस्तुतः देवशिल्पी त्वष्टा ही तक्षण द्वारा व्यक्त करते हैं। देवतागण उनके निमित्त मात्र हैं एवं त्रिलोक उस तक्षण का आधार है; अर्थात् अग्नि परमपुरुष की सिसृक्षा से आविर्भूत एक सर्वव्यापी चिन्मय वीर्य है। इस अग्नि को विश्वप्राण मातरिश्वा मनुष्य के भीतर निवेशित करते हैं। अग्नि इस अग्नि को विश्वप्राण मातरिश्वा मनुष्य के भीतर निवेशित करते हैं। अग्निऋषि भृगु उनकी प्रत्यक्षता उपलब्ध करते हैं। तु. १०।२।७; त्वष्टुर् गर्भः १।९५।२ त्वष्टुर् .... जायमानः ५, त्वाष्ट्र ३।७।४।

मूल में सविता के रूप में त्वष्टा की प्रेरणा है।[५] फिर आदिमाता अदिति से उनका जन्म परमव्योम में होता है,[६] वे अदिति के नटखट पुत्र हैं।[७] एक जगह हम पाते हैं कि दिव्य धेनु पृश्नि उनकी माता हैं– जो विश्वप्राण का लोकोत्तर अमृत निर्झर हैं।[८] ये सभी अग्नि के दिव्य जन्म हैं, जिसकी आध्यात्मिक व्यञ्जना कुछ इस प्रकार है : हम सब की अभीप्सा की शिखा अथवा तपस्या की आग जल उठती है उसी परम चैतन्य या परमा शक्ति अथवा परम प्राण की प्रेषणा से।

दक्ष सात आदित्यों में एक आदित्य हैं।[१३७६] वे देवगण के पिता हैं,[१] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति हैं।[२] दिव्य सिसृक्षा उनका

---

५. त्वष्टा सिसृक्षा की भूमिका में 'सविता'; क्योंकि उनका तक्षण सविता की तरह अँधेरे से उजाले को पहली झलक दिखलाना एवं उसके बाद उसे विश्व रूप में विभात करना है। (तु. ३।५५।१९ (१०।१०।५)।

६. द्र. १०।५।७ टी. १२७१ (१), १३१६।

७. १०।११।१।

८. २।२।७

१३७६. तु. ऋ. शृणोतु मित्रोअर्यमाभगो नस् तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः २।२७।१। सात आदित्यों के नाम: वरुण, मित्र, अर्यमा भग, अंश, दक्ष एवं तुविजात (इन्द्र; द्र. टीमू. १२५७ (४))। इस मन्त्र में यास्क की व्याख्या दो स्थानों पर दो प्रकार। एक जगह उनका मन्तव्य है 'एवम् अन्यासाम् अपि देवतानाम् आदित्य प्रवादाः स्तुतयो भवन्ति, तद् यथैतन् मित्रस्य वरुणास्या यम्णो दक्षस्य भगस्यांशस्येति (२।१३।)। यहाँ स्पष्टतः यही मन्त्र उनका लक्ष्य है, किन्तु आदित्यों की सङ्ख्या छः है। अन्यत्र इसी मन्त्र की व्याख्या में वे बतलाते हैं– 'मित्रश् चार्यमा च भगश् च, तुविजातश् च धाता, दक्षो वरुणो अंशश् च (१२।३६)। **धाता** उनकी दृष्टि में एक मध्यस्थान देवता हैं (११।१०)। इन्द्र भी वही हैं। ऋक् संहिता में 'धाता' संज्ञा प्रायशः सामान्यवाची है (तु. ७।३५।३, १०।१९०।३, १८।५, धाता धातृणां भुवनस्य यस् पतिर् देवं त्रातारम् अभिनातिषाहम् १२८।७ (सा. इन्द्र. सविता वा; का पाठ है 'देवः सविता' ५।३।९; किन्तु ऋ. संहिता में इसी 'धाता' का इन्द्र होना ही सम्भव, क्योंकि वे ही वहाँ सुत्रामा हैं ६।४७।१२, १३ = १०।१३१।६, ७), अन्यान्य देवताओं के साथ १५८।३, १८१।१, ३, ८५।४७, १८४।१, ९।९७।३८ (तु. तैब्रा. १।७।२।१))। किन्तु ऋ. संहिता में

स्वरूप है।[३] अतएव हम सब की वेदी अथवा आधार में वे आदि देवता के दिव्य सङ्कल्प के प्रतिरूप या प्रतिबिम्ब हैं।[४] वह सङ्कल्प

'धाता' विशेष रूप से विश्वकर्मा (१०।८२।२) एवं इन्द्र (१६७।३) हैं। गृत्समद की प्रसिद्ध इन्द्रप्रशस्ति में इन्द्र विश्वकर्मा के आसन पर स्थापित हैं (२।१२ सूक्त)। वहाँ उनको एक स्थान पर 'तुविष्मान' बतलाया गया है (१२)। फिर, उनके इस आदित्य सूक्त में हम देखते हैं कि समस्त सूक्त में विशेष रूप से बार-बार वरुण, मित्र, अर्यमा और 'इन्द्र' का नाम लिया जाता है (२७) और प्रसङ्गतः अदिति का भी। इन सब का विवेचन करने पर मन्त्र का तुविजात आदित्य ही इन्द्र हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता।

१. देवतागण 'दक्षपितरः' ६।५०।२, ८।६३।१०।

२. श. २।४।४।२; उनके द्वारा प्रवर्तित यज्ञ 'दाक्षायण यज्ञ'।

३. **दक्ष** निघ. में 'वल' २।९ (तु. 'दक्षिण' **GK.** dexiás 'on the right, Propitious, skilful' < deks-< dek-'to seem good, be suitable') मूल अर्थ सामर्थ्य से सङ्कल्प 'शक्ति' : तु. ऋ. 'न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर् विभीदको अचित्तिः, अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश् चनेद् अनृतस्य प्रयोता' – वह तो अपनी इच्छा नहीं है वरुण, वह है द्रोहबुद्धि (तु. ७।६०।९; सा. 'नियति') सुरा, मन का प्रक्षोभ, बहेड़े से निर्मित (पासे की गोटी) अथवा अविवेक; बड़े (अर्थात् प्रबलतर प्रवृत्ति) छोटे के पास ही है; निद्रा भी शायद अनृत का उत्स है ७।८६।६ (तु. गी. ३।३६-३७), १।७६।१; 'उद्दीपना' : 'अलर्ति (सक्रिय होता है) दक्ष उत मन्युर् इन्दो' ८।४८।८, 'पवमान रसस् तव दक्षो वि राजति द्युमान्' ९।६१।१८ ....; 'सृष्टि सामर्थ्य; नैपुण्य' : दक्षस्य चिन् महिना मृलता नः ७।६०।१०, दक्षं दधाते अपसम् १।२।९। देवतागण विशेष रूप से मित्र और वरुण 'पूतदक्ष' (तु. सत्य सङ्कल्प) १।२३।४, ५।६६।४, ८।२३।३०, २५।१, ६।५१।९, १०।९२।४...। सृष्टि के मूल में परम देवता का यह दक्ष ही 'आदित्य दक्ष'। परम रूप में वे प्रजापति हैं, परम व्योम उनका धाम है, अदिति से उनका जन्म हुआ है १।८९।३; १०। ६४।५, ५।७, ७२।४। अवम रूप में 'अग्नि'; मर्त्य के अध्वर में कविक्रतु रूप में आविर्भूत (३।१४।७); उस समय आध्यात्मिक दृष्टि से 'अदितिर् ह्य् अजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव, तां देवा अन्व् अजायन्त' (दक्ष से उनकी दुहिता अदिति का जन्म, उनके

मनुष्य के नचिकेता हृदय में विद्या की अभीप्सा के रूप में उद्दीप्त हो उठता है।[५] अग्नि के इस जन्म के मूल में इन्द्र एवं विष्णु के भी वृत्रनाशन वीर्य का संवेग है। वे दोनों ही अभीप्सा को चरम लक्ष्य तक ले जाते हैं।[६]

इसके अलावा अग्नि 'उषर्भुत: हैं अर्थात् उषा की ज्योति में, श्रद्धा के आवेश एवं प्रातिभ संवित् के उन्मेष में जाग्रत होते हैं। इसलिए उषा भी अग्नि की जननी हैं : 'हम प्रतिदिन उनको देखते हैं आँखों के सामने झिलमिलाकर ज्योति बिखेरते, अग्नि, यज्ञ और सूर्य को जन्म देते; और देखते हैं निरानन्द अँधेरे को विपरीत दिशा में विलीन होते'।[१३७७] प्रत्यूषमुखी यह अग्नि जिस प्रकार 'दिवो दुहिता' उषा के पुत्र हैं, उसी प्रकार फिर यज्ञानुकाशिनी मनुकन्या इल़ा के भी पुत्र हैं जो 'इल़ायास्पद' में अथवा उत्तरवेदि में[१] अथवा अपने ही किसी परिचित 'वयुन' अथवा नाड़ी में जल उठते हैं।[२] द्युलोक के आवेश में तब भूलोक की अभीप्सा ध्वनित होती है। सङ्क्षेप में, यद्यपि दृश्यत: यज्ञवेदी

बाद देवगण का जन्म १०।७२।५; ४)। यही दाक्षायणी पुराण में 'सती' अर्थात् दक्ष की कनिष्ठा कन्या, नक्षत्र चक्र के बाहर अर्थात् विश्वोत्तीर्णा, शिव में नित्येसङ्गता कन्याकुमारिका (द्र. वेदमीमांसा टी. १०६५)।

४. ३।२७।९; द्र. टी. मूल १३७४ (५)।

५. तु. क. १।२।४; इस दृष्टि से भी अग्नि हम सब के दक्ष अथवा अभीप्सा के तनय हैं।

६. वे दास और असुरों का विनाश करते हैं 'उरुं यज्ञाय चक्रथुर् उ लोकं जनयन्ता सूर्यम् उषासम् अग्निम्' ऋ. ७।९९।४, ५; द्र. टीमू. ११७६)।

१३७७. तु. ऋ. एता उ त्या: प्रत्य अदृश्रन् पुरस्ताज् ज्योतिर् यच्छन्तीर् उषसो विभाती:, अजीजनन् सूर्यं यज्ञम् अग्निम् अपाचीनं तमो अगाद् अजुष्टम् ७।७८।३। यह अन्धकार दुरित अथवा दुश्चरित (तु. क. १।२।२४): द्र. ऋ. उषा याति ज्योतिषा बाधमाना विश्वा तमांसि दुरिताप देवी ७।७८।२। तीन उषा अग्नि को तीन जननी द्र. टी. १३१५ (४); तु. १०।९२।२।

१. 'इला' द्र. टी. मूल १३४९ (३)।

२. तु. इला यास् पुत्रो वयुने अजनिष्ट ३।२९।३। अग्नि 'विश्वानि वयुनानि विद्वान् १।१८९।१ ('वयुन' पथ, अग्निप्रवाहिनी नाड़ी, नदी के साथ उपमित, द्र. टी. १३४९ (३)।

में अराणिमन्थन से अग्नि का आविर्भाव होता है, किन्तु वस्तुत: उनको देवगण ही जन्म देते हैं।[३]

इसके अलावा उनके अधिदैवत जन्म का परम रहस्य यह है कि वे देवताओं के पुत्र होकर भी उनके पिता हैं।[१३७८] अर्थात् देवताओं के आवेश से हम सब के भीतर मन को प्रेरित करके अग्नि का आविर्भाव प्रज्वल चक्षु के रूप में होता है।[१] उसके बाद वह मनरूपी दिव्य चक्षु ही[२] देवताओं को यजमान की चेतना में प्रकट करता है।

फिर अध्यात्म दृष्टि से अग्नि का जन्म अधियज्ञ भावना के साथ ओत-प्रोत रूप में है, क्योंकि यज्ञ वस्तुत: एक राहस्यिक अनुष्ठान है, जिसका लक्ष्य आत्म चेतना से विश्व चेतना में व्याप्ति लोक से लोकान्तर में उत्तरण और यजमान के हिरण्य शरीर का निर्माण है।[१३७९] अग्नि यज्ञ के साधन है। वे जिस प्रकार बाहर हैं, उसी प्रकार हमारे भीतर भी तप: एवं ज्योति रूप में, प्राण एवं प्रज्ञा रूप में हैं। किन्तु आपातत: अपादशीर्षा गुहाचर होकर हैं। बाहर में अग्निमन्थन की तरह अन्तर में भी ध्याननिर्मन्थन द्वारा उनका आविष्करण आध्यात्मिक अग्निजनन है।[१] आध्यात्मिक अग्नि समिन्धन का आन्तर साधन एक ओर

३. तु. १।३६।१०, ५९।२ (द्र. टी. १३४८ (१)), २।४।३, ६।७।१ (द्र. टी. १३५६ (१)), १०।१६।९ (द्र. टी. १३४८ (१)), २।४।३, ६।७।१ (द्र. टी. १३५६ (१)), १०।१६।९ (द्र. टी. १३७५ (४))।

१३७८. ऋ. भुवो देवानां पिता पुत्र: सन् १।६९।१।

१. तु. ५।८।६ (द्र. टी. १३३८ (४))।

२. छा. ८।१२।५।

१३७९. तु. ऋ. अगन्म ज्योतिर् अविदाम देवान् (८।४८।३; एक ज्योति का अनेक देवताओं में विच्छुरण होता है); 'पुमाँ' एवं तनुत उत् कृणत्ति पुमान् वि तन्त्रे अधि नाके अस्मिन्' – मनुष्य इसको (यज्ञतन्तु को) वितत करता है, उसे ऊपर की ओर लपेट लेता है (जैसे तकली में), और उसको वितत या प्रसारित करता है इस विशोक लोक में १०।१३०।२; ऐ ब्रा. २।३, १४।... स्म. यज्ञानुष्ठान 'कल्प' (तु. ऋ. १०।१३०।५)।

१. तु. श्वे. १।१४, २।१२; ऋ. ३।२।३, द्र. टी. १३३४ (१)। बाहर के मन्थन में अग्नि ऋत्विक् अथवा यजमान के पुत्र: 'पितुर् यत् पुत्रो ममकस्य

'सहः' अथवा सर्वाभिभावन या सर्वजित वीर्य एवं 'ऊर्ज' या चेतना को मोड़ देने का सामर्थ्य है[2]; दूसरी ओर मन एवं धी है।[3] सब मिलकर औपनिषद भावना का वही प्राण एवं प्रज्ञा है। और आधार में इस अग्निजनन का फल उपनिषद् की भाषा में 'योगाग्निमय' शरीर प्राप्त करना[4] और संहिता की भाषा में 'सूर्यत्वक्' होना है।[5]

३. अग्नि और अन्यान्य देवता

अग्नि के रूप, गुण, कर्म एवं जन्म रहस्य की व्याख्या से हमें मोटे तौर पर उनका एक परिचय प्राप्त हुआ। हमने देखा कि अग्नि अमूर्त हैं। हम सब के भीतर वे प्राण चेतना एवं तपः शक्ति के रूप में आविर्भूत हैं। वे कवि-क्रतु हैं अर्थात् उनकी क्रान्तदर्शी प्रज्ञा हमारे हृदय में देवयानी अभीप्सा की ऊर्ध्व शिखा जगाती है। परमव्योम उनका उत्स है; वहाँ से वे विश्व प्राण के चिन्मय संवेग द्वारा मनुष्य के भीतर आविष्ट हुए हैं अर्थात् उस के आधार में अन्तर्गूढ़ अधूमक ज्योति के रूप में विराजमान हैं। मनुष्य और देवता के बीच वे दूत हैं अर्थात् दिव्य एवं मर्त्य इन दो कोटियों के बीच युगपत आवेश और अभीप्सा के वाहन हैं। देवकाम यजमान की उत्सर्ग-भावना के प्रत्येक मोड़ पर वे ही दिग्दर्शक हैं अर्थात् उसके आदि-अन्त से जुड़े हैं। यास्क की भाषा में 'यही इनका कर्म है – हवि का वहन और

जायते १।३१।११; त्वं पुत्रो भवसि यस् ते अविधत् (साधना का लक्ष्य करके) २।१।९, होता जनिष्ट चेतनः पिता पितृभ्यः (यजमान एक साथ पिता एवं पुत्र) ५।१...।

२. इसलिए अग्नि 'सहसः सूनुः' अथवा 'ऊर्जोनपात्' द्र. टी. १३६८ (१))।

३. तु. अग्निम् इन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः, अग्निम् ईधे विवस्वभिः ८।१०२।२२ (द्र. टी. १३५४ (८))।

४. तु. श्वे. २।१२; ऋ. ८।३९।८ (द्र. टी. १३७३ (३))।

५. जिस प्रकार अपाला हुई थीं ८।९१।७। इसी प्रसङ्ग में तुलनीय शरीरेद अस्माकं यूयं मर्तासो अभिपश्यथ १०।१३६।३ : मुनियों का कथन। वे ही विशेष रूप से कायसिद्ध। तु. समान जयाज ज्वलम्, योग सूत्र ३।४० समान नाभि संस्थित, और योग में नाभि अग्निस्थान है।

देवताओं का आवाहन; इसके अतिरिक्त जो कुछ दृष्टि विषयक है, वह अग्निका ही कर्म है'[1380]; अर्थात् साधना के प्रत्येक पर्व या मोड़ पर हम जिस सत्य का दर्शन प्राप्त करते हैं, वह उनके ही प्रकाश में प्राप्त करते हैं। एषणा और रूपान्तर की दिशा में उनकी आनन्दमय सप्त पदी सूर्य की सप्तरश्मियों से सुदीप्त है।[1]

१३८०. नि. ७।८।३।

१. तु. ऋ 'अधुक्षत् पिप्युषीम् इषम् ऊर्जं सप्तपदीम् अरिः, सूर्यस्य सप्त रश्मिभिः' – दोहन किया आप्यायिका सप्तपदी एषणा और आवर्जन शक्ति को उस समर्थ पुरुष सूर्य की सात रश्मियों द्वारा ८।७२।१६। **इष** एवं ऊर्ज का सहचार वेद में अनेक स्थानों पर है (द्र. ऋ. १।६३।८, २।१९।८, २२।४, ५।७६।४, ६।६२।४, ६५।३, ८।९३।२८, सा नो मन्दे.षम ऊर्जं दुहाना धेनुर् वाक् १००।११, ९।६३।२, ६६।१९, ८६।३५, इषम् ऊर्जम् अभ्य् अर्ष ...... उरु ज्योतिः कुणुहि (सोम) ९४।५, १०।२०।१०, ४।३९।४....)। निघ. इष। अर्क 'अन्न' २।७; निरुक्त में एक स्थान पर 'इष' अप् १०।२६; फिर तु. निघ. वर्गः। वृजनम् वृक् 'वल' २।९; तु. निरुक्त ३।८ 'इष' < √ इष 'खोजना, चाहना'; 'ऊर्ज' < √वृज 'मरोड़ना, मोड़ घुमा देना' (तु. IE Urg - to well with energy', AV. vgrazana effectiveness) ऊर्ज् के साथ अग्नि का विशेष सम्बन्ध लक्षणीय है; अग्नि ऊर्जो नपात् ऋ. १।५८।८, २।६।२, ५।१७।५, ६।१६।२५, ८।७१।३, ९ ७।१६।१ .... ऊर्जः पुत्रः १।९६।३। अग्नि मन्थन के लिए वल की आवश्यकता है। 'इष्' और 'ऊर्ज्' सहचरित हैं; क्योंकि चित्त में पहले एषणा जागती है, उसके बाद ही अन्तरावर्तन अथवा अन्तर्मुखता की शक्ति जाग्रत होती है (तु. क. कश् चिद् धीरः .... 'आवृत चक्षुर' अमृतत्वम् 'इच्छन्' २।१।१)। **सप्तपदी** तु. अग्नि के सप्त धाम ऋ. ४।७।५, १०।१२२।३, सप्त पद १०।८।४, विष्णु के सप्तधाम १।२२।१६; यज्ञ के सप्तधाम ९।१०२।२। ऋक् का आरिः कौन? सायण कहते हैं 'वायु' और Geldner बतलाते हैं 'Patron'। किन्तु इसके पूर्व के ऋक् में ही है 'इन्द्रे अग्ना नमः' एवं उसी के साथ है सोम के द्युलोक में स्वर् प्रस्फुटित करने का उल्लेख; एकऋक् के बाद ही है सोम के गुह्य पद एवं अग्नि शिखा की व्याप्ति का उल्लेख द्युलोक में। अतएव यहाँ अग्नि ('अरि' < √ऋ. 'चलना' तु. 'ऋषि' अग्नि 'अरति'; नि. अरिर् अमित्रः ऋच्छतेः

'अग्नि के समस्त समिध ही देवयानी' हैं अर्थात् पृथिवी से द्युलोक तक प्रसारित सत्य के पथ पर हमे केवल अग्नि समिन्धन करके ही चलना होता है[१३८१]। अतएव साधना के प्रत्येक पर्व या सोपान पर देवता के साथ अग्नि का सम्बन्ध अति घनिष्ठ है। हमारी अभीप्सा के समय अग्नि जिस प्रकार 'देवेद्धः' अथवा देवताओं द्वारा समिद्ध, उसी प्रकार हमारे भीतर उनके आवेश के समय अग्नि ही उनके 'पुरोगाः' हैं। जीवन के प्रभात में जब श्रद्धा के आवेश से हृदयाकाश में नई चेतना का पद्मराग प्रस्फुटित होता है, तब देवयानी आकूति की जो शिखा देवता की आनन्द मय स्वीकृति से लहक उठती है, वही शिखा प्रज्वलतर होकर माधयन्दिन सौर दीप्ति का सङ्केत देती है। यहाँ की प्रार्थना-कामना ही वहाँ की प्राप्ति का पुरोधा होकर पुनः यहाँ लौट आती है। साधना का आदि और अन्त, उसके ज्वार-भाटे की दोनों धाराएँ ही वैश्वानर के अनिर्वाण दहन से अथवा अनिर्वापित ज्वलन से प्रभास्वर हो उठती हैं।

अतएव साधना के प्रत्येक मोड़ पर देवाविष्ट चेतना के प्रत्येक सन्धि-बिन्दु पर देवताओं के साथ अग्नि का सम्बन्ध एक सामान्य घटना है। आप्री सूक्तों के देवगण के सुकल्पित विन्यास में एवं अग्नि रूप में प्रत्येक देवता की भावना करने के बीच यही स्पष्ट हुआ है। अग्नि समिन्धन में चेतना के जागरण एवं स्वाहाकृति में सुचित देवात्म भाव में उसका जो परिणाम होता है, उसमें प्रारम्भ से अन्त तक हमें एक अग्निष्वात्त अनुभव का कम प्राप्त होता है। वस्तुतः जीवन-यज्ञ आद्यन्त एक अग्निदहन है।

अग्नि के साथ देवताओं के इस सामान्य सम्बन्ध का परिचय संहिता में यत्र-तत्र उनके साथ अन्यान्य देवता के सहचार के उल्लेख में प्राप्त होता है। आपाततः अनेक स्थानों पर इस सहचार के किसी निर्दिष्ट क्रम का पता नहीं चलता। किन्तु यास्क ने लोकानुसार देवताओं के वर्गीकरण का जो प्रकल्प उपस्थापित किया है, उसे मान लेने पर अक्रम में भी क्रम का पता लगाना बहुत मुश्किल नहीं होता। अवश्य साधक जीवन में क्रम की बात ही बड़ी नहीं है, बल्कि तन्त्र

१३८१. १,२

की परिभाषा के अनुसार कहा जा सकता है कि साधना क्रम, अक्रम एवं क्रमाक्रम इन तीन धाराओं को पकड़ कर ही की जा सकती है एवं उससे जीवन की स्वच्छन्द सावलीलता उजागर होती है जो साधना को अस्वच्छन्द अथवा यांत्रिक नहीं होने देती। वैदिक देवताओं के अन्योन्य साहचर्य की बात सोचते समय अक्रम को एक विशेष मर्यादा या सम्मान देना उचित होगा। किन्तु आगे चलकर जो भी क्यों न हो? किन्तु संहिता के मन्त्रवर्ण में हमें एक उल्लसित प्राणोच्छलता का परिचय प्राप्त होता है। बुद्धि यदि क्रमानुसारी होना चाहे भी, तो प्राण सब समय क्रमाक्रम की राह पकड़ कर ही चलता है, इस क्षेत्र में उस बात को ध्यान में रखना अच्छा है।

अग्नि के साथ अन्यान्य देवताओं की सहचरता को हम तीन दृष्टियों से देख सकते हैं। संहिता में आप्रीसूक्तों के अतिरिक्त अनेक स्थलों पर ही अग्नि के सहचर देवताओं में हम कोई भी क्रम नहीं देख पाएँगे। किन्तु उस क्षेत्र में भी हमारी बुद्धि में स्थित क्रम को आरोपित करके साधना का सूक्ष्म सङ्केत प्राप्त किया जा सकता है। यास्क ने अग्नि के जिन सब संस्तविक देवताओं का उल्लेख किया है, उसमें क्रम और अक्रम का मिश्रण हुआ है एवं क्रम की भित्ति भी एक नहीं है। पहले ही बतलाया गया है[१३८२], कि यास्क के द्वारा उल्लिखित संस्तव के बाहर भी सहचर देवताओं का सन्धान मिलता है, एवं भावना की दृष्टि से इस साहचर्य का विशेष महत्त्व भी है[१] यास्क की ही परिकल्पना के अनुसार अग्नि सहचर इन देवताओं को तीन क्रमों में सजाया जा सकता है। एक क्रम विष्णु की सप्तपदी में द्युस्थान चेतना के उन्मेष का और एक क्रम अन्तरिक्ष स्थान प्राण के शत्रुञ्जय सङ्क्षोभ का अनुसरण करेगा। उसके बाहर भी कुछ सहचर देवता रह जाएँगे, जिनको किसी भी क्रम में निबद्ध करना सम्भव नहीं, क्योंकि उनके साहचर्य की व्यञ्जना दार्शनिक है।

अग्नि के पूर्ववर्ती प्रसङ्ग में नाना प्रकार से इस साहचर्य की बात कुछ-कुछ आ गई हैं। इसलिए इस विषय को सङ्क्षेप में क्रमबद्ध

१३८२. द्र. टीका मूल १२८५।

१. टीमू. १३८६।

करके बतलाने की चेष्टा करेंगे। इसे हम यास्क की 'साहचर्य व्याख्या' के द्वारा ही आरम्भ करते हैं।

यास्क के कथनानुसार 'अग्नि के संस्तविक देवता हैं इन्द्र सोम, वरुण, पर्जन्य, एवं ऋतुगण[१३८३]' यहाँ हम आरम्भ में ही अग्नि, इन्द्र एवं सोम को पाते हैं, जो ऋक् संहिता के तीन प्रधान देवता हैं। अग्नि सर्वत्र अनुस्यूत हैं। एक बार फिर स्मरण करें कि अग्नि मर्त्य चेतना की ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा, इन्द्र अन्तरिक्ष के अथवा प्राणलोक की

१३८३. नि. ७।८।४। पारमार्थिक दृष्टि से यदि हम इन्द्र को आदित्य के रूप में मान लें, तो फि तन्त्र के अग्नि – सूर्य-सोम को पाते हैं। इस त्रयी को ऋक् संहिता में भी पाते हैं – कन्या के प्रसङ्ग में : 'सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः, तृतीयो अग्निष.टे पतिस् तुरीयस् ते मनुष्यजाः' – सोम ने तुमको पहले प्राप्त किया, उसके बाद गन्धर्व ने प्राप्त किया, अग्नि तुम्हारे तृतीय पति हैं और तुम्हारा चतुर्थ पति है मानव-पुत्र १०।८५।४०। यह गन्धर्व 'विश्वावसु' हैं (द्र. ११६३, ११६४) एवं परमार्थतः वे विश्वभासक सूर्य हैं (द्र. १०।१३९ सूक्त. तत्र 'दिव्यो गन्धर्वो रजसो विमान : ५; तु. श ब्रा. 'असाव आदित्यो दिव्यो गन्धर्वः' ६।३।१।१९)। तन्त्र में इस त्रयी का उल्लेख नाना रूपों में है। वैदिक साधना में उसका मूल है सूर्य द्वारा भेद करके सोम्य आनन्द के धाम में पहुँचना। किन्तु यास्क के इन्द्र और सोम दोनों ही अन्तरिक्ष स्थानीयदेवता हैं (नि. १०।८, ११।२)। अधियज्ञ दृष्टि से सोम को उन्होंने ने वहाँ ओषधि रूप में ग्रहण किया है। चन्द्रमा के साथ उसके सम्बंध को उन्होंने अवश्य ही स्वीकार किया है, किन्तु चन्द्रमा भी अन्तरिक्ष स्थानीय (११।५) हैं। अन्तरिक्ष साधना की भूमि है और सिद्धि की भूमि द्युलोक एवं उसके भी उस पार है। तै ब्रा. के अनुसार 'आदित्य के नीचे जो सारे लोक हैं, वे अवश्य ही विशाल हैं; किन्तु आदित्य के उस पार जो हैं, वे विशालतर हैं। जो आदित्य के नीचे के लोकों पर जय प्राप्त करते हैं, वे अन्तवान् और क्षयिष्णु लोकों पर ही जय प्राप्त करते हैं। अनन्त अपार अक्षय लोक पर वही विजय प्राप्त करते हैं, जो आदित्य के उस पार के लोकों पर विजय प्राप्त करते हैं (३।११।७।४)।' अतएव यास्क का चन्द्रमा आदित्य के नीचे – साधन मात्र हैं; और ऋक् संहिता का सोम आदित्य के उस पार की सिद्ध चेतना है (तु. बृ १।५।१४-१५)।

वृत्रघाती, ओजस्विता और सोम द्युलोक के अमृत आनन्द हैं। इसलिए यहाँ चेतना के उदयन का एक क्रम आभासित हो रहा है। किन्तु संहिता में ही देखते हैं कि जो सोम्य अमृतलोक एक ओर से अजस्र ज्योति से उच्छल एवं उद्भासित है, और दूसरी ओर से वही फिर मृत्यु के देवता यम की वैवस्वत परः कृष्णता में निथर, निस्तब्ध है, द्युलोक की ज्योति वहाँ अवरुद्ध है।[१] यह अवरोध ही ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा में वारुणी-रात्रि है, उपनिषद् में जिसे अनालोक लोकोत्तर और दर्शन में शून्यता की संज्ञा दी गई है।[२] अतएव यास्क की व्याख्या में सोम के बाद वरुण को पाते हैं। ये वरुण निश्चय ही मध्य स्थान नहीं, परन्तु आदित्य हैं।[३] उनमें ही हम सब की समस्त प्रेति का पर्यवसान है, उसके बाद 'और कोई भी संज्ञा नहीं रहती'।[४] किन्तु उसके बाद भी यदि कोई नचिकेता की तरह वैवस्वत मृत्यु के मुखु से प्रमुक्त होकर पुनः यहाँ लौट आते हैं, तो वे रेतोधा पर्जन्य होकर आते हैं। उस समय उनकी एषणा की आग हमारे भीतर फैल जाती है, और

१. ऋ. यत्र जयोतिर् अजस्रं यस्मिन् लोके स्वर हितम् ...... यत्र राजा वैवस्वतो यत्राः वरोधनं दिवः यत्रा, मूर यह्वतीर (उच्छल, सर्वत्र व्याप्त) आपः ...... (९।११३।७,८। द्युलोक के 'अवरोधन' के सम्बन्ध में Geldner का मन्तव्यः 'उत्तर द्युलोक, जो अदृश्य है, मनुष्य की दृष्टि से परे है।' लक्षणीय यम यहाँ 'वैवस्वत' अर्थात् आदित्य के उस पार है, वरुण के साथ उनका सहचार है, द्र. १०।१४।७,५)।

२. तु. तैब्रा. १।७।१०।१, क. २।२।१५ तु. शं. रात्रिर् वै कृष्णा शुक्ल वत्सा, तस्या असाव आदित्यो वत्सः ९।२।३।३०; यह योगी का व्युत्थान, नचिकेता का मृत्यु या यम लोक से आदित्य भास्वर प्रमुक्ति के साथ लौट आना है।

३. मध्यस्थान वरुण मेघ होकर 'आवृत' करते हैं (नि. १०।३)। आदित्य वरुण (नि. १२।२१-२५) यास्क के उदाहृत ऋक् समूह में पावक सूर्य एवं वरुण (ऋ. १।५०।५-७)।

४. तु. बृ. २।४।१२, ४।५।१३। द्र. ऋ. में वरुण 'समुद्रो अपीच्यः (गोपन, निगूढ़)', उनका आच्छादन जिस प्रकार सफ़ेद है, उसी प्रकार काला है। (८।४१।८, १०)।

दिव्य आवेश का मूसलधार वर्षण आधार के बाँझपन को दूर कर देता है।[५] द्युलोक से भुलोक में पुनः वापस आकर सम्भूति द्वारा अमृत का आस्वादन[६], देवताति को सर्वताति अर्थात् देवतात्म-भाव को सर्वात्म-भाव में पर्यवसित करना, यहीं हमें सिद्धि के पश्चात् की साधना का एक नया क्रम प्राप्त होता है। लोकोत्तर से लोक में उतर

---

५. तु. ऋ. 'अग्नीपर्जन्याव् अवतं धियं मे अस्मिन् हवे सुहवा सुष्टुतिं नः, इलाम् अन्यो जनयद् गर्भम् प्रजावतीर् इष आ धत्तम् अस्मे' – हे अग्नि-पर्जन्य, तुम दोनों मेरे ध्यान को आहूति (आह्वान) में हे स्वच्छान्दाहत (अर्थात् पुकारने पर जो अनायास उत्तर देते हैं), (आच्छादित किए रहो) हम सब की रम्य स्तुति को; (उनमें) एक ने एषणा को जन्म दिया और एक ने गर्भ को; हमारे भीतर तुम दोनों सन्तत एषणा आहित करो ६।५२।१६। सायण इला को अन्न के अर्थ में ग्रहण करके कहते हैं कि इल.ाजनन पर्जन्य का कार्य है और गर्भजनन अग्नि का कार्य है; किन्तु वेङ्कट माधव बतलाते हैं कि अग्नि ही इला को जन्म देते हैं और पर्जन्य गर्भ को यह व्याख्या ही सङ्गत है। इला के साथ अग्नि का सम्बन्ध सुप्रसिद्ध है (आप्रीं देवगण द्रष्टवय) और रेतोधा पर्जन्य ही गर्भ के आधाता हैं (द्र. ५।८३.१, ४, ६, ७।१०१।६, १०२।२। और भी द्रष्टव्य १।१६४।५१, टी. १२३० (७)। प्रजावतीर् इषः – 'प्रजा' अपत्य निघ. २।२। अपत्य (< अप-त्य, तु. 'नित्य; किन्तु नि. < √पत् वा तन् ३।१) और प्रजा दोनों ही विसृष्टि एवं तज्जनित प्रवहमानता के बोधक हैं; इसी अर्थ में स्मरणीय है, उपनिषद् का 'बहुस्यां प्रजायेय' (छा. ६।२।३ 'प्रजावत्' का राहस्यिक अर्थ 'सन्तत' प्रवहमान है, जिस प्रकार ऋक् संहिता में : रयिं प्रजावन्तम ४।५१।१०, ५३।७, अस्मे आयुर् नि दिदीहि प्रजावत् १।११३।१७ (१३२।५) प्रजावत् रत्नम्३।८।६, प्रजावत् सौभगम् ५।८२।४ ब्रह्म प्रजावद् आ भर् जातवेदः ६।१६।३६ स (सोमः) भन्दना उद् इयर्ति प्रजावतीः ९।८६।८१, प्रजावतो राजान् १।९२।७ (३।१६।६), प्रजावता राधसा १।९४।१५, प्रजावता वचसा ७६।४, सहस्रधारे .... तृतीये ...रजसि प्रजावतीः चतस्रो नाभः ९।७४।६, प्रजावतीर् इषः २३।३ ....।

६. त. ई.१४।

आने पर 'ऋतु'[७] अथवा काल की अपेक्षा रहती है। कालातीत अमृत का उपभोग जिस प्रकार 'सत्य' है, कालवाहित अमृत का उपभोग उसी प्रकार 'ऋत' है। सत्य और ऋत का मिथुनी भाव 'देवहित आयु' की परिपूर्ण सार्थकता है। इसलिस देखते हैं कि अन्तिम पर्व में सिद्ध की अग्निचेतना ऋतु चक्र में आवर्तित होकर ऋतु-देवताओं के साथ सोम्य सुधा का पान करती चलती है। वे तब संवत्सर रूपी प्रजापति और सर्वभूत के साथ एकात्मक होते हैं।

अग्नि के संस्तविक देवताओं के यास्क कल्पित विन्यास में हम अध्यात्म जीवन के एक पूर्णायत आदर्श का सन्धान पाते हैं। इसके अतिरिक्त भी अग्नि के द्युस्थान एवं अन्तरिक्ष स्थान और भी संस्तविक अथवा सहचर देवता हैं, यह हम पहले ही बतला चुके हैं। द्युस्थान देवताओं का एक प्रसिद्ध क्रम है – अश्विद्वय, उषा सविता, भग, सूर्य, पूषा एवं विष्णु। इसके भीतर अप्रकाशित, अव्यक्त की अन्धतमिस्रा से मध्याह्नकालीन भास्वरता तक चेतना के उदयन का जो एक सङ्केत निर्धारित है, वह हमें ज्ञात है। संहिता में इन देवताओं के साथ अग्नि का विशिष्ट साहचर्य प्रणिधान योग्य है। अग्नि के साथ उषा के सम्बन्ध का उल्लेख अनेक स्थानों पर अनेक रूपों में है[१३८४]। निष्कर्ष यह है कि अग्नि 'उषर्भुत' है। वे उषा में जागते हैं। द्युलोक में ज्योति की झलक न दिखने पर मर्त्य के हृदय में भी अभीप्सा की आग नहीं जलती। नचिकेता की विद्याभीप्सा श्रद्धा के आवेश और प्रातिभ संवित् की विद्योतना से जागी थी। इसलिए अग्नि (एवं सारे देवता भी) 'उषर्भुत' हैं। किन्तु उषा के पहले जो उजाले अँधेरे की धूसरता है, उससे भी पहले असूर्य का अप्रकेत या आच्छन्न अधिकार है, जिसके अन्तर्गत तमोभाग और ज्योतिर्भाग अश्विद्वय का अदृश्य ज्योति-अभियान जारी है, वहाँ भी दिव्य अग्नि की अतन्द्र प्रेरणा

---

७. ऋक् संहिता में काल के बोध के लिए 'ऋतु' शब्द का ही व्यवहार है। केवल एक जगह 'काले' है (१०।४२।९) द्र. शौ. काल सूक्त १९५३, ५४ अग्नि ऋतु सम्पर्क द्र. 'द्रविणोदाः'।

१३८४. द्र. ऋ. १।७९।१, २।२।१२, ३।५।२, ६।७, ।१०, ४।१३।१, ५।१।१, २८।१, ७६।१, ६।९।१, ४।२, ७।६।५, ८।१९।३१, १०।३।१....। और भी द्रष्टव्य – औषसाग्नि सूक्त १९५।

अथवा अनुप्राणना है। यही बात प्रस्कण्व काण्व के कथन में इस प्रकार है – अग्नि 'सजूर अश्विभ्याम् उषसा' अर्थात् एकाता हैं वे अश्विद्वय और उषा के साथ;[१] केवल वही नहीं, बल्कि इसी सूक्त में अन्यत्र यह भी है 'अनेक लोगों द्वारा आहूत है अग्नि, प्रचेतन देवताओं को तुम यहाँ शीघ्र ले आओ, (ले आओ) सविता, उषा, अश्विद्वय, भग और अग्नि को रात के बाद भोर होते ही।'[२] विष्णु की सप्तपदी के क्रमबद्ध चार पदों के सुस्पष्ट उल्लेख से ज्ञात होता है कि यास्क की परिकल्पना निर्मूल नहीं।[३] अचित्ति की अन्धतमिस्रा से बालसूर्य के उदयतक देवयान के चारों पर्व या सोपान ही हम देखते हैं कि मर्त्य अग्नि की आकूति और दिव्य अग्नि के आवेश से उद्दीप्त हैं। उसके बाद 'सूर्य' की किशोर अवस्था। संहिता में इस सूर्य के साथ अग्नि की एकात्मता का स्पष्ट उल्लेख है।[४] यह अधिदैवत भावना ही उपनिषद् के जवब्रह्मैक्यवाद में आध्यात्मिक रूप ले लेती है। किशोर सूर्य के बाद 'तरुण' पूषा। अग्नि के साथ उनके सम्बन्ध के बारे में यास्क का मन्तव्य' है, 'आग्नापौष्णं हविर् न तु संस्तवः' अर्थात् अग्नि और पूषा के लिए हवि देने पर भी उनकी स्तुति अलग-अलग है।[५] उसके बाद उन्होंने जिस ऋक् को उद्धृत किया है, वह पूषा के प्रति उद्दिष्ट सूक्त खण्ड का प्रथम ऋक् है। इस खण्ड का प्रतिपाद्य विषय है मृत्यु के बाद पूषा का नेतृत्व। उसमें अग्नि के साथ उनके सम्बन्ध की घनिष्ठता उजागर हुई है।[६] पूषा के बाद 'युवाऽकुमारः' विष्णु

---

१. १।४।२।

२. 'स आ वह पुरुहूत प्रचेतसोऽग्ने देवाँ इह द्रवत्, सवितारम् उषसम् अश्विना भगम् अग्निं व्युष्टिषु क्षपः' १।४४।७,८। यहाँ दो अग्नि हैं। एक समिद्ध मर्त्य अग्नि अर्थात् हम सब की अभीप्सा; और एक देवताओं के पुरोगामी या अग्रगामी दिव्य अग्नि; अर्थात् हम सब के भीतर परम का आवेश।

३. किन्तु इसे यूरोपीय पण्डितों ने कोई कारण दिखाए विना ही खारिज कर दिया है।

४. द्र. ८।५६।५ टी. १२८६(१), १३०४; ऋ. १०।३ सूक्त।

५. नि. ७।८।

६. ऋ. 'पूषात्वे तश् च्यावयतु प्र विद्वान् अनष्ट पशुर् गोपाः, स त्वै. तेभ्यः परिददत् पितृभ्यो अग्निर् देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः' – पूषा तुम यहाँ से

अर्थात् मध्यगगन के सूर्य। यास्क का मन्तव्य है कि इन दोनों की संस्तविकी कोई भी ऋचा ऋक् संहिता में नहीं है।[७] किन्तु अन्यत्र है।[८] ब्राह्मण में अग्नि-विष्णु के प्रत्याहार के अन्तर्गत सर्वदेवता का समावेश है।[९] संहिता का सूर्य एक सामान्यवाची संज्ञा,[१०] विष्णु उसके साथ संयुक्त है।

स्थानान्तरित करके अन्यत्र ले जाएँ – वे विद्वान् हैं, उनका कोई भी पशु लापता नहीं होता, वे भुवन के रखवाले हैं, तुमको वे इस पितृगण को समर्पित कर दें, अग्नि (समर्पित कर दें) देवताओं को – जो सम्भवतः सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं १०।१७।३। यहाँ यास्क प्रश्न उठाते हैं कि तृतीय पाद का 'सः' पूषा है या कि अग्नि है? पूषा होने पर द्वितीयार्द्ध का अर्थ होता है 'प्रेत को वे पहुँचा देंगे दिव्य पितृलोक में; और अग्नि होने पर अर्थ होता है, वे ही पहुँचा देंगे दिव्य पितृलोक में (तु. १०।८८।१५)। लगता है, दूसरी व्याख्या ही सङ्गत है; क्योंकि समस्त खण्ड में उत्क्रान्ति का जो वर्णन है, वह आवर्तन को नहीं, बल्कि उत्तरण को सूचित करता है। पूषा अभयतम मार्ग द्वारा 'प्रेत' का सुकृत या सत्कर्म करने वालों के लोक में ले जाएँगे, स्वस्ति प्रदान करेंगे; आयु विश्वायुरूप में उकसी रक्षा के प्रति सतर्क दृष्टि इत्यादि रखेंगे। यह वैवस्वत मृत्यु का वर्णन है जो जीवित रहने पर भी हो सकती है, जैसे नचिकेता की हुई थी; उस समय 'प्रेति' विद्या के बल से लोकोत्तरण। आदि से अन्त तक अग्नि का दिशा-निर्देशन, जैसे कठोपनिषद् में त्रिणाचिकेत के समय। पूषा उसके चरम बिन्दु पर आविर्भूत होते हैं – हिरण्मय पात्र का आवरण दूर करने के लिए (ई.)। इसलिए अग्नि और पूषा के सहचर।

७. नि. ७।८।८

८. द्र. शौ. अग्नाविष्णु महि तद् वां पाथो (पान करो) घृतस्य गुह्यस्य नाम, दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतम् आ चरण्यात् (चलने दो) अग्नाविष्णु महि धाम प्रियं वां वीथो (आस्वादन करो) घृतस्य गुह्या जहुषाणो (तृप्ति के साथ) दमे दमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतम् उच् चरण्यात् (ऊपर की ओर चलता जाए) ७।२९ सूक्त।

९. ऐ. १।१।

१०. द्र. कात्यायन सुर्वानुक्रमणी २।१४, १५।

इस प्रकार अग्नि की देशना या आदेश के अनुसार देवयान के मार्ग में हमारा अभियान मध्य रात्रि से मध्यदिन तक, अव्यक्त के कुहर या गर्त से व्यक्त ज्योति की पूर्णता तक है। किन्तु यह चेतना का आरोह है। उसके भी परे है अवरोह। आदित्य की मध्याह्नकालीन द्युति धीरे-धीरे सिमट आती है और सोम्य ज्योत्सना के प्लावन के साथ रात्रि का आगमन होता है। जब ज्योत्सना भी नहीं रहती, तब तारों से आच्छादित वारुणी शून्यता अभरती है। अग्निहोत्री की अन्तर्मुखी चेतना उसके भीतर से राह बनाकर चलते-चलते पुनः सविता के कूल पर उत्तीर्ण होती है। इस प्रकार उजाले और अँधेरे में अस्तित्व का एक आवर्तन पूरा होता है। हिरण्यस्तूप आङ्गिरस के सावित्र सूक्त के प्रथम मन्त्र में उसका चित्र इस प्रकार है; 'मैं आमन्त्रित करता हूँ अग्नि को पहले ही स्वस्ति के लिए; यहाँ आमन्त्रित करता हूँ मित्र-वरुण को, इसलिए कि वे रक्षा करेंगे, आमन्त्रित करता हूँ रात्रि को जो अपने आँचल में समेट लेती हैं जगत् को, आमन्त्रित' करते हैं देव सविता को, इसलिए कि वे हमारी सुरक्षा के प्रति सतर्क दृष्टि रखेंगे।[१३८५]।' अग्नि का अतन्द्र अभियान 'मैत्रहः' और 'वारुणी रात्रि' के भीतर[१] से है अर्थात् जो रात्रि राका में सोम्या कुहू में शून्या है।[२] रात्रि के अन्त में 'अपहतमस्क द्युलोक' के कूल पर किरण विखेरते सविता के[३] अधिकार या सीमा में उनका उत्तरण होता है। दिन के प्रकाश में

१३८५. ऋ. ह्वयाम्य् अग्निं प्रथमं स्वस्तये ह्वयामि मित्रावरुणाव् इहा. वसे, ह्वयामि रात्रीं जगतो निवेशनीं ह्वयामि देवं सवितारम् अतये १।३५।१। 'अवः' देवता का प्रसाद – ज्योति जैसा; 'ऊति' उनका चौकस रहना, सतर्कता के साथ रक्षा – कवच की तरह; दोनों ही ढ √'अव्'। 'स्वस्ति' सब कुछ का सुमङ्गल पर्यवसान (तु. 'शम्')। द्र. क्रमानुसार सूक्त ८।७३, १०।३६; ८।३७, १।१००; १०।३५ (टी. १३५५)। 'मित्रावरुण' तु. ऋ. ५।३।१; द्र. टीमू. १३५०।

१. अहोरात्र द्र. तै ब्रा. १।७।१०।१।

२. नि. ११।२९, ३१।

३. नि. १२।१२।

सविता और मित्र,[४] रात के अँधेरे में सोम और वरुण; इस प्रकार अस्तित्व के आरोह और अवरोह में अग्नि की दिव्य परिक्रमा होती है।

द्युलोक मनोज्योति का[१३८६] प्रतिरूप है, जिसका 'वृत्र' अचित्ति का अन्धकार है। और अन्तरिक्ष का 'वृत्र' प्राण का अवरोध एवं शुष्कता है, जिसका प्रतीक मेघ है। अन्तरिक्ष के प्रधान देवता तीन हैं एवं ऋक् संहिता में अग्नि के साथ विशेष रूप से वे ही संस्तुत है।[१] ये देवता है, मरुद्गण, इन्द्र एवं पर्जनय। इनमें मरुद्गण शुद्ध प्राण, इन्द्र शुद्धमन, और पर्जन्य दिव्य प्राण के मूसलधार वर्षण के प्रतिरूप हैं। अन्तरिक्ष में जो देवासुर का सङ्ग्राम होता है, वह प्राण के अवरोध और बन्धयात्व को दूर करके उसे स्वच्छन्द एवं सफल करने के लिए है। मरुद्गण की सहायता से इन्द्र मेघ को विद्युच्चकित एवं वज्र से विदीर्ण करके आधार में मुक्त प्राण का प्लावन लाते हैं। हमारी अभीप्सा की

४. सोम फिर वरुण अन्तरिक्ष स्थान एवं द्युस्थान दोनों ही। किन्तु अग्नि के संस्तविक देवता के रूप में उनका द्युस्थान, तु. दुर्ग का उदाहरण नि. ७।८।

१३८६. तु. बृ. ३।९।१०, छा. ८।१२।५।

१. यास्क के अनुसार अन्तरिक्ष स्थान देवताओं का विन्यास – वायु, वरुण, रुद्र, इन्द्र, पर्यजन्य इत्यादि। दुर्ग का मन्तव्य है कि ऊर्जमास के बाद से अर्थात् हेमन्त ऋतु से वायु चारों ओर से जल को खींचकर ले आते हैं और अन्तरिक्ष में गर्भरूप में सञ्चित करते हैं, आठ महीने बाद वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में वही गर्भ जल-रूप में प्रसूत होता है। वायु की व्याप्रिया से आकाश उस समय मेघों से 'आवृत' होता है, वायु 'वरुण' होते हैं, उसके बाद 'रोदन' अथवा गर्जन करने के कारण 'रुद्र' होते हैं, 'इरा' अथवा जल-दान करने के कारण 'इन्द्र', रस का प्रार्जन अथवा प्रकटीकरण के लि 'पर्जन्य'। इस तरह की आनुपूर्वी या यथाक्रमता द्युस्थान में भी है (नि.१०।११)। वायु का स्थूल रूप 'वात' है एवं सूक्ष्म रूप 'मरुद्गण'। ऋ. में उनकी ही प्रमुखता एवं अग्नि के साथ संस्तव है।

चरितार्थता इसमें ही है। अतएव संहिता में विशेष रूप से ये तीनों देवता अग्नि के संस्तविक देवता है।[२]

इसके अतिरिक्त निघण्टु में अनेक मध्यस्थान देवताओं का उल्लेख है, यहाँ तक कि मध्यस्थान अग्नि का भी उल्लेख है[१३८७]। उसके अन्तर्गत 'बृहस्पति' अग्नि का एक और रूप है; 'ब्रह्मणस्पति' एवं 'वाचस्पति' बृहस्पति के सगोत्र हैं; 'अपां नपात्' वैद्युत अग्नि; 'वाक्' आग्नेयी। 'यम' और 'त्वष्टा' के अग्नि-सम्बन्ध का उल्लेख पहले ही कर चुके हैं अनेक देवता इन्द्र के माध्यम से अग्नि के साथ जुड़े हैं। नैरुक्तों के मतानुसार अन्तरिक्ष स्थान देवता इन्द्र अथवा वायु के प्रकार भेद हैं।[१] जो कोई भी 'बलकृति' एवं वृत्रवध इन्द्र का वैशिष्ट्य है।[२] इस कारण से पृथिवी स्थानीय अथवा द्युस्थानीय देवताओं को भी 'अन्तरिक्ष' में स्थान देना अयौक्तिक नहीं। अग्नि में प्रकाश की आकूति है, आकङ्क्षा है, इन्द्र का शौर्य उसकी बाधा को दूर करता है। अग्नि के साथ इन्द्र एवं उनके माध्यम से अन्यान्य देवताओं के साहचर्य का यही हेतु है। प्रायश: यह साहचर्य अक्रम में या क्रम रहित है।

उसके बाद अग्नि साहचर्य के मूल में दार्शनिक तत्त्व के प्रसङ्ग में कुछ कहना है। 'अदिति' अबाधिता अबन्धता आनन्त्य चेतना एवं

२. ऋ. में अग्नि का मुख्य संस्तव या समस्वरता मरुद् गण के साथ १।१९ एवं ५।६० सूक्त; इन्द्र के साथ सूक्त १।२१, १०८, १०९, ३।१२, ५।८६, ६।५९, ६०, ७।९३, ९४, ८।३८, ४० (सर्वत्र इन्द्र मुख्य); सोम के साथ १।९३ सूक्त। अग्नि-वरुण का संस्तव ४।१।२-५, १।३५।१ (वरुण सर्वत्र आदित्य)।

१३८७. द्र. निघ. ५।४।२३।। व्याख्या में निरुक्त की उद्धृता (१०।३६-३७) दोनों ऋचाएँ ही, ऋक् संहिता के एक मात्र अग्नि मारुत सूक्त (१।।९) से ली गई हैं। यह अग्नि वैद्युत (१।७९।१-३) और मरुद्गण विद्युन्मय (तु. १।८८।१, ८।७।२५, विद्युन्महस: ५।५४।३.....) वात के देवता।

१. द्र. नि. ७।५।

२. नि. ७।१०।

सर्वात्मिका हैं। अग्नि उनके पुत्र एवं कभी अग्नि ही अदिति है।[१३८८] विश्वरूप 'त्वष्टा' अग्नि के पिता हैं। प्रजापति 'दक्ष' कभी अग्नि के पिता या फिर कभी पुत्र हैं। ज्योतिर्मय अव्यक्त के देवता 'वरुण' अग्नि के भाई अर्थात् दोनों मूलत: एक ही तत्त्व हैं।[१] अन्त्येष्टि में वैवस्वत 'यम' जातवेदा अग्नि के ही प्रतिरूप हैं। परमज्योति 'विवस्वान्' से विश्वप्राण 'मातरिश्वा' की प्रेरणा से मनुष्य के भीतर अग्नि का आविर्भाव होता है। परमार्थ दृष्टि में अग्नि ही 'विश्वेदेवा:' इत्यादि हैं। संहिता के ये तत्त्व ही उपनिषद् में ब्रह्म, जीव और जगत् के एकत्ववाद में प्रपञ्चिति हुए हैं। सङ्क्षेप में कहा जा सकता है कि अग्नि के साथ देवताओं का साहचर्य अध्यात्म-साधना के आदि और अन्त तक व्याप्त है; क्योंकि देवयानी अभीप्सा के फलस्वरूप हमारे भीतर जागता है, वही 'चित्त' अथवा चेतना की द्युति;[२] जिससे से देवता और उनकी विभूति को हम जानते हैं एवं प्राप्त करते हैं। तब हमारे भीतर सम्यक्-सम्बुद्ध अग्नि का ही ब्रह्मघोष ध्वनित होता है; "ये सारे देवता मेरे ही हैं, मैं ही यह सब कुछ हुआ हूँ"।[३]

१३८८. यह चर्चा केवल प्रासङ्गिक है, विस्तृत चर्चा आगे चलकर दर्शनाध्याय में की जाएगी।

१. द्र. ४।१।२-५। जिस प्रकार अनन्तता की अधिष्ठात्री देवी अदिति के निकट ऋषियों की प्रार्थना निरञ्जनता के लिए, उसी प्रकार वरुण के निकट उनकी प्रसाद-प्रार्थना (३; तु. ७।८९ सूक्त) वे अवहेलना न करें (४।१।४) अचित्ति जनित समस्त प्रमाद क्षमा करें (७।८९।५)। सर्वशून्य आनन्त्य की चेतना प्राप्त होने पर ही कलषु या पाप के पाश से यथार्थ मुक्ति सम्भव। अग्नि सूर्य की तरह अग्नि-वरुण भी यहाँ एक प्रत्याहार। उसके अन्तर्गत देवता का क्रम इस प्रकार है – अग्नि सब के नीचे ('अवम' ५) फिर उषा की ज्योति, उसके बाद 'विश्वभानु' मरुद्गण '(३) एवं अन्त में वारुणी शून्यता।

२. तु. अग्ने..... ऐ.षु द्युन्नम् (ज्योति) उत श्रव (श्रुति) आचित्तं मर्त्येषु धा: ५।७।९।

३. तु. १०।६१।१९; द्र. टी. १३१७ (५)।

अब हमें यह देखना है कि अग्नि के साथ मनुष्य का क्या सम्बन्ध है? प्रसङ्गत: उसकी चर्चा पहले ही कुछ-कुछ की जा चुकी है। इस समय उन्हें ही थोड़ा क्रमबद्ध कर लें।

४. अग्नि और मनुष्य

पहले भी हमने बतलाया है कि अध्यात्म चेतना के मूल में किसी बृहत्तर सत्ता के प्रति एक महानता का बोध है। आधार-भेद के कारण यह भेद कभी चेतना को अभिभूत या फिर कभी उद्दीप्त करता है। उद्दीप्त चेतना बृहत् होती है एवं बृहत्तर सत्ता के साथ स्वयं का सायुज्य करती है। महानता के बोध के अनुषङ्ग में एक और बोध उजागर होता है; जो बृहत् है, जो परात्पर है, सर्वश्रेष्ठ है, वह नित्य है, शाश्वत है। आकाश बृहत् है, आकाश नित्य है। जिस प्रकार बाह्य दृष्टि में बाहर का आकाश, उसी प्रकार आभ्यन्तर दृष्टि में हृदयाकाश, दोनों ही नित्य हैं। जो नित्य है, उसकी एक और संज्ञा है अमर्त्य अथवा अमृत। देवता बृहत् हैं, देवता अमर्त्य हैं; आपातत: मनुष्य क्षुद्र है, मनुष्य मर्त्य है। किन्तु देवता की उपासना में मनुष्य भी बृहत् हो सकता है, अमृत हो सकता है। एवं इस बृहत् अमृतत्व या अमरत्व का अनुभव इस देह में ही प्राप्त करता है। उस समय देवता के साथ उसका सम्बन्ध सायुज्य एवं सख्य का होता है; फिर वह छोटा नहीं, बल्कि .... देवता भी जो, वह भी वही होता है। तब वह 'मध्वद' अथवा 'पिप्पलाद' है, सम्भूति में ही उसका उपभोग लोकोत्तर अमृत का उपभोग है। इसके अलावा वह उपभोग उसकी आत्मविसृष्टि भी है अर्थात् विचित्र रूपों में स्वयं को निर्झरित करना भी है। जितने दिन वह जीवित रहता है, वह देखता है कि उसकी शिराओं में सञ्चरमाण जो उत्ताल जीवन-प्रवाह है, वह एक और जिस प्रकार स्पन्दमान है, दूसरी ओर उसी प्रकार निस्पन्द है। देह की मृत्यु होने पर भी उसके प्राण की मृत्यु नहीं होती, बल्कि आत्मस्थिति के बल पर तब भी चलता ही रहता है। यह चलना उसी अमृतस्वरूप का ही चलना है। एक ही सत्ता का एक पक्ष मृत्यु है, और एक पक्ष अमृत है। मर्त्य के साथ अमर्त्य की, मनुष्य के साथ देवता की यही लीला है।

ये भावनाएँ दीर्घतमा औचथ्य के इन मन्त्रों में उजागर हुई हैं; –"दो 'सुपर्ण' अथवा पक्षी, वे 'सयुक्' अथवा नित्य युक्त दो सखा हैं; एक ही वृक्ष पर उनका बसेरा है। उनमें एक स्वादिष्ट पिप्पल खाता है और दूसरा बिना खाए उसकी ओर निहारता रहता है। जिस वृक्ष पर मधुभोजी पक्षी सब नीड़ का निर्माण करते हैं और अण्डे देते हैं उसके अग्र भाग में ही तो है वह 'स्वादु पिप्पल'। किन्तु वह उनकी पहुँच में नहीं है जो 'पिता' को नहीं जानते। साँस लेता हुआ सोया है त्वरितगति 'जीव' – वह काँप रहा है, धाराओं के भीतर फिर स्थिर होकर अविचल है; मृत का जीव या प्राण 'स्वधा' की शक्ति से चलता रहता है। अमर्त्य और मर्त्य की एक ही योनि है अथवा एक ही उत्स है।"[१३८९]

१३८९. ऋ. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया सपानं वृक्षं परिषस्व जाते, तयोर् अन्य: पिप्पलं स्वाद्व् अत्त्य् अनश्नन्न् अन्यो अभिचाकशीति। .... यस्मिन् वृक्षे मध्वद: सुपर्णा। निविशन्ते, सुवते चा. धि विश्वे, तस्येद् आहु: पिप्पलं स्वाद्व् अग्रे तन नो. न् नशद् य: पितरं न वेद।... अनच् छये तुरगात् जीवम् एजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्, जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिर् अमर्त्यो मर्त्येना सयोनि: १।१६४।२०, २२, ३०। **सुपर्ण** अनेक स्थानों पर सूर्य का उपमान (द्र. १।३५।७, १०५।१, १६४।४६, ४।२६।४, ५।२६।४, ५।४७।३, ८।१००।८, ९।७१।९....)। यहाँ पिप्पलाद जीव भी सुपर्ण है, अतएव जीव के साथ आदित्य के साम्य की ध्वनि है। सूर्य रूपी यही सुपर्ण 'हंस' भी है ४।४०।५; इसके अलावा अग्नि भी हंस (१।६५।५)। **वृक्ष**– (<√ व्रश्च) 'काटना' तु. ऋ. १।१३०।४; **IE.** unk-'to tear, **GK.** rakos 'a rag'; नि. व्रश्चनात् २।६, वृत्वा क्षां तिष्ठति १२।२९) 'देहवृक्ष', जैसे यहाँ; फिर 'ब्रह्मवृक्ष' भी (२२); तु. ऋ. १०।१३५।१, और भी तु. १।२४।७, वहाँ ऊर्ध्वमूल अवाक्शाख अश्वत्थ की ध्वनि है; फिर संसार वृक्ष १०।८१।४। यहाँ ब्रह्मवृक्ष 'पिप्पले', 'पिप्पल; अन्यत्र 'उदुम्बर (गूलर) अथवा अश्वत्थ'; बौद्धों का 'न्यग्रोध' वा वटवृक्ष; भागवत जनों का 'कदम्ब' **स्वादु पिप्पल** देवहित मर्त्यभोग, देवता के सायुज्य में मधुमय– नहीं तो वह स्वादु होता नहीं। दिव्य भोग 'रुशत् पिप्पल' (तु. ५।५४।१२, द्र. टी. १२९९(३); १।१६४।२२)। पिंप्पल को स्वादु अथवा स्वादिष्ट बनाकर जो भोजन कर सकते हैं, वे 'पिप्पलाद': यह सिद्धपुरुष की संज्ञा

चाहे जिस नाम से ही सम्बोधित करें, देवता के साथ वैदिक ऋषि का सम्बन्ध मूलतः इसी सख्य एवं सायुज्य का है। उसमें श्रद्धा, प्रीति अथवा विचित्र भाव-विलास है और विनीत प्रपत्ति अथवा आत्मनिवेदन सभी है – किन्तु भय नहीं है और न देवता को दूर अलग रखने की बात है। बल्कि देवता और उपासक एक ही वृक्ष के दो पक्षी हैं, एक ही रथ के दो रथी हैं अथवा एक ही नौका में दो यात्री हैं।[१३९०] मनुष्य 'अर्धदेव' है।[१] आरम्भ से ही देवता के सान्निध्य में ऋषि के अन्तर में आत्ममहिमा का बोध इस रूप में उद्दीप्त होने का परिणाम वह ब्रह्मघोष है जो इस प्रकार है; 'योऽसाव् असौ पुरुषः सोऽहम् अस्मि।' और इस भावना की गङ्गोत्री नित्यप्रत्यक्ष 'द्यौः'

है। कूटस्थ पुरुष बिना खाए केवल देखते रहते हैं, तु. साङ्ख्य के पुरुष– न कर्ता, न भोक्ता, वे केवल द्रष्टा हैं। जो पिप्पलाद हैं, वे ही फिर **मध्वद** अथवा मधुभोजी, दिव्य अमृत के सम्भोक्ता हैं (तु. १।९०।६-९; क. मध्वदं .... जीवम् २।१।५) लक्षणीय उनका 'निवेशन' एवं 'प्रसव' एक साथ चलता है। **निवेशन** पक्षी का अपने नीड़ में वापस आ जाना, अड्डे पर जाना, आत्मस्थिति, स्वधा (तु. ऋ. 'ह्वयामि रात्रिं जगतो निवेशनीम् १।३५।१, टी. १३८५; १०।१२७।४) किन्तु वही फिर प्रसव या सम्भूति का उत्स है (तु. ईशोपनिषद् के विनाश और सम्भूति का सहवेदन १४)। **पिता** जैसे 'द्यौः' (ऋ. १।१६४।३३) अथवा लोकोत्तर आदित्य (१२), अन्यत्र 'आदित्यवर्ण महान् पुरुष' (मा. ३१।१८)। **जीव** ऋक् के प्रथम पाद में क्लीवलिंग, 'जीवतत्व' का बोधक है; तृतीय पाद में 'पुरुष' (तु. सूर्य 'जीव असुर नः' ऋ. १।११३।१६)। **परस्त्या** – ('पस्त्यम्' गृह निघ ३।४; 'परस्त्या' जले, नदी, तु. ऋ. ४।१।११, ८।७।२९ (द्र. टी. १२५३ (३)) ९।६५।२३...। इसके अलावा अदिति भी 'परस्त्या' ४।५५।३ गृहदेवी के रूप में। व्युत्पत्ति? 'वाजपस्त्यं वाजपतनम्' नि. ५।१५; Uhlenbeck **IE** Pasto 'firm' (यहाँ) धारा; तु. शौ. १०।२।७, ११, ११।४।२६, ८।२८, २९ (द्र. Geldner DR टी.) और भी तु. ऋ. ४।५८।५ टी. १२७२ (६)।

१३९०. तु. ऋ. १।१६४।२०, इन्द्रा कुत्सा वहमाना रथेन ५।३१।९ (तु. ६।३१।३, ८।१।११), वसिष्ठं ह वरुणो नाव्य् आ. धात् ७।८८।४ (तु. ३, ५)।

१. त्रसदस्युम् ..... इन्द्रं न वृत्रतुरम् अर्धदेवम् ४।४२।८ (९)। स्वयं को इन्द्र के रूप में बृहद्दिव अथर्वा की घोषणा १०।१२०।९; द्र. अन्यान्य आत्मस्तुतियाँ।

'परमव्योम' है जो आकाश में आत्मचैतन्य के विस्फोट का अनुभव करना है।

वस्तुतः देवता दूर नहीं, बल्कि मेरे अत्यन्त निकट हैं। मेरे ही भीतर वे अग्निरूप में निहित हैं, इसी मर्त्य आधार में ध्रुव अमृत ज्योति रूप में–गुप्तरूप से चित्त और मन की सारी वृत्तियों को अपनी ही ओर आकर्षित करके[१३९१] अवस्थित हैं। जो अन्तर में हैं, अमर्त्य प्राण के रूप में चुपचाप बढ़ते जा रहे हैं, इस मर्त्य तनु के साथ-साथ, उनको ही अपने घर की यज्ञवेदी में हम प्रतिष्ठित करते हैं 'गृहपति' के रूप में। तब आहिताग्नि का समस्त जीवन एक यज्ञ है, उसका गार्हपत्य इसी यज्ञनायक गृहपति अग्नि का ही ऋतच्छन्द गार्हपत्य है।[१] यही दिव्य गार्हपत्य अन्तर्ग्रथित है उनके अजर तारुण्य

१३९१. तु. ऋ. ६।९।४-७; द्र. टी. ११७० (१)।

१. तु. 'गार्हपत्येन सन्त्य ऋतुना यज्ञनीर् असि, देवान् देवयते यज' – गृहपति के गौरव में सत्यस्वरूप तुम (हे अग्नि), ऋतच्छन्द में यज्ञ के नेता तुम (अर्थात् ऋतुयाजी), देवताओं का यजन करो, जो देवता को चाहते हैं उनके लिए १।१५।१२। ऋ. में 'गार्हपत्य' गृहकार्य का बोधक तु. ६।१५।१९, १०।८५।२७, ३६। किन्तु उल्लिखित ऋक् में 'गार्हपत्य अग्नि' की ध्वनि स्पष्ट है। तु. अन्यत्र 'गार्हपत्य अग्नि':- शौ. ५।३१।५, ६।१२०।१,
७।६३।२....; तै. संहिता १।६।७।१, २।२।५।६, ५।२।३।६....। श्रौतयज्ञ के लिए अग्न्याधान करना होता है। अग्न्याधान अथवा अग्न्याधेय एक 'इष्टि' है, जिसे चार ऋत्विकों की सहायता से सपत्नीक यजमान निष्पन्न करते हैं। 'विशिष्टकाल में, विशिष्ट देश में, विशिष्ट पुरुष विशिष्ट मन्त्र से गार्हपत्य प्रभृति अग्नि के उत्पादन के लिए जो जनता अङ्गार स्थापित करते हैं, उसे 'अग्न्याधेय' कहते हैं' (आश्वलायन श्रौत सूत्र २।१।९, नारायण की टीका)। प्रातः काल, जब सूर्य बिम्ब के न दिखाई देने पर भी उसकी किरणों ने अँधेरा, दूर कर दिया अर्थात् यास्क ने जिसे 'सवितृकाल' बतलाया है, उसी सन्धिलग्न में अध्वर्यु आरम्भ में ही गार्हपत्य अग्निमन्थन के लिए दशहोतृ मन्त्र द्वारा अधरारणि के ऊपर उत्तरारणि स्थापित करते हैं। अध्यात्म दृष्टि से यह जैसे यजमान के अपने भीतर नवचेतना के उन्मेष का आयोजन है। लक्षणीय यज्ञ का अधिकांश कर्म ही ऋत्विक्

एवं क्रान्तदर्शी प्रज्ञान और आकूति द्वारा, क्योंकि वे 'कविर् गृहपतिर् युवा' हैं और उसी से हम सब का मानवीय गार्हपत्य भी ऋद्धि से छलक उठता है एवं देवता के तीक्ष्ण तेज से जीवन को धारदार बनाता है।[२]

इसके अतिरिक्त भीतर-बाहर गृहपति के रूप में जो हम सब के इतने निकट हैं, वे अचित्ति की तमिस्र अथवा विवेकहीनता के अँधेरे से जब आवृत रहते हैं, तब बहुत अनुनय-विनय और शक्ति-सामर्थ्य द्वारा प्राण प्रवाह के सङ्गम तीर्थ में हमें उनको खोजता पड़ता है।[१३९२]

गण करते हैं, तब सपत्नीक यजमान भावना अथवा अनुध्यान करते हैं। दशहोतृ मन्त्र ये हैं:- ओं चित्तिः (विवेक) स्त्रुक् (यज्ञपात्र विशेष)। चित्तम् (चेतना) आज्यम् (पिघला हुआ घी, ऐब्रा. १।३)। वाग् वेदिः। आधीतं (एकाग्रभावना, तु. ऋ. १।१७०।१) बर्हिः (कुशास्तरण)। केतो (प्रतिबोध, ज्ञानोदय) अग्निः। विज्ञातम् अग्निः। वाक्पतिर् होता। मन उपवक्ता (ऋत्विक् विशेष)। प्राणो हविः। सामाध्वर्युः। (तै आ. ३।१)। इन मन्त्रों से ही यज्ञ की आध्यात्मिक व्यञ्जना सुस्पष्ट हो जाती है। गार्हपत्य-अग्नि के आधान के बाद 'भगकाल' में अर्थात् सूर्य-बिम्ब का आधा भाग ऊपर आने पर गार्हपत्य से ही आहवनीय अग्नि का आधान। यह अग्नि !देवगण के लिए। उसके बाद पितृगण के लिए दक्षिणाग्नि का आधान। अग्न्याधान के बाद उस दिन ही सायङ्काल अग्निहोत्र का अनुष्ठान आरम्भ किया जाता है। श ब्रा. के अनुसार अग्नि होत्र का अनुष्ठान जरा और मरण जय के लिए १२।४।१।१।

२. द्र. ऋ. ६।१५।१९ (टी. १३५०)।

१३९२. ऋ. ६।९।७;- 'इमं विधन्तो अपां सधस्थे पशुं न नष्टं पदैर् अनु ग्मन्, गुहा चतन्तम्, उशिजो नमोभिर् इच्छन्तो धीरा भृगवो ऽविन्दन्' - इन्हें लक्ष्य करके प्रवाह के सङ्गम में (उन्होंने) अनुगमन किया - जिस प्रकार खोए हुए पशु का (लोग करते हैं) पाँव के निशान पकड़कर; गुहाचर को पाने की इच्छा से उत्कण्ठित् प्रणाम द्वारा धीर मेधावी भृगुओं ने प्राप्त भी कर लिया (१०।४६।२; तु. २।४।२, १।६५।१, २; अन्तरावृत्त प्राण की धाराएँ जहाँ मिलती हैं, वहाँ ही अग्नि का आविर्भाव होता है; ये ही

उस समय उस 'अतिसन्निहित अथच गुहाचर के आविर्भाव[१] को' हम सहसा प्रकाश की झलक जैसा प्रत्यक्ष देखते हैं। तब गृहपति होकर भी अग्नि हम सब के 'प्रियतम शिवमय अतिथि - मित्र की तरह ही प्रिय होते हैं, जिनके विरुद्ध चित्त किसी भी तरह विमुख होना नहीं चाहता।[२] जो मर्त्य के आधार की गहराई में गृहपति के रूप में स्थिर हैं, निश्चल हैं,[३] वे ही फिर अतिथि बन्धु के रूप में हम सब के साथ प्रेमपूर्वक[४] आँखमिचौनी खेलते हैं- यही उनकी लीला है, चरित्र है। केवल हम ही उन्हें प्यार नहीं करते हैं, बल्कि वे भी इस घर को प्यार करते हैं, इसलिए उनकी एक विशिष्ट संज्ञा हुई 'दमूनाः'।[५]

देवताओं की इस प्रेमलीला की अनवद्य अभिव्यक्ति सख्यरति में होती है। पहले ही बतला चुके हैं कि देवता के साथ वैदिक ऋषि का मुख्य सम्बन्ध सख्य अथवा सायुज्य का है, जिसमें आत्ममहिमा उद्योतित ही होती है, - कम नहीं होती। अग्नि के साथ इस सख्य

उनको पाने के साधन हैं; शर या तीर की तरह तन्मय एषणा, आकूति, प्रणति एवं ध्यानचित्तता)।

१. तु. मु. २।२।१।

२. तु. ऋ. ६।२।७, ७।९।३, ८।८४।१, १०।१२२।१, टी. १३३६ (२)।

३. ऋ. ७।३।१।

४. तु. विशाम् अग्निम् अतिथिं सुप्रयसम् (२।४।१; **प्रयः** प्रीति <√ प्री, तु. ५।५१।५-७, अगले तृच में भी आनन्द का उल्लेख है; अतएव निघण्टु का 'अन्न' अर्थात् (२।७) गौण)।

५. **दमूनाः** <दम् (घर, तु. **IE. Lat,** domus 'house'; 'दम-पती' 'दं सुपत्नी' ६।३।७, ४।१९।७, दंसु' १।१३४।४, १४१।४) ॥ दम्+वनस् (प्रीति, तु. १०।१७२।१), सम्प्रसारण में उकार। तु. गिर्वणस् (पदपाठ में अवग्रह नहीं है; किन्तु व्युत्पत्ति द्र. ऋ. इमां मे मरुतो गिरम् .... इमं मे वनता हवम् ८।७।९, इन्द्राग्नी वनतं गिरः ७।९४।२; नि. गिर्वणा देवो भवति गीर्भिर् एवं वनयन्ति ६।१४, 'यज्ञवनस् ऋ. ४।१।२ स्वर में समता सर्वत्र। आधुनिक व्युत्पत्ति 'दमू+नस् (प्रत्यय)। नि. दममना वा दानमना वा दान्तमना वा ४।४।

का चित्र हमें कुत्स आङ्गिरस के एक सूक्त[१३९३] में प्राप्त होता है। ऋषि कहते हैं : 'समुद्र अथवा मङ्गलमय होता है हमारा प्रबुद्ध मनन इनके

१३९३. ऋक्संहिता में प्रथम मण्डल का एक उपमण्डल कुत्स रचित (९४-११५ सूक्त ९९ और १०० वाँ सूक्त छोड़ कर। जातवेदा अग्नि द्वारा उपमण्डल का आरम्भ एवं अन्त सूर्य द्वारा, यह अर्थवह है। ९४। से ९८ सूक्त तक क्रमानुसार देवता हैं, अग्नि जातवेदा, औषिस्, द्रविणोदा, शुचि एवं वैश्वानर :- एक ही अग्नि के विचित्र रूप। फिर ९९ वाँ सूक्त एक ऋक् का एक सूक्त है जो जातवेदा अग्नि के प्रति रचित **कश्यप मारीच** की रचना है। बृहद्देवता में शौनक (३।१३०) एवं सर्वनुक्रमणी में कात्यायन के कथनानुसार इसके बाद शायद और भी एक हज़ार सूक्त थे, क्रमानुसार उनकी ऋक्-सङ्ख्या एक-एक करके बढ़ गई थी। यह बृहत् सङ्ग्रह सम्भवतः लुप्त हो गया (द्र. माधव भट्ट की ऋग्वेदानुक्रमणी पृष्ठ १५६-१५८ औन्ध संस्करण)। कुत्स की रचना कवित्वपूर्ण है, अश्विद्वय, उषा एवं सूर्य के प्रति रचित उनके सारे सूक्त प्रसिद्ध हैं। सूक्तों में कितनी कुछ टेक या स्थायी पद हैं, यह भी उनका एक वैशिष्ट्य है। आलोच्य सूक्त के अतिरिक्त भी उनके मरुत्वान् इन्द्र के प्रति सख्यरति का निदर्शन द्र. सूक्त १०१।१-७। उनके द्वारा रचित सोमयुक्त ऋक् संहिता के सोममण्डल के ९७ वें सूक्त के अन्त में सङ्कलित किया गया है (४५ से ५८ तक, द्र. सर्वानुक्रमणी)। प्रायः सभी सूक्तों के अन्त में उनका प्रिय स्थायी पद या टेक है 'तन् नो मित्रो वरुणो मामहन्ताम् अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः'- जिसमें अनन्तता के तीन देवताओं एवं तीन लोकों का उल्लेख प्राप्त होता है। ('सिन्धु' अन्तरिक्षचारी प्राण-प्रवाह, तु. जगता सिन्धुं दिव्य् अस्तभायत् १।१६४।२५, द्र. 'सिन्धु' ६०७ (२)। यही टेक सोम सूक्त के अन्त में भी है, इसके अलावा कौत्स उपमण्डल के १०० वें सूक्त के अन्त में है, जो कात्यायन के विचार से कुत्सरचित नहीं है। अथच इस सूक्त के आरम्भ के पन्द्रह मन्त्र सभी कुत्स की शैली में रचित, और कात्यायन द्वारा उल्लिखित ऋषियों के नाम उसके बाद आए हैं (१७)। बीच का यह तृच (१००।१७-१९) एवं जातवेदा का यह मन्त्र भी (९९ सू.) क्या प्रक्षिप्त है? इन्द्र के सखा हैं कुत्स (५।३१।९) और कुत्स एक नहीं। पहले के आर्जुनेय कुत्स हैं ऋक् संहिता के एक कुत्स प्राचीन ऋषि हैं (४।२६।१, ७।१९।२, ८।१।११); और यही कुत्स

सङ्गम से, मिलन से। हे अग्नि! तुम्हारी मित्रता में हम लोग पीड़ित न होने पाएँ।। जिसके लिए तुम यजन् करते हो, वह सिद्ध होता है, अजातशत्रु होकर यह जीवन जीता है शान्ति से, सुवीर्य का निधान होता है वह वृद्धिशील है, उसे क्लिष्टता आच्छादित नहीं करती। हे अग्नि! तुम्हारी मित्रता में ...।। हम इतने समर्थ हों कि तुम्हें समिद्ध कर सकें : (उसके लिए ही) सिद्ध करो हमारी ध्यानचित्तता। तुम्हारे ही भीतर आहुत हवि का उपभोग करते हैं देवगण। तुम आदित्यगण को ले आओ, हम तो उनके लिए व्यग्र हैं : हे अग्नि! तुम्हारी मित्रता में...।। हम इन्धन ले आते हैं, सजाते हैं आहुति की सामग्री, हम सचेतन रहते हैं हर मोड़ पर हर सोपान पर पूरी तरह। जीने जैसा जीवन जिएँ इसलिए संसिद्ध करो ध्यानचित्तता को : हे अग्नि! तुम्हारी मित्रता में ...।। जनसाधारण के रखवाले हैं (ये), इनके ही (आश्रय में) चरते-विचरते हैं जीवजन्तु जो द्विपद हैं, जो चतुष्पद हैं – (चरते विचरते हैं दिन में और लौट आते हैं) रात में। विचित्र विस्मयकर महाचेतना हो उषा की तुम : हे अग्नि! तुम्हारी मित्रता में ...।। तुम अध्वर्यु हो, और पहले के या पूर्वतन होता हो; प्रशास्ता (और) पोता हो तुम – जन्म से ही पुरोहित हो। समस्त ऋत्विक् कर्म तुम्हें ज्ञात है हे धीर, पोषण करते हो (उनका) : हे अग्नि! तुम्हारी मित्रता में...।। तुम दिशा-दिशा में सर्वतः सुप्रतीक अर्थात् सुदृश्य सुन्दर हो, दिखाई देते हो एक ही रूप में – दूर रहकर भी (विद्युत् की तरह) निकट झिलमिला उठते हो – रात के अँधेरे को चीर् कर भी देख सकते हो हे देवताः हे अग्नि! वही तुम्हारी ...।। तुम देवताओं के देवता हो, मित्र एवं अद्भुत हो, ज्योतिर्मय जो जितने हैं उनके मध्य तुम ज्योतिर्मय हो अध्वर में चारु हो, सुदर्शन हो; यही कामना है कि तुम्हारी विशालतम शरण में हम सुरक्षित रहें : हे अग्नि! तुम्हारी मित्रता में...।। वही

'आङ्गिरस' हैं (द्र. सर्वानुक्रमणी, परिभाषा २।३)। उन्होंने स्वयं ही एक जगह प्राचीन कुत्स का उल्लेख किया है (१।११२।२३)। 'कुत्स' नाम का अर्थ निघण्टु में हैं 'वज्र' (२।२०) तत्र कुत्स इत्य एतत् कृन्ततेः, ऋषि कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानाम् इति औपमन्यवः। अत्राप्य् अस्य वध कमैव भवति, 'तत्सवःइन्द्रः शुष्णं जघानेति' ३।११ (<√ कुद् ।। चुद् (प्रेरणे)। आर्जुनेय कुत्स के लिए द्र. अध्याय के अन्त में ऋषि प्रसङ्ग।

तुम्हारा माङ्गलय है कि अपने घर में समिद्ध होकर, सोम की आहुति पाकर जागते रहते हो अनुत्तम या सर्वोत्कृष्ट प्रसाद बाँट कर : हे अग्नि! तुम्हारी मित्रता में .....।। जिसको तुमने सुस्रोता होकर प्रदान की है हे अदिति! सब कुछ होने की निरञ्जनता, जिस को समुद्र शौर्य द्वारा प्रचोदित करती हो, प्रेरित करती हो, (वह सुधन्य) : हम सब तुम्हारी सन्तत, निरन्तर ऋद्धि-समृद्धि से जुड़े रहें।।[१]

---

१. द्र. १।९४ सूक्तः भद्रा हि नः प्रमतिर् अस्य संसद्य अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ।।१।। यस्मै तुम आयजसे स साधत्य् अनर्वा क्षेति दधते सुवीर्यम्, स तू ताव नै. नम् अश्मात्य् अहतिर् अग्ने सख्ये ....।।२।। शकेम त्वा समिधं साधया धियस् त्वे देवा हविर् अदन्त्य् आहतम्, त्वम् आदित्याँ आवह तान् ह्य उश्मस्य् अग्ने सख्ये....।।३।। भरामेध्मं कृणवामो हवींषि ते चितयन्तः पर्वणापर्वणा वयम् जीवातवे प्रतरं साधया धियोऽग्ने सख्ये....(टी. १३६१ (२))।।४।। विशां गोपा अस्य चरन्ति जन्तवो द्विपच् यद् उत चतुष्पद् अक्तुभिः (अग्नि दिन-रात सभी प्राणियों के साक्षी एवं रक्षक, पालन कर्ता हैं), चित्रः प्रकेत, उषसो महाँ अस्य (रात बीतते ही फिर उषा के प्रकाश में सब को जगा देते हैं; 'अक्तु' अथवा रात के बाद उषा अग्निहोत्र के क्रम को सूचित करती है) अग्ने सख्ये ....।।५।। त्वम् अध्वर्युर् उत होता.सि पूर्व्यः प्रशास्ता पोता जनुषा पुरोहितः, विश्वा विद्वाँ आर्त्विज्या धीर पुष्यस्य् (द्र. टी. १३६१ (५)) अग्ने सख्ये ....।।६।। यो विश्वतः सुप्रतीकः ('प्रतीक' <प्रति √'अञ्च' 'चलना', दृश्य रूप में जो सामने हैं, किन्तु यह आन्तर दर्शन है, तु. क. प्रत्यग् .... ऐक्षद् आवृत्तचक्षुः २।१।१) सदृङ्ङ्सि (यह बाह्य दर्शन है) दूरे चित् सन् तलिद् इवाति रोचसे ('तळित्' विद्युत् तडित् भवतीति शाकपूणिः, सा ह्य् अवताड़यति दूराच् च दृश्यते नि. ३।११; तु. के. तस्यैष आदेशो यद् एतद् विद्युतो व्युद्युतद्...आ३इत्य् अधिदैवतम् ४।४)' रात्र्याश् चिद् अन्धो अति देव पश्यस्य् अग्ने सख्ये .... (समस्त ऋक् में भीतर-बाहर, व्यक्त - अव्यक्त में रहस्यविद् मर्मज्ञ के अग्निदर्शन का वर्णन)।।७।। देवो देवानाम् मित्रो अद्भुतो वसुर् वसुनाम् असि चारुर् अध्वरे, शर्मन्त, स्याम तव सप्रथस्तमे (तु. उरुर् अनिबाधः ऋ. ५।४२।१७) ऽग्ने सख्ये....।।१३।। तत् ते भद्रं यत् समिद्धः स्वे द्मे सोमाहुतो जरसे मृलयत्तमः (अग्नि-सोम के सहचार में नित्य चिदानन्द की प्राप्ति), दधासि रत्नं (द्र. टी. १३६४ (२)) द्रविणं च

सख्यरति मूल भाव है। उससे अन्यान्य भावों का विकास-विस्तार वैष्णवों की भाषा में भाटे में दास्य, ज्वार में वात्सल्य और गहराई में माधुर्य का होता है।[१३९४] भाव का यह स्वच्छन्द लीलायन ऋषिगृत्समद के इस एक मन्त्र में इस रूप में व्यक्त हुआ है : 'हे अग्नि! तुम पिता हो, तुम्हारी ओर एषणा के साथ लोग (दौड़ कर जाते हैं) तनूरुचि तुम्हारी ओर भ्रातृभाव के लिए (दौड़कर जाती है) उत्साह के साथ, तुम पुत्र होते हो ('उसके) जो तुम्हारी ओर दौड़ कर आए हैं; सखा तुम हो परम शिवमय –. रक्षा करते हो अत्याचार से।'[१] वीर साधक की तीर जैसी तन्मय एषणा के जब वे लक्ष्य होते हैं, तब वे उसके

दाशुषे ऽग्ने सख्ये....।।१४।। यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशोऽनागास्त्वम् अदिते सर्वताता (द्र. टी. १३१७ (४)), यं भद्रेण शवसा चोदयासि प्रजावता राधसा ते स्याम् ।।१५।। सख्य के और भी उदाहरण ऋ. १०।८७।२१ (द्र. टी. १३१४ (३)). ८।७१।९, ४३।१४ (द्र. टी. १३५४ (११))....।

१३९४. एक ही देवता के प्रति इन तीनों भावों का एक साथ पोषण करना भाव का विपरीत आचरण नहीं है। अद्वैत चेतना की ऊँचाई पर सारे भाव ही एक महाभाव में पर्यवसित हो जाते हैं– सम्बन्ध के भले-बुरे होने के कारण विशिष्ट भाव एक ही भाव की सृष्टि हैं। अतः शक्ति साधक कह सकते हैं कि 'जननी, तनया, जाया, सहोदरा क्या पराई हैं?

१. त्वाम् अग्ने पितरम् इष्टिभिर् नरस् त्वां भ्रात्राया शम्या तनूरुचम्, त्वं पुत्रो भवसि यसतेऽविधत् त्वं सखा सुशेवः पास्य आधृषः २।१।९। **शमी** निघ. में कर्म २।१ <√ शम् उपशमने। जिस प्रकार 'शम्ः योः', उसी प्रकार 'शमी' इसी तरह विपरीतार्थ धातु 'यम्, रम' द्वारा रहस्यमय अनुभव का स्वभावसिद्ध सङ्केत करना सरल होता है। 'तनूरुच' तु. अग्नि 'ज्योतिर् अमृतं .... तन्वा वर्धमानः ऋ. ६।९।४; 'उच् छ्रयस्व वनस्पते वर्ष्मन् पृथिव्या अधि ....वर्चो धा यज्ञवाहसे' (३।८।३; 'वनस्पति' यहाँ यूप है, इसके अलावा अग्नि भी है – पृथिवी की सतह से ऊँचाई में ऊपर उठकर यजमान को ज्योतिष्मान् कर देता है; द्र. श्वे. २।१२)। ऋक् के प्रथम दो पाद में सायण विध्. धातु का अध्याहार करना चाहते हैं। 'आधृषः' आधर्षणात (वेङ्कटमाधव)।

पिता अथवा माता हैं।[२] उसके बाद एषणा के चरितार्थ होने पर जब आधियाज्ञिक दृष्टि से अरणि में अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से हृदय में उनका आविर्भाव होता है, तब वे ही पुत्र हैं।[३] उसके बाद शिशु अग्नि धीरे-धीरे अपने घर में बढ़ते रहते हैं, अपनी विश्वरुचि शिखा के उद्भास या प्रकाश से यजमान के तनु को भी उज्ज्वल, रुचिर करते हैं: तब 'अमर्त्यो मर्त्येना सयोनि:'– अर्थात् अग्नि और मनुष्य भाई-भाई हैं।[४] देवता का यह सायुज्य ही साधना का लक्ष्य है, उसका आदि-अन्त उनके सख्य में निविड़ है एकरूप है।[५] और इस निविडता

२. पिता: तु. 'स न: पितेव सूनवे ऽग्ने सूपायनो भव, सचस्वा न: स्वस्तये'– वही तुम हे अग्नि, पुत्र के निकट पिता की तरह स्वच्छन्दगम्य होओ, स्वस्ति के लिए हमें पकड़े रहो १।१।९; हव्यवाल अग्निर् पिता न: ५।४।२; २।५।१, ३।३।४। माता: पिता माता सदम् (सर्वदा) इन् मानुषाणाम् ६।१।५, ५।१५।४ (द्र. टी. १३।१४(२))।

३. अरणि के पुत्र ३।२।२.... (द्र. टीमू. १३४८, १३६६); उससे यजमान के 'सहस: पुत्र: ५।११।६ (द्र. टी. १३५६ (२))। अतएव आधार के सोमपात्र में : पितुर् न पुत्र: सुभृतो दुरोण ८।१९।२७। पितापुत्र सम्बन्ध का हेर-फेर: 'अव स्पृधि पितरं योधि विद्वान् पुत्रो यस् ते सहस: सून ऊहे'– पिता की रक्षा के प्रति सतर्क दृष्टि रखो, दूर कर दो (उसके शत्रु को) – तुम तो जानते हो (सब): कि (पिता स्वयं को) तुम्हारा पुत्र मानता है, हे उत्साहस के तनय (५।३।९; उपासक अग्नि का जनक, और फिर अग्निरक्षित होने के कारण उनका पुत्र, द्र. सायण)।

४. तु. १।१६४।३० (द्र. टी. १३८९); उभयत्र 'जीव' आयु अथवा प्राणरूप में अग्नि-जिस प्रकार जीवन में, उसी प्रकार मरण में। मृत्यु के बाद भी वे अपने शिवतनु द्वारा यजमान को वहन करके सुकृतों अथवा भाग्यवानों के लोक में ले जाते हैं और वहाँ उसका दिव्यतनु गढ़ते हैं (१०।१६।४-५)।

५. तु. 'अयम् अग्ने त्वे अपि जरिता भूतु सन्त्य'– हे अग्नि! हे सत्स्वरूप! यह गायक तुम में आसक्त रहे ८।४४।२८; अग्निं मन्ये पितरम् अग्निं आपिम् अग्निं भ्रातरं सदम् इत् सखायम् अग्नेर् अनीकं बृहत: सपर्यं दिवि शुक्रं यजतं सूर्यस्य – अग्नि को मानता हूँ पिता, अग्नि को बन्धु, अग्नि को भाई; सदा ही (उनको मानता हूँ) सखा; बृहत् अग्नि की पुञ्जज्योति

का पर्यवसान मधुर भाव में होता है, जब उतावले, उत्कण्ठित देवता के हृदय के निविड स्पर्श के लिए मनुष्य का भी हृदय उसी प्रकार व्यग्र होता है, जिस प्रकार सुवेशा पत्नी प्रेमानन्द में पति से मिलने के लिए व्याकुल होती है।[६] उस समय ऋषि के अन्तर में कभी-कभी माधुर्य के विलास-विवर्त में विप्रलब्ध का अभिमान अथवा आत्ममर्यादा का बोध छलक उठता है। ऋषि कहते हैं: मैं यदि तुम होता हे अग्नि और तुम यदि होते मैं, तो फिर ये (जीवन में) तुम्हारे सारे आशीर्वाद ही सत्य होते।.... हे अग्नि! (तुम यदि मर्त्य होते और मैं होता अमर्त्य हे मित्रदीप्ति हे मेरे उत्साहस के पुत्र जिसको सब दिया है, तुम्हें मैं फेंक नहीं देता अभिशाप के मध्य हे ज्योतिर्मय, हे सत्यस्वरूप, (फेंक देता नहीं) पाप के बीच। मेरा स्तोता होता नहीं दिशाहारा, दिग्भ्रान्त अथवा दुर्गत या दुर्दशा ग्रस्त; वह होता नहीं पापस्पृष्ट।[७]

गार्हपत्य अथवा गार्हस्थ्य पति-पत्नी दोनों को लेकर चलता है। गृहपति अग्नि के प्रति पुरुष का यह मधुर भाव चाहे जितना भी हो,

की परिचर्या करता हूँ (और) द्युलोक में सूर्य की यजनीय शुक्ल (ज्योति की) १०।७।३ (आध्यात्मिक दृष्टि से हृदय में अग्नि, मूर्द्धा में सूर्य)।

६. तु. भूया हृदय् अस्य निस्पृशे जायेव पत्य उशती सुवासो: १०।९१।१३।

७. यद् अग्ने स्याम् अहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्, स्युष टे सत्या इहाशिष ८।४४।२३। यद् अग्ने मर्त्यस् त्वं स्याम् अहं मित्रमहो अमर्त्य:, सहस: सूनव् आहुत: न त्वा रासीया भिशस्तये वसो न पापत्वाय सन्त्य, न मे स्तोता मतीवा न दुर्हित: स्याद् अग्ने न पापया १९।२५-२६। पाप ऋ. में जो कोई भी अशुभ शक्ति वा प्रवृत्ति – जैसे रक्ष: शक्ति, १।१२९।११, यौन अतिचार १०।१०।१२, अमङ्गल १।१९०।५, अनृत एवं असत्य ४।५।५। ब्राह्मण में 'अशनाया' (बुभुक्षा अथवा वासना दोनों अर्थ में ही ऐत्रा २।२), 'वृत्र' श. ६।४।२।३, ११।१।५।७ (तु. ऐ. ४।२५), जो कोई भी क्लिष्टता अथवा चेतना का सङ्कुचन श. ४।४।५।२३, ३।३।१६। उपनिषद् में द्वैत बुद्धि छा. १।२)।.... वैष्णवों के अनुसार भाव की पराकाष्ठा मधुर में, वह सभी भावों में अनुस्यूत। उसकी 'गति साँप की तरह टेढ़ी-मेढ़ी'। इसलिए 'वाम्य' अथवा आपातत: प्रतिकूलता उसका एक विशिष्ट लक्षण। उसकी एक व्यञ्जना मान-अभिमान में। अनुरूप अभिमान इन्द्र के प्रति ८।१४।१-२, ७।३२।१८; मरुद्गण के प्रति १।३८४।

मगर आरोपित है। किन्तु नारी में वह स्वाभाविक होगा। संहिता में ऋषिकाओं की रचनाएँ बहुत ही कम हैं क्योंकि अग्नि के प्रति उनके मनोभाव की अभिव्यक्ति विशेष सहज नहीं। केवल आत्रेयी विश्ववारा के अग्निसूक्त में देवता के प्रति नारी मन की ललक, प्रणति और वन्दना की एक सुकोमल छवि प्रस्फुटित हुई है[१३९५] जिसमें हमें अग्नि के निकट उनकी भावुकता पूर्ण यह प्रार्थना मिलती है : 'हे अग्नि! दाम्पत्य को तुम सुन्दर, सुसंयमित करो।' ऐसी प्रार्थना अग्नि के निकट ही की जा सकती है, क्योंकि पहले ही हमने बतलाया है कि वैदिक भावना में मनुष्य को पतिरूप में पाने के पहले तरुणी कन्या अग्निगृहीता अर्थात् अग्नि उसके तृतीय पति हैं।[१] इस प्रकार की भावना हमें ऋक्संहिता के अन्य स्थानों पर भी मिलती है वसुश्रुत आत्रेय ने अग्नि को सम्बोधित करते हुए कहा है कि 'तुम तब हो ओ अर्यमा, जब कुमारियों के (बन्धु तुम), अपने आपमें स्वयं स्थित रहकर धारण करते हो वह गोपनीय नाम; स्वागत योग्य मित्र समझकर गव्य का अञ्जन तुम्हें मल देती हैं, जब दम्पत्ति के दो मन को एक कर देते हो तुम।'[२] और एक स्थान पर अग्नि को 'कुमारियों का बन्धु एवं विवाहिताओं का पति कहा जा रहा है।[३] इस समय हम जिस प्रकार शिव अथवा कृष्ण के प्रति कन्याओं का मधुर भाव देखते हैं, उसी

१३९५. द्र. टीमू. १३५०(३)....। और भी तु. ऋ. १०।८५।२३।

१. द्र. टी. १३८३(१)। अग्नि साक्षी करके विवाह होता है द्र. १०।८५।३८. ४१।

२. त्वम् अर्यमा भवसि यत् कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि, अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर् यद् दम्पती समनसा कृणोषि ५।३।२। 'अर्यमा' आनन्द, सम्भोग-उपभोग और सख्य के देवता हैं (आगे चल कर द्रष्टव्य)। विवाह में उनका प्राधान्य, द्र. विवाह सूक्त १०।८५।२३, ४६। आश्वलायन के गृह्यसूत्र के अनुसार 'अर्यमणं नु देवम् कन्या अग्निम् अयक्षत – कुमारी लड़कियों ने अग्नि में अर्थमा का ही यजन किया १।७।१३। शौ. में वैवाहिक अग्नि को अर्यमा कहा गया है १४।१।३९।

३. ऋ. जार: कनीनां पतिर् जनीनाम् १।६६।८। अग्नि गृहपति हैं, नारी ने जीवन भर उनको ही चाहा है, पति के भीतर भी उनको ही देखा है (तु. १०।८५।४०)।

प्रकार वेदकालीन कन्याओं का मधुर भाव अग्नि के प्रति देखते हैं।[४] लगता है मर्त्य गृहपति के भीतर ही वे उसी दिव्य 'कविर् गृहपतिर् युवा' का प्रतिबिम्ब खोजतीं, जो उनके तरुण जीवन के स्वप्न थे।

अग्नि के साथ मनुष्य के व्यक्तिगत सम्बन्ध की यही धारा है। वैदिक ऋषियों की देवोपासना विशेष रूप से एक व्यक्तिगत प्रकरण है, इसलिए कहा जा सकता है कि देवों के सम्बन्ध में यह धारा ही स्वभावत: गहरी हुई है। किन्तु स्मरण रखना होगा कि आर्यभावना में अध्यात्म-दृष्टि और अधिदैवत दृष्टि सहचरित हैं; आध्यात्मिक भावना व्यक्तिगत है, किन्तु अधिदैवत भावना विश्वगत है। इसके अलावा आत्मचैतन्य का विश्वमय प्रसारण वैदिक साधना का चरम परिणाम है। इसी से देखते हैं कि वेद मन्त्रों में व्यक्ति का अतिक्रम करके विश्व बड़ा हो उठा है, वहाँ 'अहं – माम् – मे' की अपेक्षा 'वयम् – न:' का प्रयोग ही अधिक है। सम्भवत: हम लक्ष्य नहीं करते कि हम सब का नित्यजपा गायत्री-मन्त्र व्यक्ति के कण्ठ से उच्चारित एक सार्वजनिक प्रार्थना है : सविता की प्रचोदना या प्रेरणा का मैं आवाहन करता हूँ अकेले अपने लिए नहीं बल्कि सब के लिए– मैं वहाँ विश्वमानव का प्रतिनिधि हूँ। अतएव अग्नि के बारे में भी देखता हूँ कि गृहपति के रूप में वे जिस प्रकार मेरे नितान्त अपने हैं, उसी प्रकार फिर वे सबके भी हैं[१३९६] वे 'राजा विशाम्' 'विशाम् अतिथि:',

४. अन्यत्र हम देखते हैं कि कुमारी अपाला का मधुर भाव इन्द्र के प्रति है ८।९१ सूक्त; विशेष द्रष्टव्य इन्द्र के प्रसङ्ग में।

१३९६. द्र. ऋ. २।२।८, ४।१, ३।२।१०, ५।९।३, ६।७।१, ५।१।६, ७।५।५, ३।६।५...। जन, विश, कृष्टि एवं चर्षणी में सूक्ष्य भेद रहते हुए भी वह सर्वत्र स्थिर नहीं रखा गया। जान पड़ता है, सर्वाधिक व्यापक संज्ञा जन है, समूह के बोध के लिए देवता एवं मनुष्य दोनों के बारे में प्रयुक्त। जैसे पञ्चजन' कहने पर सर्वसाधारण का बोध होता है (द्र. टी. १३७४ (३)) सभी भारतवासी 'भारतजन' (ऋ. ३।५३।१२); तु. परवर्ती 'जनपद'। उनमें ही **विश** वे लोग हैं, जिन्होंने उपनिवेश अथवा नई बस्ती बसाने के लिए नई भूमि में घुसपैठ की है (<√ विश्, प्रवेश करना); ये आर्यों के समुदाय के अभिजात एवं सुप्रतिष्ठित ब्राह्मण-क्षत्रिय से अलग (तु. ८।३५।१६-१८) इसी से आगे चल कर तृतीय वर्ण वैश्य। राहस्यिक अर्थ

मगर आरोपित है। किन्तु नारी में वह स्वाभाविक होगा। संहिता में ऋषिकाओं की रचनाएँ बहुत ही कम हैं क्योंकि अग्नि के प्रति उनके मनोभाव की अभिव्यक्ति विशेष सहज नहीं। केवल आत्रेयी विश्ववारा के अग्निसूक्त में देवता के प्रति नारी मन की ललक, प्रणति और वन्दना की एक सुकोमल छवि प्रस्फुटित हुई है[१३९५] जिसमें हमें अग्नि के निकट उनकी भावुकता पूर्ण यह प्रार्थना मिलती है : 'हे अग्नि! दाम्पत्य को तुम सुन्दर, सुसंयमित करो।' ऐसी प्रार्थना अग्नि के निकट ही की जा सकती है, क्योंकि पहले ही हमने बतलाया है कि वैदिक भावना में मनुष्य को पतिरूप में पाने के पहले तरुणी कन्या अग्निगृहीता अर्थात् अग्नि उसके तृतीय पति हैं।[१] इस प्रकार की भावना हमें ऋक्संहिता के अन्य स्थानों पर भी मिलती है वसुश्रुत आत्रेय ने अग्नि को सम्बोधित करते हुए कहा है कि 'तुम तब हो ओ अर्यमा, जब कुमारियों के (बन्धु तुम), अपने आपमें स्वयं स्थित रहकर धारण करते हो वह गोपनीय नाम; स्वागत योग्य मित्र समझकर गव्य का अञ्जन तुम्हें मल देती हैं, जब दम्पत्ति के दो मन को एक कर देते हो तुम।'[२] और एक स्थान पर अग्नि को 'कुमारियों का बन्धु एवं विवाहिताओं का पति कहा जा रहा है।[३] इस समय हम जिस प्रकार शिव अथवा कृष्ण के प्रति कन्याओं का मधुर भाव देखते हैं, उसी

१३९५. द्र. टीमू. १३५०(३)....। और भी तु. ऋ. १०।८५।२३।

१. द्र. टी. १३८३(१)। अग्नि साक्षी करके विवाह होता है द्र. १०।८५।३८. ४१।

२. त्वम् अर्यमा भवसि यत् कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि, अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर् यद् दम्पती समनसा कृणोषि ५।३।२। 'अर्थमा' आनन्द, सम्भोग-उपभोग और सख्य के देवता हैं (आगे चल कर द्रष्टव्य)। विवाह में उनका प्राधान्य, द्र. विवाह सूक्त १०।८५।२३, ४६। आश्वलायन के गृह्यसूत्र के अनुसार 'अर्यमणं नु देवम् कन्या अग्निम् अयक्षत – कुमारी लड़कियों ने अग्नि में अर्थमा का ही यजन किया १।७।१३। शौ. में वैवाहिक अग्नि को अर्यमा कहा गया है १४।१।३९।

३. ऋ. जारः कनीनां पतिर् जनीनाम् १।६६।८। अग्नि गृहपति हैं, नारी ने जीवन भर उनको ही चाहा है, पति के भीतर भी उनको ही देखा है (तु. १०।८५।४०)।

प्रकार वेदकालीन कन्याओं का मधुर भाव अग्नि के प्रति देखते हैं।[४] लगता है मर्त्य गृहपति के भीतर ही वे उसी दिव्य 'कविर् गृहपतिर् युवा' का प्रतिबिम्ब खोजतीं, जो उनके तरुण जीवन के स्वप्न थे।

अग्नि के साथ मनुष्य के व्यक्तिगत सम्बन्ध की यही धारा है। वैदिक ऋषियों की देवोपासना विशेष रूप से एक व्यक्तिगत प्रकरण है, इसलिए कहा जा सकता है कि देवों के सम्बन्ध में यह धारा ही स्वभावतः गहरी हुई है। किन्तु स्मरण रखना होगा कि आर्यभावना में अध्यात्म-दृष्टि और अधिदैवत दृष्टि सहचरित हैं; आध्यात्मिक भावना व्यक्तिगत है, किन्तु अधिदैवत भावना विश्वगत है। इसके अलावा आत्मचैतन्य का विश्वमय प्रसारण वैदिक साधना का चरम परिणाम है। इसी से देखते हैं कि वेद मन्त्रों में व्यक्ति का अतिक्रम करके विश्व बड़ा हो उठा है, वहाँ 'अहं – माम् – मे' की अपेक्षा 'वयम् – नः' का प्रयोग ही अधिक है। सम्भवतः हम लक्ष्य नहीं करते कि हम सब का नित्यजपा गायत्री-मन्त्र व्यक्ति के कण्ठ से उच्चारित एक सार्वजनिक प्रार्थना है : सविता की प्रचोदना या प्रेरणा का मैं आवाहन करता हूँ अकेले अपने लिए नहीं बल्कि सब के लिए– मैं वहाँ विश्वमानव का प्रतिनिधि हूँ। अतएव अग्नि के बारे में भी देखता हूँ कि गृहपति के रूप में वे जिस प्रकार मेरे नितान्त अपने हैं, उसी प्रकार फिर वे सबके भी हैं[१३९६] वे 'राजा विशाम्' 'विशाम् अतिथिः',

४. अन्यत्र हम देखते हैं कि कुमारी अपाला का मधुर भाव इन्द्र के प्रति है ८।९१ सूक्त; विशेष द्रष्टव्य इन्द्र के प्रसङ्ग में।

१३९६. द्र. ऋ. २।२।८, ४।१, ३।२।१०, ५।९।३, ६।७।१, ५।१।६, ७।५।५, ३।६।५...। जन, विश, कृष्टि एवं चर्षणी में सूक्ष्य भेद रहते हुए भी वह सर्वत्र स्थिर नहीं रखा गया। जान पड़ता है, सर्वाधिक व्यापक संज्ञा जन है, समूह के बोध के लिए देवता एवं मनुष्य दोनों के बारे में प्रयुक्त। जैसे पञ्चजन' कहने पर सर्वसाधारण का बोध होता है (द्र. टी. १३७४ (३)) सभी भारतवासी 'भारतजन' (ऋ. ३।५३।१२); तु. परवर्ती 'जनपद'। उनमें ही **विश** वे लोग हैं, जिन्होंने उपनिवेश अथवा नई बस्ती बसाने के लिए नई भूमि में घुसपैठ की है (<√ विश्, प्रवेश करना); ये आर्यों के समुदाय के अभिजात एवं सुप्रतिष्ठित ब्राह्मण-क्षत्रिय से अलग (तु. ८।३५।१६-१८) इसी से आगे चल कर तृतीय वर्ण वैश्य। राहस्यिक अर्थ

'विशां कविः', 'विशां धर्ता', 'कविः सम्राड् अतिथिर् जनानाम्', 'पतिः कृष्टीनाम्', 'नेता चर्षणीनाम्' इत्यादि हैं। वे तो आयु अर्थात् प्राणस्वरूप हैं, इसलिए प्रणति और हव्य द्वारा अभ्यञ्जन करता है वही सुप्रीत (देवता का) 'पञ्चजन'।[१] सङ्क्षेप में वे वैश्वानर हैं अर्थात् सबके अन्तर्यामी हैं; 'गर्भश् च स्थाताम् गर्भश् चरथाम्' – जड़-चेतन जो कुछ है सब के अन्तर्निहित' चिन्मय भ्रूण हैं।[२]

कवि की भाषा में उसका आवाहन करके कहते हैं, 'ओ मेरे, सब के आधार, तुम करते सर्वत्र विहार – तुम मेरे हो, सब के हो, विश्व से चित्त तक विचरते हो, विहार करते हो।'

यह विश्वजनीन अग्नि ही मनुष्य के 'प्रथमो यज्ञसाधु' हैं – उसके उत्सर्ग की भावना के आदिम प्रचोदक या प्रेरक हैं।[१३९७] अतएव मानव ऋत्विक् के साथ इस दिव्य ऋत्विक् का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

में विश् वे प्रवर्त साधक जो साधना के क्षेत्र में सद्यः प्रविष्ट होते हैं। अनेक स्थानों पर विश् और जन में कोई अन्तर नहीं (इस प्रसङ्ग में तु. 'विश्व'; शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'विश्वो विश्वे देवाः', २।४।३।६, ३।९।१।१८, ५।५।१।१०, 'वैश्वदेव्यो वे प्रजाः तै. १।६।२।५....')। कृषि कर्म करने के कारण वृत्ति की दृष्टि से ये कृष्टि (<√ कृष् 'चास करना, जोतना-बोना, खेती करना')। इसके अलावा राहस्यिक अर्थ में यह साधकों की साधारण संज्ञा है। साधना के साथ क्षेत्रकर्षण की उपमा अति प्राचीन एवं स्वाभाविक है; ऋक् संहिता में सिद्धपुरुष ही 'क्षेत्रवित्' (तु. १०।३२।७)। **चर्षणि** (<√ चर् 'चलना') जो चरिष्णु है, स्थाणु नहीं है, अतएव उद्योगी है परिश्रमी है (तु. ऐब्रा. रोहित के प्रति इन्द्र का अनुशासन – उपदेश 'चरैव' ७।१४) अनेक स्थानों पर सामान्यतः 'मनुष्य' या 'लोग' का बोध होने पर भी इस संज्ञा में राहस्यिक द्योतना प्रबल है।

१. आयुं न यं नमसा रातहव्या अंजन्ति सुप्रयसं पंचजनाः ६।११।४ अञ्जन किसी भी स्नेहद्रव्य (तैलादि) द्वारा लेपना मलना। किन्तु आग को ऐसा करने पर वह और भी जल उठती है। इसी से इस संज्ञा में प्रकाश और आवरण इन दो विपरीत मुखी भावों की व्यञ्जना का सङ्केत है।

२. १।७०।३।

१३९७. ऋ. १।९६।३।

ऋत्विक् की लक्ष्याभिसारी चेतना में मनीषा की जो दीप्ति है, उसे वे ही आगे-आगे लेकर चलते हैं– उसके समस्त चिन्तन-मनन के एक मात्र अधिनायक वे ही हैं।[१] अग्नि के प्रत्यक्ष आवेश एवं प्रवचन में यह मनीषा ही तब वाक के उस निगूढ़ परमपद का, लोकोत्तर रहस्य के उस विज्ञान[२] का आविष्कार करती है, जिसने हमारे पूर्व पुरुषों को 'सत्य मन्द्र' बनाया है। उनकी मन्त्रसिद्धि ने अँधेरे के आवरण को चीर कर मनुष्य की चेतना में नयी उषा को जन्म दिया है।[३] वे हमारे पथ प्रदर्शक पूर्वज ऋषि हैं,[४] यज्ञ के वितनन, प्रसारण में मनुष्यों के बीच अग्नि-विद्या के प्रवर्तक-मनु, अथर्वा, अङ्गिरा, भृगु एवं आयु हैं। अग्नि के सायुज्य में वे अग्निमय हैं। प्रसङ्गतः हमने इन अग्नि ऋषियों का कुछ-कुछ परिचय प्राप्त किया है, आगे चलकर विस्तारपूर्वक चर्चा करेंगे।

५. अग्नि के विभिन्न विभाव या रूप

अग्नि के रूप, गुण, कर्म एवं जन्म-रहस्य तथा देवता और मनुष्य के साथ उनका सम्बन्ध– इन सब के विवेचन से हमने उनका एक साधारण परिचय प्राप्त किया। किन्तु इसके अलावा उनकी कई एक विशिष्ट व्यञ्जनाएँ भी हैं– जिसका परिचय हमें कुत्स आङ्गिरस के अग्नि-सूक्त में मिलता है।[१३९८] उसमें हम देखते हैं कि एक ही

---

१. 'तु. त्वं हि विश्वम् अभ्य् असि मन्म प्र वेधसश् चित् तिरसि मनीषाम्'– तुम ही जब समस्त मनन के अधिकारी हो, तब तुम ही लक्ष्यवेधी मनीषा को अग्रसर करके चलते हो ४।६।१। 'मन्म' मनन; उसके ऊपर 'मनीषा' उपनिषद् में जो विज्ञान सत्त्व अथवा बुद्धि है (तु. क. १।३।३-१३, २।३।७, ९; १।६१।२, द्र. टी. १२५८)।

२. द्र. ऋ. ४।५।३, टीमू. १३२० (७)।

३. गूल्हं ज्योतिः पितरो अन्व् अविन्दत् सत्य मन्त्रा अजनयन् उषासम् ७।७६।४।

४. तु. १०।१४।१५।

१३९८. द्र. 'कुत्स' टीमू. १३९३।

अग्नि के—जातवेदाः, औषस, द्रविणोदाः, शुचि और वैश्वानर रूप में विभिन्न विभाव हैं। कुत्सदृष्ट अग्नि के इन विभावों को अध्यात्म चेतना की अभिव्यक्ति के क्रम के अनुसार कुछ हेर-फेर के साथ इस रूप में क्रमबद्ध कर ले सकते हैं;- सौचीक (औषस), जातवेदाः, शुचि (रक्षोहा) द्रविणोदाः एवं वैश्वानर। इनमें जातवेदा के बारे में पहले ही बतलाया जा चुका है[१], अब और सब की चर्चा करेंगे।

पहले हम **सौचीक** अग्नि के बारे में बात करेंगे। अग्नि का सौचीक नाम संहिता अथवा ब्राह्मण में नहीं है, किन्तु बृहद्देवता में शौनक के कथनानुसार 'सौचीक अग्नि देवताओं के निकट से चले गए थे – यह बात श्रुति में है।'[१३९९] जान पड़ता है इस नाम का अर्थ है जिनकी सूचना मात्र है, जो दिखाई नहीं पड़ते, अथच सूची वाहित सूत्र की तरह जो सर्वत्र अनुस्यूत हैं, सङ्क्षेप में जो अति 'सूक्ष्म' हैं।[१] संहिता के आख्यान में इस भाव की ध्वनि ही सुस्पष्ट है। अग्नि का प्रथम आविर्भाव जातवेदो रूप में होता है, किन्तु उसके पहले वे जब अप् या ओषधि के गर्भ में निहित थे,[२] जब वे सूचित, किन्तु आविर्भूत नहीं, तभी वे 'सौचीक' थे। कुत्स ने इस अग्नि को ही 'औषस' कहा है, जो 'निण्य' हैं अथवा गुहाहित होने के कारण जिनको कोई नहीं

---

१. द्र. टीमू. १३२१....; ऋ. सूक्त टीमू. १३९३।

१३९९. बृहद्देवता ७।६३। श्रुति में आख्यान तो है, किन्तु अग्नि का नाम नहीं है। शौनक की जानकारी में किसी श्रुति में उल्लेख है या नहीं, उनकी उक्ति से वह... निस्सन्देह समझ में नहीं आता। शौनक ने अपने ग्रन्थ में अनेक खिल मन्त्रों का उल्लेख किया है। यह नाम क्या वेद की उन शाखाओं में कहीं था?

१. ऋ. में एक स्थान पर अति सूक्ष्म अदृष्ट विषधर जीव को 'सूचीक' कहा गया है १।१९१।७; और एक स्थान पर 'सूची' का उल्लेख इस रूप में है: (राका) सीव्यत्व अपः सूच्या च्छिद्यमानया २।३२।४। 'सूक्ष्म' शब्द का भी मूल एक ही। क. में पुरुष के सम्बन्ध में हम पाते हैं– 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते, दृश्यते त्व् अग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' १।३।१२। इस भावना के भीतर सौचीक अग्नि की व्यञ्जना है।

२. तु. ऋ. ३।१।१३ (द्र. टीमू. १३७६), २९।२

खोज पाता,[३] जो दिन के पुत्र हैं, किन्तु रात्रि उनकी धात्री है, फिर जिनका आविर्भाव[४] हिरण्मय या स्वर्णमय सूर्य रूप में उषा में होता है, जिनके सर्वव्यापी तीन जन्म द्युलोक, अन्तरिक्ष एवं समुद्र[५] में होते हैं, किन्तु चौथा जन्म हम सब के मध्य होता है।[६]

---

३. तु. 'क इमं वो निण्यम् आ चिकेत १।९५।४; इसी से 'नचिकेतः' संज्ञा; तु. १०।५१।३, ४।

४. तु. 'द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्सम् उप धापयेते, हरिर् अन्यस्यां भवति स्वधानाञ्छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः' दो रूप-रङ्ग की (धेनु) चर रही हैं– दोनों का एक ही सुन्दर लक्ष्य है; एक दूसरे के बछड़े को दूध पिला रही हैं; आत्मनिहि (देवता) एक के भीतर स्वर्णमय हिरण्मय होते हैं और दूसरी के भीतर शुक्ल एवं सुद्युति, सुन्दर दिखाई देते हैं १।९५।१। दिन और रात दो धेनु हैं– एक धवरी (सफ़ेद) है और एक साँवली (काली) है। रात्रि के गर्भ ने प्रातःकाल में हिरण्मय सूर्य का आविर्भाव; उसी प्रकार सायङ्काल में शुक्ल ज्योति अग्नि का आविर्भाव। तब सूर्य की धात्री दिवा (दिन) और अग्नि की धात्री रात्रि। और फिर रात के अँधेरे में सूर्य का प्रकाश अग्नि में सिमट आता है, वह अग्नि ही औषस रूप में सूर्य में विस्फारित होते हैं। प्रकार सङ्कुचन और विस्फारण से जीव चेतना और विश्व चेतना में एक ही ज्योति का लीलायन है। यह भावना ही अग्निहोत्री की साधना का आधार है।

५. १।९५।३, द्र. टी. १३७३ (३)

६. तु. १०।४५।१। तो फिर कुल चार अग्नि हैं जिसका उल्लेख हमें ब्राह्मण में प्राप्त होता है (द्र. टी. १४०३)। द्युलोक में सूर्य रूप में, अन्तरिक्ष में जलभरे मेघ में विद्युत् रूप में और समुद्र में बड़वानल रूप में (जो सम्भवतः फास्फोरस अथवा ज्योत्स्ना का टिमटिमाहट का वर्णन है) ये तीन अग्नि तीन लोक में व्याप्त है। चतुर्थ अग्नि हव्यवाहन रूप में हम सबके अन्तर में आविर्भूत। यद्यपि औषस् अग्नि ही आकाश में सूर्य रूप में और वेदी में जातवेदो रूप में जल उठते हैं, तब भी कुत्स की सूक्तमाला में दृष्टि से अदृष्ट का सङ्केत समझाने के लिए क्रम का विपर्यय दिखाया गया है।

सौचीक अग्नि गुहाहित है, गुह्य है। अग्नि के गुहाशयन का उल्लेख ऋक् संहिता के अनेक स्थानों पर अनेक रूपों में है।[१४००] अधिभूत दृष्टि से अग्नि को हम सर्वदा सर्वत्र नहीं देख पाते— न ओषधि में, न अप् में न द्युलोक में। किन्तु अध्यात्म दृष्टि से हम देखते हैं कि वे हमारे भीतर तपःशक्ति रूप में सर्वदा उपस्थित हैं, चित्तिर अपां दमे विश्वायुः'— प्राणप्रवाह में चेतना रूप में, आधार में विश्वप्राण रूप में अवस्थित हैं।[१] यह आत्मानुभव ही बृहत् होकर देवता की सर्वव्यापिता एवं नित्यता का अनुभव करवाता है। उस समय हम उनको कह सकते हैं; – 'तुम अजात, अजन्मा होकर धारण किये हो इस विपुला क्षिति या पृथिवी को, द्युलोक के स्तम्भ हुए हो सत्य मन्त्र द्वारा; प्राण के, आलोक के सारे प्रिय धामों की रखवाली करते रहते हो सतर्कता के साथ; हे अग्नि! तुम विश्वायु हो, जा रहे हो गुहा से (और भी गहन) गुहा में'[२] अर्थात् देवता एक ही साथ सर्वव्यापी, सर्वाधार एवं सर्वनिविष्ट हैं। जब वे निविष्ट होते हैं, तब फिर हम उन्हें देख नहीं पाते; किन्तु विश्वमूल व्याहृति के मन्त्ररूप में उस समय भी वे हैं। गुहाहित होकर वे औषधि में हैं, अप् में है, परमव्योम में हैं और सब के भीतर हैं, अन्तर में हैं। उसी गुहाहित अग्नि को विश्वप्राण मातरिश्वा परमव्योम से यहाँ ले आते हैं;[३] फिर हम सब भी जाग्रत चित्त की आहुति द्वारा उनको आँखों के सामने प्रज्वलित प्रस्फुटित कर लेते हैं।[४] इस प्रकार देवता के प्रसाद या अनुग्रह और

१४००. तु. ऋ. गुहा चतन्तम् १।६५।१, गुहानिषीदन् ६७।३; य ईं चिकेत गुहा भवन्तम् ७, गुहा सन्तम् ५।८।३, गुहा हितं ४।७।६, ५।११।६, गुहा चरन्तम्, माता गुहाविभर्ति ५।२।१, गुहेव वृद्धम् ३।१।१४....; और भी तु. त्वाम् अग्ने तमसि तस्थिवांसम् ६।९।७.....।

१. १।६७।१०।

२. अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मंत्रेभिः सत्यैः, प्रिया पदानि पश्वो नि पाहि विश्वायुर् अग्ने गुहा गुहं गाः १।६७।५–६।

३. तु. ३।९।५, ६।८।४, १।१२८।२, १४१।३, ३।५।१०।

४. तु. ३।२९।२+६।९।४–७।

मनुष्य के प्रयास दोनों के मेल से अगोचर, अप्रत्यक्ष को गोचर अथवा प्रत्यक्ष में लाने, उतारने की साधना चलती है।[५]

सौचीक अग्नि का यह तिरोभाव और आविर्भाव ऋक्संहिता के एक उपमण्डल में संवाद के रूप में सन्धा भाषा में वर्णित हुआ है।[१४०१] संवाद के रचयिता ऋषि का नाम नहीं मिलता, किन्तु उसके बाद ही दो सूक्तों का एक और उपमण्डल है। अनुक्रमणी के मतानुसार जिसके ऋषि 'सौचीकोऽग्निर् वैश्वानरो वा, सप्तिर् वाजम्भरो वा' हैं।[१] द्वितीय सूक्त के आरम्भ में ही 'सप्ति वाजम्भर' का उल्लेख है। किन्तु प्रकरण से समझ में नहीं आता कि वह ऋषि का नाम है या नहीं। इस पद्गुच्छ का अर्थ है 'ऐसा अश्व जो ओज का वाहन है।' इस में अग्नि के गुण की ध्वनि है, क्योंकि ऋक् संहिता के अनेक स्थानों पर अश्व के साथ अग्नि की तुलना की गई है एवं उसमें 'वाजम्भर' यह विशेषण भी एक स्थान पर है।[२] इन दोनों सूक्तों के पहले सूक्त में वे सौचीक द्वारा एवं दूसरे सूक्त में वैश्वानर द्वारा आविष्ट हैं; पहले सूक्त की वचनभङ्गिमा साधक की है एवं दूसरे की सिद्ध की है— जब वे

५. तु. पश्वा न तायुं (पशु लेकर भाग जाने वाले चोर की तरह) गुहा चतन्तं नमो युजानं (उनके रथ में जुते अश्व की तरह हमारी प्रणति) नमो वहन्तम्, (देवताओं के पास), सजोषा (समान रूप से तृप्ति में, मिल-जुलकर) धीराः पदैर् (पद-चिह्न पकड़ कर : पशु के खो जाने एवं चोर के भागने की ध्वनि है) अनुग्मन्न् उप त्वा सीदन् (तुम्हारे निकट जाकर बैठने के लिए) विश्वे यजत्रा : (अर्थात् देवतागण) १।६५।१–२। मनुष्य 'धीर', देवता 'यजन' अथवा यजनीय। मनुष्य की साधना के पीछे विश्वदेवेगण अथवा विश्वचैतन्य का आवेश सब समय रहता है। समस्त वैदिक भावना के पृष्ठभूमि के रूप में विश्वदेवगण की उपस्थिति विशेष रूप से ध्यातव्य।

१४०१. द्र. ऋ. १०।५१–५३ सूक्त

१. १०।७९–८० सूक्त

२. तु. 'आशुं (क्षिप्रगामी अश्व) न वाजम्भरं मर्जयन्तः १।६०।५, ६६।४, २।५।३, ३।२६।३, ४।१५।१....। स्मरणीय 'अश्व' ओजः १०।७३।१०।

अग्नि का सर्वत्र अनुभव करते हैं;[३]– सम्भवत: ये ही सौचीकाग्नि के इस उपमण्डल के भी रचयिता हैं; क्योंकि दोनों उपमण्डलों में भाव-साम्य आसानी से ही दिख जाता है। द्वितीय उपमण्डल के पहले सूक्त की यदि संवाद के आरम्भ में उपोद्घात या प्रस्तावना के रूप में और दूसरे को उसके अन्त में फलश्रुति के रूप में स्थापित किया जाए, तो मनुष्य की साधना और सिद्धि की पटभूमि में देवलीला का नाट्यरस उज्ज्वल होकर खिल उठता है। कहानी के विश्लेषण के समय हम वही करेंगे। किन्तु उसके पहले हमें देखता है कि इस सम्बन्ध में ब्राह्मण आदि के उपवर्णनों से हमें क्या सङ्केत मिलता है।

अग्नि के तिरोधान की कहानी शाङ्खायन ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिता एवं शतपथ ब्राह्मण में है। शाङ्खायन ब्राह्मण का वर्णन ख़ूब संक्षिप्त है एवं कुछ अंश तक संहिता के अनुरूप है। उसमें हम पाते हैं[१४०२] कि– 'देवता और असुरो में इन सब लोकों के लिए सङ्घर्ष हुआ। उनके निकट से पृथक् होकर अग्नि ने ऋतुओं के भीतर प्रवेश किया।[१] देवताओं ने असुरों का वध करके विजेता रूप में अग्नि को खोजना

३. द्रष्टव्य– इस सूक्त के प्रत्येक ऋक् के प्रत्येक पाद के आरम्भ में अग्नि का नाम है– जो जपमाला की तरह लगता है।

१४०२. ऋक्संहिता में देवासुर सङ्ग्राम का प्रसङ्ग नहीं है, किन्तु वरदान की बातें ठीक इस रूप में ही हैं १०।५१।८-९। वहाँ यम गुहाहित अग्नि को सबसे पहले देखते हैं उसके बाद देवताओं के अगुआ के रूप में वरुण उनके साथ बातचीत करते हैं (२-३)। अग्नि, यम् और वरुण का सहचार लक्षणीय (तु. १।१६४।४६ द्र. टी. ११८४, १२५९)।

१. ऋक्संहिता में अप् में अग्नि के प्रवेश का उल्लेख है, यहाँ ऋतुओं में प्रवेश का प्रसङ्ग है। ऋतुचक्र के आवर्तन में संवत्सर, जो पार्थिव कालमान की इकाई है। अतएव ऋतुओं में अग्नि के प्रवेश का अर्थ है उनकी कालव्याप्ति अथवा सर्वकालीनता। अप् में सर्वव्यापी प्राण के रूप में प्रवेश। जब देवासुर-युद्ध होता है, तब अग्नि नेपथ्य में। ऐसी ही भावना सप्तशती में भी है। विष्णु के साथ जब मधुकैटभ का युद्ध हो रहा होता है, तब योगनिद्रारूपिणी देवीनेपथ्य में, शुम्भ-निशुम्भ वध के समय भी देवी 'अपराजिता' कालिका के रूप में नेपथ्य में। व्यक्तमध्य विश्व में

शुरू किया।[२] यम और वरुण ने उनको देख लिया। देवताओं ने उनको आमन्त्रित किया; प्रार्थना की, वर दिया। अग्नि ने यही वर माँगा, कि "प्रयाज और अनुयाज केवल मुझे ही (दोगे, और दोगे) अपों का घृत और औषधियों का पुरुष।" इसी से कहा जाता है, प्रयाज और अनुयाज तथा आज्य भी अग्नि का है। उसके बाद ही देवता विजयी और असुर पराजित हुए।'[३]

तैत्तिरीय संहिता की कहानी कुछ अन्य प्रकार की है एवं और भी विस्तारित है। उसमें हम देखते हैं कि[१४०३] : 'अग्नि के तीन बड़े भाई थे। वे देवताओं के निकट हव्य वहन करने के समय एक हो गए।[१] अग्नि डर गए, इस प्रकार घबराहट तो उसको ही होगी (जो हव्य वहन करेगा)।[२] उन्होंने भागकर अप् के भीतर प्रवेश किया।

अथवा जीवन के आदि या अन्त में जो अव्यक्त है, वह ही यह नेपथ्य है (तु. गीता २।२८)।

२. पहले देवताओं की विजय, उसके बाद उनका अग्नि को खोजना; तु. के. ब्रह्म ने ही देवताओं के रूप में विजय प्राप्त की; उस समय देवताओं को उसकी जानकारी नहीं हो पाई, किन्तु बाद में यक्ष के रहस्य का उद्घाटन करते समय पता चला। जीवन के नेपथ्य में उजाले की जयन्ती चल ही रही है। किन्तु उसके बारे में मनुष्य जब सचेतन हुआ तभी वह साग्निक या अग्निहोत्री हुआ, एवं उसी से जयश्री की सार्थकता सिद्ध हुई।

३. यहाँ हम देखते हैं कि असुरविजय दो बार होती है। एक विश्व भर में नित्य जारी है और एक उसकी ही पृष्ठभूमि में व्यक्ति के जीवन में हो रही है। कहानी का भिन्न अर्थ क्रमशः परिस्फुट होगा।

१४०३. द्र. २।६।६।१-४। संहिता का यह अंश ब्राह्मण है।

१. मूल में 'प्रामीयन्त' है; तु. ऋ. या (उषा) स्तोतृभ्यो विभावर्य् उच्छन्ती (झिलमिला कर) न प्रमीयसे ५।७९।१०

२. **मत्स्य** <√ मद् आनन्द में मत्त होना; तु. टीमू. १३२८); नि. मत्स्यामधौ उनके स्यन्दन्ते, माद्यन्ते अन्योन्यं भक्षणायेति वा ६।२७ (द्वितीय व्युत्पत्ति ही समीचीन है, किन्तु हेतुनिर्देश विचारणीय)। ऋ. में जलचर मत्स्य का उल्लेख एक ऋक् में है : अश्मा पिनद्धं (पाषाण से घिरे) मधुपर्य् अपश्यन् मत्स्यं न दीन उदनि (थोड़े जल में) क्षियन्तम् १०।६८।८।

देवताओं ने उनको काम में लगाने के लिए खोजना शुरू किया। मत्स्य ने उनके बारे में बतला दिया। अग्नि ने उसे शाप दिया, " मेरे बारे में तूने बता दिया तो। इच्छानुसार वे तुझे मार डालेंगे।".... उन्हें खोज लेने पर देवताओं ने कहा, "हमारे पास चले आओ, हम सबका हव्य वहन करो।" अग्नि ने कहा, "मैं वर चाहता हूँ। आहुति के लिए ली गई

लक्षणीय अचित्ति या अविवेक की पथरीली गुहा में अवरुद्ध अमृत आनन्दचेतना की तुलना अल्प जल में मत्स्य के साथ की जा रही है। फिर हमें मिलता है, काम 'मीनकेतन'। कारण समुद्र में आदिम प्राणी मत्स्य। फिर ऋक्संहिता में परमपुरुष का आदि काम 'मनसोरेत:' १०।१२९।४), जो प्राणीविज्ञान में वर्णित मत्स्य की प्रजननपद्धति के प्रसङ्ग का स्मरण दिला देता है। काम के प्रतीक मत्स्य में अग्नि की प्रथम सूचना, यह अर्थवह। तन्त्र में मूलाधार में अग्नि क्यों? वह समझ में ही आता है।.... ऋक् संहिता के एक सूक्त के (८।६७) ऋषि हैं 'मत्स्य: साम्मद:, मैत्रावरुणिर् मान्य: बहवो वा मत्स्या जालनद्धा:'। सभी नाम स्पष्टत: ही रूपक। जाल में पड़े सभी मत्स्य जीव हैं, आदित्य के निकट मुक्ति चाहते हैं; कोई ऋचाओं में उनकी आर्ति या कातरता अच्छी तरह व्यक्त हुई है (९, ११, १८, १९)। मत्स्य ऋषि सम्मद अथवा इन्द्रियसुख की मत्तता के पुत्र, और एक नाम का अर्थ 'मन के पुत्र, मित्रावरुण के पुत्र हैं। सभी मत्स्य के अथवा काम के बोधक हैं। याद आती है गीता की उक्ति, 'इन्द्रिय, मन, बुद्धि काम के अधिष्ठान' (३।४०)। ऋषि के नामों में इन तीन अधिष्ठानों का सङ्केत है। काम की प्रमत्तता का परिणाम बन्धन है, उसके ही आर्तस्वरों का परिचय इसके सूक्त में है। शब्रा. ने 'साम्मद' को मत्स्यराज कहा गया है (१३।४।३।१२); इसके अलावा मनु और मत्स्य की कहानी भी है, जो पुराण के मत्स्यावतार का बीज है (१।८।१।१)। बृ. में स्वप्न और सुषुप्ति में सञ्चरण शील असङ्ग पुरुष की तुलना महामत्स्य के साथ की गई है (४।३।१८; वहाँ 'रत्वा चरित्वा दृष्ट्वा' लक्षणीय– विशुद्ध दृष्टि, भोग और कर्म की, व्यञ्जना है उसमें)। मत्स्य वहाँ संहिता के 'मधु' अथवा आनन्द चेतना एवं उपनिषद् के 'सम्प्रसाद' का प्रतीक है।

सामग्री का वह भाग, जो परिधि[3] के बाहर छलक पड़ेगा, मेरे भाइयों के भाग का हो।" (वही होता है), उसके ही द्वारा अग्नि उन्हें खुश करते हैं। (अग्नि के) चारों ओर परिधि बिछाई जाती है रक्ष: गण को मार भगाने के लिए। उनको सटाकर रखना पड़ता है, जिससे रक्ष: गण प्रवेश न कर सकें। केवल पूरब की ओर जो छलक पड़े, उसके प्रति यह मन्त्र बोलना पड़ता है: "भूपतये स्वाहा, भुवनपतये स्वाहा, भूतानां पतये स्वाहा।"[4]

---

३. **परिधि** है वेदी के चारों ओर अङ्गुल चार चौड़ी एवं चार अङ्गुल ऊँची जो 'मेखला' या मिट्टी की दीवाल है, उसके ऊपर बिछाए गए लकड़ी के टुकड़े की वेदी के भीतर अग्नि को परिधि द्वारा घेर कर रखा हुआ है : उसी से वे जीवरूपी 'सौचक' अग्नि हुए। उनके बाहर में सर्वत्र व्याप्त 'वैश्वानर' अग्नि के तीन रूप हैं (तु. वाक् के गुहानिहित तीन पद केवल मनुष्य में चतुर्थ पद की अभिव्यक्ति)। वे अदृश्य हैं, आहुति के पात्र से जो छलक कर गिर जाता है, उसी में उनकी तुष्टि एवं पुष्टि है। अर्थात् अनुष्ठित यज्ञ के नेपथ्य में भी एक विश्वयज्ञ हो रहा है। मूल में इसीलिए कहा गया है कि इस प्रकार छलक पड़ना दोष नहीं, बल्कि यज्ञ की इसी थोड़ी त्रुटि से ही यजमान तो 'वसीयान्' अथवा और भी ज्योतिर्मय हो उठता है। वेदी के पूरब की ओर कोई परिधि की ज़रूरत नहीं होती है; क्योंकि पूरब की दिशा ज्योति की श्री वृद्धि-समृद्धि की दिशा है, और आर्य 'ज्योतिरग्र' हैं। परिधि नम, आर्द्र (ओदी, गीली) लकड़ी की होनी चाहिए। पलाश की हो तो उत्तम, नहीं तो अन्य यज्ञिय वृक्षों की लकड़ी होने पर भी उसका उपयोग किया जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार, 'गीली लकड़ी में प्राण है, तेज है, वीर्य है; इसलिए परिधि के लिए गीली लकड़ी ही ज़रूरी (१।३।३।१९, २०, ४।१)।

४. 'भूपति, भुवनपति एवं भूतानांपति' अग्नि के तीन बड़े भाई हैं जो क्रमानुसार पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक के अधिपति हैं। संहिता में, जो कुछ हो रहा है, उसे 'भुवन' कहा गया है; व्याहृति की दृष्टि से 'भुव:' लोक की दृष्टि से अन्तरिक्ष अथवा प्राणभूमि है। हिरण्यगर्भ ऋक् संहिता में 'भूतस्य पतिर् एक:' वे विश्वभुवन के पूर्व थे (१०।१२१।१); प्रजापति के रूप में वे ही विश्व के परिभू (१०) हैं, जिनकी आभा सर्वत्र परिव्याप्त है। प्राचीन लोक की दृष्टि से उनका धाम द्युलोक है, क्योंकि

शतपथ ब्राह्मण में इस कहानी को और भी कुछ पल्लवित किया गया है,[१४०४] वहाँ मत्स्य (मछली) का उल्लेख नहीं है। अप् से बलपूर्वक देवतागण अग्नि को लेकर जाते हैं, इसलिए अप् पर ही उन्हें ग़ुस्सा आया— उन्होंने उसमें थूक दिया। उससे तीन आप्त्य देवताॅत्रित, द्विक और एकत आविर्भूत हुए। वे इन्द्र के सहचर हुए। इन्द्र ने जब त्वष्टा के पुत्र त्रिशीर्षा विश्वरूप का वध किया, तब वे वह नहीं जानते थे कि उसका वध किया जायेगा। यहाँ तक कहा जा सकता है कि त्रित ने ही उसका वध किया।..... उसके बाद कुछ दूर जाकर कहानी की अनुवृत्ति परिधि के प्रसङ्ग में जारी रहती है।[१] अग्नि ने कहा, मेरे पहले जो तीनों अग्नि होता का कार्य सम्पन्न करने के लिए आपस में मिल गए, उनको लौटा दो।' तब देवताओं ने परिधि के आकार में उन तीनों अग्नियों को लौटा दिया। अग्नि ने कहा 'वषट्कार वज्र है, ये सब उस वषट्कार से ही टूट गए थे। मैं उससे बहुत डरता हूँ। परिधि रूपी अग्नि द्वारा मुझे घेर दो, तो वज्र कुछ भी नहीं कर

वे सभी देवताओं के अधीश्वर एकदेव हैं (८)। तत्त्व की दृष्टि से अग्नि के तीन भाई क्रमशः जड़, शक्ति और चैतन्य— संहिता की भाषा में वन (काठ, लकड़ी) या वृक्ष, भुवन एवं अधिष्ठाता अथवा धर्ता (तु. ऋ. १०।८१।४ साङ्ख्य की परिभाषा के अनुसार ये तत्त्व 'महत्' और सौचीक 'अम्' हैं। लक्षणीय वा. माध्यन्दिन संहिता का पाठ 'भुवपतये' २।२। वहाँ परिधियाँ अग्नि के वही तीन भाई क्रमशः विश्वावसु, इन्द्र और मित्रावरुण हैं; अर्थात् जीव के भीतर जो अग्नि है, वह आनन्त्य की चेतना द्वारा 'आवृत' है।

१४०४. द्र. श. १।२।३।१-२। ऋक् संहिता अथवा शौनक संहिता में 'एकत्' का उल्लेख नहीं है, किन्तु यजुः संहिताओं में है। ऋक् संहिता में 'द्वित' एवं 'त्रित' इन दोनों का ही नाम पाया जाता है। त्रित 'दिव्य' (तु. ऋ. ५।९।५, ४१।४, ६।४४।२३.....); 'द्वित; ५।१८।२, ८।४७।१६ फिर त्रित आप्त्य एक ऋषि भी हैं (२।११।१९, २०....; द्र. टी. १२३३(१)), दशम मण्डल के आरम्भ में भावगर्भ आग्नेय उपमण्डल के द्रष्टा त्रित आप्त्य ही हैं। विशेष द्र. 'त्रित'।

१. शब्रा. १।३।३।१३-१७।

पाएगा।'[२] देवताओं ने वही किया।[३] ब्राह्मण-ग्रन्थों की कहानियों से रूपक का आवरण हटा लेने पर सङ्क्षेप में उनका तात्पर्य इस प्रकार है:—

अनादिकाल से समस्त ब्रह्माण्ड में देवासुर का एक अविराम सङ्घर्ष जारी है। उसमें देवता जयी होंगे, यह विश्व का शाश्वत विधान है। इन देवताओं के मध्य भी अग्नि हैं— वे परमव्योम के नित्य अग्नि हैं, सबमें अनुस्यूत वैश्वानर अग्नि हैं। किन्तु स्वरूपतः वे न हव्यवाहन

---

२. **वषट्कार** द्र. टी. ११४४। यह ब्राह्मण में बहुस्तुत। अध्यात्म दृष्टि से वषट्कार 'प्राण' श. ४।२।१।२९, 'प्राणापान' ऐ. ३।८, 'वाक्' 'ओजः' एवं 'सहः' ऐ. ३।८; अधिदैवत दृष्टि से 'सूर्य' ऐ. ३।४८, श. १।७।२।११, ११।२।२।५, देवेषु (देवगण) ता. ८।१।२, वज्र ऐ. ३।६, ८ श. १।३।३।१४, शा. ३।५....। तु. ऐतरेय ब्राह्मण में उसका अनुमन्त्रण : 'बृहता मन उपह्वये व्यानेन शरीरं, प्रतिष्ठा.सि प्रतिष्ठां गच्छ प्रतिष्ठां मा गमय'—'बृहत् की चेतना द्वारा तुम्हारे मन को और प्राणापान की सन्धि जिसे व्यान कहते हैं, उसके द्वारा तुम्हारे शरीर के पास बुलाता हूँ; तुम प्रतिष्ठा हो, प्रतिष्ठित होओ, मुझे प्रतिष्ठित करो' (३।८)। सङ्क्षेप में वषट्कार मन्त्र का वह प्राण है, जो वज्र की तरह सारी बाधा को दूर करके सूर्य में पहुँचता है। यहाँ समस्या यह है कि हम सबके भीतर अभीप्सा की तीव्रता के बावजूद आग जलती नहीं; लगता है वह तीव्रता ही प्रतिक्रिया के रूप में अवसाद लेकर आती है। साधना की प्रारम्भिक अवस्था में यह प्रायः ही होता है। ब्राह्मण की सन्धाभाषा में यही है वषट्कार में पूर्वज अग्नियों का पराजित पलायित होना या मौलिक स्वरूप खो बैठना। उस समय धैर्यपूर्वक स्वयं को अपने अन्तर में समेट लेना होगा, तभी आग जलेगी।

३. बृहद्देवता की विवृति इस प्रकार है : वषट्कार में अग्नियों के विकृत हो जाने पर अग्नि ने ऋतु में, अप् में एवं वनस्पति में (अध्यात्म दृष्टि से नाड़ी तन्त्र में) प्रवेश किया। तब अग्नि सर्वत्र अवस्थित हैं, किन्तु 'गूढोत्मा न प्रकाशते।' उस समय असुरों का प्रादुर्भाव हुआ। देवताओं ने उनका वध करके अग्नि को खोजने लगे। जब उन्हें खोज कर प्राप्त करने पर वर दिया। उस समय अग्नि ने हौत्रकर्म आरम्भ किया— 'भ्रातृभिः सहितः प्रीतो दिव्यात्मा हव्यवाहनः।' वह अग्नि केवल होता ही नहीं; बल्कि वे यज्ञ के उपकरण भी हैं, वे सर्वमय हैं (७।६२-७९)।

हैं, न देवता और मनुष्य के बीच दूत हैं। उनके हव्यवहन और दौत्य की तब ज़रूरत होती है, जब देवासुर संग्राम मनुष्य के भीतर छिड़ जाता है। अग्नि मनुष्य के भीतर भी निश्चय ही हैं– किन्तु नेपथ्य में विश्वचक्र के ऋतच्छन्द आवर्तन में विश्व के विचित्र प्राणप्रवाह में, जीव के प्रत्येक आधार में प्रसूत नाड़ी-तन्त्र में हैं।[१४०५] तब वे हव्यवाहन नहीं, क्योंकि मनुष्य उस समय भी यज्ञ में प्रवृत्त नहीं हुआ और देवयानी अभीप्सा की शिखा तब भी उसके भीतर प्रज्वलित नहीं हुई थी, किन्तु एक दिन उसका सङ्केत मिलने पर देवताओं ने उसकी मर्त्य कामना में ही दिव्य अभीप्सा की जानकारी प्राप्त कर ली। इस अभीप्सा का आविष्करण एक लोकोत्तर ईक्षण का कार्य है। इसलिए गुहाहित अग्नि को आविष्कृत करते हैं वैवस्वत् मृत्यु के देवता यम अथवा शून्य के देवता वरुण, जिनके भीतर एक दिन सूचित एवं समिद्ध अग्नि का अवसान होगा। किन्तु यहाँ फिर एक सङ्कट उपस्थित होता है। मनुष्य की जो चेतना इतने दिन अनुभूतिशून्य थी, सुप्त थी, वह सम्भवत: आज अतिरिक्त उत्साह की हठकारिता के साथ जाग उठती है। तब उसके वषट्कार में वज्र शक्ति बेलगाम या उद्दण्ड होकर शून्य में मिल जाती है, और देवता के सोम्य प्रसाद को यहाँ उतार कर नहीं ले आ सकती है। संहिता में इसे 'अतिख्याति' कहा गया है, आधुनिक मर्मज्ञ कहते हैं 'अधिक काटकर जल जाना।'[१] यह नौबत

१४०५. तु. बृहद्देवता, 'स प्रविवेशा पक्रम्य ऋतून् अपो वनस्पतीन् ७।६४। अग्नि के साथ ऋतु का सम्बन्ध द्र. ऋ. १०।२।१-५; अप् एवं वनस्पति का सम्बन्ध प्रसिद्ध है। यहाँ द्युलोक, अन्तरिक्ष एवं पृथिवी की ध्वनि हैं अग्नि सूर्य रूप में ऋतुपति हैं।

१. तु. 'मा नो अति ख्य आ गहि' तुम्हारी दृष्टि कहीं हमारा अतिक्रम न कर जाए, पास आओ १।४।३, 'मानो गव्येभिर् अश्व्यै: सहस्रेभिर् अति ख्यतम्, अन्ति षद् भूत वाम् अव: ८।७३।१५। प्रतितु 'आदित्या अव हि ख्यत ८।४७।११। एक में देवता की दृष्टि सब का अतिक्रम करके ऊपर चली जाती है, तब वे पहुँच के बाहर होते हैं और दूसरी नीचे उतर आती है। साधक जीवन पहली दृष्टि के परिणामस्वरूप 'अधिक करने पर जल जाता है', चेतना ऊपर की ओर जाकर लौट नहीं सकती। ल. √ ख्या; देखना; व्यक्त करना अथवा 'दिखाना' दोनों ही।

जिससे न आने पाए, उसके लिए ही अभीप्सा के चारों ओर दिव्य चेतना का एक परिवेश रचना पड़ता है, जो उसको जिस प्रकार आदिव्य शक्ति के अपघात से रक्षा करती है। उसी प्रकार अपने को भी अधीर दुराग्रह के अनृत या असत्य से बचाती है। तभी आधार के सौचीक अग्नि वैश्वानर रूप में उद्दीप्त होकर साधना को अच्छी तरह चरितार्थ कर सकते हैं।

अब ब्राह्मण के सङ्केत के आलोक में संहिता में उपस्थापित सौचीक अग्नि के रहस्य का अनुध्यान किया जाए। पूर्व की परिकल्पना के अनुसार पहले सप्ति वाजम्भर के प्रथम सूक्त से शुरू करते हैं। इसमें हम ऋषि की अग्निएषणा का दीप्तवर्ण परिचय पाते हैं। सप्ति कहते हैं–

मर्त्य जनों में जो अमर्त्य है– मैंने इस महान् की महिमा को देखा। दोनों ओर के उनके दो जबड़े खुले हैं– वे एक हो जाते हैं; बिना चबाए गपागप ढेर-सा निगलते जा रहे हैं।'[१४०६]– सब के भीतर जो मृत्युतरण अमृत-शिखा हैं, वे मेरे भीतर जाग उठे एक दुर्दम्य क्षुधा के साथ। वे अन्नाद हैं, अरूपान्तरित कामनाओं का वन उनका अन्न है।[१] वे अनायास उसे अविराम अक्लान्त खाए जा रहे हैं, लगता है उनकी तृप्ति नहीं। मैं निर्वाक् होकर उनकी इस महिमा को देख रहा हूँ।

'गुहा में निहित है उनका मस्तक, दूर-दूर पर दोनों चक्षु, बिना चबाए खाते जा रहे हैं जीभ से सारा वन। कितना अन्न इनके निकट पाँव-पाँव चलकर वे सब वहन करके लाते हैं– हाथ उठाए (शीश)

१४०६. अपश्यम् अस्य महतो महित्वम् अमर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु, नाना हनू विभृते सं भरेते असिन्वती बप्सती भूर्य अत्त: १०।७९।१। 'असिन्वती' <√ सि 'बाँधना' दोनों जबड़े आपस में बँध नहीं रहे हैं अर्थात् एक नहीं हो रहे हैं, तु. असिन्वन् दंष्ट्रैर् पितुर् अत्ति भोजनम् २।१३।४।

१. दावानल का वर्णन द्रष्टव्य: वृषभस्येव ते रव: आद् इन्वसि वनिनो धूमकेतुना.... अध स्वनाद् उत बिभ्यु: पतत्रिण: १।९४।१०-११।

नवाए, जन साधारण के मध्य (जो जागे हैं)।'[१४०७]— केवल मेरे भीतर ही नहीं, बल्कि उनको देखता हूँ सब के भीतर। वे वैश्वानर हैं, द्युलोक की अनुत्तुङ्गता में खो गया उनका मस्तक, सूर्य और चन्द्र रूप में प्रज्वलित हैं उनके दोनों चक्षु।[१] वन-वन में फैल जाती हैं उनकी लपटें;... उनका दहन तो विराम हीन है, सर्वग्रासी क्षुधा की तृप्ति नहीं। हम सब में जो उस दावानल में जाग जाते हैं, वे और स्थिर नहीं रह सकते। वे चलते हुए आगे बढ़ते जाते हैं। उनकी ओर प्राण की उद्यति और हृदय की प्रणति के साथ अपना सब कुछ क्षुधा के अन्न रूप में उनके भीतर उड़ेल देते हैं।

और भी दूर माँ के गोपन (पद) खोजते-खोजते शिशु की तरह अग्रसर हुए, जो विपुल रूप में पनपे बढ़े हैं उनके ऊपर से। (जाने किसने) स्वप्न की तरह पाया उनको— (अथच) परिपक्व और कान्तिमान् हैं वे, लेहन कर रहे थे पृथिवी की गोद में।'—[१४०८] शिशु

१४०७. ऋ. गुहा शिरो निहितम् ऋधम् अक्षी असिन्वन्न् अत्ति, जिह्वया वनानि, अत्राण्य अस्मै पड्भिः सं भरन्त्य् उत्तानहस्ता नमसाधि विक्षु १०।७९।२। 'उत्तानहस्ताः' जिन्होंने आहुति देने के लिए स्रुक् को ऊँचे उठा रखा है, तु. उद्यस्रुक् १।३१।५।

१. तु. वैश्वानर का वर्णन छा. ५।१८।२

१४०८. ऋ. प्र मातुः प्रतरं गुह्यम् इच्छन् कुमारो न वीरुधः सर्पद् उर्वीः, ससं न पक्वम् अविदच् छुचन्तं रिरिह्वांम् रिप उपस्थे अन्तः १०।७९।३। अग्नि की 'माता' अदिति हैं, उनका 'प्रतरं गुह्यं (पदम्)' परमव्योम की शून्यता है— जहाँ अग्नि का जन्म होता है; तु. अग्निं पदे परमे तस्थिवांसम् १।७२।४, प्र यत् पितुः परमान् नीयते १४१।४, स जायमानः परमे व्योमनि ६।८।१ (७।५।७)...। अग्निशिखा यहाँ से वहाँ मिल जाती है, फिर वहाँ से यहाँ लौट आती है— समाधि में एवं व्युत्थान में। 'वीरुध्' टी. मूल १४२०। 'सस' द्र. टी. १३५६ (६)। 'सस' को यहाँ अन्त के अर्थ में लेने पर वह उपनिषद् की परिभाषा के अनुसार 'जड़' का बोधक होगा; स्मरणीय ऋक् संहिता की प्रसिद्ध उपमा 'आमासु....पक्व.....पयः' अर्थात् गाय में दूध की तरह हमारे अपरिपक्व मर्त्य आधार में निहित परिपक्व अमृत चेतना जिसे दुह कर बाहर लाना होगा (१।६२।९, १८०।३, २।४०।१४, ३।३०।१४, ४।३।९, ६।१७।६, ४४।२४, ७२।४, ८।३२।२५, ८७।७, १०।१०६।११)। यहाँ

जिस प्रकार माँ की गोद से उचक-उचक कर माँ के स्तन को टटोलता है उसी प्रकार अदिति का यह दुर्द्धर्ष बेटा मेरे आधार में आच्छादित कामना के वन को जलाकर अपने उत्स को ढूँढ निकालने के लिए परमव्योम की अथाह गहराई में लहक उठा। फिर वहाँ से अलख का दूत होकर वह यहाँ वापस आ गया। उस समय किसी-किसी ने क्षणमात्र दिखने वाली विद्युल्लेखा की तरह उसको इस मर्त्य आधार को गहराई में सन्दीप्त— अर्थात् रस के परिपाक में पूर्णता की द्युति से भास्वर देखा है।

'तुम्हारे उस ऋत को, हे द्यावा-पृथिवी; मैं बतला देता हूँ : जन्मते ही शिशु ने माता-पिता को खा लिया। मैं मर्त्य हूँ, देवताओं के बारे में कोई जानकारी नहीं, अग्नि ही सूक्ष्म रूप में जानते हैं, वे ही जानते हैं सब।'[१४०९]— देवयजन की भूमि पर अरणि-मन्थन से जिनको जन्मते देख रहा हूँ, वस्तुतः वे विश्वव्यापी हैं। द्युलोक और भूलोक से प्रत्याहृत होकर ही यज्ञवेदी में उनका आविर्भाव होता है, किन्तु जिनका सहारा लेकर वे उतरते हैं, वे फिर तब नहीं रहते — अपने आपको देवताओं के भीतर खो देते हैं। आधार की अरणियाँ तब अग्निमय हो जाती हैं व उस अग्नि का परिणाम वारुणी शून्यता में। यही विश्व का

पक्व सस की तरह पक्व 'यव' १।६६।३, 'वृक्ष' ४।२०।५, ९।९७।५३, 'शाखा' १।८।८, 'फल' ३।४५।४, 'ओदन' ८।७७।६ 'पृक्ष्' ४।४३।५, ५।७३।८। सर्वत्र सिद्धि के परिपाक की ध्वनि है। अन्त के अर्थ में किसी-किसी ने 'यव' समझा है १।६६।३। तो फिर सब मिलाकर तात्पर्य होगा-आधार की अपरिपक्व आग जैसे अलग के स्पर्श से परिपक्व हो गई। यास्क की व्याख्या मान लेने पर 'अविदत् का कर्त्ता अग्नि नहीं, कोई ऋषि हैं जैसे 'त्रित' (Geldner)। तु. इमं त्रितो भूर्य अविन्दद् इच्छन् वैभूवसो (विभूवस् का पुत्र) मूर्धन्य् अघ्न्यायाः (धेनु रूपिणी वाक् की मूर्धा में अर्थात् परम व्योम में, तु. ८।१०१।५, १।१६४।४१) १०।४६।३।

१४०९. ऋ. तद् वाम् ऋतं रोदसी प्र ब्रवीमि जायमानो मातरा गर्भो अत्ति, नाहं देवस्य मर्त्यश् चिकेताग्निर् अङ्ग विचेताः स प्रचेताः १०।७९।४। द्र. टीमू. १३२०। लक्षणीय मर्त्यमानव यहाँ 'नचिकेताः' और अग्नि 'विचेताः एवं प्रचेताः ; 'चिचित्ति' विशेष का ज्ञान अथवा विवेक, और 'प्रचित्ति' उत्तम ज्ञान (तु. उपनिषद् के विज्ञान एवं प्रज्ञान)।

शाश्वत् विधान है, देवताओं की अपरूप अद्भुत लीला है। मैं मर्त्य मानव हूँ, उनके रहस्य को न तो समझता हूँ, न तो कुछ जानता हूँ; वे ही सब जानते हैं और सूक्ष्म रूप में जानते हैं।

'जो इनके लिए अन्न का आधान करता है क्षिप्र गति से, ज्योतिर्मय आज्य द्वारा इनका होम करता है, इन्हें पुष्ट करता है, उसके लिए वे सहस्राक्ष विचक्षण होते हैं। हे अग्नि चारों ओर सामने तुम ही तो हो।'[१४१०]– देवता का आकुल आह्वान जब मनुष्य के हृदय में पहुँचता है, तब उसकी विह्वलता असह्य ही उठती है और वह व्याकुल होकर ही उसका उत्तर देता है। अपना सब कुछ उस अन्नाद के निकट वह अन्त रूप में रख देता है, देवता के स्पर्श से उसकी आहुति की सामग्री ज्योतिर्दहन में जल उठती है। उसी से उनकी पुष्टि होती है और तमिस्रा के आवरण को हटा कर उसके भीतर उनका सुदीप्त आविर्भाव होता है। उस समय उसकी चेतना के रन्ध्र-रन्ध्र में उनके सहस्र चक्षुओं की विद्युत् कौंध जाती है। विश्वतश्चक्षु की उस दृष्टि की आभा पूरे विश्व में फैल जाती है। और भावावेश के उन क्षणों में मनुष्य के कण्ठ से फूट पड़ता है– 'दिशा-दिशा में हर ओर तुमको ही तो देख रहा हूँ, हे मेरे तपोदेवता। और यह तो मेरा देखना नहीं, बल्कि यह तो तुमको तुम्हारा ही देखना है।'

'देवताओं के निकट क्या भूल की है? उसने क्या अन्याय किया है? हे अग्नि! मुझे पता नहीं, इसलिए यह सब मेरी जिज्ञासा है। वे खेलते नहीं (फिर खेलते भी हैं हिरण्मय या सुवर्णमय होकर; वे खाएँगे इसलिए खा रहे हैं; पोर-पोर टुकड़े-टुकड़े कर दिया जैसे गाय

१४१०. ऋ. यो अस्मा अन्नं तृष्व आदधात्य् आज्यैर् घृतैर् जुहोति पुष्यति, तस्मै सहस्रम् अक्षभिर् वि चक्षे ऽग्ने विश्वतः प्रत्यङ्ङ्असित्वम् १०।७९।५। 'अन्न' आहुति की साधारण सामग्री है, विशेष सामग्री है 'आज्य' एवं 'घृत'। ऐब्रा. आज्यं वै देवानां सुरभि (योग्यं प्रियम् इत्यर्थः सा.) घृतं मनुष्याणाम् १।३ तत्र सा. 'आज्यघृतयोर् भेदः पूर्वाचार्यैर उदाहृतः –सर्पिर् विलीनम् आज्यं स्याद् घनीभूतं घृतं विदुः।' ज्वलनयोग्यता का तारतम्य द्रष्टव्य। 'आज्य' (<अञ्ज् लेपन, प्रकाश करना (ज्योति की अभिव्यक्ति का साक्षात् साधन।

को खड्ग करता है।'[१४११]– किन्तु आधार में यह कैसा रुद्रदहन तुम्हारे आवेश में हे देवता! मेरा प्रमाद अथवा अपराध कहाँ? मैं तो वह जानता नहीं– नहीं तो तुमको जिसने सब कुछ लिया है, उस को इस

१४११. ऋ. किं देवेषु त्यज् एनश् चकर्थाग्ने पृच्छामि नु त्वाम् अविद्वान्, अक्रीलन् क्रीलन् हरिर् अत्तवे ऽदन् वि पर्वशश् चकर्त गाम इवासिः १०।७९।६। मूल में 'चकर्थ' है जिसका कर्ता अग्नि है। तो फिर इसका अनुवाद होगा, 'देवताओं के निकट क्या भूल क्या अन्याय तुमने किया है हे, अग्नि! इत्यादि, किन्तु अग्नि के ऐसे किसी प्रमाद अथवा पाप का उल्लेख कहीं भी नहीं प्राप्त होता, बल्कि एक जगह अग्नि को सम्बोधित करते हुए कहा जा रहा है, 'देव पासि त्यजसा मर्तम् अंहः'–'हे देवता, मर्त्य की रक्षा करो तुम प्रमाद और क्लिष्टता से ६।३।१ (भाषा का सादृश्य लक्षणीय है)। ब्राह्मण ग्रन्थ में देवताओं में एक इन्द्र को त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप की हत्या करने के बाद ब्रह्महत्या के अपराध में अपराधी ठहराया गया है (तैंत्तिरीय संहिता १।६।३।१..... यह ब्राह्मण भाग है; श. १।२।३।२, किन्तु यहाँ बतलाया जा रहा है कि देवता होने के कारण उन पर हत्या का पाप लगता नहीं)। तो फिर अग्नि देवताओं के निकट अपराधी किसलिए? सायण ने खाण्डवदहन का उल्लेख किया है: वह कालातिक्रमदुष्ट एवं अप्रासङ्गिक है। (Geldner) व्याख्या करते हैं– 'किस अपराध के लिए देवताओं के लिए देवताओं ने तुमको वाह सज़ा दी कि दाँतों के बिना इतने कष्ट के साथ तुम्हें खाना पड़ता है?' तृतीय पाद का 'अदन्' उनके विचार से 'दन्तहीन'। किन्तु यह कष्टकल्पना है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र हम पाते हैं कि अग्नि 'चरति, जिह्वया अदन् (१०।४।४; तु. अत्ति जिह्वया वनानि ७९।२): Geldner ने वहाँ 'खाना' अर्थ ही किया है। यहाँ 'चकर्थ' की जगह 'चकार' करने पर भ्रम दूर हो जाता है (लक्षणीय, सायण ने चतुर्थ पाद में 'चकर्त' को किया है 'चकर्थ', व्याख्या में 'करोषि')। 'चकार' का कर्त्ता प्रश्नकर्त्ता ऋषि स्वयं है। देवता के निकट मनुष्य के अपराध का उल्लेख संहिता में अनेक स्थानों पर है। 'हरिः' हरितवर्ण कोई श्वापद या हिंस्र पशु। प्रकरण से वही जान पड़ता है हालाँकि संहिता में 'हरि' अश्व को ही समझा जाता है। श्री अरविन्द बतलाते हैं a tawny lion। सिंह ऋक्संहिता में बहुत ही परिचित, उसके साथ अग्नि की तुलना भी है (द्र. टी. १३०८ (३))।

तरह जलना क्यों पड़ता है? श्वापद या बाघ जिस प्रकार शिकार के साथ खेलता है, एक बार छोड़ देता है, फिर उसके ऊपर झपट पड़ता है, उसी प्रकार तुम मेरे साथ खेलते हो। मुझे तिल-तिल ग्रस रहे हो, मुझे समाप्त किए बिना छोड़ोगे नहीं। तो फिर वही क्यों नहीं करते प्यारे ठाकुर? शमिता की तरह थोड़ा-थोड़ा टुकड़ों में क्यों काट रहे हो?[1]

इधर-उधर छिटके अश्वों को जोता (इस) वनजन्मा ने, (किन्तु) ऋजुचालक ने लगाम द्वारा उनको पकड़ कर रखा। बाँट करके ले लिया है (इस) सुजात मित्र ने ज्योतिर्मय देवताओं के साथ (मेरी आहुति)। समृद्ध हुआ है पोर-पोर पर बढ़ते-बढ़ते।'[१४१२] मेरी कामनाओं

१. 'गाम् इवा सिः' गां यथा असिः स्वधितिः पर्वशश् छिनत्ति तद्वत् (सायण)। 'शमिता' यज्ञ में पशुवध करते हैं, उसके बाद आहुति के लिए उसे टुकड़ों में काटते हैं (तु १।१६२।९, १८; द्र. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ७।२२।५, ७ टीका)। यहाँ क्या अश्वमेध की तरह ही गोमेध का प्रसङ्ग है?

१४१२. ऋ. विषूचो अश्वान् युयुजे वनेजा ऋजीतिभी रशनाभिर् गृभीतान्, चक्षदे मित्रो वसुभिः सुजातः सम् आनृधे पर्वभिर् वावृधानः १०।७९।७। 'विषूचः' <विषु (हर ओर)+ अञ्च 'चलना'। कठोपनिषद् में इन्द्रियों की तुलना अनेक दिशाओं में धावमान अश्व के साथ की गई है, विज्ञान अथवा बुद्धि या विवेक मन की लगाम पकड़कर उनको ताश में रखता है (१।३।३-६)। ऋजीति- (<ऋजु+√ ई 'चलना' सायण) ऋजुगामिनी, जिस प्रकार 'आहुति' ऋ. १०।२१।२, 'सिन्धुनदी' ७५।७; 'वाण' ६।७५।१२। यहाँ अन्तर्भावितार्थ है, 'जो सीधी राह पर ले जाए'। 'पर्वभिः'- इसके पूर्व के 'पर्वशः' से सम्बन्धित है। आधार के पीर-पोर में अग्नि का अनुप्रवेश एवं उसका 'वसु' अथवा ज्योति में रूपान्तर- जिस प्रकार ईन्धन आग हो जाता है। अग्नि में प्रदत्त आहुति के द्वारा 'वसु' अथवा देवगण भी आप्यायित हुए। उस समय आप्यायित चित्शक्ति समूह के पुञ्ज रूप में अग्नि 'मित्र' अथवा व्यक्तज्योति के आनन्त्य हैं। 'मित्र' शब्द श्लिष्ट : पूर्व के ऋक् में वे अमित्र थे – जब निष्ठुर दहन में मुझे जलाकर मार रहे थे। किन्तु उसी ज्वाला का ही परिणाम है, शुद्धि और ऋद्धि का ('समानृधे') आनन्द। अग्नि का पोर-पोर में बढ़ते जाना

के वन में आग जलाकर ये जो देवता जागे हैं, चारों ओर उनकी लाल, श्वेत और श्यामल शिखाएँ फैल गईं। किन्तु इस देहरथ के वे सुनिपुण सारथी हैं उनको समेट कर द्युलोक की ओर एक ऋजुधारा में प्रवाहित किया।[1] तब अव्यक्त के गुहाशयन से आविर्भूत ये तपोदेवता सुसमिद्ध मूर्धन्य चेतना में मित्र ज्योति के रूप में उद्भासित हुए।[2] विश्वदेवों की ज्योति से छलक उठा मेरा आकाश, उनको नन्दित किया उन्होंने मेरी आत्माहुति की सोम्य सुधा से। मेरी उत्सर्ग-भावना के पोर-पोर में सञ्चीयमान उनके उल्लास ने वाजम्भर महिमा से उनको समृद्ध किया।

सप्ति वाजम्भर की इस सौचीक-प्रशस्ति द्वारा मूल नाटिका की प्रस्तावना रचित हुई। उसके बाद तीन सूक्तों में नाट्य-कथा सम्भवतः उनकी ही रचना है। लगता है प्रत्येक सूक्त एक-एक दृश्य को आँखों के सामने उभारता जा रहा है। इस नाटिका के पात्र अग्नि, वरुण, देवगण हैं और एक किनारे ऋषि स्वयं खड़े हैं। प्रथम सूक्त में जैसे रङ्गमञ्च के प्रथम दृश्य का परदा उठा। भागे हुए अग्नि को देवताओं ने खोज कर पा लिया है; यही तो हैं वे! उसके बाद देवताओं के पुरोधा।

वरुण

विराट् वह गर्भाशय (और उसी प्रकार) था वह स्थूल – जिसमें आवेष्टित होकर प्रवेश किया है तुमने अप् के भीतर। तुम्हारी सारी देह

तु. यज्ञ के सप्तधाम ९।१०२।२, पृथिवी से द्युलोक तक विष्णु के सप्तधाम १।२२।१६; अग्नि के सप्तधाम ४।७।५।

१. यह द्रविणोदा अग्नि का काम है, जिनको एक स्थान पर 'द्रविता' कहा गया है (तु. ६।१२।३, द्र. टी. १३७६ (२))। तु. छा. ८।६।६ हृदय से एक नाड़ी का मूर्धा की ओर जाना; और भी तु. ऋ. ४।५८।५, टी. १२७३(६), लक्षणीय- सूक्त के देवता अग्नि हैं।

२. अग्नि और मित्र अभिन्न द्र. टीमू. १३५०। परिकीर्ण अथवा बिखरी-फैली किरणों के एकत्रीकरण में उनका आविर्भाव, तु. ई. १६।

(तनु) को देख लिया है हे अग्नि – नाना रूप में (देखा उनको) हे जातवेदा, उस एक देव ने।[१४१३]

अग्नि

किसने मुझे देखा? कौन है वह देवता जिसने मेरे नाना प्रकार के तनु को बार-बार देखा? कहाँ अहो (बताओ न) हे मित्र वरुण अग्नि की वे सब देवयानी समिधाएँ वास करती हैं?[१४१४]

वरुण

हम चाहते हैं तुम्हें हे जातवेदा अग्नि, तुम तो अनेक रूपों में प्रवेश करके स्थित हो अप् में और ओषधि में। वही तुम्हारा सङ्केत

१४१३. ऋ. महत् तद् उल्बं स्थविरं तद् आसीद् येना विष्टित: प्रवि वेशिथा प:, विश्वा अपश्यद् बहुधा ते अग्ने जातवेदस् तन्वो, देव एक: १०।५१।१। 'उल्ब' भ्रूण का प्रावरण, (झिल्ली) तु. गीता ३।३८। वही वेदान्त का 'कोश' है, तैत्तिरीय उपनिषद् में जिसकी विवृति आभासित (२।१-५)। उसे महत् कहा गया है, क्योंकि यह केवल व्यक्तिगत नहीं, बल्कि विश्वगत एक तत्त्व है। यहाँ जैसा वर्णन नासदीय सूक्त में है : अप्रकेत, अस्पष्ट कारण सलिल की अथाह गहराई में तपोशक्तिरूप में छिपकर अवस्थित है और सब को ढँके हुए है एक अन्धतमिस्रा अथवा महाशून्यता ऋ. १०।१२९।३। 'देव एक:' यम, टी. १२८१(४)।

१४१४. ऋ. को मा ददर्श कतम: स देवो मे तन्वो बहुधा पर्यपश्यत्, क्वा ह मित्रा वरुणा क्षियन्त्य् अग्नेर विश्वा: समिधो देवयानी: १०।५१।२। द्र. टी. १३१६(७), १३८१। 'समिध:' सन्दीप्त अग्नितनु। अग्नि विश्वभुवन में सर्वत्र चित् और तप: शक्ति रूप में अनुप्रविष्ट (तु. क. २।२।९), अतएव सब तनु ही अग्नितनु हैं एवं उनकी गति परमदेवता की आदित्यद्युति के सम्मुख है।

प्राप्त किया था यम ने हे चित्रभानु! जब दश अन्तर्वास स्थानों से खूब झलमला रहे थे।[१४१५]

अग्नि

होता के काम के भय से हे वरुण, मैं चला आया – मुझे इस काम में न लगा दें देवगण। इस कारण ही तो अनेक रूपों में मेरा तनु निविष्ट हुआ (सर्वत्र)। लक्ष्य यह है, इसका तो पता मुझे अग्नि रूप में नहीं मिला।[१४१६]

१४१५. ऋ. ऐच्छाम त्वा बहुधा जातवेद: प्रविष्टम् अग्ने अप् स्व ओषधीषु, तं त्वा यमो अचिकेच् चित्रभानो दशान्तरुष्याद् अतिरोचमानम् १०।५१।३। गुहाहित अग्नि जिस प्रकार अव्यक्त है, उसी प्रकार विनाश के देवता यम भी अव्यक्त हैं। अव्यक्त का दर्शन अव्यक्त द्वारा ही सम्भव – पराक् वृत्ति से नहीं, बल्कि आन्तर वृत्ति से। 'अप्सु ओषधीषु' – अप् से अग्नि ओषधि में संहत, प्राण से प्राणवाहिनी नाड़ी में अथवा अकाय से निकाय में। 'दशान्तरुष्यात्' द्र. टी. १२८१(४)। 'अतिरोचमानम्' – सारे आवरण हटाकर उनके 'अङ्गुष्ठमात्र रवितुल्य रूप का दर्शन' (तु. श्वे. ५।८)।

१४१६. होत्राद् अहं वरुण बिभ्यद् आयं नेद् एव मा युनजन्न् अत्र देवा:, तस्य मे तन्वो बहुधा निविष्टा एतम् अर्थं न चिकेताहम् अग्नि: १०।५१।४। कठोपनिषद् के 'नचिकेता' नाम का अर्थ यहाँ प्राप्त होता है। यज्ञ का अथवा जीवन का लक्ष्य है देवता का सायुज्य प्राप्त करके देवता होना। किन्तु अचित्ति द्वारा आच्छन्न चेतना में यह लक्ष्य पहले अपने आप स्वयं जाग्रत नहीं होता, बल्कि देवता की ही प्रेषणा अथवा अनुप्राणना से जागता है। तब भी एक द्विधा, एकभय रहता है कि मुझे क्या मिलेगा? क्या मैं समर्थ हो सकूँगा? भीतर आग रहने पर भी यजमान इस अवस्था में 'नचिकेता'। किन्तु कठोपनिषद् का नचिकेता श्रद्धाविष्ट किशोर, हालाँकि वह कृपणता से आक्रान्त वाजश्रवा का ही आत्मज है। ठीक यही भाव तु. १०।७९।४।

वरुण

आओ तुम! मनु चाहता है देवता को, वह यज्ञ करना चाहता है। सारा आयोजन किया है, उसने (और) तुम अँधेरे में छिपे हो, हे अग्नि! देवयान के जितने मार्ग हैं, सुगम करो, प्रसन्नतापूर्वक हव्य वहन करो।[१४१७]

अग्नि

अग्नि के पहले के भाइयों ने इस लक्ष्य को ही एक के बाद एक वरण कर लिया था – रथी जिस प्रकार रास्ता (चुन लेता है) उसी प्रकार......इसी से तो मैं भय से हे वरुण! दूर चला आया, धनुर्द्धर के धनुष की प्रत्यञ्चा से श्वेतमृग की तरह आतङ्कित हो गया।[१४१८]

१४१७. ऋ. एहि मनुर् देवयुर् यज्ञ कामोऽरंकृत्या तमसि क्षेष्य् अग्ने, सुगान् पथः कृणुहि देवयानान् वह हव्यानि सुमनस्यमानः १०।५१।५। किन्तु देवता देखते हैं, मनुष्य के भीतर जाग रहा है 'मनु' अथवा वैवस्वत मन, जो ज्योतिपिपासी है, देवता का सायुज्यकामी है। 'यज्ञ' अथवा आत्मोसर्ग उसका साधन है। गुहाहित अग्नि के प्रति वरुण का 'एहि' कहकर आह्वान – लगता है सभी मनुष्यों के प्रति 'अतल जल का आह्वान' है। 'अरङ्करण' चक्र की तरह बिखरी वृत्तियों को एकाग्र करना केन्द्रित करना, जो 'धी' अथवा ध्यान चित्तता का लक्षण है। तु. सोम का 'अरङ्करण' १।२।१। 'सुमनस्यमानः' – सौमनस्य अथवा चित्त की प्रसन्नता, निर्मलता योग के अनुकूल है (गीता २।६४-६५), और दौर्मनस्य योगविघ्न है (योग सूत्र १।३१)।

१४१८. ऋ. अग्नेः पूर्वे भ्रातरो अर्थम् एतं रथी. वा ध्वानम् अन्व् आवरीवुः, तस्माद् भिया वरुण दूरम् आयं गौरो क्षेप्नोर् अविजे ज्यायाः १०।५१।६ पहले के वे सब अग्नि अतिरिक्त उत्साह के फलस्वरूप देवयान-मार्ग पर चलते समय वषट् कार की वज्रशक्ति से टूट गए थे– इसकी चर्चा पहले ही कर चुके हैं। 'तस्मात्' अर्थ का विशेषण भी हो सकता है। 'ज्या' धनुष की

देवगण

तुम्हारी आयु को हम जरारहित करते हैं जब हे अग्नि, जिससे उपयोग में आए, हे जातवेदा, तुम्हारा अनिष्ट न हो तब तुम प्रसन्न मन से वहन क्यों नहीं करोगे देवताओं के निकट हवि का भाग, हे सुजात?[१४१९]

अग्नि

(किन्तु) प्रयाज और अनुयाज मुझको ही केवल तुम सब दो – जो सम्भवतः हवि का ऊर्जस्वी भाग है। और दो, अप् की ज्योति और ओषधियों का पुरुष अथवा प्रधान भाग। इसके अलावा अग्नि की आयु दीर्घ हो हे देवगण।[१४२०]

प्रत्यञ्चा, डोरी जिससे तीर चलाए जाते हैं। यहाँ निक्षिप्त वाण – फेंका हुआ तीर।

१४१९. ऋ. कुर्मस्त आयुर् अजरं यद् अग्ने यथा युक्तो जातवेदो न रिष्याः, अथा वहासि सुमनस्यमानो भागं देवेभ्यो हविषः सुजात १०।५९।७। अभीप्सा की अग्नि एक बार यदि भलीभाँति प्रज्वलित हो जाए, तो फिर उसे बुझने न देना ही साधना का लक्ष्य होगा। यह सुजात प्रसन्न अग्नि ही जातवेदा हैं, जिनका सख्य समस्त पापों, अपराधों से बचाकर हम सब को निरञ्जन, निर्विकार सर्वालि-भाव में उत्तीर्ण करता है (द्र. १।९४ सूक्त, टी. १३१७ (४))।

१४२०. ऋ. प्रयाजान् मे अनुयाजाँश केवलान् ऊर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम्; घृतं चा. पां पुरुषं चौष. धीनाम् अग्नेश् च दीर्घम् आयुर् अस्तु देवाः १०।५१।८। **प्रयाज** – आहुति विशेष, प्रधान आहुति के पहले देनी पड़ती है। पशुबन्धयाग में ग्यारह प्रयाज (दर्शपूर्णमास में पाँच, चातुर्मास्य में नौ इत्यादि), उनके देवता आप्रीदेवगण ही हैं ('आप्रीदेवगण' द्र.)। **अनुयाज** भी आहुति विशेष, प्रधान आहुति के पहले देनी पड़ती है। पशुयाग में ग्यारह अनुयाज, जिनके देवता हैं क्रमशः 'देवीर् द्वारः', ✲ उषसानक्ता, देवी जोष्ट्री, ✲ देवी ऊर्जाहुती, दैव्या होतारा, तिस्त्रो देवीः बर्हि, नराशंसः,

वनस्पतिः, ✡ बर्हिर् वारितीनाम् ✡ अग्नि स्विष्टकृत। तारका चिह्नित देवताओं को छोड़कर और सभी प्रयाज के भी देवता हैं। इसके साथ **उपयाज** नाम से और भी ग्यारह आहुति देनी पड़ती है, देवता क्रमानुसार इस प्रकार हैं – 'समुद्रः, अन्तरिक्षम्, देवः सविता, मित्रावरुणौ, अहोरात्रे छन्दांसि, द्यावापृथिवी, यज्ञः, सोमः, दिव्यं नभः, अग्निर् वैश्वानरः'। मन्त्र सब एक प्रकार के, जैसे 'समुद्रं गच्छ स्वाहा' इत्यादि। ऐब्रा. के मतानुसार सोमपायी तैंतीस देवताओं के अलावा ये फिर तैंतीस असोमपायी देवता ('एते असोमपाः पशुभाजनाः' २।१८)। प्रयाज और अनुयाज के देवताओं का स्वरूप क्या है? उसके बारे में मतभेद है। यास्कः ब्राह्मण ग्रन्थों से अनेक मतों का उल्लेख करते हुए अन्त में निर्धारित करते हैं कि वस्तुतः अग्नि ही इनके देवता हैं (नि. ८।२१.२२)। लक्षणीय प्रयाज के आरम्भ में देवता 'समिद्ध अग्नि' हैं और अनुयाज के अन्त में 'स्विष्टकृत' (जिन्होंने भलीभाँति रूप निष्पन्न किया है।) अग्नि। अतएव इस क्षेत्र में अग्नि ही यज्ञ के अथवा आत्माहुति के आदि और अन्त में व्याप्त हैं, यह भावना सहज ही उभरती है। वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता में अनुयाज के प्रथम देवता बर्हिः इत्यादि (२१।४८-५८, २८।३५-४५)। उपयाज देवता द्र. तैस. १।३।११। 'केवलान्' – जो और किसी को न देकर अग्नि को ही देना होगा। इससे यास्क का सिद्धान्त ही समर्थित होता है। हवि का 'ऊर्जस्वान् भाग' वही जिसके भीतर है। 'ऊर्ज' अथवा चेतना को मोड़ देने की शक्ति। अग्नि ही आधार के रूपान्तर साधक हैं, यजमान के हिरण्य शरीर के निर्माता हैं (ऐ. ब्रा. २।१४)। 'अपां घृतम् ओषधीनां पुरुषम्' अग्नि छिपे हैं अप् में एवं ओषधियों में अर्थात् विश्वप्राण एवं नाड़ी तन्त्र में। अप का सार 'घृत' (टीमू. १३०७) अर्थात् वह तरल पदार्थ जो अग्नि के संस्पर्श में आने पर अग्निमय हो जाता है; और ओषधि का स्तर है पुरुष (छा. १।१।२), क्योंकि स्थूल दृष्टि से भी पुरुष का शरीर, अन्नरूपी ओषधि का परिणाम है। इस वाक्यांश का तात्पर्य है कि अग्नि यदि जरा रहित होते हैं और उनके द्वारा अधिष्ठित यज्ञ या साधना यदि आदि से अन्त तक अग्निमय हो, तो फिर प्राण ज्योतिर्मय होगा एवं नाड़ी तन्त्र में वैश्वानर पुरुष का आविर्भाव होगा। दुर्ग 'पुरुष' को बतलाते हैं पुरोडाश (नि. ८।२२) द्र. सायण। लगता है यहाँ पुरुष में 'पुरीष' की ध्वनि है, जिसका अर्थ है ज्योतिर्वाष्प नीहारिका। द्र. 'पुरीष' आगे चलकर।

देवगण

प्रयाज और अनुयाज तुम्हारा ही केवल हो – हवि का जो ऊर्जस्वी भाग है। इस यज्ञ का सब कुछ तुम्हारा ही हो हे अग्नि! तुम को प्रणाम करें (पृथिवी की) चारों दिशाएँ।[१४२१]

प्रथम दृश्य यहाँ समाप्त हुआ। गुहाहित अग्नि को देवताओं ने खोज निकाला और उनको देवकाम मनुष्य की उत्सर्ग-साधना में हव्यवाहन रूप में नियुक्त किया। यज्ञ के आरम्भ में और अन्त में अग्नि का अधिष्ठान उसे मर्त्य यजमान के दिव्य रूपान्तर की साधन-शक्ति से समृद्ध कर देता है। अब दूसरे सूक्त में द्वितीय दृश्य की प्रस्तुति इस प्रकार है – प्रथम दृश्य के सभी इस दृश्य में भी हैं, किन्तु इस बार केवल अग्नि ही कभी देवताओं के प्रति अथवा कभी स्वगत रूप में बात करते हैं। जो महत्त्वपूर्ण दायित्व उनको दिया गया है, वे उसका निर्वाह कैसे करेंगे? अब वही उनके चिन्तन-मनन की भूमिका है। सूक्त के अन्त में एक मन्त्र में सम्भवतः सारी घटनाओं के एक निष्कर्ष की तरह ऋषि की नेपथ्योक्ति है। इस बार

अग्नि

हे विश्वदेव गण! उपदेश दो मुझे तुम सब – किस प्रकार से इस (यज्ञ में) होतारूप में नियुक्त होकर मनन करूँगा मैं? (और) जो (मनन करूँगा) निषण्ण अथवा आसीन होकर। तुम सब का

१४२१. ऋ. तव प्रयाजा अनुयाजाश् च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः, तवाग्ने यज्ञो अयम् अस्तु सर्वस् तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश् चतस्रः १०।५१।९। यज्ञ की प्रधान आहुति से सम्बन्धित प्रयाज और अनुयाज यदि केवल अग्नि का है, तो कहना पड़ेगा कि समस्त यज्ञ ही अग्नि का हुआ। तब अग्नि और यज्ञ एक। ल. आप्री देवगण के स्वरूप विवेचन में कात्थक्य उनको 'यज्ञ' बतलाते हैं, शाकपूणि 'अग्नि' (नि. ८।५...) एक की दृष्टि अधियज्ञ है और दूसरे की अधिदैवत। 'केवल' पदपाठ 'केवल' असाधारणः (सा.)

अपना-अपना जो भाग है, मुझे बतला दो, (और) जिस मार्ग द्वारा तुम सब के निकट हव्य वहन करके ले जाऊँगा, वह भी बतला दो।[1422]

मैं होता रूप में याजकवर होकर आसीन हुआ। मुझे प्रचोदित प्रेरित करते हैं विश्वदेवगण और मरुद्गण। प्रतिदिन, हे अश्विद्वय, अध्वर्यु का कार्य तुम दोनों का ही है। ब्रह्मा समिन्धनकारी हैं। वह आहुति तुम दोनों के लिए ही है, (हे अश्विद्वय)।[1423]

१४२२. ऋ. विश्वे देवा: शास्तन मा यथेह होता वृतो मनवै यन् निषद्य, प्र मे ब्रूत भागधेयं यथा वो येन पथा हव्यम् आ वो वहानि १०।५२।१। अग्नि अधूमक ज्योति के रूप में मनुष्य के 'मध्य आत्मनि तिष्ठति' (तु. क. २।१।१२-१३)। उनसे सम्बन्धित आदित्य रश्मि विश्वदेव (शु. ३।९।२।६) अथवा विश्वचैतन्य का परिवेश। हमारी अभीप्सा को प्रेरणा देता है वही परिवेश – प्रतिबोध या प्रबोध (के. २।४) अथवा प्रातिभ संवित् रूप में। अग्नि यहाँ विश्व चैतन्य का अनुशासन चाहते हैं। अध्यात्म दृष्टि से विश्वदेवगण विश्वगुरु और अग्नि चैतन्य गुरु हैं। 'वृत:' – अग्नि मनुष्य के भीतर ही है; तब भी वे देवगण के वरण की अपेक्षा करते हैं (तु. यम् एवैष वृणुते तेन लभ्य: क. २।२।२३)। 'मनवै' – [√मन् (उ) + ऐ] तु. अग्नि **मनोता:** 'त्वं शुक्रस्य वचसी मनोता' ऋ. २।९।४, त्वं ह्य अग्ने प्रथमो मनोताऽस्या धियो अभवो दस्म (तिमिरनाशन) होता (६।१।१; यहाँ 'धी' = यज्ञ अर्थात् यज्ञ वस्तुत: मानस याग है)। सोम भी 'धिया मनोता प्रथमो मनीषी' ९।९१।१ (< मन् + √वा 'वयन करना') + तृ; तु. यस्मिन् देवामां मनांस्य् ओतानि प्रोतानि स: तथा च ब्राह्मणं – 'तस्मिंश् च तेषां मनांस्य् ओतानि' ऐ. २।१० सायण)। 'निषद्य' – तु. निषत्ति: ऋ. ४।२१।९; मध्ये निषत्त: १।६९।२; ३।६।४, ३।६।४, ६।९।४ आध्यात्मिक दृष्टि से आवेश का बोध होता है। 'पथा' – देवयान का मार्ग, जिससे होकर सोम की धारा ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। तु. ९।१५।३ द्र. टी. १२५६ (२))।

१४२३. ऋ. अहं होता न्य् असीदं यजीयान् विश्वे देवा मरुतो मा जुनन्ति, अहरहर् अश्विना, ध्वर्यवं वां ब्रह्मा समिद् भवति साहुतिर् वाम् १०।५२।२। विश्व देवता की प्रेरणा सौचीक अग्नि के भीतर स्फुरित हुई, उनका आत्मप्रत्यय जागा। और अध्वर गति में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी, क्योंकि विश्व

(सोचता हूँ) यह जो होता है, क्या (होता है) वह यम का? (स्वयं को) वह क्या मानता है? जब (उसको) सम्यक् व्यक्त करते हैं देवगण? प्रतिदिन वह जन्म लेता है; (जन्म लेता है), प्रति मास। उसी से देवताओं ने स्थापित किया है (उसको) हव्यवाहन रूप में।[1424]

के ऋत अथवा शाश्वत विधान के मार्ग पर वह विश्वचैतन्य के आवेश एवं विश्वप्राण की प्रेरणा से अग्रसर होगी। इस देवयज्ञ का समिन्धन वाक् अथवा मन्त्र चैतन्य के अधीश्वर वृहस्पति करते हैं। उससे अध्वर्यु रूप में दिन पर दिन सोम्य आनन्द की आहुति उड़ेलने हैं अश्विद्वय, जो अन्धतमिस्रा या गहरे घने अँधेरे के कुहर या गर्त से अदृश्य आलोकरश्मि के घोड़े आदित्य की माध्यन्दिन द्युति की ओर दौड़ते चलते हैं। अश्विद्वय का 'आध्वर्यव' तु. तैस. ६।२।१०।१, ऋ. १।१०९।४; अचित्ति के या अविवेक के अँधेरे में वे ही चिन्मय प्राण के प्रथम स्पन्दन हैं, विश्व के ज्योतिष्टोम के शरीर को थोड़ा-थोड़ा करके वे ही गढ़ते हैं (तु. १०।७१।११, द्र. सायण)। 'ब्रह्मा' बृहस्पति (तु. ब्रह्मवरण के बाद ब्रह्मा का जप:- 'बृहस्पतिर् देवानां ब्रह्माहं मनुष्याणाम्' कात्यायन श्रौ. २।१।१८) अथवा– ब्रह्मणस्पति (द्र. ऋ. १०।५३।९) 'समित्' अग्नीध् (HILLEBRANDI), ऋक् संहिता में 'अग्निमिन्ध' (१।१६२।५); सायण का कथन – 'समिद्धश् चन्द्रमा' एवं 'सा' को 'स:' करके कहा है 'सोमात्मको हि चन्द्रमा हूयते' इत्यादि। बृहस्पति अथवा बृहत् की चेतना की प्रेषणा से आग जल रही है एवं प्राणचेतना रूप में अश्विद्वय उसमें आहुति देते जा रहे हैं (उनका अश्व ओज:शक्ति का प्रतीक १०।७३।१०)।

१४२४. ऋ. अयं जो होता किर् उ स यमस्य कम् अप्य ऊहे यत् समंजन्ति देवा:, अहरहर् जायते मासिमास्य् अथा देवा दधिरे हव्यवाहम् १०।५२।३। स्वयं को लेकर यह अग्नि के मन में अपने विचार। एक ओर मृत्यु के देवता यम हैं, जिनमें सब कुछ का प्रलय। और एक ओर अमृत के पुत्र ये देवगण हैं, जिन्होंने अन्धतमिस्रा की गहराई से सौचीक अग्नि को ढूँढ निकाला है। इन दोनों के साथ अग्नि का क्या सम्बन्ध है? वे क्या दोनों के बीच आर-पार जाने के सेतु हैं– जो एक बार अव्यक्त से व्यक्त में, फिर व्यक्त से अव्यक्त मै आवर्तित होकर गतिमान् हैं? प्रतिदिन अग्निहोत्र में उनका देव सम्बन्ध और प्रतिमास में पितृयज्ञ में उनका यम-सम्बन्ध है। एक में अग्निज्योति का परिणाम सूर्य में और एक में चन्द्रमा में। चन्द्रमा

मुझे देवताओं ने स्थापित किया है हव्य वाहन के रूप में (मैं तो) खो गया था। (उसके बाद) बहुत कष्टकर स्थित के भीतर से गुज़र रहा हूँ। (वे कहते है :) अग्नि जानते हैं (सब), हमारे यज्ञ को वे रचें-गढ़े-(जिस यज्ञ के) पाँच पदक्षेप हैं, तीन आवर्तन, सात तन्तु हैं।[१४२५]

की पूर्णता राका में। किन्तु उसके अवक्षय का चरम कुहु में। अग्नि उसके भी भीतर यदि जागते रहें, तो वे वैवस्वत यम के सम्मुख खड़े होते हैं। वही पुनर्मृत्युतरण अमृतत्व है। मनुष्य के भीतर उसकी अभीप्सा विद्यमान हैं। उसके लिए ही उसका यज्ञ, अग्नि प्रतिदिन हव्यवहन। अत्र सायण: 'अग्निः प्रतिदिनम् अग्निहोत्रार्थं प्रादुर्भवति, तथा प्रतिमासं जायते पितृयज्ञार्थम् एतत् कालद्वयम् उपलक्षणं पक्ष-चतुर्मास-षण्मास- संवत्सरादीनाम्। अपरे पुनर् एवम् आहु:, अहरह सूर्यात्मना जायते, मासिमासि चन्द्रात्मनेति।'

१४२५. ऋ. मां देवा दधिरे हव्यवाहम् अपम्लुक्तं बहु कृच्छ्रा चरन्तम्, अग्निर् विद्वान् यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम् १०।५२।४। गुहाहित अग्नि के आविष्करण और आदित्याभिसारिणी अभीप्सा के उद्‌बोधन में हमारी साधना का आरम्भ। किन्तु उषा के उजाला फूटने जैसी वह साधना तो अनायास नहीं। जड़ता की गाँठ खोलना और गुहाग्रन्थि का विकिरण दीर्घकाल की निरन्तर कृच्छ्र तपस्या से ही सम्भव। पाथेय विश्व देवता का प्रसाद एवं जीवन के मर्म के मूल में उनके इस सत्य सङ्कल्प का प्रवेग, आवेग:– मनुष्य के भीतर प्रज्ञा के प्रकाश का उन्मेष हो, उसकी उत्सर्ग भावना सार्थक रूप धारण करे, दिन-रात त्रिसन्ध्या में आवर्तित होकर वह संवत्सर व्यापी ऋतु परम्परा के नृत्यछन्द में अग्रसर हो, पृथिवी से द्युलोक में प्रसारित आदित्य के सप्तधाम के सोपान पार करके आगे बढ़ती जाए।.... यज्ञों में श्रेष्ठ है सोमयाग, जो अमृतत्व एवं देवात्मभाव का साधन है (८।४८।३, ९।११३।६-११)। उसमें सुबह, दोपहर एवं शाम तीन सवन, इसलिए यज्ञ त्रिवृत्। गवामयन एक संवत्सर व्यापी सोमयाग अथवा सत्र जिसके यजमानगण ही ऋत्विक्। संवत्सर में पाँच ऋतुएँ, प्रत्येक ऋतु आदित्य का एक पाद, इसलिए आदित्य 'पञ्चपाद' (१।१६४।१२) एवं यज्ञ आदित्य रूप में (तु. श ब्रा. १४।१।१।६) यज्ञ भी पञ्चपाद। 'सप्ततन्तु' सायण के कथनानुसार सात छन्द। ऋक् संहिता के यज्ञ सूक्त में (१०।१३०) यज्ञ को 'तन्तुभिस्

(वह मैं करुँगा। किन्तु सम्भवत:) तुम लोगों के निकट मैं चाहता हूँ अमृतत्व (और) सुवीर्य, जिससे तुम सब के लिए हे देवगण, रच सकूँ वैपुल्य। मैं इन्द्र की दोनों बाँहों में वज्र दे दूँगा, जिससे वे समस्त शत्रुओं की सेनाओं को पराजित कर सकें।[१४२६]

ऋषि

तीन हजार तीन सौ उनतालीस देवताओं ने (उस समय) अग्नि की परिचर्या की : उन्होंने (उसमें) घृतसिञ्चन किया, उनके लिए बर्हि बिछा दिया, उसके बाद होता को निषण्ण किया।[१४२७]

तत:' कहा गया है (१-२), एवं उसके बाद ही सात छन्दों का उल्लेख है। किन्तु इस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य यज्ञ के सप्तधाम (९।१०२।२) एवं अग्नि के (४।७।५) और विष्णु के भी (१।२२।१६)।

१४२६. ऋ. आ वो यक्ष्य् अमृतत्वं सुवीरं यथा वो देवा वरिव: कराणि, आ बाह्वोर्वज्रम् इन्द्रस्य धेयाम् अथेमा विश्वा: पृतना जयाति १०।५२।५। यदि अभीप्सा की शिखा जरारहित एवं अमर हो, आधार में यदि वीर्य जागे, तो अधृष्य ओजस्विता द्वारा वृत्र की समस्त बाधा निर्जित करके चेतना के वैपुल्य की साधना सम्भव होगी। बाधा अन्तरिक्ष लोक की है, इसलिए इन्द्र के हाथों में वज्र देने की बात हो रही है। अविद्या के मेघ छँट जाने से ही आदित्य की ज्योति में चिदाकाश भास्वर हो उठेगा। 'सुवी' सुवीर्य (गुण में द्रव्य का आरोप; सायण 'सुपुत्र' अग्नि के बारे में उपयुक्त है क्या? Geldner कहते हैं यह शब्द यदि कर्मधारय हो, तो तृतीय पाद के इन्द्र का बोधक है। 'सुवीर्य' की प्रार्थना भी ऋक्संहिता में अनेक है, सुवीर उसका ही यथार्थ रूपायन है)। 'वरिव:' <√ वृ. 'छाना, फैलना' वैपुल्य, (द्र. टीमू. ११३४...)। उसका विलोम है 'अंह:' अथवा चेतना की सिकुड़न।

१४२७. ऋ. त्रीणि शता त्री सहस्राण्य् अग्निं त्रिंशच् च देवा चा. सपर्यन्, औक्षन् घृतैर् अस्तृणन् बर्हिर् अस्मा आद् इद् धोतारं न्य् असादयन्त १०।५२।६ = ३।९।९। द्र. टीमू. १२८१(३)। 'बर्हि:' कुश, रहस्यार्थ द्र. 'बर्हि' आप्रीदेवगण।

देव-यज्ञ आरम्भ हुआ। विश्वदेवगण उसके यजमान हैं, और होता अग्नि हैं। ऐसे ही एक और देवयज्ञ का उल्लेख पुरुष सूक्त में किया गया है। वह यज्ञ विसृष्टि है, आत्माहुति में अतिष्ठाः पुरुष का सहस्र तनु धारण करके उतर आना। उतर आने के बाद फिर उठ जाना, जिसका परिचय मर्त्य की अमृत-पिपासा में मिलता है। उपनिषद् में उसे विपरीत क्रम में विसृष्टि की अति सृष्टि कहा गया है। यह देवयज्ञ वही है जिसका होता सौचीकाग्नि को नियुक्त किया गया है और जिसका परिणाम 'देवताति' अथवा मनुष्य का देवता हो जाना है।[१४२८]

यहाँ जो कुछ होता है, उसका मूल वहाँ है। देवयज्ञ को आदर्श मानकर ही मनुष्य-यज्ञ का प्रवर्तन हुआ है; मनुष्य देवता को चाहता है इसलिए कि पहले देवता ने ही मनुष्य को चाहा है। उसी चाहत का रूपक है देवताओं का गुहाहित अग्नि को ढूँढ़ निकालना और मनुष्य के हव्यवहन के कार्य में उनको नियुक्त करना। द्वितीय दृश्य में हमने उसका रूपायन देखा है। इस बार तृतीय दृश्य में देवयज्ञ मनुष्य के भीतर यज्ञ की प्रेरणा जगाता है। इस बार पात्र ऋत्विक् गण एवं अग्नि हैं।[१४२९] आरम्भ में –

१४२८. तु. बृ. सैषा ब्रह्मणो अतिसृष्टि यच् छ्रेयसो देवान् असृजत, अथ यन् मर्त्यः सन्न् अमृतान् असृजत, तस्माद् अतिसृष्टिः १।४।६। 'देवताति' द्र. ऋ. १०।५३।१, टी. १३३९(१)।

१४२९. अनुक्रमणी में इस सूक्त के ऋषि देवगण, केवल ४-५ ऋक् के ऋषि अग्नि हैं। किन्तु देवयज्ञ का उल्लेख पूर्व के सूक्त में ही किया जा चुका है (द्र. ११४८)। अब उसके आदर्श के अनुसार मनुष्य यज्ञ को प्रवर्तन होगा। वर्तमान सूक्त के उसकी ही विवृति है। अतएव ४-५ ऋक् को छोड़कर सर्वत्र मनुष्य ऋत्विकों के ऋषि मान लेने से ही पूर्वापर सामञ्जस्य बैठता है एवं नाटिका की उपस्थापना भी सशक्त होती है।

ऋत्विक्-गण

जिन्हें हमने मन ही मन चाहा था, यही तो वे आए। यज्ञ के ज्ञाता हैं वे, उसके सभी पर्वों की जानकारी रखते हैं। वे ही याजकवर हम सब की ओर से देवता भाव के लिए यजन करें, हमारे सम्मुख अन्तरङ्ग होकर जब आसन ग्रहन करें।[१४३०]

संसिद्ध याजक श्रेष्ठ होता ने अपना आसन ग्रहण किया, जब उन्होंने सुव्यवस्थित सुन्दर विविध प्रकार की सामग्री की ओर देखा। हाँ, (इस बार किन्तु) यजन करेंगे हम यजनीय देवताओं का, उद्दीपित कर देंगे, जिनको उद्दीप्त करना होगा आज्य देकर।[१४३१]

१४३०. ऋ. यम् ऐच्छाम् मनसाऽयम् आगाद् यज्ञस्य विद्वान् परुषश् चिकित्वान्, स नो यक्षम् देवताता यजीयान् नि हि षत्सद् अन्तरः पूर्वो अस्मत् १०।५३।१। विश्वदेवता का सायुज्य प्राप्त करने के लिए उद्विग्न हृदय में अभीप्सा की शिखा जागती है। उसके ही आलोक से आलोकित होता है देवयान का मार्ग, उसके दीर्घ प्रतनन के प्रत्येक पर्व या पोर को हम तब पहचान सकते हैं। इस सौंचीक अग्नि की देशना अथवा निर्देश बिना हमारी साधना कभी भी निष्पन्न नहीं हो सकती। हमारे जाग्रत हृदय की वेदी पर आज वे निषण्ण हैं, समासीन हैं, किन्तु हम जब जागे नहीं थे, तब भी वे गुहाचर रूप में हम सब के ही भीतर गहराई में थे। 'मनसा'– यज्ञ केवल क्रियासर्वस्व ही नहीं, बल्कि धी अथवा प्रज्ञा उसका प्रेरक एवं नियामक है (द्र. टीमू. १३६१, तु. १०।५३।६)। वस्तुतः मन ही यजमान है (प्र. ४।४)। 'परुषः'– पर्वसमूह; जोड़ पोर। तु. ऋ. १०।५२।४। 'देवताता'=देवतातौ, लक्ष्यार्थ में सप्तमी। 'अन्तरः'– तु. मध्ये निषत्तः १।६९।४, द्र. टी. १३५६; और भी तु. अन्यद् युस्माकम् अन्तरं बभूव १०।८२।७, टी. १२०३ (१)। 'अन्तरः' ऋत्विजां यष्टव्यानां देवानां च मध्ये सञ्चरन् (सायण)। पूर्वः तु. ईलितो अग्ने मनसा नो अर्हन् देवान् यक्षि मानुषात् पूर्वो अद्य २।३।३, ५।३।५, 'अस्मत्तो देवेभ्यः पूर्वभावी सन्' (सा.)।

१४३१. ऋ. अराधि होता निषदा यजीयान् अभि प्रयांसि सुधितानि हि ख्यत्, यजा महै यज्ञियान् हन्त देवाँ ईलामहा ईड्याँ आज्येन १०।५३।२ ना. उनके बिना

उन्होंने निष्पन्न किया हम सब के देवतर्पण को आज; यज्ञ की निगूढ़ जिह्वा को हमने प्राप्त किया। वे आए प्राण का वस्त्र पहनकर सुरभि रूप में, सुभद्रा अथवा सौभाग्यशाली किया हमारी देवहूति को आज।[१४३२]

यज्ञ चल ही नहीं सकता। उनके न होने से विश्वदेवता को हम सब के निकट कौन बुलाकर लाएगा? यह देखो वे आए, हम सबके अन्तर में आविष्ट हुए। फिर तो वे चले जाएँगे नहीं। उनके लिए प्रीतिकर विविधवर्णी सामग्री सजाकर रखा है। उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक उनकी ओर देखा, वे धन्य हो गए। हृदय में आत्माहुति का जोश उभरा। इस बार हम और निश्चेष्ट नहीं रहेंगे। विश्व देवता को अपना सब कुछ देंगे, हृदयद्रावक अग्नि के स्रोत में उद्दीपित कर लेंगे उनको। .....'निषदा' द्र. टी. १४२२। 'नि' नीचे, गहरे। **'प्रयांसि'**– (निघ. अन्न २।७ <√ प्री खुश करना, खुश होना; प्रेम-प्यार) प्यार से देवता को हम जो देते हैं एवं प्यार से वे जो ग्रहण करते हैं। सोम के साथ विशेष सम्बन्ध (तु. ऋ. ५।५१।५-७, एवं उसके बाद के तृच में ही 'आ याह्य अग्ने अत्रिवत् सुते रण' सब देवताओं के साथ); सोम 'प्रयस्वान् प्रयसे हितः' ९।६६।२३ तु. (९।४६।३)। फिर सख्य अथवा मित्रता के साथ सम्पर्क तु. 'इन्द्रो ह यो वरुणा चक्र आपी (अपना; आत्मीय) देवौ मर्तः सख्याय प्रयस्ववान् ४।४१।२। 'अभिख्यत'– उन्होंने देखा एवं उसी से वे खिल उठे आह्लादित हुए, अतएव उन्होंने ही उनको दृष्टि-सृष्टि की तरह विकसित किया, उजागर किया– यह अर्थ भी होता।

१४३२. ऋ. साध्वीम् अकर् देववीतिं नो अद्य यज्ञस्य जिह्वाम् अविदाम् गुह्याम्, स आयुर् आगात् सुरभिर् वसानो भद्राम् अकर् देवहूतिं नो अद्य १०।५३।३।– जो कुछ अपना था, वह सब विश्वदेवता के उपभोग के लिए सजा दिया है। हृदय की यज्ञवेदी में अग्निरसना द्वारा उन्होंने उसका आस्वादन किया। उनका **सम्भोग**-उपभोग ही हम सब का सम्भोग-उपभोग है, उस एक ही अग्निरसना द्वारा उनका आस्वादन करना। ये तपोदेवता ही उस पारस्परिक आप्यायन के साधक हैं, क्योंकि देवता और मनुष्य के बीच गुप्त रूप से उनका नित्य आना-जाना अनन्तकाल से जारी है। किन्तु आज उनका वह आवरण या अन्तराल मिट गया यह देखो हमारे सामने आज वे हमारी आत्माहुति के सौरभ आनन्दित होकर जरा रहित प्राण का

ऐश्वर्य लेकर आविर्भूत हुए। उनके अनुग्रह से सार्थक हुआ हमारा देवतर्पण, सुमङ्गल हुआ उनका आवाहन।....**देववीतिम्**–(<देव+√ वी 'सम्भोग या उपभोग करना; चलना') देवानाम् आगमनवन्तं देवानां हविर्भक्षणोपेत। वा यज्ञम् (सायण); अन्यत्र 'देवानां वीतिर् यस्मिन् यागे न देववीतिः १।१२।९। तु. स्कन्दः 'देववीतये, गत्यर्थो अशनार्थो वा, देवान प्रति गमनाय देवानां वा हविर्भक्षणाय १।१२।९ 'वीति' यजमान की भी हो तो फिर बोध होगा यज्ञ अथवा आत्मोसर्ग के द्वारा देवता का उपभोग करना, उनका सायुज्य प्राप्त करना; तु. 'देवताति'। अधिकांश प्रयोग सोम के बारे में यज्ञ अन्योन्य समभावन अथवा पारस्परिक आप्यायन है, तु. गीता ३।११। 'यज्ञस्य जिह्वाम्'– अग्निर् हि यज्ञस्य जिह्वा, तेन देवानां पानाज् जिह्वात्वेनोपचारः (सायण)। तु. त्वाम् अग्न आदित्यास आस्यं त्वा जिह्वां शुचयश् चक्रिरे कवे २।१।१३। फिर अग्नि से ही आन्तर उद्दीपन, उससे वाक् अथवा मन्त्र एवं उसके ही द्वारा देवता को पाना (द्र. टी. १४३४)। इस प्रकार अग्नि उभयतः यज्ञ की जिह्वा। यह जिह्वा 'गुह्य'– जिस प्रकार हम सब के भीतर (तु. १०।७१।३; तिस पर 'गुहाचर'), उसी प्रकार परमव्योम में है। अग्नि 'आयुः' द्र. टी. १३०६(१)। **सुरभिः** (व्युत्पत्ति? <सु √ रभ् 'धरना, पकड़ना' जिसे आसानी से पकड़ा जाए) तु. त्वम् अग्न ईलितो जातवेदा ऽवाड् (वहन किया) ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी (करके) १०।१५।१२; अग्नि के संस्पर्श से आहुत द्रव्य सुवासित होता है। यह उसका प्रथम विपरिणाम है; किन्तु आहुति यजमान की ही आत्माहुति है, अतएव यह सौरभ उसके देव संस्पर्श जनित नव जीवन का सौरभ है; वह ही देवता का सहज एवं आदिम परिचय है, वे सुरभि हैं। 'सुरभि' सोम का विशेषण है ९।९७।१९, १०७।२; इन्द्र का १।१८६।७; वेन अथवा देवगन्धर्व का सुरभि वसन १०।१२३।७(=इन्द्र ६।२९।३); अख्यानी १०।१४६।६। अग्नि का 'अस्य सुगन्धि' ८।१९।२४; त्र्यम्ब रुद्र 'सुगन्धि' ७।५९।१२। तु. श्वे. प्रथम योगप्रवृत्ति का लक्षण 'शुगन्ध' २।१३। 'देवहूति' तु. १०।१८।३।

अग्नि

किन्तु आज वाक् का जो आदि है, उसका ही मनन करूँ मैं, जिसके द्वारा हम सब देवगण असुरों को करेंगे, पराजित। ऊर्जभोजी और यजनीय हे पञ्चजन! तुम सब मेरे होतृकर्म में होओ सुतृप्त।[१४३३]

पञ्चजन मेरे होतृ कर्म में हों सुतृप्त, (सुतृप्त हों) गोजात हैं (जो सब) एवं जो सब यजनीय हैं। पृथिवी हमें पार्थिव क्लिष्टता से बचाए, अन्तरिक्ष द्युलोक की (क्लिष्टता) से बचाए हमें।[१४३४]

१४३३. ऋ. तद् अद्य वाचः प्रथमं मसीय येना सुराँ अभि देवा असाम्, ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् १०।५३।४। अग्नि किसका मनन करेंगे? देवताओं से वह पूछा था (१०।५२।१)। उत्तर पाकर यहाँ कहते हैं 'तो फिर मैं आदि वाक् का मनन करूँगा'। यह आदि वाक् 'गौरी' हैं– शुभ्र प्राणरुपिणी हैं, जो कारण-सलिले को तराश करके अक्षर को विश्व रूप में क्षरित करती हैं (१।१६४।४१-४२)। उनके तीन पद गुहाहित हैं (४५) एवं ऋषियों के हृदय में प्रविष्ट हैं (१०।७१।३)। परमव्योम में इस परावाक् के दर्शन से ही अविद्या पूरी तरह दूर हो सकती है एवं वही मन्त्रयोग की चरम सिद्धि है। यहाँ उसे देवताओं द्वारा असुरों का अभिभव कहा गया है (निन्दा के अर्थ में 'असुर' शब्द का व्यवहार लक्षणीय)। देवगण 'ऊर्जाद' हैं अर्थात् हम सब की अन्तरावृत्ति की शक्ति उनका अन्न है उससे उनका पोषण होता है : तु. 'तत्तद् अग्निर् वयो दधे यथायथा कृपण्यति, ऊर्जाहुतिर् वसूनां शं च योश् च मयो दधे विश्वस्यै देवहूत्यै'– अग्नि ने वैसा-वैसा ही तारुण्य आधान किया है, जो जैसा चाहते हैं, ऊर्ज की आहुति उनमें जो सब ज्योतिर्मय हैं, उनके प्रति (उसी से) उन्होंने प्रथम, शक्ति और आनन्द देवता के प्रत्येक आवाहन में आधान किया है ८।३९।४। 'पञ्चजनाः' देव मनुष्यादयः (सायण)। देवता भी पञ्चजन अर्थात् 'विश्वेदेवाः' हैं तु. ६।५१।११, दिवी व पञ्चकृष्टयः १०।६०।४; द्र. टी. १३७४ (३)। अग्नि की सहायता द्वारा मनुष्य यज्ञ आरम्भ हुआ।

१४३४. ऋ. पञ्चजना मम होत्रं जुषन्तां गोजाता उत ये यज्ञियासुः, पृथिवी नः पार्थिवात् पात्व् अहसो ऽन्तरिक्षं दिव्यात् पात्व् अस्मान् १०।५३।५ (७।३५।१४, १०४।२३)। गोजानाः तु. दिव्याः पार्थिवासो गोजाता अप्या

ब्रह्मा

तन्तु के वितनन में रजोभूमि की दीप्ति का अनुगमन करो, तुम ज्योतिष्मान् (उन) मार्गों की रक्षा करो – ध्यान द्वारा रचित हैं जो गाँठ न पड़ने पाए इस तरह बुनो गायकों का कर्म। मनु होओ तुम, जन्म दो दिव्य जन को।[१४३५]

मृलता च देवाः ६।५०।११– द्युलोक, अन्तरिक्ष एवं पृथिवी के सारे देवता ही गो जात हैं। यह गो यदि पृश्नि हो तो फिर यह संज्ञा मरुद्गण का बोधक है (तु. १०।५२।२)। इसके अलावा सूर्य 'गोजाः' ४।४०।५, जो 'देवोनाम्....अनीकं....आत्मा जगतस् तस्थुषश् च' १।११५।१), जिसके भीतर सब कुछ का समाहार है। 'गो' वही रश्मि है जो हम सब के भीतर अन्तर्गूढ़ अथवा अन्तर्निहित है (तु. १।२४।७); देवता उससे उत्पन्न अर्थात् आत्मचैतन्य के विस्फारण, प्रसारण में ही हम विश्वदेवता को पाते हैं। 'नः' यहाँ अग्नि की उक्ति है; अतएव देवता और यजमान एक। 'अहः' चेतना का सङ्कुचन है, उसके कारण अग्नि गुहाहित सौचीक। उस मुक्ति 'वरिवः है १०।५२।५।

१४३५. ऋ. तन्तुं तन्वन् रजसो मानुम् अन्व् इहि ज्योतिष्मतः पशो रक्ष धियाकृतान, अनुल्वणं वयत जोगुवाम् अपो मनुर् भव जनया दैव्यं जनम् १०।५३।६ मनुष्य यज्ञ के नियन्ता ब्रह्मा (तु. 'ब्रह्म त्वो वदति जातविद्याम्' १०।७१।११। यहाँ उनका वही ब्रह्मघोष सब को सतर्क सावधान करने के लिए है (तु. ब्रह्मप्रशस्ति छा. ४।१७)। ऋक् के तृतीय पाद में क्रिया बहुवचन में है, लक्ष्य अन्यान्य ऋत्विक् गण; और तीन पाद अग्नि को लक्ष्य करके। ऋत्विकों को विशुद्ध रूप में सामगान गाने के लिए (तु. छा. ४।१७।६)। सामगान सोमयाग का अङ्ग है। अतएव यहाँ हम अग्निसोम की ध्वनि पाते हैं।.....भूलोक से द्युलोक तक आतत, मनुष्य यज्ञ तन्तु का एक दीर्घवितान है (तु. १।१४२।१, १०।१३०।१-२; द्र. वेमी. प्रथम खण्ड टी. ११३६)। यह तन्तु देवयान् का मार्ग है, उसके पोर-पोर में ज्योति का छितराव। अग्नि दिग्दर्शक के रूप में इस मार्ग से हमें आदित्य में ले जाएँगे। यह मार्ग आदि से अन्त तक ध्यान द्वारा रचा गया है। उस ध्यान चेतना को हमारी अभीप्सा की आग जगाए रखती है। मनु

और अक्षबन्धन को बाँधो हे सोम्यगण सुव्यवस्थित कर लो वल्गा उसके बाद रञ्जित करो (अश्वों को)। आठ आसनों के रथ को हाँक दो इस ओर जिससे देवगण (यह देखो) ले आए हमारे निकट प्रिय को।[१४३६]

मानव के आदि पिता एवं यज्ञ के प्रवर्तक (१।८०।१६, ११४।२, २।३३।१३, १।२६।४, १०।५१।५)– जो यज्ञ मनुष्य के हृदय में देवता को जन्म देकर उसके देवात्म-भाव को सिद्ध करता है। यह मनु अग्नि का ही एक रूप है। फिर अन्तस्थ अग्नि ही मनुष्य के मुख में उस वाक् या वाणी के रूप में व्यक्त होते हैं, जिस वाक् का चरम परिणाम साम में हुआ। साम में सोमयाग की प्रतिष्ठा। सोमयाग अमृतत्व का साधन है और अग्नि उसके साधक। वे ही हमें सोम्य आनन्द के तट पर लिए जा रहे हैं।....रजसो भानुम्'–'रजः' अन्तरिक्ष अथवा प्राणलोक, उसके 'भानु' या आलोक अथवा ज्योति सूर्य है' (सायण)। आदित्य में पहुँचना ही अग्नि साधक का पुरुषार्थ है। अनुल्बणम्–(व्युत्पत्ति? <√ वृ 'वेष्टने' तु. 'उल्ब' १०।५१।१, तैसं 'यद् एव यज्ञे उल्बणं क्रियते तस्यै वैषा शान्तिः ३।४।३।७, तत्र सायण– 'विधिम् अतिक्रम्या तुष्ठिम् अंगम् उल्बणम्') निर्दोष रूप में, विघ्न-बाधा से मुक्त। 'जोगुवाम्' गुं 'शब्दे' तु. १।६१।१४। 'मनुर् भव....' तु. १।४५।१, सारे देवता 'मनुजात' द्र. टी. १२८१(२); और भी तु. ८।३०।२; फिर मनु ही यज्ञ तु. 'यज्ञो मनुः प्रमतिर् नः पिता हि कम् १०।१००।५।

१४३६. ऋ. अक्षानहो नह्यतनोत सोम्या इष् कृणुध्वं रशना ओत पिंशत, अष्टावन्धुरं वहता भितो रथं येन देवासो अनयत्र अभि प्रियम् १०।५३।७। यज्ञ आरम्भ हुआ। उसे रथ के साथ उपमित किया गया है (तु. ऐब्रा. 'देवरथो वा एष यद् यज्ञः' २।३७; और भी तुलनीय १०।१०१। सुक्त, १०।६९।७)। रथ में रथी देवता हैं और सारथी हैं ऋत्विक् गण। हमारी आत्माहुति की साधना ही देवता को उनकी विचित्र विभूति के साथ यहाँ ले आती है। ... 'अक्षनहः' अक्षदण्ड को पहियों के साथ अच्छी तरह बाँधने का सामान। ('अक्षेषु नह्यान् बन्धनीयान् अश्वान्' – सारण)। **सोम्याः** - जो सोमपान के अधिकारी, अमृतत्व के साधक हैं। ऋत्विकों का विशेषण - तु. इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः सुन्वन्ति सोमं दधति प्रयांसि (३।३०।१, देवता को सोमपान करा कर जो हविःशेष रूप में उनका प्रसाद प्राप्त

अश्मन्वती का प्रवाह तीव्र गति से प्रवाहित है। स्वयं को अटल, स्थिर रखो। पार होकर आगे बढ़ चलो हे साथियों। जो कुछ अशिव, अमङ्गल है, यहाँ ही छोड़ जायेगें, शिवमय, मङ्गलमय ओजस्विता के तट पर जा पहुँचेगे।[१४३७]

करेंगे), १।३१।१६, ४।१६।१७, (चमस) प्रियो देवनाम् उत सोम्यानाम् १०।१६।८....। सायण - 'सोमाही देवाः' **इष् कृणुध्वम्** – [इस् = निस् (पा. ६।१।९ महाभाष्य; 'निष्कुरुत, सम्यक् संस्कुरुत, नकार लोपश् छान्दस्ः' सायण ; तुः 'यज्ञनिष्कृतः' ऋ. १०।६६।८; और भी तु. १०।१०१।२, ६, इष्कृतिर् नाम वो माताथो यूयं स्थ निष्कृतीः, सीराः पतत्रिणीः स्थन् यद् आमयति निष्कृथ १०।९७।९....)] सजा लो, सुव्यवस्थित कर लो। 'रशना' – तु. १०।७९।७। पिंशत – [< √पिश् 'रञ्जित करना, चित्रित करना' तु. 'अयं दीपनायाम् अपि : त्वष्टा रूपाणि, पिंशतु' सिद्धान्त कौमुदी १५३०; तु. Lat.✡ Pinctum ।। Pictum < Pingere 'to Paint; to embraider' < Pei (g) - ✡Pi (g) - to adorn, deck'; GK. Poikilos 'gay';और भी तुलनीय पिङ्गल] रञ्जित करो ('अश्वान् अलंकुरुते त्यु अर्थः' सायण)। ऋत्विक्-गण ध्यान द्वारा सूर्य मण्डल में पहुँच गए हैं। वहाँ से देवताओं को लेकर देवरथ मर्त्ये की यज्ञभूमि में आ रहा है। सूर्य की रश्मियों के व्यूहन या संङ्घटन द्वारा रथ चलाया जा रहा है। (तु. ई. १६)। उसी रश्मि में अश्व झलमला रहे हैं। सा. 'सूर्यरथेन साकं युष्मदीयान् (उनके मतानुसार देवताओं का) रथान् यज्ञं प्रति गमयतेत्य अर्थः' **'अष्टावन्धुरं'** – 'वन्धुर' रथ के आसन। रथ में आठ देवताओं के बैठने का आसन है। आठ उपलक्षण मात्र है, वस्तुतः सभी देवताओं को ही वहन करके लाया जा रहा है। सभी देवता स्वरूपतः आदित्य हैं। सात जन आदित्य प्रधान ९।११४।३, ३।२७।१ (द्र. टी. १२८३(१), १३७६)। और देवमाता अदिति को लेकर रथ में आठ देवता हैं (तु. ६।५१।३-४, 'विश्वे आदित्या अदिते सजोषाः' ५, ८।४७।९, ४।५५।.....)। अदिति-सूक्त के अन्तिम ऋक् का 'योषा'। 'अभि प्रियम्' – बीच में 'अस्मान्' अनुमेय। प्रिय वही परमदेवता जो ज्योतिः स्वरूप हैं, जिनको हम सब चाहते हैं (तु. १।८६।१०, टी. १३२१(१०); ४।२०।८)।

१४३७. अश्मन्वती रीयते सं रभध्वम् उत् तिष्ठत प्र तरता सरवायः, अत्रा जहाम ये असन्न अशेवाः शिवान् वयम् उत् तरेमाभि वाजान् १०।५३।८।...देवताओं के

त्वष्टा मायावी हैं। समस्त शिल्पियों में वे सर्वश्रेष्ठ शिल्पी हैं और वहन करके लाए हैं सोमपात्र उन सब देवताओं के पान के लिए– जो शान्तमय हैं। धार-तेज कर रहे हैं इस समय वे अच्छे लोहे की कुल्हाड़ी में, जिससे छीलेंगे (उनका मन्त्र) सूर्यास्व भास्वर ब्रह्मणस्पति।[१४३८]

उतरने का वर्णन इसके पूर्व के ऋक् में है। यहाँ मनुष्य के ऊपर उठ जाने का वर्णन है। दोनों बातें ही एक साथ चलती हैं। तब भी पहले देवता का आवेश, उसके बाद उनकी ही प्रेषणा या प्रेरणा द्वारा मनुष्य का प्रयास; यहाँ आपाततः क्रमभङ्ग का कारण यही है। उसी वाजम्भर सत्य के तट पर उत्तीर्ण होना होगा। किन्तु पथ में अनेक बाधा। उससे विचलित होने से काम नहीं चलेगा। जो कुछ अशिव, अमङ्गल है, उसे यहाँ छोड़कर धैर्य-स्थैर्य के साथ आगे बढ़ जाना होगा।....अश्मन्वती – पहाड़ी नदी, जिसके भीतर पत्थर बिखरे पड़े हैं; पानी अधिक नहीं, किन्तु प्रवाह अधिक है....रथ उसके ऊपर से होकर चल रहा है। तु. 'दृषद्वती' ३।२३।४, द्र. टी. १३४९(३)। तन्त्र में यही वज्राणी नाड़ी। 'अश्म' पत्थर इसके अतिरिक्त वज्र भी (२।१४।६, मरुद्गण 'अश्मदिद्यव:'; वृत्र की पुरी अश्मन्मयी ४।३०।२०)। जिस प्रकार अदिव्य शक्ति की कठिन बाधा, उसी प्रकार देवता का भी कठिन आक्रमण; यह अन्तरिक्ष की घटना हैं (दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ७।१०४।२२; इसके अलावा अग्नि 'दृषदं जिह्वया वधीत्' ८।७२।४; दिव्यशक्ति एवं अदित्य शक्ति दोनों ही 'दृषद्')। 'रीयते' < √री, दौड़ते हुए चलना, वेग से चलना। इसी से 'सयि' संवेग। 'उत् तिष्ठत' तु. क. उत्तिष्ठत जाग्रत १।३।१४। 'प्र तरत' प्रवाह के प्रतिकूल हल कर आगे बढ़ो, 'उत तरेम' ताकि उस पार पहुँच जाएं। 'सखाय:' ऋत्विकों का सम्बोधन तु. १।५।१, ६।१६।२२...; देवता के सखा ३।९।१, ४।१२।५....। 'अशेवा:' जैसे अंहः, एनः, धूर्ति, जल्पि, तन्द्रि इत्यादि; तु. ७।१।१९, टी १३३१ (९)। 'वाजान' – अश्मन्वती के साथ सम्बन्ध लक्षणीय। तो फिर ऋषि भी सप्ति वाजम्भर होना सम्भव। (तु. १०।८०।१)।

१४३८. ऋ. त्वष्टा माया वेद् अपसांम् अपस्तयो विभ्रत् पात्रा देवपानानि शन्तमा, शिशीते नूनं परशुं स्वायसं येन वृश्चाद् एतशो ब्रह्मणस् पतिः १०।५३।९। – पथ की उसके बाद देवशिल्पी त्वष्टा अपनी दैवी-माया से हम सब के आधार को देवता कं सोमपात्र रूप में रूपान्तरित करेंगे। ...... 'त्वष्टा'

देवशिल्पी (सा.; तु. त्वष्टा रूपाणि पिंशतु १०।१८४।१ – गर्भाधान मन्त्र में; और भी तु. देवस् त्वष्टा सविता विश्वरूप: ३।५५।१९ – जिस प्रकार वे सब कुछ हुए हैं उसी प्रकार सब के भीतर प्रचोदक प्रेरक के रूप में हैं)। विशेष आलोचना द्रष्टव्य 'त्वष्टा' आप्रीदेवगण। **माया:** – (निघ. प्रज्ञा ३।९ < मा 'निर्माण करना' तु. ऋ. मायाविनो ममिरे (पूर्व के पाद में 'भुवनानि')अस्य (सोम की) मायया ९।८३।३। > 'माता' जो अपने भीतर से निर्माण करती है अथवा उत्सारित करती है। तु. योनि के अर्थ में 'मान', जिस प्रकार 'प्रत्नाद मानाद् अधि'९।७३।६। प्रज्ञा अर्थ आया है < √ मन् ।। मा, जिस प्रकार √जन ।। जा > जाया √छन्।। छा झ छाया। दइसी से सृष्टि में 'मन्त्र' अथवा अनुषङ्ग, तु. 'गौरीर् मिमाय' १।१६४।४१। विशेष आलोचना द्रष्ट० 'इन्द्र'।) निर्माण प्रज्ञा। जिस प्रकार गर्भाधान में त्वष्टा रूपकृत अथवा मूर्तिकार हैं एवं उसके कारण उनकी निर्माण-प्रज्ञा का परिचय मिलता है; उसी प्रकार यजमान के इस दिव्य जन्म में भी। 'अपस्तम' तु. सरस्वती ६।६१।१३, परमदेवता १।१६०।४ (द्र. टी. १२६६ (३))। 'शन्तमा' – (शन्तमानि) 'देवपानानि' का विशेषण। देवपान सोमपात्र (१०।१६।८) अथवा सोम (९।९७।२७)। निस्तब्ध शान्ति हो यदि आधार निविड़ न हो, तो आनन्द फूटता नहीं। तु. 'शन्तमा' मनीषा देवता को पाने का एक उपाय १।७१।१, तु. 'शन्तमा दीधिती गी:' ५।४२।१ स्तुति के साथ ध्यान का सम्बन्ध, ४३।८... त्वष्टा ब्रह्मणस्पति के मन्त्र-बल से आधार को सोमपात्र में रूपान्तरित करते हैं। ब्रह्मस्पति अग्नि का ही एक रूप, यज्ञ में प्रयुक्त 'ब्रह्म' बृहत् के मन्त्र के देवता। बृहत् की भावना एवं आत्माहुति से यजमान का मन्त्रमय हिरण्य शरीर निर्मित होता है। वही देवता का सोमपात्र। 'शिशीते परशुम्' – त्वष्टा तक्षक अथवा बढ़ई जिस प्रकार लकड़ी को काट-छाँट, छील-छोलकर कलात्मक रूप देता है, उसी प्रकार त्वष्टा अव्याकृत को व्याकृत करते हैं, अव्यक्त को व्यक्त करते हैं किन्तु व्यक्त करते हैं वाक् अथवा मन्त्र की सहायता से (तु. गौरी: .... सलिलानि तक्षती १।१६४।४१)। इसलिए वे तेज़ धार वाला कुठार याक् देवता ब्रह्मणस्पति के हाथ में दे देते हैं, त्वष्टा की ओर से वे ही मन्त्रमथ 'देवयान' गढ़ेगे। 'एतश:' सूर्याश्व (आगे चलकर द्रष्टव्य)। ब्रह्मणस्पति एतश अर्थात् 'एतशवर्ण' (सा.) अर्थात् सूर्याश्व की तरह भास्वर। इससे अग्नि और सूर्य के एकत्व का परिचय मिलता है।

अब हे, यजमनों के कविगण, तीक्ष्ण धार बसूले से तुम सब (उनको) छाँट-छील कर रूप दो अमृतत्व के लिए। तुम लोग सब जानते हो (अत:) गुह्य पदों की रचना करो, जिससे देवताओं ने अमृतत्व प्राप्त किया था।[१४३९]

१४३९. ऋ. सतो नूनं कवय: सं शिशीत: वाशीभिर् याभिर् अमृताय तक्षय, विद्वांस: पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वम् आनशु: १०।५३।१०। पूर्व के ऋक् में काट. छाँटकर देवताकर्तृक सोमपात्र-निर्माण का उल्लेख किया गया है। इस ऋक् में ऋत्विकों के द्वारा यजमान के हिरण्यशरीर निर्माण को चर्चा की गई है, जिससे देवताओं की तरह वे भी अमृतत्व प्राप्त कर सकें। त्वष्टा ने ब्रह्मणस्पति के मन्त्र-बल से सोम पात्र गढ़ा था। यहाँ भी ऋत्विकों से वाक् के उन सब पदों का निर्माण करने के लिए कहा जा रहा है, जो अमृतल के सोपान हैं। मनुष्य यज्ञ का आदर्श देवयज्ञ है। पहले देवता का आवेश, उसके बाद मनुष्य का प्रयास - यह क्रम यहाँ भी है (तु.७।८)।...... सतो – (जो है, वह 'सत्', जो हो रहा है वह 'सत्', जो हो रहा है वह 'भुवन' (७।८७।६, ९।२१।६); 'सत्' ध्रुव ९।८६।६); असत् के विपरीत 'सत्' (१।१६४।४६, १०।७२।२, ३, १०।१२९।४); देवता 'सत्' ८।१०१।११, ९।८६।६; यजमान 'सत्' (सत: प्रा. साविषुर् मतिम् ९।२१।७, त्वम् अग्न इन्द्रो वृषभ: सताम् असि २।१।३, १६।१, ६।६७।१) सत् के, यजामानों के। Geldner : 'सत: उसी भाव में, उसी रूप में (स समान)। 'कवय:' ऋत्विक् गण, जो क्रान्तदर्शी एवं वाक् के साधक हैं। 'स शिशीत' .... सान देकर तेज़ करो अर्थात् उनकी चेतना को एकाग्र करो। 'वाशी' अथवा वसूले द्वारा छाँटने - छीलने का तात्पर्य हैं जो अविशुद्ध अथवा अमार्जित है, उसके निषेध से आधार को शुद्ध करना, जिससे वह अमृत का धारक हो (तु. तै उ. १।४।१)। 'तक्षथ' यहाँ त्वष्टा की ध्वनि है। सायण के विचार से यह ऋक् ऋभुगण के प्रति त्वष्टा की उक्ति है। 'पदा गुह्यानि' वाक् के तु. १।७२।६ (द्र.टी. १३।२०, १।६४।४५। येन देवास: तु वाक् की उक्ति १०।१२५।१-२, राष्ट्री देवाभाम् ८।१००।१०। देवता की अमृतत्त्व प्राप्ति हमारे भीतर होती है। वही ऋभुओं का मनुष्य से देवता होना है। ४।३३।४, ३६।४, ३।६०।४, १।११०।४.....।)

(उसके) गर्भ में कन्या को रखा उन्होंने (और) शिशु को मुख में – सङ्गोपन मन और जिह्वा द्वारा। (उसके बाद) वह बराबर प्रसन्न मन से (संलग्न होता है) काम के जुआ में, पाने की इच्छा होने पर पा ही जाता है सङ्गीत मुखर होकर जय को[१४४०]।

१४४०. ऋ. गर्भे योषाम् अदधुर् वत्सम् आसन्य्, अपीच्येन मनसोत हि जिह्वया, स विश्वाहा सुमना योग्या अभि सिषासनिर् वनते कार इज् जितिम् १०।५३।११ इस ऋक् में मनुष्य के यज्ञ की फलश्रुति है, गुहाचर सौचीक अग्नि के आविष्करण और उद्दीपन के फलस्वरूप यजमान के जीवन में सर्वार्थ सिद्धि के उल्लास का वर्णन है (तु. आदित्य का सायुज्य प्राप्त करने में आप्तकाम पुरुष का सामगान तैउ. ३।१०।४-६० उनके अन्तर में अदिति, मुख में ब्रह्मघोष दैनन्दिन कार्य में सौमनस्य की स्वच्छनता, आप्तकाम जीवन में जय श्री का सङ्गीत-वितान। = ऋक् के पूर्वार्द्ध के कर्ता मरुद्गण हैं (तु १०.५२.२) क्योंकि सम्बुद्ध, सचेतन अग्नि की प्रेषणा से यजमान के प्राण अब विश्वप्राण में विस्फारित (तु. 'मरुद्भिर् अग्न आ गहि' इस टेक में अग्नि और मरुद्गण का सहचार १।१९ सूक्त)। द्वितीयार्द्ध का 'स' यजमान। 'गर्भे' – सत्ता का गहराई में अन्तर में। वाक् के सम्बन्ध में कहा जा रहा है तु. 'पतङ्गो वाचं मनसा विभर्ति तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भे अन्त:, तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषाम् ऋतस्य पदे कवयो नि पान्ति – (सूर्यात्मक) अन्तर्ज्योति (द्र. टी. १३३२(६)) वाक् को मन में वहन करते हैं, गन्धर्व (देवगन्धर्व सूर्य; अथवा विश्वप्राण वायु-सा.) उसकी गर्भ के भीतर से घोषणा की ('शरीरस्य मध्ये वर्तमान:' सा.; तु. 'प्रजापतिश चरति गर्भे अन्त:' अर्थात् अन्तर्यामी रूप में वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता ३१।१९; 'गर्भे सञ्जायसे पुन: अर्थात् अग्नि, अप् एवं ओषधि से फिर पुरुष के भीतर उत्पन्न होते हैं ८।४३।९, द्र.टी.१३७६ (९); उसी द्योतमाना सूर्यसम्भवा मनीषा की ऋत के दुरधिगम्य धाम में कविगण रक्षा करते हैं १०।१७७।२। अर्थात् वाक् अन्तर की गहन सञ्चारिणी (तु. १।१६४।४५, १०।७१।३.४)। 'योषाम्' – वाग् रूपिणी अदिति को। वाक् 'अदिति' तु. ८।१०१।।५७१६। सायण योषां कांचिद् गाम् (तु. वेही; धेनु की वाक् ८।१००।११); योषा में धेनु की ध्वनि है, क्योंकि साथ-साथ ही 'वत्स' का उल्लेख किया गया है। योषा के रूप में वाक् की कल्पना द्र० १०।७१।४। ऋक् के प्रथम पाद का सरल अर्थ : मरुद्गण अथवा विश्वप्राण ने अदिति को अथवा आदि

इतने दिनों बाद अचित्ति का आवरण हटा। प्राण की सुगन्ध से अन्तर को आमोदित करके देवता जागे। और प्रसन्न दृष्टि से हमारी प्रीतिकर सामग्री अथवा उपचार की ओर देखा। उनको जीवन की वेदी में अभीप्सा की ऊर्ध्वशिखा के रूप में देखा और हृदय की गहराई में सृष्टि की आदिम व्याहृति अथवा बीजमन्त्र के रूप में उनका गोपन-गुञ्जन सुना। मन को भरोसा हुआ, इस बार आसुरी माया का आवरण छिन्न-भिन्न हो जाएगा, चेतना की क्लिष्टता और सङ्कुचन दूर होगा तथा विश्वदेवता की अजर-अमर दीप्ति से त्रिभुवन उद्भासित होगा। प्राणों की अथाह गहराई से मन्द्रित हुआ ब्रह्मघोष; सूर्याभिसारी हे तपोदेवता, हम सब के भीतर मनु होकर तुम दिव्य-जन को जन्म दो। आकूति के दृढ़ निबद्ध रथ पर बिठाकर यहाँ ले आओ। हम

वाक् गौरी को सिद्धों के अन्तर में स्थापित किया। उनके मुख में अदिति के 'वत्स' रूपी अग्नि को स्थापित किया अर्थात् उनका ब्रह्मघोष हुआ अग्निक्षर; तु. विराट् पुरुष के मुख से अग्नि का जन्म १०।९०।१३, गृ. १।३।१२, ४।६ अग्नि अदिति के दुर्दुमनीय पुत्र १०।५।७, ११।१ 'अपीच्येन मनसा' वा गोपन मन द्वारा यजमान की सत्ता के भीतर अदिति का आधान; और 'जिह्वया' वा जिह्वा द्वारा अग्नि का आधान मुख में। गहन सञ्चारिणी गौरी ही अग्निदीप्त ब्रह्मघोष में स्फुरित होती हैं – यजमान के आविष्ट विश्वप्राण की प्रेषणा सं (तु. श्वे. १।१३)। योग्या' – जुआ (YOKE) तु. 'योग्याभिः .... रोहित धुरि धिष्व' ऋ. ३।६।६. उससे 'विहित कर्म, भार'. तु. यद् योग्या अश्नवैथे ऋषीणाम् (अनुष्ठेय या में अश्विद्वय का आवाहन) ७।७०।४। और भी तु. 'हयो न विद्वाँ अयुजि स्वयं धुरि' – अश्व की तरह स्वयं को जान-बूझ कर रथ के धुरे में नियुक्त किया है ५।४६।१। देवता ने जिस कार्य का भार उनको सौंपा है, उसे सिद्ध पुरुष प्रसन्नतापूर्वक निरन्तर सम्पादित करते रहते हैं। 'सियासनिः' < √ सन् 'प्राप्त करना, छीन लेना' + इच्छार्थे स + नि, अभीष्ट प्राप्ति में इच्छुक। अभीष्ट अमृतल, देवताओं का 'वरिवः' अथवा चेतना का वैपुल्य (तु. १०।५२।५)। कारः < √क (गान करना); तु. 'कारु' स्तोता निघ. ३।१६। साधारणतः 'कीर्तन' का बोध होता है (द्र. 'भग'); यहाँ) कीर्तनकारी स्तोतासा. 'कर्ता'। 'जितिम्' – जय असुरों पर इन्द्र की (१०।५२।५) देवताओं की १०।५३।४)। तु. जयेम् कारे पुरुहुत कारिणः ८।२१।१२।

जानते हैं विश्व-शिल्पी की देवमाया हमारे आधार को देवता के सोमपात्र के रूप में गढ़ेगी और ब्रह्मणस्पति का मन्त्रवीर्य उसको शरमुख तन्मयता में धारदार एवं दुर्निवार करेगा। कारण सलिल की गृहिणी का एक के ऊपर एक सजाया गोपन-धाम हमारे सामने उद्घाटित होगा। हमारी सत्ता की गहराई में उसी परमा का सान्द्र, सघन आवेश और रसना में उसकी आग्नेयी प्रच्छटा रहेगी। हम अपने दैनन्दिन जीवन में उनके ही दिए हुए दाय का वहन करते हुए उसे सर्वजया सिद्धि के तट पर उत्तीर्ण करेंगे।

इस प्रकार हमारे जीवन में सौचीक अग्नि वैश्वानर अग्नि में रूपान्तरित होते जा रहे हैं। यहाँ ही नाटिका का अन्त होता है। उसके बाद सप्ति वाजम्भर ने एक अग्नि-सूक्त में उसके उपसंहार की रचना की है। इस सूक्त में हमें विश्व में सर्वत्र जीवन के सर्वक्षण निरन्तर एक अनिर्वाण अग्निदहन का ज्वलन्त परिचय प्राप्त होता है।

ऋषि कहते हैं –

'अग्नि ओजस्वी शक्तिमान् तुरङ्ग दें, अग्नि ('प्रदान करें) ऐसे वीर जो श्रुति सम्भूत और कर्मनिष्ठ हो; अग्नि द्युलोक-भूलोक में विचरण करे सब व्यञ्जित करके, अग्नि दें वह नारी, जो वीरगर्भा और प्राचुर्य का आधार हो।[१४४१]।' – जिसने अग्नि को प्राप्त किया है, वह

१४४१. ऋ. अग्निः सप्तिं वाजम्भरं ददात्य् अग्निर् वीरं श्रुत्यं कर्मनिःष्ठाम्, अग्नीरोदसी वि चरत् समञ्जन्न् अग्निर् नारीं वीरकुक्षिं पुरन्धिम् १०।८०।१ अभ्युदय और निःश्रेयस के समन्वय में जीवन की परिपूर्णता का चित्र। अभ्युदय के लिए तु. मा. २२।२२ अग्नि का दान **'वाजाम्भर सप्ति'** एवं वही ऋषि का भी नाम। उसी से वस्तुतः वे देवदत्त (तु. त्रसदस्यु वृत्रहा ऋ. ४।४२।८०९)। **वीरम्** – सायण वीरवन्तं पुत्रम्। किन्तु यह पद श्लिष्ट है, वीर्य का भी बोधक है (तु. 'यशसं वीरवत्तमम्' – वह ईशना अथवा अकुण्ठ सामर्थ्य, जो अनुत्तम या सर्वोत्तम वीर्य का आधार है १।१।३); 'बृहद् वदेम विदथे सुवीराः' – विद्या की साधना से अनायास् वीरता के साथ बृहत् की हम घोषणा करें (२।१।१६, द्वितीय मण्डल के अनेक सूक्तों की टेक हैं; 'सुवीराः' शोभन पुत्रादि सहिताः सायण किन्तु Geldner 'Master' ; द्र. टी. १४२६); इस सूक्त में ही द्र. 'वीरपेशाः' (४)।

ओजस्विता के प्रवेग में दुर्निवार होता है, साधना में अविचल असका वीर्य दिव्यश्रुति से उत्सारित होता है और उसकी शम्ति-वीर्य की प्रसवित्री और उच्छल ऐश्वर्य की धात्री होती है। उसके कृतार्थ जीवन की अग्निदीप्ति द्युलोक-भूलोक में फैल कर उनके सारे रहस्य को उसके निकट उजागर करती है।

'अग्नि प्राण चञ्चल। उनका समिध हो शुभद्रा। अग्नि महती द्यावा-पृथिवी में हुए आविष्ट'। अग्नि प्रचोदित करते हैं, प्रेरणा देते हैं निःसङ्ग को, अग्नि असङ्ख्य शत्रुओं को भी करते हैं छिन्न-भिन्न[१४४२]।' मेरी नस-नस में अग्नि का स्रोत है। उनके मङ्गलमय

अभ्युदय के पक्ष में द्र. 'वीरः कर्मण्यः जायते देव-कामः' ३।४।९। श्रुत्यम् – (तु. श्रुत्य ब्रह्म १।१६५।११; रयि १।११७।२३, २।३०।११, ७।५।९; नाम ५।३०।५, ८।४६।१४, वाज १।३६।१२, तत्र सायण, 'श्रु श्रवणे औणादिकः क्यप्, तुगागमः, यद् वा श्रुति शब्दाद् भवे छन्दसि इति यत्'। अथवा ढ 'श्रुत', तु. यद् ऋषिभ्यो मनीषां वाचो मतिं 'श्रुतम्' अदत्तम् अग्ने ८।५९।६ : 'स्थान' अथवा भूमि-प्राप्ति का साधन है वाक् का मनन, मनीषा (उपनिषद् में विज्ञान बुद्धि अथवा सत्त्व) एतं श्रुत अथवा दिव्यश्रुति (अर्थात् परमव्योम में सहस्राक्षरा गौरी का 'नाद' सुनना १।१६४।४१, ४५। दिव्य श्रुति से सम्भूत वाक् के मनन् के फलस्वरूप जो सुना जाता है, वही 'श्रुत' अथवा 'श्रोत्र'। फिर वाक् में मञ्जरूप में उसकी जो अभिव्यक्ति, वह भी 'श्रोत्र' अथवा छन्द है। छन्द जो अध्ययन करते हैं, अर्थात् उसके सहारे फिर उसे दिव्यश्रुति में पहुँचाते हैं, उपनिषद् में वे 'श्रोत्रिय' (तु. पाणिनि ५।२।८४। 'कर्मनिष्ठाम' – तु. ऋ कर्मण्यः ३।४।९ (७।२।९) १।९१।२०; और भी तु. ई. २। 'समञ्जन' < √अञ्ज 'छाना, लेपना, मलना अथवा अभिव्यक्त करना, आलोकित करना, दोनों अर्थों में ही होता है। तु. १०।८५।४७। 'नारीं वीरकुक्षिं' – तु. १०।८५।४४ (अभ्युदय के पक्ष में) 'नृ' के स्त्रीलिङ्ग में 'नारी' 'नृ' पौरुष का आश्रय और 'नारी' शक्ति। 'पुरन्धिम्' पूर्णता की देवी; तु त्वम्(अग्ने) विधतः सच से पुरन्ध्या २।१।३; सरस्वती सह धीभिः पुरन्ध्या १०।६५।१३, विश्वे देवाः सह धीभिः सह धीभिः पुरन्ध्या (९८ योग लक्षणीय) १४। वि. द्र. आगे चलकर।

१४४२. ऋ. अग्नेर् अप्नसः समिद् अस्तु भद्राऽग्निर् मही रोदसी आ विवेश, अग्नि एकं चोदयत् समत्स्व् अग्निरवृत्राणि दयते पुरूणि १०।८०।२ अप्नसः –

दहन से यह आधार प्रज्वल और ज्योतिर्मय है। वही ज्योतिर्दहन इस विपुल द्युलोक और भूलोक के अणु-अणु में आविष्ट हुआ, परिव्याप्त हुआ। उद्दीप्त हृदय कहता है सब अग्निमय हो जाए। किन्तु वह होता नहीं। रक्ष का विघ्न है, वृत्र की माया है उनके साथ निरन्तर सङ्ग्राम करना है। मैं अकेला हूँ। तब भी जानता हूँ, वे हैं और उनकी अजेय प्रेरणा है। देखता हूँ आततायियों का पुञ्जित अभियान उनके अभिघात से छिन्न-भिन्न हो जाता है।

'अग्नि ने ही स्तोता के कर्ण को अक्षत रखा है। अग्नि ने अप् से जरा को बाहर निकाल दिया जलाकर। अग्नि ने अत्रि को सन्ताप के बीच बचाए रखा, अग्नि ने नृमेध को संयुक्त किया सन्तति के साथ[१४४३]।' – देवता को बुलाकर उत्कर्ण अथवा चौकन्ना रहता हूँ।

('अप्नः' निघ. कर्म (२।१; तु. 'अपः' Lat- opus कर्म; 'वीरवद्' गोमद् अप्नो दधातन १०।३६।१३, (सामर्थ्य)। अन्तोदात्त 'अपः' जल के स्रोत के रूप में प्राण का प्रतीक है। उसकी ध्वनि यहाँ भी है। अग्नि का विशेषण) प्राण चञ्चल। अग्नि 'अप्नः' और साग्निक पुरुष 'अप्नवान्' तु. ४।७।१ 'समिध्' यही तनु अथवा आधार है, क्योंकि यज्ञ में स्वयं की ही आहुति देनी होती है। यह 'समिध् देवयानी' (द्र. १०।५१।२, टी. १४१४), इसलिए 'भद्रा' (< √अन्द् 'जलना' निघ. १।१६; 'अर्चना करना' उसमें भी जलने की ध्वनि है ३।१४; तु. पुरुप्रियों (वैश्वानरः) भन्दते धामभिः कविः ३।३।४)। समत्सु – ('समद्' पदपाठ स. मद < √मद् 'मत्त होना'; निघ. 'सङ्ग्राम' २।१७; निरुक्त. समदः समदो वा. त्तेः (परस्पर सङ्ग्राम), सम्मदो वा मदतेः (परस्पर मत्तवत आचरण ९।१६)। आधुनिक व्युत्पत्ति IE. semted, GK. homados 'a mob of warriors') सङ्ग्रामे। 'दयते' < √दा 'खण्ड-खण्ड करना' टुकड़े-टुकड़े करना।

१४४३. ऋ. अग्निर् ह त्यं जरतः कर्णम् आवा. ग्निर् अद्भ्योअदहज् जरूथम्, अग्निर् अत्रिं धर्म उरुष्यद् अन्तर नृमेधं प्रजया सृजत् सम् १०।८०।३। इस ऋक् में कई ऐसे ऋषियों के नाम हैं, जो श्लिष्ट हैं – एक ओर जिस प्रकार किसी व्यक्ति का बोध होता है, उसी प्रकार नाम के निरुक्ति लभ्य अर्थ से किसी भाव का। इस देश के प्राचीन रहस्यवादी साहित्य की यह एक साधारण पद्धति है। उसका प्रसिद्ध उदाहरण है 'नचिकेता' जिससे उसी नाम के एक किशोर का जिस प्रकार बोध होता है, उसी प्रकार सामान्यतःअविद्याच्छन्न

उनके प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा में; तब अन्तर में नित्य जाग्रत अग्नि ही उस दिव्य श्रोत्र को अक्षत रखते हैं, प्रतीक्षा व्यर्थ नहीं जाती। सम्भवत: जरा आई, प्राण के प्रवाह में उतार आ गया; नस-नस में प्रवाहित हो गया अग्नि स्रोत अवसाद दूर हो गया। सत्य सन्धानी पथिक को सन्ताप ने घेर लिया; अग्नि के अमृत दहन के आलिङ्गन से ज्वाला शान्त हुई। इस प्रकार पुरुष की जीवन व्यापी जो साधना है, अग्नि के अनुग्रह से उसका सार्थक परिणाम प्राप्त हुआ।

अग्नि ने दिया ज्वाला का स्रोत शक्ति रूप में। अग्नि ने दिया उस ऋषि को जो द्युलोक से अपरिमित ऋद्धि छीन कर ले आने में

मुमुक्षु जीव का बोध होता है। उसके उपलक्ष्य में विवृत इतिहास उस समय आध्यात्मिक रूपक हो जाता है। इतिहास इस प्रकार तत्त्वाश्रयी होने से भावमूर्त होने का सुयोग पाता है। 'त्यं जरत: कर्णम्' तु. जरत् कर्ण १०।७६ सूक्त के ऋषि। जरूथ – (<√जॄ 'जराग्रस्त होना, वृद्ध होना') जरा; तु. ७।१।७, द्र. टी. १३१५। सा. एतन्नामानम् असुरम्। स्मरणीय 'जरा' ; व्याध के हाथों श्रीकृष्ण की मृत्यु। अग्नि अजर, योगाग्निमय देह भी अजर – यही ध्वनि है। अप् प्राण का प्रतीक है जरा प्राण का विकार है। नाड़ी तन्त्र वाहित अप् अथवा प्राण की धारा यदि अग्नि स्रोत में रूपान्तरित हो जाए, तो फिर जरा की सम्भावना नहीं रहती। सन्धा भाषा में उसको ही यहाँ पानी में आग लगना एवं उसके फलस्वरूप जरा का 'निर्दहन' कहा जा रहा है। अत्रिम – <√अत् 'चलना' > अतिथि (द्र. टी. १३३६(२)), 'अत्मन' (तु. 'गुढ़ोत्मा' क. १।३।१२) > आ + अत्मन = आत्मन् वैदिक पदानुक्रम कोष : जो चलता है, देवयान का पथिक) ऋक् संहिता के प्रसिद्ध ऋषि। यहाँ सङ्केतित आख्यायिका के लिए द्र. ऋ. १।११६।८, ११७।३, ११९।६, ८।७३।३......। विशेष आलोचना द्र. आगे चल कर। 'घर्मे' <√घृ 'जलना'; तु. 'गरम', 'घाम'। उरुष्यत <√उरुष्य नाम धातु उरुसि), तु. √तपस्य्), > 'उरुष्य' (तु. 'तपस्या') ६।४४।७; <√वृ 'आवरण करना' 'अगोर रहना', 'रक्षा करना' 'बचाना' 'मुक्ति देना'। 'नृमेधम्' एतन्नामकम् ऋषिम् (सा.); उनके सूक्त हैं – ८।८९, ९०, ९८, ९९, ९।२७, २९। तु. 'पुरुषमेध यज्ञ' (श ब्रा. १३।६ 'पुरुष यज्ञ' (छा. ३।१६, १७। 'प्रजा' इसी यज्ञ का परिणाम, दैवी सम्पद्, विभूति। तु प्रथम ऋक् का 'वीर कुक्षि नारी' – अग्नि, उनकी शक्ति एवं उनकी विभूति।

सक्षम हो। अग्नि ने द्युलोक में हव्य को किया है आतत, अग्नि के धाम अवस्थित हैं कितने स्थानों पर[१४४४]।' – वीर्यशाली अग्नि मेरे भीतर जागे और ऋतछन्द में प्रवाहित कर दिया उसका प्रवेग मेरी नस-नस में। मेरे भीतर उन्होंने उस वाजम्भर ऋषि को जगाया, जो द्युलोक की अफुरन्त अशेष सम्पत्ति छीन कर ले आ सकता है। मेरे ही भीतर से मर्त्यों की आहुति को वे द्युलोक तक प्रसारित करते हैं और देवयान के मार्ग में क्रान्तदर्शी आँखों के सामने उनके सप्तधाम की परम्परा या क्रम प्रकट हो जाते हैं।

'अग्नि को प्रशस्ति द्वारा ऋषिगण बुलाते हैं दिशा-दिशा में अग्नि (पुकारते हैं) सारे लोग यात्रा में विपद् ग्रस्त होने पर। अग्नि को सारे पक्षी (आवाज़ देते हैं) अन्तरिक्ष में उड़-उड़ कर। अग्नि सहस्र किरण-यूथ को घेरे चलते हैं[१४४५]।' – अग्नि के बिना किसी का काम

१४४४. ऋ. अग्निर् दाद् द्रविणं वीरपेशा अग्निर् ऋषिं य: सहस्वा सनोति, अग्निर् दिवि हव्यम् आ तता ना. अग्नेर् धामानि विधृता पुरुत्रा १०।८०।४। 'दाद् द्रविणं' इसलिए वे 'द्रविणोदा:' (आगे चलकर द्रष्टव्य)। 'वीरपेशा:' यहाँ अग्नि; किन्तु तु. त्वद (अग्ने) एति द्रविणं वीरपेशा: ४।११।३, लगता है द्रविण का विशेषण है; तत्र सा. 'तु. नृपेशस:' ३।४।५। 'ऋषिम्' इत्यादि – तु. वाक् की उक्ति : यं कामये ततम् उग्रं कृणेमि तं ब्रह्माणं तम ऋषिं तं सुमेधाम् १०।१२५।५; इन्द्र के निकट मधुच्छन्दा की प्रार्थना : नव्यम् आयु: प्र सूतिर कृधी सहस्रसाम् ऋषिम् १।१०।११। इसके अतिरिक्त सोम भी सहस्रसा ऋषि (९।५४।१)। 'सहस्र' सर्व (श. ब्रा. ४।६।१।१५), भूमा (३।३।३।८) परम (ता. १६।९।२)। 'आ ततात' – तु. ऋ. १०।५७।२, द्र. टी. १३६०। 'धामानि' ऋ तु. ४।७।५ टी. १३१६ (६)।

१४४५. अग्निम् उक्थैर ऋषयो वि ह्वयन्ते अग्निं नरो यामानि वाधितास:, अग्निं वयो अन्तरिक्षे पतन्तो, अग्नि: सहस्रा परि याति गोनाम् १०।८०।५। अग्नि के निमित्त भूलोक में मनुष्य का उदात्त्सा आह्वान, अन्तरिक्ष में पक्षियों की काकली, कूजन, द्युलोक के किरणयूथ के साथ उनका सङ्गमन। सङ्क्षेप में अग्नि 'त्रिषधस्थ' वैश्वानर हैं (तु. ५।१४।८, ६।८।७, १२।२; द्र. टी. १२९० (१), १३५६(५)। 'यामनि ताधितास:' – यं ही 'सबाध:' निघ. ३।१८ ऋत्विक्; द्र. टीमू. ११७४। 'वयो अन्तरिक्षे पतन्त:' – सा. 'दारभूतम्

नहीं चलेगा। जीवन के मर्म के मूल में अभीप्सा की जो प्रेषणा है, वही उसका रसायन है, उसे छोड़कर कोई जीवित नहीं रह सकता। इसलिए उषा का प्रकाश फूटते, न फूटते ही चारों ओर प्रबुद्ध ऋषि के कण्ठ से उसी तपोदेवता का उदात्त आवाहन सुनता हूँ : 'मरुद्भिर् अग्न आ गहि' – विश्व प्राण की शुभ्र व्यञ्जना के पुरोधारूप में आओ हे देवता, आओ। राह में चलते-चलते अमित्र के गुप्तघात से पर्युदस्त पराजित पथिक के कण्ठ से आर्त्त आह्वान सुनता हूँ : 'स नः सिन्धुम् इव नावयाति पर्षा स्वस्तये दुर्गाणि विश्वा' – कहाँ हो तुम .... दुस्तर सिन्धु .... उत्ताल तरङ्गों का अन्त नहीं .... ले आओ अपनी नाव, हे नाविक .... पार करके ले जाओ हम सब की स्वस्ति के कूल पर विश्राम-सागर के तट पर। अन्तरिक्ष में ध्यान देकर आलोक के अभियात्री विहङ्ग की काकली में उनकी ही जयन्ती सुनता हूँ, जो अभी-अभी जागी पृथिवी के वक्ष से लपलपाती अग्नि शिखा के रूप में आदित्य की पुञ्जज्योति की ओर उठे हैं, अपनी हिरण्यरुचिर, सुनहली लपटों के आलिङ्गन में उसे कसकर पकड़े हुए हैं।

अग्नि को वही सामान्यजन (प्रजाएँ) जगाए रखते हैं, जो मानवजातीय हैं, अग्नि को (जगाए रखते हैं; मनु और नहुष से अलग-अलग जन्म जिनका। अग्नि (चलते हैं) ऋत के गान्धर्व-पथ

अग्निम् अन्तरिक्षगा वयः पतन्ति।' Geldner ने भी यही व्याख्या ग्रहण की है ऋ. १।९४।११ का उल्लेख करके। किन्तु वहाँ केवल है, दावाग्नि का 'अध स्वनाद् उत बिभ्युः पतत्रिणः'। यह स्वभावोक्ति मात्र, पक्षी अग्नि को 'रक्षा करो' कह कर पुकारते हैं, यह उत्प्रेक्षा नहीं है। पक्षी आलोकाभिसारी का प्रतीक है (तु. तै उ. २।१-५, पक्षी रूप में पुरुष का वर्णन ; अग्निचयन में वेदी को पक्षी का आकार देना, जिस प्रकार श्येनचिति में)। सूर्य 'शुचिषत् हंस' (ऋ. ४.४०.५), 'श्येन' सोम का आहर्ता (४।२६।५-७, २७।३-४)। 'सहस्रा गोनाम्' – आदित्य मण्डल, जहाँ सहस्र किरण पुञ्जीभूत (तु. चित्रं देवानाम्..... अनीकम् १।११५।१ अग्निशिखा पृथिवी की यज्ञवेदी से उठकर आदित्य को आलिङ्गित करती हैं यह पार्थिव चेतना के द्युलोक में उत्क्रमण का चित्र है। यज्ञ का वही लक्ष्य है, एवं इसके लिए ही ऋषियों का अग्नि-आवाहन।

पर, अग्नि की विचरण भूमि ज्योति में निषण्ण है[१४४६]।' मनुष्यों में जो देवकाम हैं, वे ही द्युलोकाभिसारिणी अभीप्सा की शिखा को हृदय में

१४४६. ऋ. अग्निं विश् ईलते मानुषीर् या अग्निं मनुषो नहुषो वि जाताः, अग्निर् गान्धर्वी पथ्याम् ऋतस्याऽग्नेर् गव्यूतिर् घृत आ निषत्ता १०।८०।६। 'विशः मानुषीः' प्रतितुलनीय 'विशं दैवीनाम्।' यहाँ सामान्यतः प्रवर्त साधक की ध्वनि है। 'मनुषः नहुषः' मनु से एवं नहुष से। मनु आदि पिता, देवता सब मनुजात (१।४५।१ टी. १२८१(२) ; तु. १०।५१।५, ५३।६। मनु <√मन्, उनकी धारा मन के आश्रित। नहुस् < नह् 'बन्धने'। इस संज्ञा के तीन अर्थ हैं। प्रथमतः जो स्वयं के भीतर सिमटा हुआ है, तु. 'तस्य क्षयः पृथुर् आ साधुर् एतु प्रसर्स्राणस्य नहुषस्य शेषः'– उसके निकट आए विपुल बृहत् एवं संसिद्ध अथवा परिपूर्ण निवास, (आए) सन्तति उसके निकट– बँधे रहने पर भी (स्वयं को) जो प्रसारित करता जाता है अर्थात् अग्निसाधक अनिबाध वैपुल्य में लब्धभूमिक हो, उसका विरामहीन आत्म प्रसारण, आत्म विकास हो (५।१२।६)। द्वितीयतः, जो पास-पास, प्रतिवेशी : तु. इन्द्र की उक्ति 'अहं सप्तहा नहुषो नहुष्टरः'– मैंने सात का वध किया है (तु. १।३२।१२ प्राण प्रवाह के सात लोक में सात बाधाएँ) मैं सब के निकट की अपेक्षा भी अधिक निकट, अन्तर्यामी (तु. तैउ. २।१-५, आत्मा अन्तरतम) १०।४९।८; इन्द्र 'नृतमो नहुषोऽस्मत सुजातः' ९९।७; आ यातं (अश्विद्वय) नहुषस् परि (आस पास से, चारों ओर से) ८।८।३। तृतीयतः, नहुष नामक राजा (सा.)। महाभारत में आयु के पुत्र। अग्नि आयु अथवा प्राण। नहुष जन अग्निदैवत होने पर भी प्राण की धारा का अनुसरण करते हैं। भारत कथा में देखते हैं कि नहुष इन्द्रत्व प्राप्त करके भी नहीं प्राप्त कर पाए, ऋषि के शाप से वञ्चित होकर सर्प हो गए। मुनियों के साधना मार्ग के योग में सर्प प्राण का प्रतीक है (द्र. अर्बुद काद्रवेय सर्प की आख्यायिका १२६९(२)। (ऋक् संहिता में ही देखते हैं कि नहुष के पुत्र ययाति हैं १०।६३।१। उनका असुरों से सम्बन्ध और चिरयौवन-प्राप्ति की आकाङ्क्षा इत्यादि योग की एक अन्य धारा के सूचक हैं, ऋक् संहिता में जो अग्नि, मातरिश्वा एवं आदित्य को पकड़ कर यमपथ के रूप में आभासित है (१।१६४।४६, टी. ११८४)। **'गान्धर्वी पथयाम्'**– गन्धर्व देवगन्धर्व विश्वावसु अथवा आदित्य १०।१३९।५, टी. १३८३(१)। उनका पथ अथवा देवयान का मार्ग 'ऋत का गान्धर्व पथ' है। इसके अतिरिक्त

प्रज्वलित करते हैं। जिन्होंने मन का अथवा प्राण का रास्ता पकड़ा है, उन दोनों को ही दीर्घ काल से प्रचलित साधना-धारा अलग होने पर भी इसी तपोदेवता को जगाना पड़ता है। वे विश्व के ऋतच्छन्द के अनुगामी हैं वाक् की पदवी[१] धारण करके आदित्य की ओर चलते हैं। राह चलते-चलते उनका विश्राम और विचरण आलोक यूथ के उसी परिमण्डल में होता है, जिसका उत्स है हृदय समुद्र की अन्तर्ज्योति।[२]

निघण्टु में वाक् भी गान्धर्वी (१।११), गायत्रीरूपिणी वाक् गन्धर्वों को भुलावा देकर सोम ले आई थी, इसलिए (ऐ ब्रा. १।२७, श. ३।२।४।३, ४।१।१२.....)। शतपथ ब्राह्मण में यह गन्धर्व ही विश्वा वसु। किन्तु, वस्तुतः गन्धर्व प्राणचेतना है (तु. तैउ. आनन्दमीमांसा २।८)। आदित्य तब प्राणरूपी (प्र. १।८), आकाश के नामरूप-निर्वाह की शक्ति। सोम अथवा अमृतचेतना उसके भी परे है, सूर्यद्वार भेद करके वहाँ पहुँचना होता है (मु. १।२।११)। गायत्री इसी पथ की दिग्दर्शिका हैं, इसलिए उनका पथ भी 'गान्धर्वी पथ्या'। गन्धर्व के प्राण प्रसङ्ग में तु. गन्धर्वो अप्सव् अप्या च योषा १०।१०।४, रपद् गन्धर्वीर्, अप्या च योषणा ११।२ **गव्यूतिः**– < गो+युति (तु. 'यूथ') पा. ६।१।७९; सा. गावो अत्र यूयन्ते इति अधिकरणे क्तिन्... यद् वा युतिः यवनयू, गवां यवनम् अत्रेति ऋ. १।२५।१६) गोचर भूमि, गोष्ठं, मार्ग (वैदिक पदानुक्रम कोश)। तु. 'परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्युतिर् अनु' (ऋ. वही)– गोष्ठ से बाहर निकल कर पगडण्डी पकड़े गाएँ जिस प्रकार खुले मैदान में छिटक पड़ती हैं। यहाँ ये तीन अर्थ ही प्राप्त होते हैं (इधर-उधर छिटक जाना, फैल जाना तु. उर्वी गव्यूतिम् ९।७८।५, ८५।८)। अग्नि की 'गव्यूति' है देवयान मार्ग द्वारा उनकी शिखाओं का आदित्य में पहुँचना, वहाँ की पुञ्जज्योति में ('घृते' तु. आ नो मित्रावरुणा घृतैर् गव्यूतिम् उक्षतम, मध्वा रजांसि सुक्रतु ३।६२।१६, ७।६२।५, ६५।४, ८।५।६, घृतेन नो मधुना क्षत्रम् उक्षतम् १।१५७।२। यहाँ अध्यात्म व्यञ्जना सुस्पष्ट है, गव्यूति में अविछिन्न ध्यान-प्रवाह की ध्वनि है, उसे ज्योति के प्लावन में प्रवाहित कर देना एवं योगभूमियों के अमृतसिक्त करने की प्रार्थना) निषण्ण होना।

१. तु. १०।७१।३।

२. ४।५८।५, ११ टी. १२७३(६), १२३३(६), १३५६(४)।

अग्नि के निमित्त ऋभुओं ने बृहत् की गाथा को रचा। हमने भी अग्नि से विपुल और शोभन आवर्जन या परित्याग की बात कही। हे अग्नि चारों ओर सतर्क दृष्टि रखते हुए आगे बढ़ चलो स्तोता के साथ, हे युवतम। हे अग्नि। विपुल ज्वाला का स्रोत उड़ेल दो (हम सब के भीतर)[१४४७], – सविता की प्रेरणा से मर्त्य होने पर भी जिन्होंने अमृतत्व प्राप्त किया था[१], उन्हीं ऋभुओं ने बृहत् की चेतना को अग्नि के निमित्त वाणी रूप में[२] अव्यक्त से व्यक्त किया था। उनकी तरह हमने भी उनके निकट इसी वाणी का उपचार भेजा, जो हमारे आवृत चक्षु चित्त का अमितसुषम परिचय वहन कर रही है। हे अग्नि ! अजर हो, तुम्हारा तारुण्य अक्षय है। उसकी ही जलती शिखा में हम सब को जकड़ लो। कस लो, अपने कवि को अपनी ही उस समुद्र के भीतर वास करने वाली महिमा की ओर पुरोधा होकर ले चलो।[३] हमारी नस-नस में अपनी अनिवार्ण शिखा का स्रोत प्रवाहित कर दो।

सप्ति वाजम्भर द्वारा रचित सौचीक अग्नि की उपकथा एवं प्रशस्ति यहाँ समाप्त हुई। देवताओं के अनुग्रह से अग्नि को हमने अपने भीतर खोज कर प्राप्त किया है और देवात्म-भाव की सिद्धि के लिए उनको सुसमिद्ध किया है[१४४८]। किन्तु देवयान के मार्ग की यात्रा में प्रथम पर्व पर ही रक्ष के रूप में अदिव्य शक्ति का विघ्न उपस्थित होता है। उसे कौन दूर करेगा? रक्षोहा के रूप में अग्नि ही उसको दूर करेंगे। अब प्रस्तुत है रक्षोहा अग्नि का परिचय।

१४४७. ऋ. अग्नये ब्रह्म ऋभवस् ततक्षुर् अग्निं महाम् अवोचामा सुवृक्तिम्, अग्ने प्रा. व जरितारं यविष्ठा ऽग्ने महि द्रविणम् आयजस्व १०।८०।७।

१. तु. १।११०।४; टी. १२५५।

२. 'तक्षण' अव्यक्त से व्यक्त करना। द्र. त्वष्टा।

३. तु. ८।१०२।४-६ सूक्त के अन्त में सा. 'अत्र प्रति वाक्यम् अग्न्यभिधानं तस्य स्तुत्यत्व प्रदर्शनार्थम्।'

१४४८. यज्ञ के आरम्भ में आविर्भूत सुसमिद्ध अग्नि का नाम 'जात वेदाः'। द्र. टी. १३२१, १३२२।

अग्नि ऋक् संहिता में विशेष रूप से **रक्षोहा** हैं, यद्यपि रक्ष केअदिव्य शक्ति होने के कारण उसके विघ्न को दूर करने का सामर्थ्य सामान्यतः सभी देवताओं में है। अग्नि के बाद ही इन्द्र एवं सोम रक्षोहा हैं; और अन्यान्य देवताओं में अन्तरिक्ष में बृहस्पति, मरुद्गण एवं पर्जन्य हैं, द्युलोक में अश्विद्वय, सविता और मित्रावरुण[१४४९] हैं। अग्नि पृथिवी स्थानीय देवता है, जल वे ही रक्षोहा हों, तब माना जा सकता है कि रक्ष का विघ्न पार्थिव चेतना का विघ्न है एवं उसके साथ इस पार्थिव लोक में ही लड़ाई चलती है। किन्तु संहिता में अन्तरिक्षचारी के रूप में उसका वर्णन किया गया है[१]; अर्थात् रक्षः वस्तुतः अविशुद्ध प्राण का विकार है। किन्तु उसकी सीमा अचिति के गुहाशयन तक अथवा अचेतन भाव की अथाह गहराई तक विस्तृत है।[२] इसलिए उसका एक अन्य परिचय है, वह

१४४९. ऋक् संहिता में राक्षोघ्न सूक्त का मात्र यह एक सूक्त इन्द्र सोम का (७।१०४) है; और ये सब कई अग्नि के (४।४, १०।८७, ११८, १६२) हैं। अग्नि, इन्द्र एवं सोम ये तीन देवता ही ऋक् संहिता के बहुस्तुत मुख्य देवता हैं। अदिव्य शक्ति को पराजित करने का बल विशेष रूप से उन सब में ही रहेगा। प्रकीर्ण ऋक् में रक्षोहा हैं बृहस्पति २।२३।१४, १०।१८२।३; इन्द्र १।१२९।११, ६।२१।७; मरुद्गण १।८६।९, ५।४२।१० (लक्ष्य सारे रक्षःसेवी) ७।३८।७ (साथ में अहि एवं वृक), १०४।१८; पर्जन्य ५।८३।२; अश्विद्वय ६।६३।१०, ८।३५।१६-१८ (टेक 'हतं रक्षांसि सेधतम् अमीवाः' रक्ष के साथ **अमीवा** अथवा व्याधि का सम्बन्ध लक्षणीय; तब रक्षः देहाश्रित योगविघ्न); सविता १।३५।१०; मित्रावरुण १०।१३२।२; सोम ९।६३।२९, ७१।१ (साथ में 'द्रुह्') ८६।४८, ९१।४, १७।३ (३७।१, ५६।१), ४९।५, ६३।२८, ११०।१२, १०४।६, ८५।१। इसके अतिरिक्त अनेक ऋचाओं में रक्षोहा! ब्राह्मणों में : अग्निर् हि रक्षसाम् अपहन्ता, श. १।२।१।६, ९, २।१३; शा. ८।४, १०।३; अग्निर् वै ज्योती रक्षोहा श. ७।४।१, ३४; 'ते (देवाः) अविदुर अयं वै नो विरक्षस्तमः' श. ३।४।३।८।

१. ऋ. १०।८७।३, ६, ७।१०४।२३; श. अमूलं वदेम् उभयतः परिच्छिन्नं रक्षो अन्तरिक्षम् अनुचरति २।१।३।१३।

२. तु. ऋ. ७।१०४।३ द्र. टी. १३३२(१०)।

निशाचर[३] है; वायु भारद्वाज की भाषा में वह अचित् है, सत्य को वह विरूप कर देता है, अनृत द्वारा ऋत की हत्या करता है। अग्नि-ऋषि अथर्वा की तरह द्युलोक की ज्योति से उसके मर्म में आग लगा देना चाहिए।[४] अनृत स्वभाव होने के कारण ही वह ब्रह्म द्वेषी है, यज्ञ का विघ्न है गुप्तघात द्वारा आहुति को विफल या नष्ट करना उसका धर्म है।[५] मनुष्य के सारे दुष्कार्यों-पापों के मूल में इसी रक्ष की प्रेरणा है।[६] जो कुछ सुभद्र है, शुद्ध-अदूषित है उसे वह स्वेच्छानुसार दूषित करता है, उसके वचन में अनर्थ कर्म में वञ्चना है;[७] वह मूर्तिमान पाप है।[८] देवता को वह देना नहीं जानता, सब कुछ अपने लिए बचा कर रखता है; इसलिए वह 'रक्षः' है।[९]

३. ऋक् संहिता में 'तमोवृधः' ७।१०४।१; तु. वयो (पक्षी) ये भूत्वी पतयन्ति नक्तभिः (रक्ष की कामरूपिता)। निरुक्त की व्युत्पत्ति 'रक्षो रक्षितव्यम् अस्माद्, रहसि क्षणोति (हिनस्ति) इति वा, रात्रौ नक्षत इति वा ४।१८ (रहस > राक्षस सम्भावित; आधुनिक व्युत्पत्ति (IE. rikth - 'to drag, to pull one's clothes'))'

४. तु. ऋ. ऋतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति....अथर्ववज् ज्योतिषा सत्यं धूर्वन्तम् अचितं न्यू् ओष १०।८७।११, १२ (७।१०४।१)।

५. तु. तपुर्मूर्धा (अग्नि और ऋषि का नाम, तु. मु. 'शिरोव्रत' ३।२।१०) तपतु रक्षसो ये ब्रह्मद्विषः १०।१८२।३, ७।१०४।२, १।७६।३; 'यातमनाम् हविर्मथीनाम् ७।१०४।२१।'

६. रक्ष 'दुष्कृत्' : ७।१०४।३, ७।

७. तु. ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः (अपने ज़ोर से, बल-प्रयोग द्वारा) ७।१०४।९; अघशंसम् २, ४; भङ्गरावतः ७, १०।८७।२२, २३, अपहत रक्षसो भङ्गरावतः ७६।४।

८. तु. अघम् ७।१०४।२; (इन्द्र) हन्ता पापस्य रक्षसः १।१२९।११। और भी तु. ७।१०४।२३ जिसके उत्तरार्द्ध में पार्थिव एवं दिव्य 'अंहस्' का उल्लेख है।

९. तु. पाहि विश्वस्माद् रक्षसो अरावणः ८।६०।१०। इस से 'रक्ष' शब्द की व्युत्पत्ति < √रक्ष अधिक समीचीन एवं सम्भावित, किन्तु निरुक्त (४।१८) के अर्थ में नहीं; द्र. टीमू. १४५०। शतपथ ब्राह्मण में है, 'देवान् ह वै

यह अदिव्य शक्ति जब मनुष्य के भीतर 'आविष्ट' होती है, तब वह 'यातुधान' अथवा 'रक्षस्वी' होता है[१४५०]; मनुष्य तब फिर मनुष्य नहीं रहता। यातुधान के प्रति वैदिक ऋषियों की विरक्ति इतनी तीव्र थी कि रक्षः एवं यातुधान अन्त में समानार्थक हो गए।[१] जिस प्रकार असुरों की 'अदेवी माया'[२], उसी तरह यातुधान का 'यातु' – जिसे हम अब 'जादू' कहते हैं। वह यातु 'ऋत' का विरोधी है, ध्यान परिपन्थी है – अर्थात् ध्यान के प्रतिकूल है – उसके द्वारा देवता की परिचर्या सम्भव नहीं।[३] मनन में, वचन में अथवा कर्म में देवता के अपमान, अनादर की पाप-बुद्धि ही 'यातु' है। उससे प्रभावित व्यक्ति के प्रमाद और भ्रान्ति का चित्र ऋषि ने उल्लिखित इन दो सूक्तों में बहुत बुरा और बढ़ा-चढ़ा कर आँका है। उत्सर्ग की विमुखता में जिस रक्षः शक्ति का परिचय मिलता है, वह जिसके भीतर डेरा डाले है, वह 'रक्षस्वी' है – वह स्वार्थी असुरों और पणियों का सगोत्र है। मर्त्यों में वह दुर्मुख, दुर्विद्वान् पापात्मा, अशुभभाषी, भोगलोलुप अपने

यजेन यजमानांस् तान् असुररक्षसानि, ररक्षुः (रुक्ल), न यक्ष्यध्व इति, तद् यद् अरक्षंस् तस्माद् रक्षांसि' श. १।१।१।१६ (यहाँ भी < √रक्ष, किन्तु अन्य अर्थ में) एक और प्रकल्पित व्युत्पत्ति < रिष् 'अनिष्ट करना', तु. रक्षोहा अग्नि के प्रति : 'स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम्' १०।८७।१; और भी तु. 'प्रति स्म रिषतो दह, अग्ने त्वं रक्षस्विनः' १।१२।५।

१४५०. ऋ. मानो रक्ष आ वेशीद् आघृणीवसो (सुदीप्त ज्योति हो जिनकी; अग्नि का विण) मा यातुर् यातुमावताम्, परो गव्यूत् (गोष्ठ से दूर, रहस्यार्थ द्र. टीका १४४६; 'क्रोश द्वयाद् देशात् परस्तात्, एतद् उपलक्षणम्, अत्यन्त दूरदेशे' सा.) अनिराम् (तेजो हीनता; दारिद्र्य) अप क्षुधम्.....सेध (रोक कर रखो) रक्षस्विनः ८।६०।२०।

१. द्र. सूक्त ७।१०४, १०।८७।

२. तु. ५।२।९ (यहाँ रक्ष का भी उल्लेख है), ७।१।१०, ९८।५; फिर यातु भी 'माया' तु. ७।१०४।२४।

३. तु. ७।३४।८ (द्र. टी. १२०८(२)); 'ना. हं यातुं सहसा द्वयेन ऋतं सपाम्य अरुषस्य वृष्णः' – मैं जादू की (सेवा करता हूँ) ना – ज़बरदस्ती अथवा शठता वश, ऋत की सेवा करता हूँ (उसी) अरुण वीर्यवर्षी की (अर्थात् अग्नि की) ५।१२।२।

स्वार्थ के लिए प्राणकी मुक्त धारा को अवरुद्ध कर देता है। वह सब का शत्रु है।[४]

इन्द्र जिस प्रकार वृत्रहा हैं, अग्नि उसी प्रकार रक्षोहा हैं।[१४५१] वे इस रक्षःशक्ति का अपनी लपटों द्वारा वध करते हैं, लपटें जीभ की तरह उसे अपनी लपेट में लेकर लोहे के दाँतों से चबाकर खा जाती हैं, पोर-पोर छिन्न-भिन्न कर देती हैं।[१] वध की एक सूक्ष्मतर रीति है धनुर्धर होकर अथवा बरछा या भाला लेकर उसकी त्वचा को भेदकर हृदय के मर्मस्थल को विद्ध करना।[२] अग्नि तभी 'वेधस्तम ऋषि'।[३] और सूक्ष्मतम रीति है केवल ऋष्टि या बरछे नहीं, बल्कि दृष्टि द्वारा, 'नृचक्षां के पौरुषदृप्त चक्षु की तीक्ष्ण सन्धानी ज्योति द्वारा प्रवर्त साधक की गहराई में निगूढ़ उस रक्ष का पता करके उसके पाँजर या पसली को चूर-चूर कर देना, उसके मूल, मध्य एवं अग्रभाग को छिन्न-भिन्न करके प्रत्येक भाग के तीन टुकड़े कर डालना।[४]' रक्षोहत्या की इस

---

४. तु. 'ताव् इद् दुःशंसं मर्त्यं दुर्विद्वांसं रक्षस्विनम्, आभोगं हन्मना हतम् उदधिं हन्मना हतम्' – वही (तुम दोनों) दो जन (अर्थात् इन्द्र और अग्नि) उस दुर्भाषण मृत्युग्रस्त दुर्विद्वान् आत्मम्भरि अथवा स्वार्थपर भोगलोलुप को मौत के घाट उतार दो, जल को (अपने भीतर) धारण कर रखा है, जिसने उसका वध करो (७।९४।१२; आभोगम् तु. 'आभोगयम्' उपभोग्यम्-सा. १।११०।२, आभोगय ११३।५; 'उदधिम्' तु. बल का 'उदधि' १०।६७।५, इस धारा को मुक्त करना ही इन्द्र और बृहस्पति का काम है); मा नो गर्ताय रिपवे रक्षस्विने माघशंसाय रीरधः (उसके वशीभूत मत करो, हे अग्नि) ८।६०।८। और भी तुलनीय १।१२।५, ३६।२०, ८।२२।१८।

१४५१. रक्षोहा अग्नि का अतिरञ्जित वर्णन ऋ. १०।८७ सूक्त। सप्तशती के देवी-युद्ध के वर्णन के साथ अधिक मेल खाता है, यद्यपि उसका मूल मन्यु सूक्त में है (१०।८३, ८४)।

१. १०।८७।२ (टी. १२०३ (२)), ३-५।

२. १०।८७।६, ७, ४, १३; तु. अस्ता सि विध्यरक्षसस् तपिष्ठैः ४।४।१ (टी. १३३२(५)); (टी. १३३२(६))।

३. द्र. १।७५।२, ६।१४।२।

४. तु. नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्य तस्याग्ने पृष्टीर् (पाँजर, पसली) हरसा (तेज द्वारा <√ घृ > ह) शृणीहि त्रेधा मूलं

पद्धति के साथ इन्धन में आग पकड़ाने का – इस मर्त्य आधार के अग्निष्वात्त होने का भी सादृश्य सुस्पष्ट है। पहले आधार के चारों ओर देवता का परिवेश रचित होता है – 'मैं उनके भीतर ही हूँ, इस भावना के फलस्वरूप। उसके बाद बहिरङ्ग से वे अन्तरङ्ग होते हैं,

---

यातुधानस्य वृश्च १०।८७।१०–**नृचक्षाः**–'नॄन् चष्टे इति नृचक्षाः कृदुत्तर पद प्रकृतिस्वरत्वम्' सा. १।२२।७; किन्तु अनुरूप 'सूरचक्षस्' बहुव्रीहि Geldner उसे ही पकड़ कर व्याख्या करते हैं। यह तात्पर्य आभासित, किन्तु सायण की व्याख्या ही ठीक है। मनुष्य की ओर जिनकी दृष्टि खुली हुई है वे 'नृचक्षाः'। स्पष्टतः ही वे सूर्य हैं: तु. नृचक्षाः.... सूर्यः ७।६०।२, नृचक्षा एष दिवो मध्य आस्त (सविता) १०।१२९।२, हवामहे... सवितारं नृचक्षसम् १।२२।७। ऋक्संहिता में यह विशेषण सबसे अधिक सोम के लिए व्यवहृत हुआ है (९।७३।७, ८०।१, ८५।९ ८।९, ८६।३६, १।९९।२, ८।४८।९, १५, ९।४५।१, ७०।४, ७८।२, ८६।२३, ९२।२३, ९६।२३, ९२।२, ९७।२४)। उसके बाद ही अग्नि के लिए (१०।८७।९, १७, ८, १०, ८१९।१७, ३।१५।३, २२।२, ४।३।३, १०।४५।३)। दिन में सूर्य 'नृचक्षाः' रात में कौन? स्वभावतः चन्द्र का नाम मन में १०।४५।३)। दिन में सूर्य 'नृचक्षाः' रात में कौन? स्वभावतः चन्द्र का नाम मन में आएगा। देवता 'शशि सूर्य नेत्र' इस कल्पना से हम सुपरिचित हैं। सोम को विशेष रूप से नृचक्षाः कहने में फिर सन्देह की कोई गुञ्जाइश नहीं रहती, सोम=चन्द्र यह भावना आरम्भ में ही थी। उगते सूर्य को एक जगह मित्र, वरुण एवं अग्नि का चक्षु कहा गया है (१।११५।१)। देवता त्रिनयनः वे मुझे हृदय से आग्नेय चक्षु द्वारा, स्वर्लोक से मित्र के सौरचक्षु द्वारा, फिर लोकोत्तर वरुण के सोम्य चक्षु द्वारा देखते हैं यह सोम्यचक्षु की अन्तर्भेदी दृष्टि ही वरुण की (१।२५।१३) अथवा सोम का स्पशः (९।७३।७)। अग्नि, सूर्य, सोम अथवा अग्नि, मित्र, वरुण ही तीन देवता ही प्रधानतः 'नृचक्षाः' हैं, उसके बाद अन्य देवता–जैसे ब्रह्मणस्पति (२।२४।८), इन्द्र (९।६६।१५) विश्वदेवगण (१०।६३।४)...। देवता के साथ सायुज्य प्राप्त करके मनुष्य भी 'नृचक्षाः' होता है– जैसे ३।५३।९, ५४।६, ८।३४।३...। मनुष्य तब वेदान्त की भाषा में 'साक्षी'।... 'मूलम्' तु. उद् वृह (उखाड़ दो) रक्षः सहसमूलम् इन्द्र वृश्चा मध्यं प्रत्य अग्नं शृणीहि ३।३०।१७। और भी तु. १०।८७।८, ९, १२।

हृदय में सन्निविष्ट होते हैं और अन्त में बाहर-भीतर एकाकार करके उनकी आथर्वण दिव्य ज्योति का स्फुरण होता है – अर्थात् नीचे-ऊपर, आगे-पीछे से सन्तपन अजर शिखा के शुक्र-शुचि दहन द्वारा अघशंस रक्षः शक्ति को जला देना।[5] इस सर्वावगाही रक्षोहा अग्नि को ही 'शुचि' कहकर कुत्स आङ्गिरस ने वन्दना की है।[6]

रक्षोहा अथवा शुचि के बाद अग्नि **द्रविणोदाः** हैं। अग्निदहन में अदिव्य शक्ति के निराकृत होने पर अब आधार अनघ अथवा निष्पाप

---

५. १०।८७।१२; त्वं नो अग्ने अधराद् उदक्तात् त्वं पश्चाद् उत रक्षा पुस्तात्, प्रति ते ते अजरासस् तपिष्ठा अधशंसं शोशुचतो दहन्तु २०।

६. द्र. १।९७ सूक्त, टीमू. १३१२। टेक का अघ = रक्षः; तु इन्द्रासोमा (सम्पूर्णतः जला दो?) सम् अघशंसम् अभ्य, अघम् ७।१०४।२ (=रक्ष१) और भी तु. अग्नी रक्षांसि सेधति 'शुक्रशोचिर्' अमर्त्यः, 'शुचिः' पावक ईड्यः ७।१५।१०; ८।२३।१३; यो रक्षांसि निजूर्वति (जला कर मारते हैं) वृषा 'शुक्रेण शोचिषा', स नः पर्षद् अति द्विषः (१०।१८७।३, यही सूक्त की टेक है)। द्र. ४।४।१ (टी. १३३२(५)), अघशंस ३१.... राक्षोघ्न सूक्तों का विन्यास लक्षणीयः पहले ४।४ सूक्त, उसके आदि और अन्त में ही कोई राक्षोघ्न मन्त्र हैं, सम्भवतः बहुत कुछ प्रसङ्गानुसार। इस सूक्त में अग्नि 'पायु' (३), उनकी शिखा भी 'पायु' (१२, १३), अन्त में ऋक् में है 'दहाशसः (दुर्भाषण) रक्षसः पाह्य अस्मान् द्रुहो निदो मित्रमहो (हे मित्रज्योतिः) अवद्यात् (यहाँ रक्षः चित्त की अदिव्य वृत्ति)। इस पायु अग्नि से ही विशिष्ट राक्षोघ्न सूक्त के ऋषि पायु (१०।८७) हैं; देवता के सायुज्य में उनके भीतर देवशक्ति के आवेश से वे ही अग्नि (तु. सोमयाग के ब्रह्मा, जिनका 'ब्रह्म' ब्रह्म और शक्ति दोनों का ही आश्रय छा. ४।१७)। उसके बाद ७।१०४ सूक्त; यहाँ प्रधानतः इन्द्र और सोम रक्षोहा (आगे चलकर आलोच्य)। उसके बाद १०।८७ सू.; यह सूक्त ही समूचा राक्षोघ्न सूक्त है, जिसके देवता अग्नि हैं। तब भी यहाँ रक्षः चैतस् अदिव्य शक्ति। उसके बाद १०।११८ सूक्त में मात्र दो रोक्षोघ्न मन्त्र हैं (७, ८)। उसके बाद १०।१६२ सूक्त में रक्षः शक्ति सूक्ष्म से स्थूल में प्रकट हुई है, शौनकसंहिता में हम उसका ही विस्तार देखते हैं (विशेष द्रष्टव्य 'रक्षः')।

एवं शुचि हुआ। इस बार आधार में सर्वत्र आविष्ट दिव्य शक्ति का ऊर्ध्वस्रोत सञ्चारित होगा। अतएव देवता अब 'द्रविणोदा:'।

इस संज्ञा का अर्थ है 'जो द्रविण दान करते हैं'। निघण्टु में द्रविण दान का एक नाम हैं।[१४५२] जिस प्रकार अन्यत्र, उसी प्रकार यहाँ भी धन शब्द सामान्यवाची है। निघण्टु में उल्लिखित धन एक प्रकार के नहीं, बल्कि उनके बीच सूक्ष्म पार्थक्य है। वह पार्थक्य निरुक्ति के द्वारा पकड़ में आता है।[१] इसके अलावा निघण्टु में 'द्रविण' बल का भी नाम है।[२] इन दोनों अर्थों के अनुकूल ही यास्क इस शब्द की व्युत्पत्ति सिद्ध करते हैं 'द्रु' धातु से।[३] उनकी व्युत्पत्ति से धन की व्यञ्जना देवता के प्रसाद में एवं बल की व्यञ्जना उससे उत्पन्न वीर्य में सुप्रतिष्ठित होती है। द्रविणोदा दोनों के ही दाता हैं।[४]

१४५२. निघ २।१०; साधारणत: यह अर्थ ही ग्रहण किया जाता है।

१. यहाँ ही निरुक्ति की सार्थकता है। याद रखना होगा कि, वेद सन्धा भाषा में रचित हैं (तु. निण्या वचांसि, निवचना....काव्यानि ऋ. ४।३।१६; परोक्षप्रिया हि देवा: ऐउ १।३।१४; और भी तु. बौद्ध अद्वयवज्र का मन्तव्य वैदिक भाषा के बारे में : 'तत्रा श्वेतच्छाग निपातनया नरकादि दु:खम् अनुभवन्ति, सन्ध्याभाषाम् अजानानत्वात्'; मन्तव्य का लक्ष्य-तैस. वायव्यं श्वेतम् आलभेत भूतिकाम: २।१।१।१) उसके अनेक शब्द ही पारिभाषिक हैं (तु. नरो धियंधा 'हृदा...तष्टान्' मंत्राँ अशंसन् ऋ. १।६७।४)। यह बात भुला देने पर सहज ही व्याख्या विपर्यय हो सकता है।

२. निघ. २।९।

३. धनं द्रविणम् उच्यते, यद् एनद् अभिद्रवन्ति। बलं वा द्रविणं यदा एनेना. भिद्रवन्ति ८।१। √ द्रु. 'दौड़ना' तेज़ चलना; तु. **GK** dromados 'running, a runner' dromos 'course', drapetes 'a fugitive', drasmos 'flight' <**AV.** base ✲ dera–, ✲ dra–, ✲ dro– 'to run, to be active'; अतएव 'द्रविण' चाञ्चल्य, उद्यम्, शक्ति का स्रोत। आधुनिक व्युत्पत्ति <'द्र' काठ = वनसम्पद, असमीचीन एवं क्लिष्ट। विकल्प रूप 'द्रविणस्' (सकारोपजनश् छान्दस: सा. ऋ १।१५।७)।

४. तु. नि. तस्य दाता द्रविणोदा: ८।१। सायण की व्युत्पत्ति <√ (द्रविण (सुक्)+क्यच्)+क्विप्, 'एवं द्रविणस् शब्दो धनेच्छावचन:, द्रविणेच्छां

किन्तु संहिता में द्रविण का एक रहस्यार्थ है। एक स्थान पर अग्नि को ही 'द्रविणस्' कहा जा रहा है।[१४५३] सायण अपनी व्याख्या में 'सततगमन स्वभाव' कहते हैं।[१] अग्नि की शिखाएँ नित्य चञ्चल हैं। यही चाञ्चल्य प्रवहमान प्राण का धर्म है।[२] हमारे भीतर समिद्ध अग्नि ऊर्ध्वस्रोता शीर्षण्य प्राणचेतना के रूप में अभिव्यक्त होते हैं, इस भावना से हम परिचित हैं। प्राणग्नि का यह ऊर्ध्वस्रोत ही 'द्रविण' है एवं वही यास्क की निरुक्ति के अनुसार यजमान का 'बल' एवं 'धन' है। शिरा-शिरा में प्रवाहित अग्नि अथवा सोम की यह जो धारा है, संहिता में उसकी पारिभाषिक संज्ञा 'गल्दा' है।[३] इस प्रसङ्ग में लक्षणीय है, वहाँ प्रायश: देवता से कहा जा रहा है हम सब के भीतर द्रविण का 'आधान' करने के लिए।[४] यह लगता है हमारी गोत्रान्तरित

दस्यति यथेष्टधन प्रदानेनोपक्षपयति इत्यर्थे...क्विप्, एवं दविणोद: शब्द: सकारान्तो भवति।' किन्तु तु. ऋ. द्रविणोदा ददातु न: १।१५।८, अधस्मा नो ददिर्भव १०; तद्वशो ददि: २।३७।१, से. द् उ हव्यो ददि: २।

१४५३. ऋ. ३।७।१०, अग्नि का सम्बोधन 'द्रविण:'। अनुरूप तु. 'द्रविता' ६।१२।३, द्र. टी. १३७६(२)।

१. 'द्रविण: सततगमनस्वभाव हे अग्ने।....द्रु गतौ इत्य् अस्मात् द्रुदक्षिभ्याम् इनन् इतीनन् प्रत्यय:...सम्बुद्धौ सोर् लोपाभावश् छान्दस्:।

२. क. यद् इदं किं च जगत सर्वं प्राण ऐजति नि:सृतमम् २।३।२।

३. तु. ऋ. मा त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्न अहं गिरा, भूर्णिं (चञ्चल) मृगं न सवनेषु चुक्रधं (क्रोधित कर देता हूँ) क ईशानं न याचिषत् (८।१।२०; सायण 'गल्दया' गालनेना स्रावणेन; 'मृगं न' सिंहम् इव भीमम्)। अत्र तु. नि. गल्दा धमनयो भवन्ति, गलनम् आसु धीयते। 'आ त्वा विशन्त्व् इन्दव् आ गल्दा धमनीनाम्', ६।२४। 'आ गल्दा धमनीनाम्' धमनियों के भीतर से होकर या बहते हुए। 'गल्दा' प्रवाह और नाली दोनों ही। अध्यात्म दृष्टि से देवता मुझको ही पानपात्र के रूप में इस्तेमाल करते हैं, उनके लिए अपनी नाड़ियों में ही सोम की धारा ऊपर की ओर प्रवाहित कर देता हूँ। तब समस्त आहुति ही आत्माहुति। 'गल्दा।। 'जल'।'

४. हम जिस प्रकार स्वयं को देवता के भीतर उड़ेल देते हैं, उसी प्रकार देवता भी स्वयं को हमारे भीतर उड़ेल देते हैं। यही अन्योन्य सम्भावन है (गी. ३।१०.११)। देवता का 'आधान' तु. ऋ. दधासि रत्नं द्रविणं च

चेतना में देवता का वीर्याधान है, जिससे आधार का बन्ध्यात्व दूर हो जाता है।[5] अतएव संहिता में द्रविण का परिचय इस प्रकार है – ब्रह्मणस्पति अन्तर्मुख प्राण के समर्थ वीर्य एवं तपःशक्ति से द्रविण को आविष्कृत करते हैं; जो सृष्टि के मर्ममूल से विश्वकर्मा की इच्छा एवं आवेश से उत्सारित होता है; वह वीर्यदीप्त है।[6] अनेक स्थलों पर द्रविण के अत्यन्त निकट रत्न का उल्लेख है[7]; दोनों का अन्तर जङ्गमत्व और स्थावरत्व में या गतिशीलता और स्थिति शीलता में है, अर्थात् द्रविण चित्शक्ति का प्रवाह है और रत्न उसका कूट है।[8]

हम सब के भीतर जो इस शक्ति की धारा को प्रवाहित करते हैं, वे द्रविणोदा हैं। संहिता में स्पष्ट ही अग्नि के रूप में अभिहित होने पर भी,[1454] उनके स्वरूप को लेकर निरुक्त में अन्य नैरुक्तों के

दाशुषे (अग्ने) १।९४।१४, अथा दधाति द्रविणं जरित्रे (इन्द्र) ४।२०।९, श्रेष्ठं नो अत्र द्रविणं यथा दधत् (सविता) ५४।१;

५. प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम्, सजोषसा उषसा सूर्येण च.... अश्विना (८।३५।१०-१२; सन्तत ज्योति के स्रोत का आधान); एवा पवस्व द्रविणं दधानः (सोम) ९।९६।१२; अहं दधामि द्रविणं हविष्मते (वाक्) १०।१२५। स तु. ८।३५।१०-१२ इस तृच को टेक है:- देवता हम सब के भीतर अहित करें प्रजा, द्रविण एवं ऊर्ज। इन्हें विपरीत क्रम में लेना होगा; पहले 'ऊर्ज' जिससे अन्तरावृत्त चेतना गोत्रान्तरित होगी, उसके बाद 'द्रविण' अथवा देववीर्य; अन्त में 'प्रजा' देवजातक रूप में हम सब का अमृतजन्म।

६. तु. ब्रह्मणस् पतिर् वृषभिर् वराहैर् धर्मस्वेदेभिर् (पसीने से तर) द्रविणं व्यानट् (१०।६७।७; 'वृष' वीर्य का, 'वराह' प्राण का, एवं 'धर्म' तपःशक्ति का प्रतीक; 'द्रविण' यहाँ 'गो' अथवा ज्योति की धारा, जिसको बलासुर अथवा पणियों ने अवरुद्ध कर रखा है पाषाण-प्राचीर की ओट में, द्र. समस्त सूक्त); स आशिषा द्रविणम् इच्छमानः प्रथमच्छद् अवराँ आ विवेश (१०।८१।१; द्र. टी. १२४६(३)); ४।११।३ (द्र. टी. १४४४)।

७. तु. १।९४।१४, ४।५।१२, ५४।१, २।१।७, १।५३।१....।

८. 'रत्न' द्र. टी. १३६४।

१४५४. द्र. ऋ. देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् १।९६ सूक्त का।

विचारों का उल्लेख है।[1] क्रौष्टुकि का कथन है, द्रविणोदा वस्तुतः इन्द्र हैं, क्योंकि बल और धन के वे ही प्रदाता हैं, समस्त बलकृति उनकी ही है एवं संहिता में वे 'ओजोजात' हैं। इसके अलावा अग्नि को इन्द्र से ही उनका जन्म होने के कारण 'द्रविणोदस' कहा गया है। ऋतुयाज मन्त्र में द्रविणोदा का उल्लेख है और उसके प्रैष मन्त्र में पात्र का नाम 'इन्द्रपान' है। इसके अतिरिक्त सोमपान तो इन्द्र का ही वैशिष्ट्य है, अतएव ऋतुयाज मन्त्र में जिस द्रविणोदा को सोमपान करने के लिए कहा जा रहा है, वे इन्द्र ही होंगे। इसी पूर्वपक्ष के उत्तर में शाकपूणि कहते हैं कि संहिता में अग्नि को स्पष्ट ही द्रविणोदा कहा गया है; बल और धनदान देवता के ऐश्वर्य के परिचायक हैं, वह सब देवता का ही है; अग्नि भी ओजोजात हैं इसलिए उनका नाम 'सहसः सूनुः' इत्यादि है; अग्नि, 'द्राविणोदस'; क्योंकि ऋत्विक् गण भी द्रविणोदा हैं अर्थात् द्रविण वहाँ हविः है[2]; सोमपात्र को जिस प्रकार इन्द्रपान कहा गया है, उसी प्रकार कहीं उन्हें वायव्य भी कहा गया है? – हालाँकि ये पात्र अनेक देवताओं के हैं इसलिए यह कथन समान्य रूप से कहा गया है; सोमपान अग्नि भी करते हैं, संहिता में उल्लेख है। अतएव द्रविणोदा पृथिवी स्थानीय अग्नि ही हैं। वे जिस प्रकार सूक्तभाक् है, उसी प्रकार हविर्भाक् भी है; अर्थात उनके प्रति जिस प्रकार प्रशस्ति उच्चारित होती है, उसी प्रकार उनको हव्य भी प्रदान किया जाता है।[3]

---

१. नि. ८।१-३।

२. नि. यथो एतद् अग्निं द्राविणोदसम् आह (ऋ. २।३७।४) इति ऋत्विजो अत्र द्रविणोदस उच्यते हविषो दातारेः, ते चैनं जनयन्ति, 'ऋषीणां पुत्रो अधिराज एष' (मैस...१।२।७, मा.५।४) इत्यपि निगमो भवति ८।२।९। 'द्रविण' याजक पक्ष में हविः घृत की (ऋ. ४।५८।७-१०) अथवा सोम की (९।२९।१, ३०।१, ४९।२-४.....) 'धारा'। देववीर्य की धारा आवेशरूप में उतर रही है और आत्माहुति की धारा ऊपर की ओर जा रही है। इस कारण देवता और याजक दोनों ही द्रविणोदा दोनों में सायुज्य।

३. द्र. नि. ८।३ दुर्गः 'एवम् अयम् अग्निर् द्रविणोदाः सूक्तभाक् हविर्भाक् च। निपातम् एवै. तत् मध्यमं ज्योतिः उत्तम। च ज्योतिः, एतेन नामधेयेन भजेते

देवता के स्वरूप को लेकर यह जो मतभेद है, उसका कारण अज्ञता अथवा संशय नहीं, बल्कि यह भेद-भावना की उपजीव्य भूमि का भेद है। वस्तुतः सारे देवता ही द्रविणोदा हैं,[१४५५] क्योंकि उपासक के भीतर आवेश और चिद् वीर्य का आधान सारे देवता ही करते हैं। उसके अलावा जब सारे देवता ही एक की विभूति हैं, तब देवता-देवता में स्वरूपतः कोई भेद नहीं हो सकता। तब भी प्रश्न उठ सकता है कि आवेश की भावना हम किस भूमि के आधार पर करेंगे? पृथिवी या अन्तरिक्ष, देह अथवा प्राण की? द्रविणोदा अग्नि हैं न कि इन्द्र हैं? यह प्रश्न ही सन्धा भाषा में उठता है।

ऋक् संहिता में द्रविणोदा के बारे में कुत्स आङ्गिरस द्वारा रचित एक सम्पूर्ण सूक्त है। और दो ऋतु सूक्तों में अन्यान्य देवताओं के साथ दो मन्त्र गुच्छों में उनकी प्रशस्ति है। इसके अतिरिक्त जहाँ-तहाँ बिखरे रूप में उसका कुछ-कुछ उल्लेख है।[१४५६]

कुत्स के इस सूक्त की रचना ओजस्वी है, जिसमें देवता का एक पूरा-परिचय प्राप्त होता है। इसी सूक्त में द्रविणोदा का महत्त्व अन्यान्य देवताओं की ही तरह परमदेवता के समान बतलाया गया है। इस सूक्त की टेक में कहा जा रहा है कि सारे देवताओं ने द्रविणोदा को धारण कर रखा है अर्थात् सारे देवताओं का आवेश ही द्रविणोदा

इति।' हविर्भाक् और सूक्तभाक् देवताओं का प्रसङ्गः नि. २।१३, ७।१३, १०।४२।

१४५५. तु. ऋ. 'नू चिद्. धि रत्नं ससताम् इवाविदन न दुष्टुतिर् द्रविणोदेषु शस्यते' निद्रित व्यक्तियों में कोई किसी दिन रत्न नहीं प्राप्त कर पाया। (अर्थात्-वह आसानी से प्राप्त होने वाला नहीं तु. टीका १३६४(२)) श्रीहीन स्तुति द्रविणोदार के (देवताओं के) उद्देश्य से उच्चारित नहीं होती १।५३।१; 'या (वायु एवं पूषा) वाजस्य द्रविणोदा उतत्मन् (५।४३।९; द्रविण यहाँ 'वाज' या ओजस्विता; तु. १।९६।९); त्वष्टा १०।७०।९; इन्द्र-विष्णु ६।६९।१, ३, ६.....।

१४५६. द्र. १।९६ सूक्तः १।१५।७-१०, २।३७।१-४; २।१।७, ६।३, ५।४६।४, ७।१६।११, ८।३९।६, १०।२।२, ७०।९, ९२।११।

का आवेश है – वे उन सब के अन्तर्यामी हैं[१४५७] द्युलोक और भूलोक के जनक हैं वे, उनके भीतर विश्वरुचि के रूप में विभात हो रहे हैं; अरुण उषा और श्यामवर्णा सन्ध्या बिना किसी विरोध अथवा भेद-भाव के एक ही शिशु को संबर्धित करती है स्तन्य द्वारा।[१] जो कुछ उत्पन्न हुआ है और जो कुछ उत्पन्न हो रहा है, वे उनके निवास हैं; जो कुछ है और जो कुछ हो रहा है विचित्र रूप में , वे उनके रखवाले हैं;[२] विश्वमानव को जन्म देकर उनकी रक्षा के प्रति सतर्क दृष्टि रख रहे हैं; विवस्वान् की आँखों से निहार रहे हैं द्युलोक और प्राणलोक की ओर।[३] इसके अलावा वे ही मातरिश्वा हैं – जिनका पोषण बहुवरेण्य है; विश्वमानव उनके तनय हैं, उनके लिए चलने के मार्ग का पता कर लिया है उन्होंने स्वर्ज्योति के वेत्ता के रूप में।[४].... यही उनकी शाश्वत-दिव्य महिमा है। अथ च विश्वभुवन के जनक होकर भी वे फिर हमारे ही पुत्र हैं।[५] हम सब आर्य (श्रेष्ठ) उत्साह

१४५७. ऋ. देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् १।९६।१...। सायण की विकल्प व्याख्याः- 'देवाः' ऋत्विजो गार्हपत्यादिरूपेण धारयन्ति। उनकी दृष्टि में यहाँ व्युत्पत्ति 'ददाते विच् सकारान्तं त्वं असुनि कृते निष्पद्यते।'

१. जनिता रोदस्याः (४); नक्तोषासा वर्णम् आमेम्याने (वर्ण-वर्ण में विरोध की सृष्टि करते हैं <मी 'हिंसा करना' तु. १।११३।२ अर्थात् काले और सफ़ेद रूप में) धापयेते शिशुम् एकं समीची (मिल-जुल कर), द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर् सूर्यो ज्योतिः' इत्यादि।

२. जातस्य न जायमानस्य च क्षाम्, सतश् च गोपां भरतश् च भूरेः (७)।

३. इमाः प्रजा अजनयन् मनूनाम् (मनुष्य के आदिपिता, आदि याजक; बहुवचन कल्प आवर्तन का सूचक (तु. १०।१९०।३; इसके अलावा सारे देवता भी 'मनुजात' १।४५।१ रूप में 'मनवः' १।८९।७, ८।१८।२२, अतएव 'मनुरूपी देवताओं की सन्तान'), विवस्वता चक्षसा द्याम् अपश् च (२)। 'विवस्वान्' परमज्योति, आदिदेव। जगत्साक्षी के रूप में वे ही चक्षु तु. १।११५।१।

४. स मातरिश्वा पुरुवारपुष्टिर् विदद् गातुं तनयाय स्वर्वित् (४) मातरिश्वा विश्व प्राण, अग्नि के जनक (१।३१।३, ७१।४, ३।९।५....) अर्थात् हमारे भीतर ज्योति की अभीप्सा के प्रेरक।

५. द्र. ५।३।९, टी. १३९४(३)।

और अन्तर्मुखता की ऊर्जस्विता से उनको उत्पन्न करते हैं, यज्ञ के प्रथम साधन के रूप में जोगते हैं पूर्वतन अन्तर्गूढ़ वेदमन्त्र और प्राण की कविकृति द्वारा।[६] और जन्म से ही वे हम सब के भीतर सचमुच स्थापित करते हैं कविधर्म, सिद्ध किया उनको धिषणा और प्राण के प्लावन ने मित्र की ज्योति के रूप में।[७] हमारी उत्सर्ग भावना के

---

६. तम् ईलत प्रथमं यज्ञसाधं विश आरीर्....ऊर्जः पुत्रम्(३); सहसा जायमानं (१) पूर्वया निविदा कव्यतायोः (२) **निवित** तु. १।८९।३। 'निवित्' अति प्राचीन देवप्रशस्ति, गद्य में रचित। सङ्क्षेप में देवता का पूर्ण परिचय। सूक्त उसका ही विस्तार है (तु. ऐ ब्रा. गर्भा वा एत उक्थानां यन् निविदः ३।१०) ऋक् संहिता के खिलकाण्ड के पञ्चम अध्याय में ग्यारह निवित् पाई जाती हैं। देवता क्रमशः अग्नि, इन्द्र मरुत्वान् इन्द्र, सविता, द्यावापृथिवी, ऋभुगण, विश्वदेवगण, अग्नि वैश्वानर, मरुद्गण, अग्नि जातवेदा; एवं सोम हैं। ये ही वेद के प्रधानतम देवता हैं। अग्नि की निवित् इस प्रकार है:- अग्निर् देवेद्धः अग्निर् मन्विद्धः अग्निः सुषमित्, होता देवव्रतः, प्रणिर् यज्ञानाम, रथीर् अध्वराणाम्, अतर्तो होता, तूर्णीर् हव्यवाट्, आ देवो रक्षत् यक्षद् अग्निर् देवो देवान्, यो अध्वरा करति जातवेदाः। प्रसङ्गतः जातवेदा अग्नि की निवित्ः अग्निर् जातवेदाः सोमस्य मत्सत्, स्वनीकश् चित्रभानु, अप्रोषिवान् गृहपतितस् तिरस् तमांसि दर्शतः घृतवाहन ईड्यः, बहुलवर्त्मा स्तृतयज्वा, प्रतीत्या शत्रून् जेता पराजितः, अग्ने जातवेदो अभि द्युम्नम् अभि सह आयजस्व, तुशो अप्तुशः समिद्धारं स्तोतारम् अहसस् पाहि, अग्निर् जातवेदो इह श्रवद् इह सोमस्य मत्सत्, प्रेमां देवो देवहूतिम् अवन्तु देव्या धिया, प्रेदं क्षत्रम्, प्रेमं सुन्वन्तं यजमानम् अवतु, चित्रश् चित्राभिर् ऊतिभिः, श्रवद् ब्रह्माण्यं आवसा गमत्। 'प्रेमां देवः' से अनत के अंश तक प्रथम को छोड़कर बाक़ी सब निवित् ही हैं। 'ब्रह्म' और 'क्षत्र' उपनिषद् के 'प्रज्ञा' और 'प्राण'- वैदिक साधना के ये दो मुख्य साधन-स्रोत हैं (तु. क. १।२।२५; इतिहास में मोक्षधर्म एवं राजधर्म; योग में श्रद्धा एवं वीर्य हैं)। 'कव्यता' = कव्यतया (कवि-कृति के द्वारा; तु. १)। यह कवि कृति 'आयु' अथवा प्राणशक्ति की। अभीप्सा की आग प्राण में ही जलती है।

७. स प्रत्नया (पहले ही जैसा, चिरकाल) सहसा जायमानः सद्यः काव्यानि बल (यथार्थ) अधत्त विश्वा, आपश् च मित्रं धिषणा च साधन १। ये

प्रतिभान हैं आलोक हैं वे, संवेग के चिन्मय उत्स हैं, ज्योतियों के सङ्गमबिन्दु हैं, ज्योति-विहग के मन्त्र और साधन हैं।[८] वे विश्वम्भर हैं, उनका प्रसाद विद्युद् विसर्प अथवा विद्युत्प्रवाह के रूप में प्रवाहित होता रहता है हम सब के भीतर।[९] इसी से वे द्रविणोदा हैं; और उनका द्रविण, क्षिप्रग, सपौरुष, वीर्यवती एषणा और दीर्घायु का निदान है।[१०] इसके अलावा अन्यत्र हम पाते हैं कि जिस प्रकार हमारे भीतर ढाल देते हैं वे अपनी दाहकता, उसी प्रकार वे भी चाहते हैं कि हम उनके भीतर ढाल दें अपने देदीप्यमान चित्त की पूर्णाहुति।[११] तब उनकी

'मित्र' अथवा आनन्त्य की व्यक्त ज्योति हैं (तु. ५।३।१)। 'धिषणो' वाक् (निघ १।११; 'वाग्वै धिषणा' शब्रा. ६।५।४।५) अथवा प्रज्ञा (विद्या वै धिषणा' तैब्रा. ३।२।२।२); द्र. देवी 'धिषणा'। 'अप्' अन्तरिक्षचारी प्राण। प्राण और प्रज्ञा के आवेश से आधार में आदित्यज्योति के अभिसारेक ऊर्ध्वस्रोता अग्नि का जन्म।

८. रायो बुध्नः सङ्गम नो वसूनां यज्ञस्य केतुर् मन्मसाधनो वेः ६। 'वेः' < विः 'पक्षी' (तु. १।१८३।१), यहाँ ज्योति-विहग, सूर्य- अग्निमन्त्र से जिनकी उपासना।

९. भरतं सृप्रदानुम् ३। 'भरत'। तु. अग्निर् वै भरतः, स वै देवेभ्या हव्यं भरति शा. ३।२ (श. १।४।२।२, १।५।१।८); एष उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा विभर्ति तस्माद् वे. वा. ह भरतवद् इति श. १।५।१।८ (प्राणो भरतः ऐब्रा. २।२४)। द्र. सा., तु. टीमू. १५६०। 'सृप्रदानुम्' सर्पणशीलदानयुक्तम् सा.; किन्तु वे 'सृप्त' को 'अविच्छेद' कहते हैं। वस्तुतः यह विशेषण 'द्रविणोदस्' को समानार्थक है। तु. 'सदनं रयीणाम्' ७ 'रायो बुध्नः ६; दान का 'सर्पण' उसी से।

१०. द्रविणोदा द्रविणसस् तुरस्य द्रविणोदाः सनरस्य प्र यंसत्, द्रविणोदा वीरवतीम् इषं नो द्रविणोदा रासते दीर्घम् आयुः ८। 'सनर' नर युक्त = पौरुषयुक्त; उसी प्रकार 'वीरवती' = वीर्यवती (तु. प्र यंसि होतर बृहतीर् इषो नः ३।१।२२)।

११. तु. द्रविणस्युं द्रविणोदः, सपर्येम २।६।३; अध्वर्यवः स पूर्णां वष्ट्य आसिचम् ३७।१ (७।१६।११)....।

ऊर्ध्वगामी धारा से ज्योतिः पथ का रुद्ध द्वार खुल जाता है हम सब के सम्मुख।[१२]

उसके बाद ऋतुयाज सूक्त का द्रविणोदाः। ऋतु प्रकृति परिणाम के ऋतच्छन्दा प्रवाह के कारण ऋक् संहिता में कालवाची शब्द है।[१४५८] वस्तुतः हमारी जानकारी में कालमान की दीर्घतम इकाई संवत्सर है। उसके ही भीतर बारी-बारी से ऋतु-चक्र का आवर्तन होता रहता है। शीतोष्ण या ओषधि एवं अन्न आदि का पचना जो हम सब के बाहरी जीवन का आधार है, उसकी रूपरेखा संवत्सर व्यापी इस ऋतुचक्र के साथ निबद्ध है।[१] जहाँ आवर्तन है, वहाँ ही मृत्यु है। इसलिए संवत्सर मृत्युस्पृष्ट है, जिसने अमृता सुवर्ग लोक को आच्छादित कर रखा है। इस आच्छादन को दूर करके अमृतलोक के प्रज्ञान के लिए सोमयाग के प्रातः सवन में ऋतुग्रह प्रचार की व्यवस्था है।[२] कालचक्र के आवर्तन को स्वीकार करके ही यह उसके बाहर होना है, उपनिषद् की भाषा में सूर्यद्वार भेद करके अव्ययात्मा अमृत पुरुष में तल्लीन होना है।[३]

संवत्सर में बारह पूर्णिमा और बारह महीने होते हैं। महीनों को दो भागों में विभाजित करने पर दो अयन प्राप्त होते हैं। जब सूर्य का दोलन या सञ्चरण उत्तर की ओर होता है एवं दिन के प्रकाश की

१२. अग्निः स द्रविणोदा अग्निर् द्वारा व्यू ऊर्णुते ८।३९।६ (१।१२८।६); और भी तु. ६।१६।३४, टी. १३५४(२)।

१४५८. ऋक्संहिता में 'काल' एक बार ही १०।४२।९; वहाँ भी तात्पर्य है 'उपयुक्त समय' किन्तु शौनक संहिता में 'काल' एक दार्शनिक तत्त्वः कालः स ईयते परमो नु देवः १९।५४।५ (द्र. सूक्त ५३-५४)।

१. तु. ता. तस्माद् यथर्त्व् आदित्यस् तपति १०।७।५,....ओषधयः पच्यन्ते ८।१; श. ऋतवो वेदं सर्वम् अन्नाद्यं पचन्ति ४।३।३।१२....समिद्धाः प्रजाश् च प्रजनयन्त्य् ओषधीश् च पचन्ति १।३।४।७

२. द्र. तैस. ६।५।३।१।

३. तु. मु. १।२।११। अवश्य मुण्डकोपनिषद् के मतानुसार 'यज्ञरूप प्लव अदृढ़' (१।२।७)। किन्तु द्र. वेदमीमांसा नचिकेता का उपाख्यान-प्रथम खण्ड।

क्रमिक वृद्धि होती है, तब यह उत्तरायण होता है, फिर जब दोलन दक्षिण की ओर होता है एवं प्रकाश का क्रमिक ह्रास होता है, तब यह दक्षिणायन होता है। ज्योतिरग्र आर्यों के निकट एक का सङ्केत अमृत की ओर है और दूसरे का सङ्केत मृत्यु की ओर है। फिर बारह महीनों को तीन भागों में विभाजित करने पर तीन चातुर्मास्य प्राप्त होंगे।[१४५९] छः भाग करने पर छः ऋतुएँ – वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त और शिशिर। ब्राह्मण में कहीं-कहीं हेमन्त और शिशिर को एक ऋतु मानकर संवत्सर में पाँच ऋतुओं की कल्पना है।[१] नाम से ही बोध होता है कि 'वसन्त' में उजाला फूटता है, और हेमन्त में सब हिम या सर्द हो जाता है। एक में प्राण का उदयन है और एक में अस्तमयन है। वसन्त ऋतुमुख अथवा वर्षशिरः है। जिस प्रकार सौरमास का नाम राशि के नाम पर है और चान्द्रमास का नाम नक्षत्र के नाम पर है, उसी प्रकार वेद में ऋतुलक्षण के अनुसार बारह मास के बारह नाम हैं – मधु माधव (वसन्त), शुक्र शुचि (ग्रीष्म), नभः नभस्य (वर्षा), इषः ऊर्जः (शरत्), सहः सहस्य (हेमन्त), तपः तपस्य (शिशिर)।[२]

ऋक् संहिता में ऋतुदेवता से सम्बन्धित तीन सूक्त हैं।[१४६०] प्रथम सूक्त की ऋक् सङ्ख्या बारह और बाकी दो सूक्तों की सङ्ख्या छः

१४५९. किन्तु संवत्सर व्यापी चातुर्मास्य के चार पर्व हैं–वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध एवं शुनासीरीय। क्रमानुसार फाल्गुनी, आषाढ़ी एवं कार्तिकी पूर्णिमा पर अनुष्ठित होता है फिर सब के अन्त में फाल्गुनी शुक्ल प्रतिपदा को अनुष्ठित होता है (द्र. कात्यायन श्रौ. पञ्चम अध्याय)।

१. तु. श. पञ्चवा ऋतवः संवात्सरस्य ३।१।४।५; ऐ. पञ्चर्तवो हेमन्त शिशिरयोः समासेन १।१; ता. १२।४।८, १३।२।६...। आगे चलकर देखेंगे कि हेमन्त-शिशिर को एक साथ मानना द्रविणोदा के पक्ष में विशेष तात्पर्य पूर्ण है।

२. तु. तै ब्रा. मुखं वा एतद् ऋतुनां यद् वसन्तः १।१।२।६-७, तस्य (संवत्सरस्य वसन्तः शिरः ३।११।१०।२)। द्र. तैस. १।४।१४; शब्रा. ४।३।१।१४-२०। कभी-कभी संवत्सर में एक 'अधिमास' होता है, जिसका नाम है 'संसर्प' अथवा अहंस्पति (द्र. तैस. ऐ. सा.)।

१४६०. ऋ. १।१५; २।३६, ३७।

छ: है। ये सङ्ख्याएँ स्पष्टत: महीने की सूचक हैं। ऋतु का उल्लेख संहिता के सभी मन्त्रों में नही है किन्तु ब्राह्मण में सब मिलाकर मान लिया जाता है कि है।[१] ऋतु के अलावा प्रत्येक मन्त्र में ही अन्य देवताओं का उल्लेख है बल्कि वे ही मुख्य हैं, ऋतुएँ गौण हैं : सोमपान करने के लिए देवताओं का ही आह्वान किया जाता है, ऋतुएँ उनकी सहपायी हैं, उनके साथ सोमपान करती हैं। प्रथम और द्वितीय मण्डल में देवताओं का नाम और क्रम एक ही है : १. इन्द्र, २. मरुद्गण, ३. देवपत्नी गण के साथ त्वष्टा, ४. अग्नि, ५. इन्द्र, ६. मित्रावरुण, ७.-१०. द्रविणोदा, ११. अश्विद्वय, १२. अग्नि गार्हपत्य।[२]

---

१. १।१५ सूक्त के १-४, ६में 'ऋतुना' ५में 'ऋतुँर् अनु'; उसके ही अनुरूप २।३६ सूक्त, किन्तु ऋतु का उल्लेख नहीं। १।१५। सूक्त के ७, ८ में ऋतु का उल्लेख नहीं, ९, १० में है ऋतुभि:; ११, १२ में 'ऋतुना'। उसके अनुरूप २।३७ सूक्त के १-३ में 'ऋतुभि:', ५में नहीं, ६में 'ऋतुना'। इन तीन सूक्तों को मिलाकर देखें तो दिखाई पड़ता है कि संहिता में प्रथम मन्त्र को छोड़कर आरम्भ के छ: मन्त्रों में एवं अन्त के दो मन्त्रों में 'ऋतुना' एवं बीच के चार मन्त्रों में 'ऋतुभि:' है। किन्तु प्रैष सूक्त में वाक्य के विन्यास में आरम्भ के छ: मन्त्रों में 'ऋतुना' बीच के चार मन्त्रों में 'ऋतुभि:' एवं अन्त के दो मन्त्रों में फिर 'ऋतुना' (ऋ. खिल ५।७।५ तिलक मन्दिर संस्करण)। विभक्ति भेद के कारण मन्त्र के इन तीनों गुच्छों पर ब्राह्मण में यह अर्थ आरोपित किया गया है : ऐब्रा. के मत में प्रथम 'प्राण' द्वितीय 'अपान', तृतीय व्यान (२।२९)। शब्रा. में प्रथम 'दिन', द्वितीय 'रात्रि', तृतीय पुन: 'दिन'; अथवा 'मनुष्य', 'पशु', पुन: 'मनुष्य' (४।३।१।१०-१३)। लक्षणीय बीच का मन्त्रगुच्छ द्रविणोदा का (अपान, रात्रि, पशु)। ऋ. १।१५ सूक्त का विनियोग स्मार्त (सायण)।

२. देवतागण ऋत्विकों के पात्रों से पान करेंगे, यही लक्षणीय। क्रमानुसार पात्रों के नाम हैं, होत्र, पोत्र, नेष्ट्र, आग्नीध्र, ब्राह्मण, प्रशास्त्र, होत्र, पोत्र, नेष्ट्र, अमृत अथवा इन्द्रपान, आध्वर्यव, गार्हपत्य। यहाँ सात प्राचीन ऋत्विकों के नाम पाए जाते हैं; अध्वर्यु एवं नेष्टा, ब्रह्मगण के ब्राह्मणाच्छंसी, अग्नीध्र एवं पोता, और होतृगण के होता और प्रशस्ता (मैत्रावरुण) : उद्गातृगण का कोई नहीं (द्र. २।५ सूक्त विशेष रूप से २।५।२; अध्यात्म व्यञ्जना द्र. टी. १३१६(६))। इन सात ऋत्विकों के अतिरिक्त आठवें स्वयं यजमान (तु. २।५।२, प्रैष मन्त्र ५।७।५।१२)। द्रविणोदा का तृतीय पात्र विलक्षण (आगे चलकर द्र.)। सर्वत्र जिनका पात्र है, वे ही यजन करते हैं, केवल इस जगह होतृगण के अच्छावाक् यजन करते हैं (प्रैष मन्त्र द्र.)

स्पष्ट है कि ऋतुयाज मन्त्रों में द्रविणोदा को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। चार मन्त्रों के गुच्छ के वे देवता हैं, अतएव, वे संवत्सर के एक चातुर्मास्य के देवता हैं। किन्तु यह कौन सा चातुर्मास्य है? संवत्सर की सूचना या प्रस्तावना में एक चातुर्मास्य एवं उसकी व्याप्ति वसन्त और ग्रीष्म इन दो ऋतुओं को लेकर है। वसन्त ऋतुमुख है, उस समय अन्धकार की सुनिश्चित पराजय में प्रकाश का जन्मोत्सव, आदित्य का उत्तरायण शुरू होता है। हम जानते हैं कि प्रत्येक अहोरात्र में वैसी एक घटना घटती हैं, जब मध्यरात्रि के घोर अन्धकार को विदीर्ण करके प्रकाश का अभियान शुरू होता है। अतएव स्वाभाविक रूप से ही जान पड़ेगा कि संवत्सर के आदि में अश्विद्वय के द्वारा एक चातुर्मास्य का आरम्भ होता है। जिस प्रकार अग्नि के साथ घृत का एवं इन्द्र के साथ सोम का विशेष सम्पर्क है, उसी प्रकार अश्विद्वय के साथ 'मधु' का सम्बन्ध है।[१४६१] ऋतु-सूक्त के इन दो आश्विन मन्त्रों में भी मधु का उल्लेख प्राप्त होता है। वसन्त के दो महीनों का नाम भी मधु एवं माधव है। ये सब उक्त परिकल्पना के अनुकूल हैं। अश्विद्वय में जिस प्रकाश का सङ्केत है, वह गार्हपत्य अग्नि में[१] जाग्रत है, इन्द्र में सन्दीप्त है और मरुद्गण में उद्दाम है अर्थात् पृथिवी से अन्तरिक्ष को लाँघ कर द्युलोक के आखिरी छोर तक उस समय जैसे प्रकाश की एक आँधी चल रही है। ग्रीष्म के दो महीने शुक्र और शुचि नाम की सार्थकता भी यहीं है। ब्राह्मण में भी इन दो ऋतुओं के महीनों को 'अह:' कहा गया है।...उसके बाद का चातुर्मास्य वर्षा और शरत् ऋतु को लेकर है। प्रथम देवता त्वष्टा और देवपत्नी गण हैं। त्वष्टा, विश्वकर्मा, विश्वरूप प्रजापति की प्राचीन

१४६१. विशेष आलोचना द्रष्टव्य. ऋ. ४।४५ सूक्त

१. तु. १।१५।२, द्र. टी. १३९१(१)।

संज्ञा है। देवपत्नीगण सहित[2] उनको द्वितीय चातुर्मास्य के अग्रभाग में स्थापित करने में एक प्राजापत्यव्रत का सङ्केत प्राप्त होता है।[3] आकाश 'नभः' अथवा मेघवाष्प से आच्छादित हो गया है, उसके भीतर वज्र में, वर्षण में 'नभस्य' अग्नि और पर्जन्य का दिव्य क्षोभ जारी है।[4] फिर चातुर्मास्य के मध्य-बिन्दु पर उत्तरायण का अन्त और दक्षिणायन का आरम्भ होता है। उस समय भी प्रकाश के दाक्षिण्य अथवा अनुकूलता का भाव रहता है, किन्तु भीतर ही भीतर अवक्षय का कार्य, वृत्र की तामसी माया का शनैश्चरण शुरू हो जाता है। तब उसको रोकने के लिए 'गवेषण' इन्द्र[5] ज्योतिरेषणा के साथ अग्रसर होते हैं। बाहरी अवक्षय अपरा प्रकृति का नियम है, उसे रोकना सम्भव नहीं। किन्तु उसे रोक देने पर ही भीतरी प्रकाश प्रबल हो जाता है। निरोध योग का यही रहस्य है। उस समय अन्तर्मुख होने पर चेतना 'ऊर्जस्वी' होती है, और सत्ता की गहराई में मित्रावरुण की 'वसिष्ठ' ज्योति फूटती है – व्यक्त और अव्यक्त के आनन्त्य से अन्तः सत्त्व। यहीं द्वितीय चातुर्मास्य का परिसमापन होता है। फिर और भी देखते हैं कि रूपकार त्वष्टा की दृष्टि के सम्मुख पृथिवी से लेकर अन्तरिक्ष को पार करके द्युलोक के प्रत्यन्त तक एक ज्योतिर्मय उद्भास है – यद्यपि वह अन्त की ओर अन्तरावृत्त है।[6]

---

२. ये सब 'ग्ना' (१।१५।३) एवं 'जनि' (२।३६।३); दोनों ही <√ जन् अतएव जननी शक्ति हैं।

३. तु. प्र. १।१५।

४. यहाँ ही अग्नि-पर्जन्य के संस्तव की सार्थकता द्र. ऋ. ६।५२।१६, १।१६४।५१ टी मू. १३८३(६), १३८६, १२३०(७)।

५. 'गवेषण' जिसके मन में ज्योति की एषणा है। 'गवेषणा' में भी यही अर्थ। इन्द्र विशेष रूप से 'गवेषणः' तु. १।१३२।३, ७।२०।५

६. लक्षणीय इन दोनों चातुर्मास्य के प्रायः सभी देवताओं को हम ऋक् संहिता के प्रथम अनुवाक में ही पाते हैं। वहाँ हैं अग्नि, वायु, इन्द्र, मित्रावरुण, अश्विद्वय, विश्वदेवगण एवं सरस्वती। यहाँ अग्नि, मरुद्गण, इन्द्र, मित्रावरुण, 'अश्विद्वय, त्वष्टा एवं देवपत्नीगण हैं। प्रथम अनुवाक के देवताओं का क्रम लोक-संस्थान के अनुसार है। प्रथम सूक्त पृथिवीस्थान अग्नि का है, द्वितीय सूक्त का आरम्भ अन्तरिक्ष स्थान वायु के द्वारा एवं

उसके बाद तृतीय-चातुर्मास्य है, जिसके अधिष्ठाता केवल द्रविणोदा अग्नि हैं। इस चातुर्मास्य में हेमन्त और शिशिर दो ऋतुएँ हैं। इस बार आदित्य के दक्षिणायन का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखने लगा है, प्रकाश और ताप के अवक्षय को अब बाहर से रोकना सम्भव नहीं। मृत्यु का हिमस्पर्श नीचे उतरता आ रहा है; किन्तु अमृत चेतना उसके निकट पराजय स्वीकार नहीं करेगी, वह ऋतुचक्र के आवर्तन से ऊर्ध्व निश्चय ही जाएगी। बाहर की आग जितनी ही मात्रा में निस्तेज होती जा रही है, उतनी ही मात्रा में भीतर की आग प्रबल होती जा रही है। इस समय उसका प्रकटन बहिश्चेतना में नहीं, बल्कि अन्तश्चेतना के समूहन में तथा चिन्मय प्राण के निगूढ़ सञ्चरण में होता है। जैसे योगनिद्रा में, योगी की वैवस्वत मृत्यु में और प्रलय में जगत्पति के अनन्तशयन में; प्राकृत जगत् में अनेक प्राणियों की शीतनिद्रा में – विशेष रूप से साँप की। उस समय अग्नि 'अहिर्बुध्न्य' – प्राण के विस्फारण में नहीं, बल्कि कुण्डलन में।[१४६२] यहाँ ये 'अहिर्बुध्न्य' ही शैशिर चातुर्मास्य के द्रविणोदा हैं।

तृतीय सूक्त का आरम्भ द्युस्थान अश्विद्वय के द्वारा (द्र. नि. ७।१४, १०।१, १२।१)। इसके भीतर ही वैदिक साधना की समग्र रूपरेखा सूत्ररूप में अवधारित है। ऋतु सूक्त में देवताओं का क्रम आदित्यायन के छन्दानुसार है।

१४६२. तु. ऋ. 'स जायत प्रथमः पस्त्यासु महो बुध्ने रजसो अस्य योनौ, अपादशीर्षा गुहमानो अन्ताऽऽयोयुवानो वृषभस्य नीले'–वे जन्मे पहले जलस्रोतों के भीतर इस रजोभूमि के महान् चिन्मय, ज्ञानमय उत्स में, इसकी योनि में; उनके न पैर थे, न सिर था– आदि अन्त दोनों ही छिपा रखा था, सिमटे-सिकुड़े हुए थे वीर्यवर्षी (रहस्य) के नीड़ में ४।१।११। अन्तरिक्ष में प्राण का स्रोत बह रहा है, उसके भीतर अग्नि का प्रथम आविर्भाव– महाशक्ति के उस मूलाधार में जिसके अतल में महाबोधि की निगूढ़ रहस्यमय दीप्ति है। वे उस समय साँप की तरह कुण्डली मारे अवस्थित हैं, जिसके कारण समझ में नहीं आता है कि कहाँ उनका आदि है? अथवा कहाँ उनका अन्त? जिस प्रकार वे मातृयोनि में, उसी प्रकार फिर वीर्यवर्षी द्यौष्पिता के सुनील रहस्य के अतल में सङ्गोपित। यह जैसे सृष्टि के आरम्भ में कुमारसम्भव की छवि है। ठीक इसी प्रकार से

ब्राह्मण में इस चातुर्मास्य की कई विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। संवत्सर के दो चातुर्मास्य की उपमा दिन के साथ और इस एक की उपमा रात के साथ दी गई है।[१४६३] यह जैसे पशुचेतना की आच्छन्नता है,[१] जिसे अन्यत्र 'अपान' कहा गया है।[२] अपान मृत्युग्रस्त प्राण है।[३] द्रविणोदा इसी रात्रि के, इसी आच्छन्नता के और इसी अपान के देवता हैं।

किन्तु बर्हि प्रकृति के सो जाने पर भी देवता कभी नहीं सोते – वे अन्तश्चेतन हैं। इस मृत्यु और तमिस्रा की आच्छन्नता के मध्य भी उनकी अमृत ज्योति की तपस्या चलती रहती है। संहिता में द्रविणोदा

हम सब के भीतर भी चिदाग्नि का आविर्भाव होता है। अग्नि तब गार्हपत्यः ऐब्रा. के अनुसार 'एष ह वा आहिर् बुध्न्यो यद् अग्निर् गार्हपत्यः' ३।३६। ऋक्संहिता में अग्नि 'अहिर् धुनिर् (फनफनाते हैं, फुफकारते हैं) वात इव ध्रजीमान् (सनसनाने लगते हैं) १।७९।१ (सायण कहते हैं 'वैद्युत अग्नि')। इसी नाड़ी सञ्चारी से ही अहिभूषण रुद्र शिव की कल्पना की गई है, जो पुराण में 'अहिर्बुध्न्य' हैं (वि द्र. वही)।

१४६३. द्र. श. ४।३।१।१०-११, १३। संहिता के मन्त्र-विन्यास में देखते हैं कि प्रथम छः मास प्रस्फुट प्रकाश, उसके बाद चार मास अन्धकार, उसके बाद फिर दो मास प्रकाश दक्षिणायन के शेष चार मास के अन्धकार को समझाने के लिए ब्राह्मण में हेमन्त-शिशिर का 'समास' (ऐ. १।१)। याग अथवा यज्ञ के समय अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता दक्षिणायन और उत्तरायण का अभिनय करते हैं (तैस. ६।५।३।४)।

१. श. ४।३।१।१२, १३।

२. ऐब्रा. २।२९।

३. तु. ऐउ. १।१।४, २।४; ऋ. 'अन्तश् चरति रोचनाऽस्य प्राणद् अपानती' – भीतर ही भीतर विचरण कर रही हैं ज्योतिर्मयी (सार्पराज्ञी) इनके (सूर्य के) प्राण (तु. प्र. १।८) अथवा प्रश्वास से अपान अथवा निःश्वास लेते हुए ऋ. १०।१८९।२। यह 'रोचना' वह सूर्यरश्मि है, जो 'सीमा को विदीर्ण करके' हमारे भीतर अनुप्रविष्ट होकर एक बार कुण्डलित फिर विस्फारित होती है (द्र. ऐउ. १।३।१२-१४)। सार्पराज्ञी के इस 'अपानन' के फलस्वरूप प्राण आकर मर्त्य आधार में प्रविष्ट होता है, मृत्युग्रस्त होकर। और भी द्र.टी. १२६९(२)।

के वाञ्छित पात्र के वर्णन में यही सङ्केत प्राप्त होता है।[१४६४] प्रत्येक मास के अधिष्ठातृ देवता एक-एक ऋतु के साथ ऋत्विकों के पात्र से सोमपान करते आए हैं।[१] किन्तु द्रविणोदा सभी ऋतुओं के साथ पान करते हैं – लगता है समस्त काल उनके भीतर सिमट आया है; वे काल के भीतर रहकर भी कालातीत हैं – वे महाकाल हैं, वे पशुपति हैं।[२] उनका सोमपान अद्भुत है। उन्होंने होतृगण के होता के पात्र से, ब्रह्मगण के पोता के पात्र से एवं अध्वर्युगण के नेष्टा के पात्र से सोमपान किया है। तब भी 'द्रविणोदाः पिपीषति'[३] – उनकी प्यास जैसे बुझने वाली नहीं। इस बार उन्होंने अपना 'तुरीय' पात्र उठा लिया,

---

१४६४. ऋ. 'अपाद् धोत्राद् उत पोत्राद् अमत्तोत नेष्ट्राद् अजुषत प्रयो हितम्, तुरीयं पात्रम् अमृक्तम् अमर्त्यं द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः' – पान किया होत्र से और पोत्र से (पान करके) गत्त हुए, और नेष्ट्र से आस्वादन किया जिस प्रीति का (उपचार) वह निहित थी उनके लिए; (इस बार) जो तुरीयू पात्र अस्पृष्ट (अथवा सुडौल, सुपुष्ट) एवं अमर्त्य, वह द्रविणोदा पान करें द्रविणोदा के पुत्र होकर २।३७।४। देवता और ऋत्विक् दोनों ही द्रविणोदा (द्र. टी. १४५३(२)) उपास्य-उपासक के सायुज्य में अमृतत्व।

१. द्र. ऋतुपात्रों के नाम टी. १४६०(२)। द्रविणोदा को छोड़कर और सब देवता पान करते हैं 'ऋतुना'। केवल १।१५।५ इन्द्र को कहा जा रहा है 'पिबा सोमम् ऋतूँर् अनु' एवं इसके अनुरूप मन्त्र २।३६।५ में ऋतु का उल्लेख नहीं। बहुवचन का प्रयोग इन्द्र और द्रविणोदा का समत्व सूचित करता है (द्र. टीका के अन्त में)। किन्तु प्रैष मन्त्र में एकवचन ही है।

२. अनुरूप भावना, भागवत २०।२९।१ में है। रास की रात्रि 'शारदोत्फुल्लमल्लिका', किन्तु मल्लिका ग्रीष्म का फूल। यहाँ भी सभी ऋतुओं का समाहार। दक्षिणायन में रात्रि का प्राधान्य, किन्तु रात्रि भी वहाँ प्रकाशमयी हो गई है। द्रविणोदा के समय किन्तु रात के अँधेरे के ऊपर जोर दिया गया है। उनकी अन्तरावृत्तिवा अन्तर्मुखता का निगूढ़ उल्लास ही रास है। शतपथ ब्राह्मण में इस चातुर्मास्य को 'पावश' कहा गया है (४।३।१।१२) इसलिए उसके देवता 'पशुपति' जो वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता में रुद्र का नाम (१६।१७) है। कृष्ण भी 'गोपाल' (विष्णु 'गोपाः')। दोनों देवता जैसे एक-दूसरे के पूरक।

३. ऋ. १।१५।९।

जो अस्पृष्ट एवं अमृत हैं।[४] यह 'इन्द्रपान' स्वयं उनके द्वारा मिश्रित, इसका याज्या मन्त्र वे स्वयं ही पढ़ेंगे।[५] वे आत्मयाजी और स्वराट् हैं। और उसी स्वाराज्य सिद्धि के फलस्वरूप ही दक्षिणायन के गहरे अँधेरे को चीरकर मनुष्य के भीतर[६] अश्विद्वय के शरमुख प्रकाश का अभियान शुरू होता है, जिसका, पर्यवसान मित्रावरुण के अनिबाध, आनन्त्य की दीप्ति में होता है। ऐसे ही द्रविणोदा के 'सह:' एवं 'तप:'[७] संवत्सर के आवरण को हटाकर हमें सुवर्ग के अमृत लोक में उत्तीर्ण करता है।[८]

---

४. २।३७।४ (द्र. सा., नि. ८।२)।

५. तथा प्रैषमन्त्र: होता यक्षद् देवं द्रविणोदाम, अपाद धोत्राद अपात् पोत्राद् अपान नेष्ट्रात्, तुरीयं पात्रम् इन्द्रपानं देवो द्रविणोद: 'पिबतु' द्राविणोदस:, स्वयम् आयुया: स्वयम् अभिगूर्या: (तु. ऋ. २।३७।३), स्वयम् अभिगूर्तया होत्राय ऋतुभि: सोमस्य पिबत्व् अच्छावाक् यज (५।७।५।१०, द्र. नि. वही दुर्ग)।

६. द्र. श. ४।३।१।१०-३०।

७. इस चातुर्मास्य में ऋतु के अनुसार महीनों के नाम 'सह: सहस्य तप: तपस्य' – अन्तश्चेतना में अग्नि शिखा का द्योतक।

८. ऋतु सूक्त की यह व्याख्या अध्यात्म एवं अधिदैवत दृष्टि से। अधियज्ञ दृष्टि से भावना में कुछ विलक्षणता है। ऋक् संहिता एवं प्रैषाध्याय में मन्त्र का विन्यास उसी के अनुसार है। वहाँ सूक्त का आरम्भ इन्द्र से किया गया है अश्विद्वय से नहीं। यदि सूक्त का प्रथम मन्त्र संवत्सर के आरम्भ की सूचना देता है, तो फिर मधुमास के देवता इन्द्र होते हैं, और अश्विद्वय एवं गार्हपत्य अग्नि दक्षिणायन के अन्त में चले जाते हैं और द्रविणोदा दक्षिणायन के आरम्भ में। इससे इन्द्र का प्राधान्य सूचित होता है। लक्षणीय है कि ऋतु-सूक्त के देवताओं में इन्द्र दो बार, अग्नि भी दो बार, द्रविणोदा चार बार और सभी एक बार हैं। अब द्रविणोदा यदि इन्द्र होते हैं, तो फिर ऋतुयाग में उनका प्राधान्य होता है। यह क्रौष्टुकि का मत है। उसी प्रकार द्रविणोदा के अग्नि होने पर उनका प्राधान्य होता है। यह शाकपूणि का मत है। इस विकल्प का उल्लेख पहले ही किया गया है (टीमू. १४५३-५४)। एक के अनुसार कालजय की साधना इन्द्र द्वारा शुरु करनी होगी और एक के अनुसार अग्नि द्वारा। किन्तु वस्तुत: इन्द्रग्नि

द्रविणोदा के बाद अग्नि **वैश्वानर**। पार्थिव चेतना की यज्ञ वेदी में जातवेदा रूप में जिनका प्रथम आविर्भाव होता है, उनका ही परम विस्फारण वैश्वानर रूप में द्युलोक के अग्रभाग में होता हैं। जातवेदा एवं वैश्वानर को लेकर अग्नि-विभूति के एक प्रत्याहार के बारे में पहले ही बतला चुके हैं। इह और अमुत्र अर्थात् इहलोक और परलोक के बीच अग्नि ही पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। उसके कारण ही ऋक् संहिता के वैश्वानर सूक्तों में जातवेदा एवं वैश्वानर इन दो संज्ञाओं के प्रयोग में दोनों के व्यतिषङ्ग या आपसी सम्बन्ध का भाव स्पष्ट रूप से विकसित हुआ है। अध्वर के प्रथम प्रज्ञान होकर भी जातवेदा जिस प्रकार विश्वभुवन के मूर्द्धा पर दमक रहे हैं,[१४६५] उसी प्रकार वैश्वानर भी ऋतजात होकर पृथिवी का पथ पार करके चलते-चलते द्युलोक के मस्तक पर आरोहण कर रहे हैं[१] अर्थात् बीज

युग्म देवता। इसके बाद ही ऐन्द्राग्न ग्रह-प्रचार के उपलक्ष्य में तैत्तिरीय संहिता का मन्तव्य: 'सुवर्गाय वा एते लोकाय गृह्यन्ते यद् ऋतुग्रहा:; ज्योतिर् इन्द्राग्नी: यद् ऐन्द्राग्नम् ऋतुपात्रेण गृह्णाति, ज्योतिर् एवा स्मा उपरिष्टाद् दधाति सुवर्गस्य लोकस्य अनुख्यात्या (प्रकट करने के लिए) औजोभृतौ वा एतौ, देवानां यद् इन्द्राग्नी; यद् ऐद्राग्नो गृह्यत, ओज एवाव रुन्धे ६।५।४।१।'.....तैस. में जहाँ ऋतु के अनुसार मास का उल्लेख है, वहाँ सायण मधुमास चैत्रमास बतलाते हैं। तो फिर उस समय उत्तरायणप्रवृत्ति चैत्र में होती है। इस समय पौष के आरम्भ में होती है। मास स्थिर रहते हैं, किन्तु अयन-चलन के लिए ऋतु क्रमश: पिछड़ जाती है। दो हजार वर्ष में एक मास पीछे रह जाती है। सायण का निर्देश सही होने पर यह प्राय: छ: हजार वर्ष पूर्व की बात है। चैत्र में वासन्त-विषुव नहीं, बल्कि उत्तरायण प्रवृति ही ग्रहण करना होगा – क्योंकि वसन्त उस कारण ही ऋतुमुख या वर्षशिर है।

१४६५. द्र. ऋ. वैश्वानर सूक्त में : 'दिवश् चित् ते बृहतो जातवे दो वैश्वानर प्ररिरिचे महित्वम्' – हे जातवेदा, हे वैश्वानर, (उस) बृहत् द्युलोक को भी पार कर गई है तुम्हारी महिमा १।५९।५; यज् जातवेदो भुवनस्य मूर्धन् अतिष्ठो अग्ने सह रोचनेन १०।८८।५, तु. टी. १३२२(३)।

१. 'मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरम् ऋत आ जातम् अग्नि कवि सम्राजम् अतिथिं जनानाम् आसन्न आ पात्रं जनयन्त देवा:' – मूर्धा हैं जो

रूप में जो अवम हैं, आधार हैं, वे ही फल रूप में परम है, पुनः फल रूप में जो परम हैं, वे ही बीज रूप में अवम हैं।[२]

वैश्वानर शब्द के मूल में 'विश्वानर' है। पाणिनि के अनुसार यह एक संज्ञा शब्द है।[१४६६] जिस प्रकार 'विश्वदेव' अथवा समस्त देवताओं का समाहार[१] - उसी प्रकार 'विश्वानर' या सभी मनुष्यों का समाहार है — जो तन्त्र के दिव्यौघ और मानवौघ का स्मरण दिला देता है। ऋक् संहिता में 'विश्वानर' दो स्थानों पर सविता का विशेषण है और एक स्थान पर इन्द्र का।[२] एक और स्थान पर इन्द्र को 'विश्वानरस्य....पतिम्' कहा जा रहा है — यहाँ 'विश्वानर' स्पष्ट रूप से विश्वमानव के अर्थ में प्रयुक्त है।[३] देवता ही सब कुछ हुए हैं; इस लिए विश्वमानव उनके ही प्रतिरूप हैं — इस दृष्टि से वे भी

द्युलोक के, पथिक हैं जो पृथिवी के, ऋत से उत्पन्न (उस) वैश्वानर अग्नि को, कवि, सम्राट् एवं जनगण के (उस) अतिथि को जन्म दिया है देवताओं ने — (जिनके) मुख में (उनका) सोमपात्र ६।७।१। देवाविष्ट ऋतच्छन्द कर्म द्वारा वे देवताओं के पान पात्र रूप में इस पृथिवी में ही उत्पन्न होते हैं, बार-बार द्युलोक में आरोहण करते है (तु. ३।२।१२, टी. १३२३(३); वैश्वानरो महिना नाकम् अस्पृशत् ६।८।२ किन्तु ऋक् के आरम्भ में उनके आविर्भाव का उल्लेख परम व्योम में है)।

२. ल. वैश्वानर सूक्त में जातवेदा का समावेश ३।२।८, ४।५।११, १२, द्र. टी. १४६६।

१४६६. ६।३।१२९।

१. ऋक् संहिता में यह विशेषणः वायु का १।१४२।१२, इन्द्र का ८।९८।२, बृहस्पति का ४।५०।६ (पिता के रूप में), सविता का ५।८२।७, सूर्य का, ६।६७।६, सोम का ९।९२।३, १०३।४, देवगण का ६।३५।११। 'विश्वदेवः' जिस प्रकार समूह है उसी प्रकार विश्वे देवाः व्यूह है — एक समाहार है, दूसरा इतरेतर (एक दूसरे के साथ) है।

२. १।१८६।१, उद उ ज्योतिर् अमृतं विश्व जन्यम् (विश्वजनीन) विश्वानरः सविता देव अश्रेत् (आश्रय लिया; सविता सब के भीतर हैं, सभी उनके प्रतिरूप, यही ध्वनि है) ७।७६।१; १०।५०।१।

३. ८।६८।४।

'विश्वानर'।[४] सविता द्युस्थानीय देवता हैं और इन्द्र अन्तरिक्ष स्थानीय देवता हैं; पृथिवी स्थानीय देवता अग्नि (अथवा जीवचेतना) दोनों के ही अपत्य अथवा विभूति हो सकते हैं। इसलिए वे 'वैश्वानर' अर्थात् सावित्र द्युति अथवा ऐन्द्रशक्ति हैं। यास्क के अनुसार अनुमान किया जा सकता है कि सर्वभूत में अनुप्रविष्ट जो एक देवता हैं, वे ही 'विश्वानर' हैं; उनसे ही 'वैश्वानर'।[५] यही वैश्वानर की निदान-कथा है, जिससे वे हुए हैं अर्थात् हम सब के भीतर उतर आए हैं, किन्तु वे जो हुए हैं उनकी उस महिमा की गाथा ही संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद् में विस्तारपूर्वक वर्णित है।

निघण्टु में 'वैश्वानर' पद को अग्नि नाम के अन्तर्गत विन्यस्त किए जाने पर भी,[१४६७] प्राचीन आचार्यों ने वैश्वानर के स्वरूप के सम्बन्ध में द्रविणोदा की तरह ही, कुछ विचार-विमर्श किया है। निरुक्त में उसकी एक व्याख्या प्राप्त है।[१] किसी-किसी नैरुक्त आचार्य के मत में, वैश्वानर 'मध्यम' अन्तरिक्ष स्थानीयदेवता हैं अर्थात् वे इन्द्र, वायु अथवा विद्युत् हैं; क्योंकि उनकी प्रशस्ति में वर्षकर्म या वृष्टिपात

---

४. तु. इन्द्र के सम्बन्ध में : अर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे १०।५०।१; अनुरूप त्वष्टा 'विश्वरूप' ३।५५।१९; (१०।१०।५), १।१३।१०, सोम ६।४१।३, त्वाष्ट्र २।११।१९, १०।८।९ बृहस्पति ३।६२।६, परमदेवता ३।३८।४; ५६।३।

५. अपि वा विश्वानर एव स्यात् प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि, तस्य (अपत्यं) (दुर्ग) 'वैश्वानरः' ७।२१। निरुक्त की और भी दो व्युत्पत्ति वहाँ हैं — 'विश्वान् नरान् नयति, विश्व एनं नराः नयन्तीति वा।' वहाँ दुर्गः 'यथा पञ्चाग्नि विद्यायाम् उच्यते: अपि वा सति तस्मिन् सर्वाः प्रवृत्तयः फलवत्यो नराणां भवन्ती ति हेतु कर्तृत्वेन सर्वासु प्रवृत्तिष्व् अयम् एव नरान् नयति प्रवर्तयती ति वैश्वानरः ......अथवा स नीयमानस् तासु क्रियास्व् अङ्गभावं नरैः कर्म सम्पद्यते।' यह व्युत्पत्ति शब्द शास्त्रज्ञों द्वारा अनुमोदित न होने पर भी अर्थवह होने के कारण प्रणिधेय है।

१४६७. निघ. ५।१। निघण्टु के इस खण्ड में मात्र तीन नाम हैं — अग्नि जातवेदा एवं वैश्वानर। अग्नि के अन्यान्य नाम अगले खण्ड में है। इस विभाजन से भी, समझ में आता है कि जातवेदा अग्नि की विभूति का आदि है एवं वैश्वानर अन्त है। दोनों के मिलने से एक प्रत्याहार।

१. नि. ७।२१-३१।

का उल्लेख है।[२] इसके अलावा प्राचीन याज्ञिकों की दृष्टि में वैश्वानर द्युस्थानीय आदित्य हैं। अन्यान्य कारणों में उनका एक प्रधान कारण है कि सोमयाग के तीन सवन में क्रमानुसार पृथिवी से अन्तरिक्ष होते हुए द्युलोक में उत्तीर्ण होने की भावना है, उसको 'रोह' कहते हैं। उसके विपरीत क्रम में 'प्रत्यवरोह' है; जिसका तात्पर्य है कि द्युलोक में पलायन कर जाने से हमारा काम नहीं चलेगा, पुनः इस पृथिवी पर उतर आना होगा। इस प्रत्यवरोह की अनुकृति में होता जिस अग्निमारुत शस्त्र का पाठ करते हैं, उसके पूर्व ही वैश्वानर सूक्त है।[३] उसके बाद रुद्र सूक्त में मध्यस्थान देवता की प्रशस्ति है[४], उसके बाद अग्निमारुत सूक्त।[५] अतएव प्रत्यवरोह क्रम के हेतुवश वैश्वानर यहाँ अवश्य ही आदित्य हैं।.....किन्तु शाकपूणि अनेक युक्तियों द्वारा इस उभय पक्ष का खण्डन करते हुए कहते हैं कि मध्यस्थान विद्युत् अथवा द्युस्थान आदित्य – यही दो ज्योति हैं; वे ही विश्वानर हैं।[६] उनसे उत्पन्न होने के कारण यह पृथिवी स्थानीय अग्नि ही वैश्वानर हैं। उन्होंने आदित्य से अग्निजनन का जो विवरण दिया है, उससे उस युग में आतशी काच अथवा चकमक या आतशी पत्थर का चलन था, उसका सन्धान प्राप्त होता है।[७]

---

२. द्र. ऋ. प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते, वैश्वानरो दस्युम् अग्निर जघन्वाँ (हत्या की है) अधुनोत् काष्ठा (वृष्टि की धाराओं को) अव (नीचे की ओर गिराया) शम्बरं (मेघ को) (अर्थात् वेध करके पानी बरसाया) १।५९।६। यह व्याख्या निरुक्त की है (७।२३ पूर्व पक्ष) 'काष्ठा' < काश् 'दीप्ति देना', 'चमकना' इसमें वर्षण और विद्युत् की ध्वनि है। आधुनिक व्याख्या में वृत्र और दस्यु शम्बरवध का चित्रण।

३. ऋ. ३।३ सूक्त।

४. २।३३ सूक्त।

५. ६।४८ सूक्त।

६. विद्युत नाड़ी सञ्चारी चैतन्यस्रोत का प्रतीक है और आदित्य प्रज्ञान का। अध्यात्म दृष्टि से आधार, में दोनों का जो ताप है, वही अग्नि है। इसी रूप में सभी मनुष्यों के भीतर होने के कारण वे वैश्वानर हैं।

७. निरुक्त – 'अथा दित्यात्, उदीत्ति प्रथम समावृत्ते आदित्ये कंसं वा मणिं वा परिमृज्य' ('यम् आदित्यमणिम् इत्य् आचक्षते' दुर्ग) प्रतिस्वरे (धूप में,

ऋक् संहिता में वैश्वानर से सम्बन्धित विभिन्न ऋषियों द्वारा रचित तेरह सूक्त प्राप्त हैं।[१४६८] उसके अलावा विकीर्ण मन्त्रों में भी उनका उल्लेख है। 'वैश्वानर' सर्वत्र अग्नि का ही विशेषण है। केवल एक स्थान पर विश्वदेवगण को भी 'वैश्वानराः' कहा गया है।[१] सब के भीतर एक ही अग्नि का अधिष्ठान, अथवा आधार-भेद या विभूतिवैचित्र्य में विश्वदेवता का अधिष्ठान-वैदिक अद्वैतवाद की दृष्टि से एक ही बात है; क्योंकि 'एकोदेवः विश्वे देवाः' 'एकं सत्' का ही वैभव है – दोनों में कोई विरोध नहीं, प्रत्येक आधार में एक और अनेक का युग्म विलास हम सब का नित्य प्रत्यक्ष है। एक स्थान पर है, 'प्रवहमान पवमान (सोम) ने जन्म दिया द्युलोक की अद्भुत वज्रध्वनि जैसी वैश्वानर बृहत् ज्योति को;[२] वैश्वानर यहाँ ज्योति का विशेषण है।' यही 'बृहत्-ज्योति' उपनिषद् की ब्रह्मज्योति है। संहिता का 'बृहत्' और उपनिषद् का 'ब्रह्म' दोनों एक ही व्यञ्जना वहन करते हैं।[३] अतएव वैश्वानर यहाँ ब्रह्म की संज्ञा या नाम है। इस प्रकार हमने वैश्वानर के तीन साधारण परिचय प्राप्त किए – अर्थात् वे अग्नि हैं, वे विश्वदेवता हैं, वे ब्रह्मज्योति हैं। इन तीनों की औपनिषद् संज्ञा आत्म चैतन्य, विश्वचैतन्य और ब्रह्म चैतन्य है।

सूर्य की ओर) **यत्र शष्कगोमयम्** असंस्पशयन् धारयति, तत् प्रदीप्यते; सो अयम् एव सम्पद्यते। ७।२३।१०।

१४६८. नोधा १।५९, कुत्स् १।९८, विश्वामित्र ३।२, ३, २६, वामदेव ४।५, भरद्वाज ६।७-९, वसिष्ठ ७।५, ६, १३, मूर्धन्वान् १०।८८।

१. ये देवास इह स्थन (हो) विश्वे वैश्वनरा उत, अस्वभ्यं शर्भ सप्रथो गवे अश्वाय यच्छत ८।३०।४। 'गो' और 'अश्व' क्रमशः प्रज्ञा और प्राण के प्रतीक। तु. 'विश्वे देवा वैश्वानराः' मा. ११।५८।

२. ऋ. पवमानो अजीजनद् दिवश् चित्रं न तन्य तुम्, ज्योतिर् वैश्वानरं बृहत् ९।६१।१६। ज्योति के साथ नाद का सहचार लक्षणीय। यही नाद 'मध्यमा वाक्' अथवा प्रजापति के तीन 'द' (बृ. ५।२); संहिता में बृहस्पति का 'स्तनित' अथवा 'सिंहनाद' जो प्रस्तर-प्राचीर को तोड़कर ज्योति को मुक्ति प्रदान करता है (तु. ऋ. १०।६७।५, ९)।

३. द्र. टीमू. ११७४....।

एक ही अग्नि नाना रूपों में प्रज्वलित हुए हैं।[१४६९] हमने देखा कि वे कभी 'जातवेदा:' कभी 'रक्षोहा', और कभी द्रविणोदा हैं; फिर आगे चलकर हम देखेंगे कि वे 'तनूनपात्', 'नराशंस' अथवा 'अपांनपात्' हैं, किन्तु ये सब एक वैश्वानर के ही विभूति-भेद से अनेक नाम हैं। इसलिए संहिता में कहा जा रहा है – 'हे वैश्वानर! अन्य सब अग्नि तुम्हारी ही शाखा हैं';[१] वैश्वानर ही उन सब अग्नियों में ज्येष्ठ हैं।[२] शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार भी वैश्वानर ही समस्त अग्नि।[३] तथा छान्दोग्योपनिषद् में वैश्वानर को प्रत्यगात्मा एवं विश्वात्मा दोनों ही कहा गया है।[४]

जो स्वरूप, गुण और कर्म अग्नि का है, स्वभावत: वही वैश्वानर का भी है। तब भी उनकी भावना का एक वैशिष्ट्य है। संहिता की विवृति में पहले ही उनकी लोकोत्तर उत्तुङ्गता की ओर दृष्टि जाती है। अग्नि पृथिवी स्थानीयदेवता हैं। यहाँ देह के अरणिमन्थन द्वारा समिद्ध होकर वे द्युलोक की ओर उत्-शिख होते हैं। किन्तु वैश्वानर स्वरूपत: परम व्योम में नित्य अविर्भूत हैं।[१४७०] अथ च

१४६९. तु. ऋ. ८।५८।२, टी. १२३०(१)।
१. वया इद् अग्ने अग्नयस् ते अन्ये १।५९।१।
२. शौ. वैश्वानर ज्येष्ठेभ्यस् तेभ्यो अग्निभ्यो हुतम् अस्त्व् एतत् ३।२१।६।
३. ६।२।१।३५, ३६........।
४. ५।११।२४।
१४७०. ऋ. स जायमान: परमे व्योमनि व्रतान्य अग्निर् व्रतपा अरक्षत, व्य् अन्तरिक्षम् अमिमीत (आच्छादित कर लिया) सुक्रतुर वैश्वानरो महिना नाकम् अस्पृशत् (६।८।२; यहाँ 'व्रतपा' रूप में परमव्योम से उनका उतर आना, फिर यहाँ से विशोक लोक में उत्तीर्ण होना – दोनों का ही उद्देश्य)। ७।५।७, दिवियोनि: १०।८८।७ (द्र. टी. १२९०), 'मातु: पदे परमे अन्ति यद् गोर् वृष्ण: शोचिष: प्रयतस्य जिह्वा' – परम पद में (पृश्निरूपिणी) गो-माता के सन्निहित (थनों की ओर बढ़ रही है) वीर्यवर्षी देवता की प्रसारित ज्वाला की जिह्वा (४।५।१०; 'पृश्नि' मरुद्गण की माता, ब्रह्मसंस्पर्श का प्रतीक, उनका थन अमृत का निर्झर; उसी अमृत की तृष्णा में वैश्वानर की शिखा यहाँ से उठकर परमपद में अपने उत्स में जाती है)।

वे त्रिषधस्थ हैं तीनों भुवन में ही अवस्थित हैं।[१] वे द्युलोक के मस्तक हैं, पृथिवी की नाभि हैं और दोनों के बीच अन्तरिक्ष के नित्य पथिक हैं।[२] उनकी सर्वव्यापी दीप्ति ने छुआ है। द्युलोक को, छुआ है भूलोक को,[३] आपूरित किया है रोदसी का अन्तराल।[४] सङ्क्षेप में वे ही विश्वभुवन की नाभि हैं,[५] स्थित हैं उसके मूर्द्धा या मस्तक में भी।[६] केवल वही नहीं, वे विश्व रूप हैं – उनके ही मूर्द्धा में विश्वभुवन और प्राण की सात धाराएँ प्ररूढ़ हुई हैं शाखाओं की तरह विश्वभुवन चारों ओर उनका ही विपुल विस्तार है।[७]

१. ६।८।७; द्र. टी. १२२५(२), १२९०(१), १३५६(५)।
२. १।५९।२, द्र. टी. १३४८(१); तु. अन्तर् दूतो रोदसी दस्म ईयते ३।३।२, केतुं दिवो रोचनस्थाम्, उषर्बुधम् अग्नि मूर्धानं दिव: २।१४, ६।७।१ (टी. १४६४(१))।
३. तु. पृष्टो दिवि पृष्टो अग्नि: पृथिव्यां पृष्टो विश्वा ओषधीर् आ विवेश, वैश्वानर: सहसा पृष्टो अग्नि: (१।९८।२; 'पृष्ट' < √स्पृश् तु. दिवि स्पृशन्ति भानव: १।३६।३, शौ. दिवि पृष्ट: २।२।२ स्पर्श किये हैं, और भी तु. 'पृश्नि') ऋ. पृष्टो दिवि धाय्य् (निहित्) अग्नि: पृथिव्याम् ७।५।२, स्वर्विदि दिविस्पृशि १०।८८।१।
४. स रोचयज् जनुषा रोदसी उभे ३।२।२, आ रोदसी अपृणद् आ स्वर् महत् ७, ३।३।१०, ७।१३।२ (जातवेदा का उल्लेख लक्ष्णीय) १०।८८।३।
५. वैश्वानर नाभिर् 'असि' क्षितीनां स्थूणे व जनाँ उपमिष्द् (स्तम्भ की तरह जनसाधरण को टेक देकर, सहारा देकर सँभाल कर रखा है; तु. शौ. स्कम्भ ब्रह्म) ऋ. १।५९।१।
६. १०।८८।५, ६, टी. १३२२(३), १२३३(८), १३३१।
७. 'वैश्वानरस्य विमितानि चक्षसा सानूनि दिवो अमृतस्य केतुना, तस्ये. द. उ विश्वा भुवनाधि मूर्धानि वया इव रुरुहु: सप्त विस्रुह:' – वैश्वानर के चक्षु छाए हुए हैं द्युलोक की सानुओं (अधित्यकाओं) के अमृत के निशान के रूप में अथवा निदर्शन होकर, उनकी ही मूर्धा में है निखिल भुवन, शाखाओं की तरह निकली हुई हैं सात धाराएँ (६।७।६; **विस्रुह्** 'स्रोत, धारा' नि. ६।३ तु. प्रसर्स्रणो (फैल जाती है) अनु बर्हिर् वृषा शिशुर मध्ये युवा जरो, विस्रुहा (सा. 'ओषधीनां मध्ये' अर्थात् नाड़ी तन्त्र

पुनः वे विश्वरूप होकर ही 'विश्वकृत' हैं[१४७१] उन्होंने अपने 'अभिक्रन्द' द्वारा ही विश्व को रचा है।[१] स्थावर-जङ्गम सभी उनकी कृति हैं[२] – वे सहस्ररेता वृषभ हैं[३] और ऊपर-नीचे निखिल विश्व में अस्थिर तत्पर होकर अपना बीज निषिक्त करते हुए गतिशील हैं।[४] यही उनका 'विश्वकर्मा' अथवा प्रजापति रूप है।

वैश्वानर जिस प्रकार सर्वदेवमय हैं[१४७२] उसी प्रकार वे ही विश्वमानव हैं।[१] इस मर्त्य आधार में वे ही अमृतज्योति के रूप में

में) हितः ५।४४।३); ७, टी. १३१४(२); १।५९।५, टी. १४६४; तु. छा. वैश्वानरं ५।११-१८।

१४७१. शौ. अग्निः प्राप्त सवने पात्व अस्मान् वैश्वानरः विश्वकृद विश्वशम्भुः ६।४७।१; तु. ऋ. 'विश्वकर्मा' १०।८१-८२ सूक्त, १०।८२।२ (टी. १२७५)।

१. 'त्वं भुवना अनयन्न अभिक्रन् अपत्याय जातवेदो दशस्यन' – तुम भुवनों को जन्म देते हो, उनके कारण निनाद करके अपने अपत्य (सन्तान) को हे जातवेदो प्रदान करते हो (स्वयं को) ७।५।७। वैश्वानर का यही अभिक्रन्द अन्यत्र 'व्याहति' तु. वाक् द्वारा 'सलिल का तक्षण' एवं उससे 'अक्षर का क्षरण' (१।१६४।४१-४२), तन्त्र का नाद।

२. 'स पतत्री त्वरं (जो उड़ता है, चलता है) स्था जगद् यच् च्छ्वात्रम्' (अनायास, 'क्षिप्रम्' सा.) अग्निर् अकृणोज् जातवेदाः १०।८८।४। उनका जन्म और विश्वभुवन की कृति (निर्माण साथ-साथ इसलिए कि वे ही विश्वभुवन हैं।)

३. ४।५।३।

४. ३।३।१०, टी. १३२१(८)

१४७२. तु. ऋ. विश्वदेवव्यम् ३।२।५ (अग्नि का विशेषण १।१४८।९, बृहस्पति का ३।६२।४, पूषा का १०।९२।१३, सोम का १।११०।१); तु. येने मा विश्वा भुवनास्य् आभृता विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता (विश्वदेवमयेन सूर्येण) १०।१७०।४। विश्वे देव के लिए, अथवा 'विश्वेदेवमय' दोनों ही अर्थ सम्भव। प्रथम अर्थ में 'जो विश्वेदेव की ओर लिए जा रहे हैं; यो विश्वेषाम् अमृता नाम् उपस्थे ७।५।१; त्वे विश्वे अमृता मादयन्ते १।५९।१।'

ध्रुवपद पर विराजमान हैं, दृष्टि के सामने प्रकट होंगे, इसलिए स्वयं को ध्रुवज्योति के रूप में स्थापित कर रखा है।[२] यहाँ आविर्भूत होकर ही वे विश्वसाक्षी हैं, यहाँ से उनकी ज्योतिमहिमा लोकोत्तर में उत्सृप्त होती है[३] अर्थात् वैश्वानर की दीप्ति का विकीर्णन सर्वत्र यहाँ से ही होता है।

मनुष्य के साथ उनका सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। वे उनके राजा हैं, वे विश्वपति हैं[१४७३] वे मनुष्य की उत्सर्ग-साधना के केन्द्र हैं[१] और अग्रया बुद्धि के नियन्ता हैं[२] – वे ही भावविह्वल चेतना में परमदेवता के रूप में आविर्भूत होते हैं।[३] इसी आधार में नित्य जाग्रत[४]

---

१. तु. वैश्वानरो महिम्ना विश्वकृष्टिः १।५९।७, दमूनसम्....विश्वचर्षणिम... मनुर्हितम ३।२।१५।

२. ६।९।४-५, टी. ११६०(१)।

३. इतो जातो विश्वम् इदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण १।९८।१ (तु. ५।४।४) यहाँ शाकपूणि का मन्तव्यः 'न च पुमर् आत्मना त्मा संयतते' (प्रतिस्पर्धी होता है); अन्येनैवान्यः संयतते, इत इमम् आदधाति, अमुतोऽमुष्यः रश्मयः प्रादर्भवन्ति इते। अस्यार्चिषः तयोर् भासोः संसङ्ग दृष्टैवम् अवक्ष्यत् नि. ७।२१; अतएव सूर्य और वैश्वानर पृथक् हैं। ऋक् का भावार्थ है – वैश्वानर की दीप्ति सूर्य के समान है अर्थात् विश्वव्यापी आत्म चैतन्य की दीप्ति 'रवितुल्य' है, तु. (श्वे. ५।८), ७।१३।३।

१४७३. ऋ. १।५९।५, ९८।१, ६।८।४, ९।१; ३।२।१०, ३।८।

१. नाभिं यज्ञानाम् ६।७।२।

२. यंतारं धीनाम् ३।३।२।

३. असुरो विपश्चिताम् ३।३।४। **विपश्चित्-निघ.** 'मनश्चित्' 'विपश्चित्' मेधावी (३।१५) अर्थात् तत्त्ववेत्ताः तु. मनीषिणे मेधिरासो विपश्चितः ८।४३।१९, पतङ्गम् अक्तं असुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः १०।१७७।१ (टी. १३३२(६)) ८।१।४, ६५।९, ९।१६।८। यहाँ भी यही अर्थ। किन्तु ऋक् संहिता में देवताओं के बारे में ही अधिक प्रयुक्त है – विशेष रूप से सोम के विशेषण के रूप में जो अतल की आनन्दधारा है। (तु. ९।१२।३, २२।३, ३३।१, ८६।३६, ४४, ९६।२२, १०१।१२)। अतएव कहा जा सकता है कि देवता का विशेषण ही ऋत्विक् में उपचरित हुआ है। देवता का सायुज्य प्राप्त करने के कारण हृदय के प्रत्येक कम्पन

वे वृत्र के अवरोध को तोड़ते हैं, शम्बर के मायाजाल को[५] छिन्न-भिन्न कर देते हैं, श्रद्धा रहित, उत्सर्गहीन कार्पण्य की ग्रन्थि को विदीर्ण करते हैं,[६] अवरुद्ध प्राण की धारा को मुक्त करते हैं और चिदाकाश में तिमिर विदारक उषा की ज्योति प्रकट करते हैं।[७]

अतएव विशेष रूप से हम उनको आर्यों की ज्योति कहते हैं[१४७४] वे ही आधार से दस्युओं को विताड़ित करके आर्यों के[१] लिए विपुल ज्योति प्रदान करते हैं, विश्व चेतना की अनिबाध अनन्तता[२] को उजागर करते हैं, बृहस्पति रूप में मनुष्य को परमदेवता के सायुज्य में

(विप) को जो जानते हैं, वे 'विपश्चित्' हैं। उनकी ऊर्ध्वस्रोता चेतना बार-बार वैश्वानर की वारुणी चेतना में मिल जाती है। असुर वैश्वानर का वर्णन द्र. छा. ५।१५।

४. ऋ. ३।२।१२ (टी. १३२३(३)), ३।७।

५. १।५९।६ (द्र. टी. १४६६(२))।

६. ७।६।३ (टी. १२००(२))।

७. विश्वस्मा अग्नि भुवनाय देवा वैश्वानरम् केतुम् (पताका) अह्नाम् अकृण्वन्, आ यस् ततानोषसो विभातीर् अपो ऊर्णोति (अपावृत करते हैं, हटा देते हैं) तमो अर्चिषा यन् (जाते-जाते) १०।८८।१२, वैश्वानर सूर्य रूप में; तु. 'अन्तर्विद् अकृणोज्ज्योतिषा तमः' अन्तरालस्थित अन्धकार को ज्योति द्वारा दूर किया ६।८।३, ९।१, 'यो देह्यो अनमयद् वधस्नैर यो अर्य पत्नीर् उषसश् चकार' – जिन्होंने प्रहरण द्वारा (प्रहार से) दीवारों को झुका दिया और ऊषाओं को ईश्वर-पत्नी बनाया (७।६।५) **देही** – घेर, परिधि, दीवार, तु. इन्द्रः .... शम्बरस्य, वि नवतिः नव च देह्यो हन् ६।४७।२; **अविद्या के निन्नानबे आवरण** तु.वेदान्त में 'कोश'; वैश्वानर ने तमिस्रा के आवरण को चीरकर प्रातिभ संवित् की अरुणिमा को प्रकट किया, उसे प्रज्ञान के सूर्य के साथ युक्त किया।

१४७४. ऋ. १।५९।२, टी. १३४८(१)।

१. त्वं दस्यूँर ओकसो अग्न आज उरुज्योतिर जनयन्न आर्याय ७।५।६।

२. युधा देवेभ्यो वरिवश् चकर्थ १।५९।५।

उत्तीर्ण करते हैं[३] अर्थात् बृहस्पति होकर परम देवता के साथ मनुष्य का अभेद भाव अथवा परम सौम्य स्थापित करते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से कहा जाए तो हम अपने भीतर 'चित्ति' अथवा अन्तर्मुखी विवेक चेतना द्वारा वैश्वानर का आविष्करण करते हैं, यद्यपि उसके भी मूल में विश्व प्राण की प्रेषणा कार्य कर रही है।[१४७५] विप्र की सूक्ष्म दृष्टि के प्रकाश से आधार में उनकी महिमा का उन्मेष होता है।[१] कहा जा सकता है कि मन के विमर्श से शीर्ष में उनका आविर्भाव होता है अर्थात् वे साधक के सहस्रार में तेजोमय हो उठते हैं।[२] परमव्योम में ऋत के धाम में जो निगूढ़ रहस्य की ज्योति झिलमिला रही है, उसे वे जानते हैं।[३] उसी गुहाहित को वे

३. ३।२६।२, टी. १३३९(१), १३४४(४)।

१४७५. तु. ऋ. आ दूतो अग्निम् अभवद् विवस्वतो वैश्वानरं मातारिश्वा परावतः (बहुत दूर से) ६।८।४, आ यं दधे (हमारे भीतर) मातरिश्वा दिवि क्षयम् (द्युलोक जिनका वास) ३।२।१३।

१. द्र. टी. १३६०(३); तु. ३।२६।१, टी. १३१३(२)।

२. तु. द्वे समीची बिभृतश चरन्तं शीर्षतो जातं मनसा विमृष्टम्, स प्रत्यङ् विश्वा भुवनानि तस्थाव् अप्रयुच्छन् तरणिर् भ्राजमानः – दोनों अच्छी तरह मिलकर वहन करते हैं उनको, जब वे चलते रहते हैं; शीर्ष से उत्पन्न हुए हैं वे, मन के विभृष्ट, विवेचित होकर; वे विश्वभुवन के सामने खड़े हुए – अप्रमत्त, सब का अतिक्रमण करके, देदीप्यमान् होकर १०।८८।१६। वैश्वानर जब सूर्यरूप में मूर्द्धय चेतना में दीप्त होते हैं – उस समय का वर्णन है। 'द्वे' द्युलोक और भूलोक; वैश्वानर की दीप्ति से दोनों प्रकाशमान् हैं, दोनों में कोई विरोध नहीं। 'शीर्षतो जातम्' तु. ६।१६।१३, टी. १३४९; मु. 'शिरोव्रत' ३।२।१०।

३. तु. 'इदम् उत्यन् महिमहाम् अनीकम यद् उस्त्रिया सचत पूर्व्य गौः, ऋतस्य पदे अधि दीद्यानं गुहा रघुष्यद् रघुयद् विवेद' – यही वह महत् ज्योतिः पुञ्ज है महानों (बड़ो) का, जो आगे (चलते हैं)। और आलोकधेनु उनके साथ-साथ चलती हैं; ऋत के धाम में झिलमिला रही है जो गोपन (ज्योति) क्षिप्रस्यन्दी (क्षरणशील) और क्षिप्रगामी होकर, उसको उन्होंने प्राप्त किया ४।५।९। 'उस्त्रिया गौः' अथवा आलोक धेनु उषा हैं। 'उषर्भुत' अग्नि उनके वत्स हैं, वे उनके साथ-साथ चलते हैं। यह अग्नि पार्थिव

कवि-चेतना में मनीषा की दिव्य प्रभा से आलोकित करते हैं।[४] सप्तधा विच्छुरित उस बृहत् प्रगाढ़ ज्योति का गुरुभार लगता है साधक अब और वहन नहीं कर सकता।[५] जो उसने देखा है, जो जाना है और जिस ज्योति का द्वार खुल गया है उसके सामने, कैसे किसी को वह उपनी बात बतलाएगा?[६] लगता है इस रहस्य का ओर-छोर उसे नहीं

आधार में स्थित होने पर भी पुञ्जीभूत चित् शक्ति में 'रवितुल्यरूप' है। (तु. १।११५।१, श्वे. ८।५)। वे परमव्योम की उसी ज्योति की ओर चल पड़े एवं उसे प्राप्त भी किया। प्रातिभ संवित् (उषा), अभीप्सा की शिखर (अग्नि वैश्वानर) एवं प्रज्ञान (सूर्य) इन तीनों का समाहार।

४. ऋ. ४।५।३ टी. १३२०(७)।

५. इदं में अग्नि कियते पावका मिनते गुरुं भारं न मन्म, बृहद् दधाथ धृषता गभीरं यह्वं पृष्ठ प्रयसा सप्त धातु – हे अग्नि, हे पावक, मेरी शक्ति ही कितनी (तब भी तुम्हारा व्रत) लङ्घन नहीं किया; ऐसे मुझमें तुमने गुरुभार की तरह निहित किया है अपनी धर्षक (उत्पीड़क) प्रीति के साथ यह मनन – जो बृहत् है, गहरा है, जो दुर्दम्य है, सर्वव्यापी हैं, जिसके सात धाम हैं ४।५।६। 'मन्म' मनन, मन्त्र, कविहृदय का ज्योतिरुच्छ्वास। 'धृषता प्रयसा' देवता के प्रेम या अनुराग का वह आक्रमण जो हम सब को अभिभूत करता है। 'पृष्ठम्' < √स्पृश + थ (नि. ४।३।२) समतल भूमि का प्रतिक, जिस प्रकार 'नाकस्य पृष्ठम' यहाँ पृष्ठ भाग या पीठ की तरह व्याप्त। 'सप्तधातु', तु. 'विष्णु का सप्त धाम' (ऋ. १।२२।६) यज्ञ का (९।१०२।२), अग्नि का (४।७।५); मनन का सप्तधाम उसका ही अनुगत।

६. 'प्रवाच्य वचसः किमे अस्य गुहा हितम् उप् निर्णिग् वदन्ति, यद् उस्त्रियाणाम उप वार् इव व्रन पाति प्रियं रूपो अग्रं पदं वेः' – (सब से) क्या कहूँगा मैं उस बात को लेकर? वे जिस गुहाहित का (आभास) मुझसे चुप-चुप कह गए, तो क्या आलोक धेनुओं का (रहस्य) द्वार की तरह खोल दिया? वे रखवाली करते हैं पृथिवी के प्रिय (धाम) और पक्षी के परम पद की ४।५।८। 'अस्य वचसः' अग्नि जो बात मुझसे कह गए हैं, तु. ३ (टी. १३२०(७))। उस रहस्य को बाहर किसी के निकट प्रकट नहीं किया जाता। 'गुहा हितम्' तु. गोर अपगूलहं पदम् (३) अर्थात् परावाक् का रहस्य। अग्नि के उद्दीपन से ही वाक् का दर्शन एवं श्रवण,

मिला। अतः वह कातर दृष्टि से दूर दिगन्त की ओर निहारता रहता है कि कब अमृतमयी ज्योतिर्मयी ऊषाएँ सूर्य के प्रकाश से उसके आकाश को जगमग करेंगी?[७]

एक दिन वैश्वानर का आवेश उपासक की चेतना में पूर्ण सिद्ध होता है। उस दिन फिर देवता और मनुष्य में भेद नहीं रहता। तब ऋषि कण्ठ से यही ब्रह्मघोष ध्वनित होता है : 'मैं अग्नि हूँ, जन्म से ही सभी जातकों का वेत्ता हूँ – प्रदीप्त हैं मेरे चक्षु, अमृत है मेरे मुख में; अर्चि हूँ मैं तीनों धामों में – प्राणलोक को आच्छादित किए हूँ; मैं **अजस्र** दीप्ति हूँ, मैं ही हविः हूँ।[१४७६]' इस उक्ति में सर्वात्म भाव एवं

उसके बाद मन्त्र में उसका स्फुरण होता है। **निणिक्** – तु. 'निण्य' गोपन < निर् √नी > 'निर्णय' जिसे भीतर से बाहर लाया जाए। तो फिर निणिक् < निर् √नी + इज्, त्रि. विण. चुप चुप। 'वदन्ति' अग्निशिखाएँ, क्योंकि इसके पहले है 'अग्निः ... प्र .... वोचत्' (३)। उस्रियाणां (पदम्) तु. गोः पदम् (३)। अग्नि पृथिवी स्थान देवता हैं, इसलिए पृथिवी उनका 'प्रिय' धाम है। किन्तु वैश्वानर रूप में उनका ऊर्ध्वाभिसरण आलोक पाखी (ज्योति विहग) सूर्य के परम धाम की ओर। वे दोनों के ही 'पाता' अथवा रक्षक हैं।

७. 'का मर्यादा वयुना कद् ध वामम् अच्छा गमेम रघवो न वाजम्, कदा नो देवीर् अमृतस्य पत्नीः सूरोवर्णेन ततनन्न उषासः' – कहाँ है सीमा और पथ? उस प्यार का धन क्या है? जिसकी ओर भागूँगा, घोड़ा जैसे (भागता है) ओजः सम्पद की ओर? कब अमृत की दिव्य स्वामिनी उषाएँ सूर्य की छटा से हम सब को अच्छादित करेंगी? ४।५।१३। 'मर्यादा' सीमा; वस्तुतः 'उरौ अनि बाधे' हम सब के विहार, विचरण की कोई सीमा नहीं। 'वामम' < √ 'प्यार करना', अर्जन करना, चाहना और पाना दोनों ही काम्य धन। 'वाजम्' जयलब्ध सम्पत्ति के लिए संवेग और ओजस्विता की आवश्यकता। घुड़दौड़ की उपमा।

१४७६. ऋ. अग्निर् अस्मि जन्मना जातवेदा धृतं में चक्षुर अमृतं म आसन्, अर्कस् त्रिधातु रजसो विमानोऽजस्रो धर्मो हविर् अस्मि नाम ३।२६।७। सूक्त के अन्तिम तृच की पहली ऋचा का विनियोग अग्निचयन के समय सञ्चित अग्नि की प्रशस्ति में (आश्वलायन श्रौ. ४।८)। अग्नि चयन पुरुष सूक्त में उल्लिखित देवयज्ञ की अनुकृति है – मेरी आत्मा हुति से विश्व सृष्टि।

ब्रह्म-सायुज्य की भावना बहुत ही स्पष्ट है। 'ब्रह्म' प्रबुद्ध एवं परिव्याप्त काव्यचेतना में आविर्भूत दिव्या वाक् है तथा 'ब्रह्म' बृहत् की मन्त्र चेतना है। अग्नि-उपासक के हृदय में वैश्वानर इसी ब्रह्म का पथ उन्मुक्त कर देते हैं।[१] उल्लिखित मन्त्र में उसका ही उल्लास है।

वैश्वानर का यह व्यक्त रूप है। फिर वे अव्यक्त अँधेरे में भी हैं, उस अँधेरे के सामने भय से विश्वदेवता नत हो जाते हैं।[१४७७] ये वही 'महाविनाश' हैं, जिसमें विश्वभुवन की आहुति से सृष्टि का

अग्निवेदि विश्व का प्रतिरूप है, उसके भीतर मैं ही हिरण्यपुरुष के रूप में हूँ। इस दृष्टि से इस मन्त्र को ब्रह्म सायुज्य के बीज के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। कात्यायन के विचार से तृच के प्रथम दो मन्त्र आत्मस्तुति भी हो सकती है, अन्त का मन्त्र उपाध्याय अथवा आचार्य की स्तुति। सम्पूर्ण तृच में जीवन्मुक्त का वर्णन है - प्रथम दो मन्त्रों में उनका ब्रह्मघोष और अन्तिम मन्त्र में प्रशस्ति है। याज्ञिकों के मतानुसार प्रथम दोनों ऋचाओं के देवता अग्नि हैं। आध्यात्मिक दृष्टि सिद्धों की है और आधियाज्ञिक दृष्टि साधकों की है। 'घृतम्' इदानीम् अत्यन्तं दीप्तम् सा.। 'अमृतं म आसन' जिस प्रकार वे सर्वद्रष्टा हैं उसी प्रकार सर्वभोक्ता भी हैं। वे 'मध्वद' (तु. १।१६४।२२) अथवा 'पिप्पलाद' (२०) हैं अर्थात् अनुकूल अथवा प्रतिकूल जिस किसी भी अनुभव में 'अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष' रूप में अमृत का आस्वादन प्राप्त करते हैं; 'अर्कः' सा. 'प्राण' तु. शब्रा. १०।६।२।७, ४।१।२।३। 'अर्चिः' अतएव 'आग का सुर'। 'त्रिधातुः' प्रज्वलित हो रहे हैं इन तीन धामों में : पृथिवी में अग्नि रूप में, अन्तरिक्ष में विद्युत् रूप में और द्युलोक में सूर्य रूप में। 'धर्मः' दीप्ति, प्रकाशात्मा - सायण। 'हविः' - तु. भोक्त भोग्य भावेन द्विविधं ही दं जगत् एतावद् वा इदं सर्वम् अन्नं, चै. वान्नश् च सोम एवान्नम् अग्निर् आनन्द (बृ. १।४।६) इति श्रुतेः। मैं अग्नि हूँ, मैं ही हिवः हूँ। इसलिए मैं ही स्वयम् का भोग करता हूँ। यह सर्वात्म भाव ही अग्नि-चयन का परिणाम है।

१. तु. ऋ. वैश्वानर ब्रह्मणे विन्द गातुम् ७।१३।३।

१४७७. ऋ. विश्वे देवा अनमस्यन भियानास् त्वाम् अग्ने तमसि तस्थि वासम् ६।९।७। अग्नि गुहाहित हैं, अव्यक्त की तमिस्रा में अन्तर्गूढ़। ज्योति के देवता वहाँ जाने से डरते हैं। फिर विपरीत क्रम में तमिस्रा ही ज्योति का उत्स है।

निर्वाण या लय होता है।[१] वैश्वानर सृष्टि और प्रलय दोनों ही हैं - मातरिश्वा के रूप में वे जिस प्रकार सृष्टि के प्रथम स्पन्द हैं[२], उसी प्रकार वे महानिशा में संहृत भुवन की मूर्द्धन्य चेतना हैं।[३]

वैश्वानर की इस व्याख्या के साथ ऋक्संहिता के हिरण्यगर्भ, वाक्, विश्वकर्मा और पुरुष की व्याख्या तुलनीय है।[१४७८] सब ही उस एक भुवनेश्वर की वन्दना है, जिसे हम औपनिषद् 'पुरुष' के रूप में जानते हैं, जो भीतर-बाहर अवस्थित हैं और यह सब जो कुछ है, वे ही हुए हैं।

संहिता में वैश्वानर का यही परिचय प्राप्त होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक स्थानों पर उनका उल्लेख है। वहाँ बार-बार उनको संवत्सर रूप में प्रजापति कहा जा रहा है।[१४७९] द्रविणोदा अग्नि के प्रसङ्ग में संवत्सरव्यापी ऋतुचक्र का आवर्तन रहस्य इसके पूर्व आलोचित हुआ है। वसन्त में प्राण का उन्मेष और शिशिर में उसका निमेष होता है। ऋतुचक्र की इस पूरी परिक्रमा में हम काल के छन्द में प्रजापति के विश्वरूप का एक आवर्तन देखते हैं। संवत्सर बार-बार घूम-फिर कर आता है। उस एक ही विश्वरूप को बार-बार देखते हैं और उसके अनुध्यान में विश्वमूल प्राण के छन्द को आयत्त करके अध्यात्म चेतना का प्रसार करते हैं। ज्योतिर्विज्ञान की दृष्टि से यह वैदिक साधना की एक धारा है। इस विज्ञान के माध्यम से संवत्सर को प्राण के स्पन्दन के रूप में जानने पर ही सृष्टि के मूल को जाना जा सकता है। यज्ञ-रहस्य के साथ इस काल-विज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यज्ञ, चेतना का उत्तरायण अथवा ऊर्ध्वमुखी क्रमिक अभियान है, जो आदित्यायन के छन्द में छन्दित है। सृष्टि अथवा प्राजापत्य व्रत आदित्यायन की विभूति है। अतएव ब्राह्मण ग्रन्थों में 'प्रजापति',

---

१. यं देवासो अजनयन्ताग्नि यस्मिन्न् आजुहवुर भुवनानि १०।८८।९।

२. तु. ३।२६।२।

३. १०।८८।६।

१४७८. द्र. ऋ. १०।१२१, १२५, ८१-८२, ९० सूक्त।

१४७९. द्र. श. संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिः १।५।१।१६, ५।२।५।१४, ६।२।१।३६, ६।६।१।५, २०, ७।३।१।३५; ऐ. ३।४१; तै. १।७।२।५....।

'संवत्सर', 'यज्ञ' ये सब ही समानार्थक हैं। वहाँ वैश्वानर को संवत्सर प्रजापति कहे जाने पर हम उनको यज्ञेश्वर पुरुष के रूप में पाते हैं। अन्यत्र संवत्सर रूपी 'प्राण' एवं 'आयु'[१] कह कर भी उनका वर्णन किया गया है।[२] इसके अतिरिक्त द्युलोक की अग्नि को पृथिवी पर उतार लाने के कारण ब्राह्मणों के मतानुसार 'यह पृथिवी ही अग्नि वैश्वानर है, और वही प्रतिष्ठा है' अर्थात् यहाँ जो कुछ है, सब ही वैश्वानर है।[३]

ब्राह्मणों में आध्यात्मिक दृष्टि से वैश्वानर 'तनूपाः' अग्नि हैं।[१४८०] अग्नि का यही विशेषण ऋक् संहिता में भी है।[१] वे हमारे आधार के रक्षक हैं; उनका ताप ही हम सब का प्राण है, हमारी चेतना है। साधना की दृष्टि से वे 'शिवः' अर्थात् मूर्द्धन्य चेतना की दीप्ति हैं।[२] यहाँ ही अग्नि-सोम के मेल से शरीर योगाग्निमय होता है।[३] फिर यही अग्नि वैश्वानर हम सब के भीतर रहकर अन्न का परिपाक करते हैं।[४] अन्त में ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्राह्मण अथवा ग्रह्मवित् पुरुष को भी वैश्वानर कहा गया है।[५]

---

१. ४।२।४।१; ४।

२. तु. ऋ. 'मातरिश्वा' ।। 'वैश्वानर' ३।२६ २।

३. श. ३।८।५।४; तै. ३।८।६।२, ९।१७।३।

१४८०. श. ३।२।२।२३; तैआ. २।५।३।

१. साधारणतः ऋ. ८।७१।१३, १०।४६।१, ६९।४; वैश्वानर का विशेषण १०।८८।८।

२. श. ६।६।१।९, ९।३।१।७; 'शिरोव्रत'।

३. उसका सङ्केत, चित्त की एकाग्रता से आधार में ताप की उत्पत्ति एवं उसके साथ व्याप्ति भावना के फलस्वरूप स्निग्धता का अनुभव। दोनों के मिलने से दैह्य चेतना में अग्नि-सोम का युगलविलास।

४. तु. श. अयम् अग्निर् वैश्वानरो यो अयम् अन्तः पुरुषे, येनेदम् अन्नं पच्यते यद् इदम् अद्यते १४।८।१०।१ (बृ. ५।९।१)।

५. तैब्रा. २।१।४।५, ३।७।३।२।

छान्दोग्योपनिषद् में वैश्वानर विद्या का प्रसङ्ग है, जिसके बारे में पहले ही बतलाया गया है।[१४८१] यह प्रसङ्ग शतपथ ब्राह्मण में भी प्राप्त होता है। किन्तु दोनों की व्याख्या में कुछ अन्तर है। दोनों जगह विद्या के प्रवक्ता अश्वपति कैकेय हैं, लेकिन विद्यार्थियों में प्राचीनशाल औपमन्यव की जगह ब्राह्मण ग्रन्थ में महाशाख जाबाल हैं। ब्राह्मण का विवेचन बहुत कुछ सङ्क्षेप में है, वहाँ प्राणाग्नि होत्र का अनुशासन नहीं है। और फलश्रुति में है : 'यो वा एतं वैश्वानरं .... वेदा प पुनर्मृत्युं जयति सर्वम् आयुर् एति।' यह उपनिषद में नहीं है।

अग्नि का सङ्क्षिप्त परिचय यहाँ ही समाप्त हुआ।

६. आप्री देवगण

सामान्यतया देवताओं का परिचय देते हुए यास्क ने उनकी 'भक्ति' 'साहचर्य' एवं 'कर्म' के बारे में बात की है[१४८२]। निरुक्तकारों की दृष्टि में वस्तुतः तीन देवता – पृथिवी स्थानीयअग्नि, अन्तरिक्ष स्थानीय वायु या इन्द्र और द्युस्थानीय सूर्य हैं।[१] प्रत्येक देवता की भक्ति इत्यादि पृथक्-पृथक् है। उसमें अग्नि-भक्ति (विभाजन) इस प्रकार है: लोकों में पृथिवी, सोमयाग के तीन सवनों में प्रातः सवन, ऋतुओं में वसन्त, छन्दों में गायत्री, स्तोमों में त्रिवृत, सोम में रथन्तर, प्रथम स्थान में गिनाए गए देवगण एवं अग्नायी, पृथिवी और इला यही तीन स्त्री देवता है।[२] किन्तु यास्क ने विशेष रूप से जिस प्रकार अन्तरिक्ष स्थान एवं द्युस्थान देवगण का उल्लेख किया है[३], उस प्रकार पृथिवी स्थान देवगण का उल्लेख नहीं किया। दुर्ग अपनी व्याख्या में पृथिवी स्थान देवगण के 'आप्रयः, अक्षाः ग्रावाणः, अभीषवः' इत्यादि का उदाहरण देते हैं। इसमें आप्रीगण ही प्रधानतः देवतापद वाच्य हैं; अन्यत्र पार्थिव

१४८१. श. १०।६।१

१४८२. द्र. नि. ७।८-११। 'भक्ति' भजना (विभाजन) घनिष्ठ सम्बन्ध।

१. नि. ७।५।

२. नि. ७।८।२। 'स्तोम' द्र. वेमी. प्रथम खण्ड।

३. नि. ११।१३, १२।३५।

वस्तुओं में देवत्व का आरोप मात्र है वैदिक भावना में आप्री देवगण के महत्त्व की ओर दृष्टि रखकर कहा जा सकता है कि आप्री देवगण ही मुख्यतः पृथिवी स्थानीय देवगण हैं।[४] ऋग्वेद में आंप्रीदेवगण के सम्बन्ध में रचित आप्री सूक्तों को एक विशेष मर्यादा एवं स्थान प्राप्त है। ऋक् संहिता के विभिन्न मण्डलों में कुल दस आप्री सूक्त हैं। इनमें प्रत्येक सूक्त एक-एक ऋषि के वंश में प्रचलित था। जिसमें प्रथम मण्डल के तीन सूक्त क्रमशः मेधातिथि, दीर्घतमा एवं अगस्त्य के हैं; दशम मण्डल के दो सूक्त वाध्रयश्व सुमित्र और जमदग्नि के हैं; और बाकी पाँच सूक्त गृत्समद, विश्वामित्र, वसुश्रुत आत्रेय, वसिष्ठ एवं कश्यप, असित अथवा देवल के हैं[१४८३]। प्रत्येक यजमान के पक्ष में अपने-अपने गोत्र प्रवर्तक ऋषि के आप्री सूक्त का प्रयोग करना ही प्राचीन विधि है।[१] किन्तु आश्वलायन का कथन है कि गृत्समद एवं वसिष्ठ गोत्र के अतिरिक्त अन्य सभी जमदग्नि का आप्री सूक्त भी व्यवहार में ले सकते हैं। विशेषतया प्राजापत्य पशुयाग में यह सूक्त ही सार्वजनीन है।[२] यास्क ने भी आप्री सूक्त के प्रसङ्ग में इस सूक्त को ही आदर्श मानकर उसकी व्याख्या की है।[३]

---

४. द्र. टीमू. १२८७; नि. ७।८।२, तत्र दुर्ग; अद्दिष्ट संज्ञाओं में बहुवचन लक्षणीय।

१४८३. ऋ. सूक्त १।१३, १४२, १८८; १०।७०, ११०; २।३, ३।४, ५।५, ७।२, ९।५। ल. आर्षमण्डलों में वामदेव एवं भारद्वाज के दो मण्डलों में आप्री सूक्त नहीं है, क्यों? ९।१५ सूक्त में अग्नि पवमान सोम के साथ मिश्रित हैं; द्र.टी. १३५८(४)।

१. द्र. ऐब्रा. ताभिर् यथऋष्य आप्रीणीयाद्, यद् यथाऋष्य् आप्रीणाति यजमानम् एव तद् बन्धुतायानो त् सूजति २।४।

२. आश्व लायन श्रौ. ३।२।५-७। द्र. ऐ ब्रा. 'स' (साग्निचित्य द्वादशाह यागे) पुरस्ताद् दीक्षायाः प्राजापत्यं पशुम् आलभते।..... तस्या. क्रियो जामदग्न्यो भवन्ति। तद् आ्हुर् यद् अन्येषु पशुष यथऋष्य् आप्रियो भवन्त्य् अथ कस्माद् अंस्मिन् सर्वेषां जामदग्न्य एवेति। सर्वरूपा वै जामदग्न्यः सर्व समृद्धाः ४।२६; तु. श ब्रा. १३।२।२।१४।

३. नि. ८।५-२१।

दो सूक्तों को छोड़कर प्रत्येक सूक्त में ग्यारह ऋक् के अलग-अलग देवता हैं और वे सब क्रमबद्ध हैं। क्रमानुसार उनके नाम इस प्रकार हैं :- १. समिद्ध, २. नराशंसः अथवा तनूनपात ३. इलः, ४. बर्हिः, ५. देवीर् द्वारः, ६. उषासानक्ता, ७. दैव्यो होतारौ प्रचेतसौ, ८. सरस्वतीला-भारत्यः, ९. त्वष्टा, १०. वनस्पतिः, ११. स्वाहाकृतयः। द्वितीय देवता के लिए विकल्प है। मेधातिथि और दीर्घतमा के आप्री सूक्त में नराशंस और तूननपात् इन दो देवताओं के लिए ही एक-एक मन्त्र है; जिसके कारण प्रथम सूक्त में बारह एवं दूसरे में अन्त के एक ऐन्द्री ऋक् को लेकर तेरह मन्त्र हैं।[१४८४] उसी प्रकार से प्रैषिक सूक्तों में भी बारह मन्त्र हैं। वसिष्ठ, आत्रेय, वाध्रयस्व और गृत्समद के आप्री सूक्तों के द्वितीय देवता केवल नराशंस हैं, बाकी चार के आप्री सूक्त में केवल तनूनपात् हैं।[१]

'आप्री' संज्ञा की ये तीन व्युत्पत्तियाँ हैं – ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार आप्री 'याज्या' अथवा याग के मन्त्र हैं। इन सब मन्त्रों का पाठ करके देवता को प्रीत करने, सन्तुष्ट करने के कारण इनकी संज्ञा 'आप्री' है। ये तेज एवं 'ब्रह्मवर्चस्' अथवा बृहत् की भावनाजनित दीप्ति हैं।[१४८५] शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि 'पूरे मन से अथवा

१४८४. मन्त्र सङ्ख्या बारह होने पर उसका तात्पर्य विश्वात्म-भावना से है। तु. अग्निचयन के प्रसिद्ध में श ब्रा. 'द्वादशा. प्रियः। द्वादश मासाः संवत्सरः। संवत्सरो अग्निः। ... द्वादशाक्षरा जगती; इयं वै जगती, अस्यां हीदं सर्व जगत्, इयम् उ वा अग्निः। .... जगती सर्वाणि छन्दासि, सर्वाणि छन्दांसि प्रजापतिः, प्रजापतिर् अग्नि' ६।२।१।२८-३०। इन्द्र ज्योतिर्मय विश्वप्राण के साथ नित्य युक्त शुद्ध मन के देवता हैं। पशुयाग प्राण को ऊर्ध्वायित या उदात्त करने की साधना है। इसलिए उसमें इन्द्र की प्रमुखता का होना स्वाभाविक है। यजु. संहिता के अनेक आप्री सूक्तों में वही है।

१. नि. ८।२२।१२

१४८५. ऐ ब्रा. आप्रीभिर् आप्रीणाति (तु. ऋ. प्रीणन् वृषा कनिक्रदत् ९।५।१; यह आप्री सूक्त का है)। ऐ ब्रा. तेजो वै। ते जो वै ब्रह्म वर्चसम् आप्रियः २।४।१ श ब्रा. 'तद् यद् आप्रीभिश् चरन्ति, सर्वेणेव वा एष मनसा सर्वेणवात्मेना यज्ञं सम्भरति सं च जिहीर्षति यो दीक्षते। तस्य रिरिचान इवा. त्मा भवति। तम् एताभिर् आप्रीभिर् आप्याययन्ति। तद् यद् आप्याययन्ति,

आत्मा से जो यज्ञ का आयोजन करता है और स्वयं को सङ्कुचित कर लेना या समेट लेना चाहता है, तो सम्भवतः वह यज्ञ में दीक्षित होता है। उसकी आत्मा लगता है रिक्त हो जाती है। तब इन आप्री मन्त्रों से उस आत्मा को आप्यायित किए जाने के कारण ही उनकी संज्ञा या नाम आप्री है।' अन्त में यास्क की व्युत्पत्ति के अनुसार 'आप् (पाना) या प्री (प्रीत करना) धातु से' आप्री संज्ञा हुई।[१] वस्तुतः

तस्माद आप्रियो नाम' २।८।१।१। किन्तु काण्वशाखा का पाठ है – 'स यद् एताभिर आप्रीभिः पुनर् आप्यायत एताभिर एनम् आप्नोणाति, तस्माद् आप्रियो नाम।' तु. जेन्द afrinaiti। श ब्रा. की व्युत्पत्ति आक्षरिक नहीं बल्कि निगूढ़ तात्पर्य के बोध को उजागर करती है। इस प्रकार को व्युत्पादन अध्यात्म शास्त्र की एक सुपरिचित पद्धति है। ये भावना के सहायक हैं, शब्दविज्ञान के नियम द्वारा इन पर विचार करने से काम नहीं चलता। शतपथ ब्राह्मण के अनुसारः– 'यजमान् के रिक्त आत्मा का आप्यायन अथवा आपूरण आप्रीसूक्त द्वारा होता है; क्योंकि ये सारे सूत्तु प्राण की मन्त्रमाला हैं, इसलिए उन की ऋक् संख्या ग्यारह है। और आत्मा का बहिप्रकाश प्राण में है।'

१. नि. 'आप्रियः कस्मात्? आप्नोतः प्रीणातेर् वा' ८।४। इसके बाद यास्क ने ऐतरेय ब्राह्मण के कथन का उल्लेख किया है। आप् धातु से व्युत्पत्ति को कोई प्रमाण उन्होंने नहीं दिया। किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्य में सायण शखान्तर के कथन का उद्धरण देते हैं, 'आप्रीभिर् आप्नुवन्, तद् आप्रीणाम् आप्रीत्वम्' (तै ब्रा. २।२।८।६)। ऋक् संहिता में 'आप्री' शब्द नहीं है, किन्तु एक स्थान पर है 'आप्रस्थ वक्यनि' (१।१३२।२)। सायण ने उसका अर्थ दिया है 'आपनशीलस्य इतस् ततो व्याप्तस्य शूरस्य' ; ळमसकदमत कहते है जिस प्रकार 'गायत्री ।। गायत्र'. उसी प्रकार 'आप्री ।। ओप्र' अर्थ, प्रीतिसाधक यजमान का बोधक है। अनुक्रमणिका में 'आप्री' एवं 'आप्र' दोनों ही संज्ञाएँ हैं (१।१३)। देवताओं की प्रशस्ति को जिस प्रकार 'शंस' कहा जाता है, उसी प्रकार उनकी प्रीतिसाधक मन्त्रमाला को भी 'आप्री' कहा जा सकता है। इसलिए ऐतरेय ब्राह्मण की व्युत्पत्ति ही सङ्गत है (द्र. शां ब्रा. १०।३; तु श ब्रा. ३।८।१।२, ६।२।१।२८, ३१, ११।८।३।५, १३।२।२।१४; ता ब्रा. १५।८।२, १६।५।२३)।

आप्री ऋक् का विशेषण है एवं उसी से देवता का भी विशेषण है।[२] यास्क ने इस संज्ञा का दोनों अर्थों में प्रयोग किया है।[३]

आप्री सूक्त के देवता यज्ञाङ्ग हैं, न कि अग्नि, इसे लेकर यास्क ने सम्प्रदायगत मतभेदों का उल्लेख किया है। कात्थक्य का कथन है कि 'इध्म वस्तुतः यज्ञ का इन्धन है; 'तनूनपात्' आज्य है अर्थात् तनू गाय है, उसके दूध से आज्य होने के कारण वह उसका नाती हुआ; 'नराशंस' यज्ञ का ही एक और नाम है, क्योंकि सारे नर उसमें आसीन होकर देवता का शंसन करते हैं अथवा प्रशस्ति-पाठ करते हैं; 'द्वारः' यज्ञगृह का द्वार है; 'वनस्पति' यूप इत्यादि है। किन्तु शाकपूणि का कथन है कि इन सबसे ही अग्नि का बोध होता है।[१४८६] इस मतभेद के भीतर परवर्ती युग के कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में विरोध का आभास मिलता है। वेदार्थ मीमांसा में रहस्य प्रस्थान और उपनिषत्-प्रस्थान के बीच सूक्ष्म भेद का भी मूल यहीं है। यास्क निश्चित रूप से शाकपूणि के मत का समर्थन करते हैं।

आप्री सूक्त के मन्त्रों का विनियोग पशुयाग के प्रयाज में होता है यह पहले ही बतलाया जा चुका है।[१४८७] अतः आप्री देवगण पशुयाग के प्रयाज के देवता हैं। पशुयाग दो प्रकार के होते हैं। एक स्वतन्त्र है, उसका नाम 'निरूढ़ पशुबन्ध' है; और कई तो सोमयाग का अङ्ग होने के कारण 'सौमिक' कहलाते हैं।[१] निरूढ़ पशुबन्ध आहिताग्नि को आजीवन प्रतिवर्ष एक बार करना ही होता है। इसके अतिरिक्त दो बार भी किया जाता है अथवा छः बार भी किया जाता है। एक बार करने के लिए वर्षा काल में श्रावण अथवा भाद्र की अमावस्या अथवा पूर्णिमा में करना चाहिए; दो बार करने के लिए दक्षिणायन एवं

---

२. तु. नि. दुर्गः 'आप्रिय ' ऋचः, तत् सम्बन्धात् देवता अपि।' ..... ऋचस् तावत् आप्नुवन्ति प्रीणन्ति वा देवता इति आप्रिय। अथ पुनर् देवता आप्यन्ते आप्रीयन्ते वा इत्य आप्रियः ८।४।२।

३. नि. ८।४।१, २१।३, २२।१३।

१४८६. द्र. नि. ८।५, ६।१०, १४, १७।

१४८७. द्र. टी. १४२०।

१. आश्वलायन श्रौ. ३।८।३-४

उत्तरायण के आरम्भ में करना पड़ता है और छः बार करने के लिए प्रत्येक ऋतु में करना होता है। पशु प्राण का प्रतीक है। पशुयाग को संवत्सर के ऋतुचक्र के साथ बाँध देने का तात्पर्य ऋतच्छन्दा विश्वप्राण की अनुकूलता को आत्मोन्नयन के कार्य में लगाना है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है, 'पुरुष के भीतर दश प्राण हैं और एकादश आत्मा, जिसमें सारे प्राण प्रतिष्ठित हैं। यही सम्पूर्ण अखण्ड पुरुष है। इस प्रकार उसकी समस्त आत्मा को आप्यायित किया जाता है। उसी से प्रयाज ग्यारह हुए।[२]' इसलिए पशुयाग प्राणोपासना का ही नामान्तर है एवं आप्रीसूक्त का भी वही तात्पर्य है।[३]

इन ग्यारह प्रयाजों में प्रथम दश में हव्य आज्य है और अन्तिम प्रयाज का हव्य पशु की 'वपा' (चरबी) अथवा नाभि के पास का **मेद** है। नाभि अग्नि का स्थान है एवं वपा सहज-दाह्य है - यही संकेत अनुधावन योग्य है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार प्रश्न होगा 'कि कौन-कौन देवता स्वाहाकृति हैं? उत्तर होगा विश्वदेवगण (अर्थात् विश्व की समष्टि चित्शक्ति)। .... यह वपाहुति ही अमृताहुति है ..... एवं अध्यात्मशक्ति के रूप में अशरीरा है ..... इसलिए वपाहुति से सम्पूर्ण यजमान को संस्कृत शोधित करके देवयोनिरूप अग्नि में आहुति दी जाती है ... और उसके कारण यजमान समस्त आहुति के परिणाम स्वरूप हिरण्य शरीर होकर ऊपर स्वर्गलोक में चले जाते हैं।[१४८८]' यहाँ पशु वस्तुतः यजमान का निष्क्रय या रक्षा शुल्क है;

---

२. श ब्रा. दश वा इमे पुरुषे प्राणाः आत्मै. कादशो अस्मिन् एते प्राणा प्रतिष्ठिताः। एतावान् वै पुरुषः। तद् अस्य सर्वम् आत्मानम् – आप्यन्ति। तस्माद् एकादश प्रयाजा भवन्ति (पशुयाग में) ३।८।१।३।

३. 'यजमानो वा एष निदानेन (सूक्ष्मदृष्टि निरूपणेन सा.) यत् पशुः (पशुना स्वात्मानो निष्क्रीतत्वात् पशोर यजमानत्वम्)। अनेन ज्योतिषा (पशोः पुरतो नीयमानोल्मुकेन) यजमानः पुरो ज्योतिः स्वर्गं लोकम् एति' २।११। इस पुरोज्योति के साथ तु. उपनिषद् का 'हार्दप्रद्योत' बृ. ४।४।२। द्र. टी १४८७।

१४८८. ऐ ब्रा. 'तद् आहुः, को देवता स्वाहाकृतय इति। विश्वे देवा इति क्रयात्।.... . सा वा एषा. मृताहुतिर एव यद् वपाहुतिः। अमृताहुतिर् अग्न्याहुतिः (आतिथ्यकर्मसु मथितस्याग्नेर आहवनीयाग्नौ प्रक्षेप रूपो सा.), अमृताहुतिर् आज्याहुतिः, अमृताहुतिः सोमाहुतिः। एता वा अशरीरा आहुतयः। या वै

अर्थात् स्वयं को प्रत्यक्षतः आहुति न दे सकने के कारण प्रतिनिधि रूप में पशु की आहुति देना।[१] इसलिए पशुबलि, आत्मबलि का ही नामान्तर है, द्रव्ययज्ञ, ज्ञानयज्ञ का प्रतीकमात्र है।

वैदिक यज्ञ में पशुबलि का कर्म अधिक मात्रा में था, यह धारणा सही नहीं है। आहिताग्नि का अवश्यकरणीय निरूढ़पशुबन्ध वर्ष में अधिक से अधिक छः बार करना सम्भव था और उसमें केवल एक पशु की आवश्यकता होती थी। सोमयाग मे एकाधिक पशु की आवश्यकता होने पर भी उसकी सङ्ख्या निर्धारित थी, इच्छानुसार उसे बढ़ाने का उपाय नहीं था। इसके अतिरिक्त सोमयाग जटिल व्ययसाध्य क्रिया है, उसे सम्पन्न करना सब के लिए सम्भव भी नहीं होता । आश्वलायन कथित दोनों काम्य पशुयाग के सम्बन्ध में भी यही बात है।[१४८९] सब मिलाकर वैदिक यज्ञ में पशुवध के सम्बन्ध में ऐसा एक संयम था, लेकिन परवर्ती युग के रक्त-कर्दम में ही उसका अभाव दिखाई देता है।

प्रयाज और अनुयाज के देवताओं के साथ आप्री देवगण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए आप्रीदेवगण के प्रसङ्ग में इनका भी

काश् अशरीरा आहुतयः, अमृतत्वम् एव ताभिर् यजामानो ज्यति। .... स या वान् एव पुरुषस्, तावन्तं यजमानं संस्कृत्योग्नौ देवयोन्यां जुहोति। अग्निर् वै देवयोनिः सोऽग्नेर देवयोन्या आहुतिभ्यः सम्भूय हिरण्यशरीर ऊर्ध्वः स्वर्गं लोकम् एति' २।१३-१४। रक्त-मांस ही शरीर है, वह वपा अथवा रेतः नहीं।

१. द्र. टी. १४८६। यज्ञ की प्रतिष्ठा या संस्थापन निष्क्रयवाद् के ऊपर समस्त आहुति ही आत्माहुति का प्रतिनिधिस्थानीय। तु. ऐ ब्रा. 'सर्वोभ्यो वा एष देवताभ्य आत्मानम् आलभते, यो दीक्षते।.... स यद् अग्निषोमीयं पशुम् आलभते, सर्वाभ्य एव तद् देवताभ्यो यजमान आत्मानं निष्क्रीणेते' २।३ मरने के बाद शरीर को चिता की अग्नि में आहुति देना ही कहा जाए, तो यथार्थ आहुति है। वही 'अन्त्या इष्टि' है।

१४८९. द्र. श्रौ. ३।७।८; एक में पशु सङ्ख्या ग्यारह और एक में अठारह। काम्य पशुयाग के लिए द्र. तैस. २।१, तै ब्रा. २।८...।

स्वरूप क्या है? उसके बारे में यास्क ने कुद विवेचन किया है।[१४९०] ब्राह्मण के कथनानुसार उन्होंने दिखाया है कि दोनों याग के देवता कहीं छन्द, ऋतु अथवा पशु हैं और कहीं प्राण अथवा आत्मा। उनके अपने सिद्धान्त के अनुसार यहाँ के पोषण में जिस प्रकार ब्राह्मणोक्तवचन का उद्धरण दिया है, उसी प्रकार ऋक् संहिता से भी दिखाया है कि सौचीक अग्नि विश्वेदेवगण के निकट प्रयाज और अनुयाज इन दोनों याग के अधिकार की माँग करते हैं, देवता भी उनकी माँग को स्वीकार करते हुए कहते हैं 'तब प्रयाजा अनुयाजाश् च'। पहले ही हमने देखा है कि सौचीक अग्नि अजर-अमर तुरीय अग्नि है, प्राण समुद्र की अतलता में निहित दिव्य अभीप्सा का सिद्ध धर्म है। प्रयाज और अनुयाज उनके ही अधिकार में हैं अर्थात् समस्त यज्ञ ही उनका है – संहिता की यह उक्ति परम्पराक्रम से आप्रीदेवगण के आग्नेयत्व का ही समर्थन करती है।

यास्क के उल्लिखित विचार में यज्ञ रहस्य की एक और दिशा का सङ्केत मिलता है। प्रयाज और अनुयाज प्रधान याग के उपक्रम एवं उपसंहार हैं। इन दो भावनाओं की वेष्टनी में उत्सर्ग की मूल भावना जैसे सम्पुटित है। यह सम्पुट रचेंगे किससे ? छन्द द्वारा, कालचक्र के आवर्तन द्वारा अथवा इन्द्रिय शक्ति के ऊर्ध्वायन द्वारा – जिसका सङ्केत छन्दः, ज्योतिष एवं कल्प इन तीन वेदाङ्गों में है; या फिर आध्यात्मिक दृष्टि से मुख्य प्राण अथवा आत्मचैतन्य द्वारा रचेंगे। भावना का आधार जो भी क्यों न हो, सब कुछ को अभीप्सा की आग में तपाना होगा, यास्क के सिद्धान्त का यही तात्पर्य है।

एक और बात ध्यातव्य है कि आप्रीसूक्त का देवता अग्नि है एवं पशुयाग में उसका विनियोग होता है – इसकी व्यञ्जना गहरी है। पशु अमार्जित प्राण अथवा इन्द्रिय शक्ति का प्रतीक है। उसके भीतर अब आत्मचैतन्य की ताक झाँक शुरू हो गई है।[१४९१] प्रमत्त होने के

१४९०. नि. ८।८१-२२।

१४९१. 'पशु' < √पश् (देखना); तु. श ब्रा. अग्नि ने पशुओं के भीतर प्रवेश किया, तब 'प्रजापतिः..... तेषु (पशुसु) एतम् (अग्निम) अपश्यत, तस्माद् वे. वै.ते पशवः' ६।२।१।४। और भी तु. तो. 'इन्द्रियं वै वीर्यं रसः पशवः

बावजूद वह वश में करने और देवता का वहन होने के योग्य है। किन्तु इस योग्यता को सार्थक करने के लिए अग्नि में आत्महुति देकर उसको चिन्मय अथवा चैतन्य स्वरूप होना होगा। मेरा प्राण ही पशु है, मेरी ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा का नित्य दहन ही अग्नि है और मेरी आत्मा ही देवता है। तात्पर्य यह है कि हम सब का अमार्जित प्राण ही पशु है, हमारी ऊर्ध्वमुखी उत्कटअभिलाषा का त्रिकाल व्यापी दहन ही अग्नि है और आत्मा ही देवता हैं समिद्ध चेतना के संवेग में निकृष्ट प्राण की चिन्मय रूपान्तर पशुयाग का तात्पर्य है।

ये आप्रीसूक्त जिस प्राण के ऊर्ध्वायन अथवा उदात्ती करण की व्यञ्जना वहन कर रहे हैं[१४९२], वह इनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार से ग्यारह सङ्ख्या के प्रयोग से समझ में आता है। प्रथमतः सूक्त के देवताओं की सङ्ख्या ग्यारह है। प्रायः सब सूक्तों की ही सङ्ख्या ग्यारह है। ऋक् संहिता में आप्री सूक्त की सङ्ख्या दश है, किन्तु यास्क ने उसके साथ एक प्रैषिक आप्री सूक्त[१] जोड़ कर सूक्त सङ्ख्या ग्यारह कर दी है। ग्यारह की सङ्ख्या अन्तरिक्ष की भावना के साथ जुड़ी है – जैसे आठ सङ्ख्या पृथिवी की ओर बारह सङ्ख्या द्युलोक की है। अन्तरिक्ष प्राण लोक है क्योंकि वह वायु का सञ्चरणस्थान है[२]

१३।७।४; शं. प्रजापतिः..... प्राणेभ्य एवा. धिापशून् निरमिमीत, मनसः पुरुषं .... तस्माद् आहुः प्राणाः पशवश्च इति ७।५।२।६; तै ब्रा. प्राणाः ३।२।८।९, श. रौद्रा वै पशवः पशवः ६।३।२।७।' 'पशुः पश्यतेः' नि. ३।१६। अन्य व्युत्पत्ति - < √पश् 'बन्धने', तु. पाश। आधुनिक व्युत्पत्तिः IE 'pek' - wool Lat. pecu 'animal'.

१४९२. शां. ब्रा. प्राणा वा आप्रिय : १८।१२।

१. नि. ८।२२।१३; द्र. ऋ. खिल ५।७ (प्रैषाध्याय) १, मैसं ४।१३।२, कासं १५।१३, तैब्रा. ३।६।२, ऐब्रा. २।४; तु. मा. २१, २९, ३०, ३३, ३४।

२. तु. शं. सह हैवे. माव अग्ने लोकाव आसतुः। तयोर् वियतोर योऽन्तरेणा. काश आसीत, तद् अन्तरीक्षम अभवत् ७।१।२।२३, अन्तरिक्ष वा अपां सधस्थम् ५।२।५६. जै उ. 'य एवायं पवते (वायुः), एतद् एवान्तरिक्षम' १।२०।२।

एवं वायु प्राण है।[३] शतपथ ब्राह्मण में प्राणवृत्ति की सङ्ख्या आत्मा को लेकर ग्यारह है;[४] बृहदारण्यकोपनिषद् में एकादश रुद्र को अध्यात्म दृष्टि से एकादश प्राण कहा गया है।[५] रुद्रगण अन्तरिक्ष स्थानीयदेवता हैं।

आप्रासूक्तों में अभीप्सा की आग समिद्ध करने से शुरू करके स्वाहाकृति में विश्वदेवता के निकट चरम आत्मनिवेदन एक परिपूर्ण चित्र प्राप्त होता है।[१४९३]

यास्क के निश्चित सिद्धान्त के अनुसार प्रथम आप्री देवता का नाम **इध्म** है।[१४९४] किन्तु संहिता में उनका नाम 'समिद्ध' है। इस नाम का कहीं स्पष्ट उल्लेख न होने पर मन्त्र में 'समिध्' शब्द के प्रयोग द्वारा उसे द्योतित किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के मत से 'समिध्' देवता और याग दोनों का ही नाम है।[१] कात्थक्य की दृष्टि में 'यज्ञेध्म' अथवा यज्ञकाष्ठ, उसे पहले ही बतला चुके हैं ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि 'समस्त प्राण ही समिध्, यह जो कुछ है सब प्राण ही

---

३. तु. शं. प्राणा उ वा वायुः ८।४।१।८; ऐ. वायुः हि प्राणः २।२६, ३।२; ता. ४।६।८, कौ. ५८, १३।५ .....।

४. श.३।८।१३।

५. ३।९।४।

१४९३. आप्री सूक्त अन्यान्य संहिताओं में भी है : द्र. मा. २०।३६-४६, ५५।६६, २१।१२-२२, २९-४०, २७।११-२२, २८।१-११, (१२-२२) २४-३४, २९।१-११, २५-३६; तैंसं. ४।१।८।१-१२, १८। भ्नह कहते हैं वेद का 'आप्री' और अवेस्ता का afringan मूलतः एक।

१४९४. निः 'तासाम् इध्मः प्रथमगामी भवति'; व्युत्पत्ति देते हुए कहते हैं, 'इध्मः समिन्धनात्' ८।४। ऋक् संहिता में 'इध्म' से सर्वत्र इन्धन का बोध होता है। अनुक्रमाणिका में 'इध्म' एवं 'समिद्ध' दोनों सज्ञाएँ ही है।

१. तु. ऐब्रा. 'समिधो यजति' २।४; तत्र सायण 'समिन्नामक' देवतात्वाद् यागोऽपि समिध इत्य. नेन शब्देनोच्यते। समिन्नामकं यागं कुर्याद् इत्यर्थः। यद् वा हौत्र प्रंकरणत्वात् समिद् देवताविषयां याज्यां पठेद् इत्यर्थः।'

प्रज्वल कर रहा है। इसलिए(इस मन्त्र पाठ द्वारा होता) प्राणों को ही प्रीत करते हैं और यजमान में प्राणध्यान करते हैं।'[२]

समिद्ध अग्नि के मन्त्र में उत्सर्ग-भावना का प्रथम सोपान प्राप्त होता है। ब्रह्म-भावना की अथवा बृहत् होने की जो आकूति हम सब के भीतर प्रच्छन्न अथवा अस्पष्ट है, ज्वालामयी अभीप्सा में उसके प्रज्वलित हो जाने से ही आधार में अग्नि समिद्ध हुए।[१४९५] उसे ही ऐतरेय ब्राह्मण में उपासक के भीतर प्राण प्रतिष्ठा की क्रिया कहा गया है। उपनिषद् में भी कहा गया है कि अपनी देह को ही अधरारणि और प्रणव को उत्तरारणि करके ध्याननिर्मन्थन के अभ्यास द्वारा निगूढ़, रहस्यमय देवता को इसी आधार में उजागर करना होगा?[१]

अग्नि का जो सामान्य धर्म है, वही समिद्ध अग्नि का भी है। आप्री सूक्तों में उनके सामान्य धर्म के ज्ञापन के साथ-साथ कुछ-कुछ विशेष व्याख्या भी है, जो उपासक के मनन के उल्लास को समृद्ध करती है। वे यज्ञ के पहले आविर्भूत जातवेदा हैं,[१४९६] तब भी इस पार्थिव आधार में निहित रहकर ही विश्व भुवन में फैल जाते हैं।[१] उनका तेज पुञ्ज द्युलोक की उत्तुङ्गता का स्पर्श करता है और वहाँ से सूर्य के रश्मिजाल के साथ वे व्याप्त होते हैं।[२]

---

२. ऐब्रा. प्राणा वै समिधः। प्राणा हीदं सर्वं समिन्धते, यद् इदं किं च। प्राणान् एव प्रीणाति, प्राणान् यजमाने दधाति २।४।

१४९५. द्र. टीमू. १३५०, १३५६।

१. श्वे. १।१४।

१४९६. द्र. ऋ. ५।५।१

१. तु समिद्धो अग्निर् निहितः पृथिव्यां प्रत्यङ विश्वानि भुवनान्य अस्थात् २।३।१।

२. तु. 'उप स्पृश दिव्यं सानु स्तूपैः सं रश्मिभिः ततनऋ सूर्यस्थ' ७।२।१। यहाँ अग्नि एवं सूर्य का सायुज्य ध्वनित होता है। उपनिषद् में इे कहा गया है। कि 'यहाँ जो पुरुष है और जो पुरुष आदित्य में है, दोनों एक हैं' (तै. २।८, ई. १६)। उसकी ही दार्शनिक व्याख्या है – 'अयम् आत्मा ब्रह्म' (माण्डू. २)। 'सं ततनः' तु. तन्तुं तनुष्व (आतत करो) पूर्व्यम् १।१४२।१

उस समय वे सहस्रजित् हैं।[३]

माध्यन्दिन संहिता में इन्द्र के उपलक्ष्य में अनुष्ठित एक पशुयाग के आप्री सूक्त में कहा जा रहा है कि यह समिद्ध अग्नि गायत्री-छन्द एवं गो के डेढ़ वर्ष के बछड़े के साथ मिलकर इन्द्राविष्ट आधार में इन्द्रिय अथवा इन्द्रिय वीर्य एवं तारुण्य स्थापित करता है।[१४९७] गो ज्योति अथवा प्रज्ञा का प्रतीक है। पूरे सूक्त में उसके विचित्र अभ्युदय और रूपान्तर का वर्णन है।[१] ऐन्द्र पशुयाग में अन्य एक सूक्त का विनियोग भी है। वहाँ समिद्ध इत्यादि आप्रीदेवगण को इन्द्र के साथ मिलाकर दिया हुआ है।[२] अग्नि एवं इन्द्र का साहचर्य वेद में सुप्रसिद्ध है। साधना में अभीप्सा का संवेग वज्रवीर्य या दृढ़ शक्ति दोनों चाहिए। इसके अतिरिक्त एक ही चिद्विभूति रूप देवता 'सजोषाः' हैं। इसलिए सहज में ही एक की भावना में अपर की भावना का अनुप्रवेश हो सकता है। वैदिक अद्वैत दृष्टि के इस वैशिष्ट्य की बात का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। आप्रीदेव गण का पारस्परिक सम्बन्ध उसका एक सुन्दर निदर्शन है।

यज्ञ भूलोक से द्युलोक तक आतत् या विस्तृत एक 'तन्तु' अथवा वस्त्र १।१३०।१ टी. १३४४(१)।

३. १।१८८।१. तु. ५।२६।६, टी. १३५५(३)।

१४९७. द्र. मा. समिद्धो अग्निः समिधा सुसमिद्धो वरेण्यः गायत्री छन्द इन्द्रियं त्र्यविर् गौर वयो दधुः २१।१२ (तु. नैसं ३।११।११।१, काठक संहिता ३८।१०।१, तैब्रा. २।६।१८।१। 'वयः' अथवा तारुण्य आधान का उल्लेख होने के कारण नाम 'वायोधस' आप्री सूक्त।

१. 'वयः' किसके भीतर आधान? उब्बट और महीधर कहते हैं इन्द्र में, सायण कुछ कहते नहीं। सूक्त के ५, ६, ८, १० मन्त्रों में है 'इह' : व्याख्या में उब्बट - महीधर 'इन्द्र', सायण 'कर्मणि'। देवता का तारुण्य अन्त में यजमान में सञ्चारित होता है, वही यज्ञ को उद्देश्य है। 'अवि' छः महीने का बछड़ा, 'त्र्यवि' डेढ़ बरस का (महीधर और सायण)। तु. प्रैष सूक्त मा. २८।२४-३४।

२. २०। ३६-४६। तु. तीन प्रैषसूक्त मा. २१।२९-४०, २८।१-११, २८।२४-३४।

ऋक् संहिता के एक आप्री सूक्त की विवृति एवं विश्लेषण से आप्रीदेवगण का परिचय और भी स्पष्ट रूप में प्राप्त हो सकता है। उसके लिए ऋषि विश्वामित्र गाथिन का यह सूक्त यहाँ चुना गया है। उनके साथ हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनका ब्रह्मवीर्य भारत-जन का रक्षक है – यह उनकी अपनी ही उदात्त घोषणा है। हमारी नित्य उच्चार्य सावित्री ऋक् के वे ही प्रवक्ता हैं।

समिद्ध अग्नि के प्रति उनकी उक्ति है : 'समिध-समिध में सुमना हो कर प्रबुद्ध हो ओ हम सब के भीतर – शुक्र-शुचि (शिखा-शिखा में) तुम ज्योति का प्रसाद दो। हे ज्योतिर्मय ! जो सब ज्योतिष्मान् हैं, उन्हें (इस) यज्ञ साधना में लेकर आओ; सखाओं के सखा होकर – तुम सुमना हो – सिद्ध करो हे अग्नि[१४९८]।' – अपना सर्वस्व इन्धन रूप में हमने तुम को सौंप दिया है हे देवता ! उसे

१४९८. ऋ. समित् समित् सुमना बोध्य् अस्मे शुचाशुचा सुमतिं रासि वस्वः, आ देव देवान् यजथाय वक्षि सखा सखीन्त सुमना यक्ष्य अग्ने ३।४।१ समित् समित् (क्रिया विशेषण अथवा 'सभिधा-समिधा' समिद्ध इति शेषः तु. मा. २१।१२, ऋ. प्रैष १) प्रत्येक समिध में या जलते इन्धन में। अध्यात्म-दृष्टि से सब कुछ ही इन्धन है (तु. गीता ४।२३-३०)। भीतर यह आग जलाना ही साधना का प्रथन सोपान है। वही 'दीक्षा' है अर्थात् सब कुछ जला देने की, अग्नि प्रज्वलित करने की दीप्त अभीप्सा (<√दह + इच्छार्थ सन)। सुमनाः उनका प्रसाद सब से पहले चाहिए। हम सब के भीतर उनका सौमनस्य उपनिषद् की भाषा में 'धातु प्रसाद' अथवा 'सत्त्व शुद्धि' होकर विकसित होता है। दौर्मनस्य अन्यतम योग विघ्न (योग सूत्र १।३१)। 'वस्वः सुमतिम्' ज्योति का प्रसाद। प्रथम पाद में प्रार्थना , 'तुम प्रसन्न होओ' ; यहाँ 'वह प्रसाद हमें नित्य देते हो' – यह कृतज्ञ स्वीकृति है। तु. ऊर्ध्वो अग्निः सुमतिं वस्वो अश्रेत (आश्रय लिया) प्रतीची (आमने-सामने होकर) जूर्णिः (उनकी ज्वाला) देवतातिम् एति (देवात्मभाव में सम्पन्न' हो रही है। ७।३९।१ 'यजथाय' – 'यजथ' उत्सर्ग एवं भावना की साधना, जिस प्रकार 'उक्थ' वा 'उचथ' वाक् की, 'विदथ' विद्या की साधना है, बौद्ध 'शमथ' प्रशम की। 'सखा सखीन्' – आधार में समिद्ध अग्नि के साथ साध्व विश्वदेवगण का अथवा विश्वचेतना का सायुज्ये।

अपने स्पर्श से प्रज्वलित करके इस आधार में सुदीप्त-सौमनस्य विकसित करते हुए जागो। तुम्हारी शुभ्र-शुचि शिखाओं के अनघ उत्सर्पण में हम सब के अङ्ग-अङ्ग में ज्योति पसर रही है। हे चिन्मय! आज उत्सर्ग की साधना में विश्वदेवता का चिन्मय प्रकाश ले आओ। प्रसन्न हो ओ, हे तपोदेवता । सौषम्य के छन्द में छन्दित होकर हम सब के भीतर विश्वज्योति को मूर्त करो।

समिद्ध अग्नि के बाद द्वितीय आप्री देवता साधारणतः **तननपात;** कहीं कहीं नराशंस हैं विश्वामित्र के सूक्त में वे तनूनपात् हैं। इसलिए यहाँ उनका ही प्रसङ्ग प्रस्तुत है।

आप्री सूक्त के अतिरिक्त ऋक् संहिता में और दो स्थानों पर तनूनपात का उल्लेख है[१४९९], जिससे उनके परिचय का सुस्पष्ट सङ्केत प्राप्त होता है। उनके स्वरूप को लेकर मतभेद की बात पहले ही बतला चुके हैं। कात्थक्य कहते हैं 'तनूनपात् आज्य (घृत) है। यहाँ गो को तन कहा गया है, क्योंकि सारे भोग इसमें ही 'आतत' हैं। इससे ही दूध उत्पन्न होता है, और दूध से उत्पन्न होता है आज्य।' फिर शाकपूणि कहते हैं, 'तनूनपात् अग्नि हैं। यहाँ अप् को तनू कहा जा रहा है इसलिए कि वे अन्तरिक्ष में 'आतत' हैं। उनसे ओषधि-वनस्पति उत्पन्न होते हैं, फिर उसी ओषधि-वनस्पति से ये उत्पन्न होते हैं।'[१] किन्तु ऋक् संहिता में स्पष्ट ही बतलाया जा रहा है कि 'तनूनपात' असुर के भ्रूण को कहा जाता है; वे ही नराशंस होते हैं, जब विशिष्ट रूप में जन्म लेते हैं; और वे मातरिश्वा हैं, जो माँ के भीतर रूप

१४९९. ऋ. ३।२९।११, १०।९२।२।

१. नि. ८।५। नपात् – नि. अननरायाः (व्यवहित) प्रजाया नामधेयं निर्नततमा (नितान्त ही निम्न नत) भवति ८।६। आधुनिक व्युत्पत्ति < IE. nepat 'nephew', Lith. niputis 'grandson', Anglo Sax. nefa 'nephew' तनू <√'सूक्ष्म होना' सूत की तरह लम्बा होना'; उपसर्ग जुड़ने पर 'फैल जाना'; तु. Lat. tenuis 'thin', GK. tanu 'slender, thin'; वेद में 'सूक्ष्म स्वरूप, आत्मा', तु. ऋ. ३।१८।४, १०।५१।१, २; क. १।२।२३ ....। द्र. टी. १३१९।

धारण करते हैं।'[२] यहाँ चिद् अभिव्यक्ति अथवा चेतना के क्रम-विकास की एक धारा प्राप्त होती है। विश्व के मूल में 'असुर' पिता रूप में एवं महाप्रकृतिरूपिणी 'माता' अवस्थित हैं। मातरिश्वा अथवा महाप्राण इसी माता के भीतर के प्रशान्त समुद्र के हृदय में सहसा तरङ्गवत् स्फीत हो उठा। उसके भीतर निक्षिप्त या छोड़ा गया असुर का चिद्बीज तनूनपात् हुआ। उसके बाद की अवस्था 'नराशंस'- नवजातक रूप में। असुर के ईक्षण या दृष्टि एवं सङ्कल्प से माता के गर्भ में जिस आदिम प्राणोच्छ्वास की सृष्टि होती है, वही सृष्टि का प्रथम पुरुष है। उसके बाद का पुरुष तनूनपात् एवं नराशंस तृतीय पुरुष है। और एक स्थान पर अग्नि को 'अरुष का तनूनपात'[३] कहा जा रहा है।' आक्षरिक अर्थ में तनूनपात् 'निज का नाती'। पदगुच्छ में वही ध्वनि है। यहाँ सायण ने 'अरुष' को वायु समझा है। किन्तु मातरिश्वा यदि वायु की संज्ञा होती है, तो पूर्वोल्लिखित क्रम के अनुसार तनूनपात ठीक उसके बाद का पुरुष हुआ, इसलिए 'नपात्' अथवा नाती हो नहीं सकता। तो फिर अरुष यहाँ वही असुर है, जिसके जठर से अग्नि के जन्म का उल्लेख पूर्व के इस सूक्त में किया गया है।[४] वे अरुण-राग रँगे महाकाश होने के कारण 'अरुष' है।[५] अग्नि इस आकाश की ही 'अनन्तरित प्रजा' हैं। तो फिर अभिव्यक्ति या क्रम विकास कुछ इस प्रकार निश्चित होता है : शुद्ध सन्मात्र रूपी महाशून्य का राग अथवा सिसृक्षा, माता अथवा महाप्रकृति के हृदय में हिलोरें लेते हैं; उसके बाद आदिमिथुन अथवा आदिम युग्म के

२. ऋ. तनूनपाद् उच्यते गर्भ आसुरो नराशंसो भवति यद् विजायते, मातरिश्वा यद् अभिमीत मातरि.... ३।२९।११ 'असुर' परमदेवता अथवा वरुणो (तु. अग्नि 'असुस्य जठराद् अजायत' १४, टी. १३२२(३); १।१४१।४, १४३।२.....); 'माता' ; तु. अयं षल. अर्वीर अमिमीत धीरः ६।४७।३, अहिं यद् घ्नन्न ओजो अत्रा. मिमीथा : ५।३१।७।

३. १०।९२।२

४. ३।२९।१४, टी. १३३२(३)।

५. अक्तुं न यह्वं (किरणों की तरह चञ्चल) उषसः पुरोहितं तनूनपातम् अरुषस्य १०।९२।२, उषा अथवा श्रद्धा की अरुणिमा के उन्मेष के साथ-साथ आधार में विद्युत् तन्तु की तरह अग्नि का प्रकाश।

सम्प्रयोग से परम की जो कामना चिद् बीज में घनीभूत होती है, वही 'तननूपात्' है।[६] और 'नराशंस' उनका ही मूर्तविग्रह है। आध्यात्मिक दृष्टि से आधार में 'समिद्ध' अग्नि के आविर्भाव में ही इस कुमार सम्भव का सङ्केत मिलता है। उसके मूल में परमदेवता के ईक्षण से उच्छ्वसित आदि-माता के महाप्राण का संवेग है। इसके बाद की अवस्था को भ्रूण या जातक किस पर्याय में रखा जाएगा? उसी को लेकर ऋषियों के मतभेद से आप्री सूक्त के द्वितीय देवता तनूनपात होंगे, न कि नराशंस होंगे – इस विकल्प का मूल कारण है मेधातिथि एवं दीर्घतमा ने क्रमशः तनूनपात् एवं नराशंस दोनों देवताओं को ही आप्रीसूक्त में स्थान देकर भ्रम दूर कर दिया है।[७]

तनूनपात संज्ञा के भीतर एक और रहस्य है। वेदों में 'तनू' शब्द का इशारा स्वरूप की ओर है। 'स्वा तनूः' इस पदगुच्छ में यही भाव प्रकट हुआ है।[१५००] स्वरूप के बोध के लिए दो शब्दों का प्रयोग देखने में आता है – एक तो पुंल्लिङ्ग 'आत्मा' है और एक स्त्रीलिङ्ग 'तनू' है। विश्व प्राण के रूप में जो सर्वत्र सञ्चरणशील है, जिसे हम साँस-साँस में तनू के भीतर आकर्षित करते हैं, वही 'आत्मा' है।[१]

---

६. शतपथ ब्रा. में 'रेतः' १।५।४।२, दर्शपूर्णमास याग के प्रयाज देवता।

७. प्रथम मण्डल के दोनों सूक्त ही। ऋक् संहिता के प्रैष सूक्त (तु. नि. ८।२२।१४) एवं यजुः सहिता के कई आप्री सूक्त इसी प्रकार के हैं। एक में तो एक ही मन्त्र में पहले नराशंस, उसके बाद तनूनपात् हैं (मा. २०।७; तै सं. २।६।८।२।

१५००. द्र. टी. १४९९। तु. अग्ने यजस्व तन्वं तव स्वाम् ६।११।२, अग्निः प्रत्नेन मन्मना शुम्भानस तन्वं स्वाम् ८।४४।१२; एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वा. वोचत् स्वां तन्वम् इन्द्रम् एव १०।२०।९, रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस् तन्वं परिस्वाम् (३।५३।८; अपनी सूक्ष्म अदृश्यप्राय सत्ता को केन्द्र में रखकर प्रज्ञाशक्ति के विचित्र उल्लास से रूप की सृष्टि करते जा रहे हैं एवं उसी से विश्वरूप हो रहे हैं, तु. ३।३८।४, ६।४७।१८।

१. 'आत्मा अततेर् वा, आप्तेर् वा' नि. ३।१५; तु 'आत्मा' क. १।३।१२, द्र. वैदिक पदानुक्रम कोष; पालि. 'अत्ता, अप्पा';।। अतिथि,। आधुनिक व्युत्पत्ति < IE. emen breath' उसका भी जाना होता है। तु. सूर्य चक्षुर गच्छतु वातम् आत्मा १०।१६।३, आत्मन्वन् नभः ९।७४।४ (तु. 'असुर'),

आत्मा के द्वारा सञ्जीवित आधार 'तनू' है। दोनों ही हमारा स्वरूप है अर्थात् आत्मा और तनू में, चेतना और शक्ति में, पुरुष और प्रकृति में कोई भेद नहीं।[२] इसी से तनूनपात् का आक्षरिक अर्थ है 'आत्म स्वरूप का परिणाम'। अतः अग्नि 'अरुषः' तनूनपात्, यह उक्ति अन्वर्थ या सुबोधगम्य है। महाशून्य शिवतनू है, हम सब के भीतर तनूनपात् उनके ही आत्मज हैं।

संहिता में तनूनपात् और नराशंस का एक विशेष परिचय यह है कि वे 'मधुमान्' हैं। लेकिन उसमें तनूनपात को ही प्रायः सर्वत्र इस रूप में वैशिष्ट्य प्रदान किया गया है।[१५०१] प्रत्यक्षतः जहाँ उनको मधुमान् नहीं कहा गया है, वहाँ मन्त्र में किसी न किसी रूप में 'मधु' का उल्लेख हुआ है। कहा गया है कि वे यज्ञ को मधुमान् अथवा मधुमय करते हैं[१] ऋत के जितने पथ हैं, उनको मधुसिक्त करते हैं[२] और मधुमय पथ से होकर आते हैं[३] इत्यादि। सोम मण्डल के आप्रीसूक्त में उनको स्पष्टतया 'पवमानः' अर्थात् सोम्य आनन्द की मधुधारा कहा गया है – वे अन्तरिक्ष को आलोकित करके सूक्ष्मशीर्षा

आत्मानं .... वातम् १०।९२।१३, वायु 'आत्मा देवानाम्' १६८। ४ ..... पुनः स्वरूप के अर्थ में : 'आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति १०।९७।११, आत्मेव शेवः १।७३।२, सूर्य आत्मा जगतस् तस्थुषश् च १।११५।१, तस्मिन्न (पर्जन्य में) आत्मा जगतस तस्थुषश् च ७।१०१।६ (सोम) आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः ९।२।१० (६।८) ...।

२. तु. श. आत्मा वै तनूः ६।७।२।६; ऋ. दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा १०।१०७।७; क. तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू स्वाम् १।२।२३। यह समरस अद्वैतवाद वैदिक-दर्शन की मित्ति है : तु. श० 'यश चा. यम् अध्यात्मं' 'शारीरस्' तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, अयम् एव सयोऽयम् आत्मा, इदम् अमृतम् इदं ब्रह्मेदं सर्वम् १४।५।५।१ (बृ. २।५।१)।

१५०१. मा. २१।१३, २८।२५ छोड़कर।

१. ऋ. ३।४।२, १।१८८।२,

२. १०।११०।२, मा. २७।१३, २९।२६,

३. मा. २१।३०, २८।२।

होकर ऊपर उठते जा रहे हैं।[४] तनूनपात् मधुमान् हैं – यह विवृति अर्थ वह है। मधु सोम्य अमृतचेतना है। उसके साथ अश्विद्वय का विशेष सम्बन्ध है, जो द्युस्थान देवगण के प्रमुख हैं। अँधेरे की पराजय पर आधार में आलोक के आविर्भाव की निश्चित सूचना वे ही देते हैं। अव्यक्त के भीतर अश्विद्वय का आविर्भाव और असुर में चिद्बीज रूप में तनूनपात् का स्फुरण दीप्ति – दोनों ही मूलतः एक हैं। मर्त्य आधार में वे ही अमृत के अकेले आश्वास हैं।

तनूनपात् जिस प्रकार असुर के गर्भ हैं, उसी प्रकार अदिति के भी गर्भ हैं[१५०२] असुर को वरुण मान लेने से हम तनूनपात् को अदिति– वरुण के कुमार रूप में पाते हैं। अदिति-वरुण एक असङ्ग अथ च नित्य सङ्गत आदियुग्म हैं, उनके सम्बन्ध में आगे चलकर बात करेंगे। आधार मे तनूनपात् का स्फुरण एक दिव्य कुमारसम्भव को सूचित करता है, उपनिषद् की अध्यात्म-दृष्टि से यही कुमार 'अङ्गुष्ठ' मात्र पुरुष – अधूमक ज्योति की तरह हैं; वे भूत-भव्य के ईशान हैं, आज भी हैं, कल भी हैं और देह के भीतर मध्वद अथवा मधुभोजी जीवात्मा के रूप में हैं।[१] गीता में वे ईश्वर की जीवभूता परा प्रकृति हैं, जिन्होंने इस जगत् को धारण किया है।[२] वे तो

---

४. ऋ. तनूनपात् पवमानःशृङ्गे शिशानो (दोनों सींगों में शान देकर, क्योंकि वे 'वृषभ' हैं) अर्षति अन्तरिक्षेण रारजत् ९।५।२ (प्रत्येक ऋक् में अग्नि 'पवमान' अतएव अग्नि = सोम द्र. टी. १३५८(४)।

१५०२. मा. होता यक्षत् तनूनपातम् उद्भिदं यं गर्भम् आदेतिर् दधे शुचिम् इन्द्र वयोधसम्। वे 'उद्भिद्' हैं क्योंकि वे परमपुरुष के चिद् बीज हैं, अव्यक्त के विवर से अङ्कुरित हो रहे हैं। इन्द्र का सायुज्य लक्षणीय। द्र. प्रैष २।१ द्र. क. २।१।१३ (ज्योति में अग्नि की ध्वनि; तु. प्रैष भुवनस्य गोपाम्२), १२, ५ (तु. ऋ. पिप्पलं स्वाद्व् अत्ति १।१६४।२०, मध्वदः सुपर्णाः २२, टी. १३८९।

१. द्र. क. २।१।१३ (ज्योति में अग्नि की ध्वनि; तु. प्रैष, भुवनस्य गोपाम् २), १२, ५ (तु ऋ. पिप्पलं स्वाद्व् आत्ति १।१६४।२०, मध्वदः सुपर्णाः २२, टी. १३८९)।

२. गी. ७।५। अध्यात्म दृष्टि में 'जगत्' क्षेत्र, गी. १३।६-७।

आधार के भीतर रहकर ही उसके नियन्ता हैं। संहिता में उनको तनूपाः अथवा तनू का पालक बतलाकर यही बात समझाई गई है।[३]

फिर हम देखते हैं कि आधार में चित्कण के रूप में जो असुर के भ्रूण हैं वे स्वयं ही असुर हैं – 'असुरो विश्ववेदाः', 'असुरो भूरिपाणिः।'[१५०३] अर्थात् जो बीज हैं, वही वृक्ष-रूप में विस्फारित होते हैं। उस समय वे सहस्रगामिनी एषणा के धाता हैं।[१] ....फिर माध्यन्दिन-संहिता में देखते हैं कि तनूनपात्, सरस्वती, उष्णिक् छन्द एवं दिव्य हविर्वाही दो वर्ष का बछड़ा ये सब एक पर्याय के हैं और सभी मिलकर इन्द्राविष्ट आधार में तारुण्य का आधान करते हैं।[२] समिद्ध अग्नि की तुलना में तनूनपात के समय छन्द के चार अक्षर बढ़े, बछड़े की उम्र भी छः मास बढ़ी। यह उपचय लक्षणीय है।

शतपथ ब्राह्मण में दर्शपूर्णमास याग के प्रयाज में ऋतु की दृष्टि से समिद्ध को वसन्त बतलाकर तनूनपात् को ग्रीष्म कहा गया है।[१५०४] तैत्तिरीयब्राह्मण के मतानुसार ऋतुमुख वसन्त अग्न्याधान का प्रशस्तकाल है।[१] वसन्त में शीत की जड़िमा तोड़कर मानो प्रथम प्राण जागता है।

---

३. मा. २१।१३।

१५०३. मा. २७।१२ (तु. सद्योजात अग्नि 'जातवेदाः', आधार में चित्ति या चेतना का उन्मेष ऋ. १।६७।१० टी. १३१५(५)); शौ. ५।२७।१ (तु. ऋ. पुरुषः ... सहस्त्रपात् १०।९०।१; 'प्र बाहवा पृथुपाणिः सिसर्ति' २।३८।२)। यह एक विशेषण प्रज्ञा का सङ्केतक है और दूसरा कर्म अथवा शक्ति का।

१. दधत् सहस्त्रिणीर् इषः १।१८०।२।

२. मा. २१।१३, द्र. प्रैष मन्त्र २८।२५, तत्र महीधर 'द्विवर्षा गौर् दित्यवाट्' व्युत्पत्ति, अज्ञात; 'दित्य < द्वितीय? सरस्वती ऋक् संहिता में गर्भाधान कारिणी १०।१८४।२; द्र. सरस्वती' आप्री देवगण।

१५०४. द्र. शब्रा. १।३।५। दर्शपूर्णमासयाग में पाँच प्रयाज। उनकी प्रत्येक ऋतु दृष्टि विधि सम्मत होने से समस्त अनुष्ठान संवत्सर तथा प्रजापति का अर्थात् विश्वचेतना का अभिद्योतक है। दर्शपूर्णमास सभी इष्टियों की प्रकृति अथवा आदर्श। पशुयाग की तरह उसका भी प्रयाज प्राण के उदयन का बोधक है।

१. तैब्रा. १।१।२।६।

ग्रीष्म में वही प्राण दीप्ततर होता है। इस प्रकार ऋतुभावना के साथ चित शक्ति का क्रमिक उन्मेष जुड़ा हुआ है। प्रयाज देवताओं का विन्यास भी उसी के अनुसार है, इसके अलावा ऐतरेय-ब्राह्मण में देखते हैं कि अग्निषोमीय पशुयाग के प्रयाज में तनूनपात् प्राण रूप में मनन करने का विधान दिया गया है।[२] ...सोमयाग में 'तानूनप्तृ' के रूप में एक अनुष्ठान है। यजमान और सब ऋत्विक् परस्पर द्वेषशून्य होकर एकाग्रचित्त से यज्ञ का निर्वहन करेंगे, इसलिए आज्य-स्पर्श करके जो शपथ ग्रहण करते हैं, उस को 'तानूनप्तृ' कहते हैं। तनूनपात् वहाँ मैत्रीबन्धन का हेतु है। इस प्रसङ्ग में शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि 'यह जो पवन रूप में सञ्चरण शील हैं, वे ही शक्तिमान् तनूनपात् हैं। वे ही सभी जीवों के उपद्रष्टा हैं। प्राण और उदान के भीतर वे प्रविष्ट हैं।'[३] प्राण मुख्य प्राण की वह वृत्ति है, जिसके द्वारा साधारण जीवधर्म निर्वाहित होता है; और उसका ही वह ऊर्ध्वस्रोत है, जो हम सब के भीतर लोकोत्तर चेतना को उद्दीप्त करता है।[४] तनूनपात् जीवसाक्षी प्राण के रूप में दोनों का नियन्ता एवं मन के भीतर बृहत् की भावना का प्रेरक है।[५] उपनिषद् में हम देखते हैं कि मुख्य प्राण इन्द्रियों का नायक एवं सम्बन्ध-सूत्र है।[६] ऋत्विक् और यजमान की तरह गुरु-शिष्य के भीतर भी विद्वेष न रहे, ऐसी प्रार्थना उपनिषद् के शान्तिपाठ में है।[७]

---

२. ऐब्रा. २।४। समिध् 'प्राणाः', और तनूनपात् 'प्राण'। एक प्राण की वृत्तियाँ हैं और एक मुख्य प्राण है। तत्त्वतः मुख्य प्राण ही आदिम है, उसका स्फुरण वृत्तियों में होता है। स्फुरण दृष्ट या व्यक्त और तत्त्व अदृष्ट, अलक्ष्य होता है। दृष्ट से अदृष्य की साधना सहज है, इसलिए पहले दृष्ट का उल्लेख – जैसे योग में चित्त की मूढ़ भूमि के पहले क्षिप्त भूमि का।

३. श. 'यो वायं पवते, एष तनूनपाच छाक्वरः।' सोऽयं प्रजाम् उपद्रष्टा, प्रविष्टस् ताव् इमौ प्राणोदानौ ३।४।२।५।

४. द्र. प्र. ३।७-९।

५. द्र. श. ३।४।२।६।

६. तु. छा. ५।१, प्र. २....।

७. क. सहवीर्य करवावहै .... मा विद्विषावहै; तै. ब्रह्मबल्ली, भृगुवल्ली।

यह भी तानूनप्तृ के अनुरूप है। सब मिलाकर हम देख रहे हैं कि तनूनपात् प्राण के सुषम छन्द का प्रयोक्ता है।

तनूनपात् की उपासना में हम उत्सर्ग-भावना के द्वितीय सोपान पर आ गए। अग्नि-समिन्धन के कारण जीवन में मोड़ आ गया है और आधार में एक ताप सञ्चारित हुआ है। उसी तपोज्योति के आवेष्टन में नक्षत्र-बिन्दु की तरह तनूनपात् का प्राणस्पन्दित चित् सत्ता के भ्रूण के रूप में अनुभव करते हैं। विश्वामित्र गाथिन का ब्रह्मघोष सुनते हैं : –

'जिसको सारे देवता दिन में तीन बार आयजन करते हैं उजाला रहते-रहते – (आयजन करते हैं) वरुण, मित्र (और) अग्नि, वही तुम हमारे अपने हे तनूनपात्! तपोदीप्ति जिसका उत्स है, लक्ष्यवेध में जो तत्पर है, इस यज्ञ को मधुमान् करो।[१५०५]' – इस आधार में

१५०५. ऋ. यं देवासस् त्रिर् अहन् आयजन्ते दिवेदिवे वरुणो मित्रो अग्निः, से. मं यज्ञं मधुमन्त कृधी नस् 'तनून पाद्' घृतयोनि विधन्तम् ३।४।२। 'अहन् (= अहनि) त्रिः' दिन में तीन बार। सोमयाग के सत्या के दिन तीनों वेला में तीन सवन होते हैं सोमयाग के सवन समस्त जीवन में व्याप्त है, पुरुष ही यज्ञ है - यह शिक्षा देवकी पुत्र कृष्ण ने घोर आङ्गिरस से प्राप्त की थी (छा. ३।१६-१७)। 'आयजन्ते' देवयज्ञ के द्वारा रूपायित करते हैं। मनुष्ययज्ञ उत्सृष्टि है और देवयज्ञ विसृष्टि है (द्र. ऋ. १०।९०।६-१६, १२९।६; मनुष्य के अन्तर में देवताओं का अग्नि जनन तु. ३।२।३)। **दिवेदिवे** – दिन-दिन, प्रतिदिन; ज्योतिर्भूमि की परम्परा में। दिव् अथवा दिन का प्रकाश चिज्ज्योति का प्रतीक है। 'वरुण, मित्र, अग्निः' साधन की दृष्टि से इन्हें विलोमक्रम में लेना होगा। अग्नि 'उषर्भुत' जागते हैं भोर के उजाले में, मित्र मध्याह्न की दीप्ति, और वरुण लोकोत्तर रात्रिकालीन आकाश में पूर्णिमा की ज्योत्सना अथवा तारकाखचित अमा का आलोक। आधार में तनूनपात् को ये तीन देवता इस प्रकार व्यक्त करते चलते है :- आरम्भ में अग्नि उनको प्रबद्ध व्यक्ति चेतना के रूप में, उसके बाद मित्र विश्वचेतना की माध्यान्दिन दीप्ति में एवं अन्त में वरुण लोकोत्तर अमृतचेतना की शून्यता में रूपायित करते हैं। जीवन के प्रभात में सूर्य का उदय इन तीनों देवताओं के चक्षु रूप में द्र. १।११५।१। तनूनपात् स्वयं

परमपुरुष का जो अग्निबीज निक्षिप्त हुआ है, उसको चेतना के उत्तरायण के प्रत्येक सोपान पर देवतागण स्फुरित करते रहते हैं। जीवन के प्रभात में अभीप्सा की आग प्रज्वलित होती है और व्यक्ति चेतना को देवजन्म के निमित्त उत्सृष्ट या निवेदित करती है। जीवन के मध्याह्न में विश्वचेतना की सौरदीप्ति में मित्र की प्रसन्नता चिदाकाश में झलकने लगती है। और उसकी सान्ध्यवेला में वरुण की अमाज्योति उतर आती है अर्थात् विश्वातीत की अनिर्वचनीयता में सभी एषणाओं का समापन होता है।....हे स्वयम्भू तपोदेवता! तुमको ही केन्द्र में रखकर हम सब की साधना आजीवन जारी है। उद्दीप्त तपस्या की अग्निज्वाला से उसका आरम्भ और उत्तरायण का शरवत् तीक्ष्ण अभियान उसका मध्यवर्ती स्थान है। हे तप की शिखा! आनन्द के अमृतप्लवन में उसका समापन करो, उसे विराम दो।

उसके बाद **नराशंस**, जो कहीं-कहीं तनूनपात् के विकल्प हैं। ऋक् संहिता में उनका परिचय बहुत ही स्पष्ट है। यदि तनूनपात् परमचेतना के भ्रूण हैं, तो नराशंस उनके विशिष्ट जातक हैं[१५०६]

अग्नि हैं, तब भी यहाँ अग्नि का अलग उल्लेख किया गया है। अग्नि लोकव्याप्त वैश्वानर हैं, तनूनपात् उनके व्यक्ति-बीज हैं। 'घृतयोनि' विशेषण, ऋक् संहिता में केवल अग्नि (५।८।६) एवं मित्रावरुण के सन्दर्भ में प्रयुक्त (५।६८।२)। 'विधन्तम्' – यहाँ 'परिचरण' अर्थ उपयुक्त नहीं, बल्कि उसके फल अथवा लक्ष्य तक पहुँचने का बोध होता है।

१५०६. द्र. ऋ. नराशंसो भवति यद् विजायते ३।२९।११। 'विजायते' यह समस्त पद ऋक् संहिता में और कहीं नहीं है। इस प्रसङ्ग में तु. 'स्यान् नः सूनुस् तनयो विजावा' – हमारी सन्तान (साधना की धारा का) वाहन हो, सिद्ध पुत्र के पिता ३।१।२३। 'सूनुः तनयः' ऐसा पुत्र जो साधना की धारा को सम्प्रसारित करेगा। केवल वंश का विस्तार नहीं, बल्कि ब्रह्मविद्या की धारा भी न टूटने पाए, यहाँ तक कि योनिवंश और विद्या-वंश दोनों एक हो जाएँ – यही पुत्रैषणा का लक्ष्य है। 'हमारे कुल में कोई कभी अब्रह्मवित् न हो' यह कामना उपनिषद् के ऋषियों की थी (तु. मु. ३।२।९, माण्डू. १०, छा. ६।१।१, कौ. पिता पुत्रीय सम्प्रदान २।१५)। यही भाव धारा तन्त्र में भी है। मन्त्र को 'विजा' यही सिद्ध पुरुष। 'विजावा' (पदपाठ 'विजा-वा', अनन्य प्रयोग) जिसकी 'विजा' है। 'प्रजा' और 'विजा' दोनों

तनूनपात् अग्नि, नराशंस भी अग्नि; किन्तु इसे लेकर मतभेद की सृष्टि हुई थी, यह पहले ही बतलाया गया है। कात्थक्य के अनुसार नराशंस 'यज्ञ': जिसका निर्वचन है – 'नर इसमें आसीन होकर शंसन करते हैं।'[१] शाकपूणि कहते हैं, नराशंस 'अग्नि' जिसका निर्वचन है, 'नरों द्वारा प्रशस्य; प्रशंसनीय।'[२] किन्तु इस शब्द का वस्तुतः एक और निर्वचन सम्भव है – 'नरों का शंसन'।[३] 'शंस देवता की प्रशस्ति।'[४] वह वाक् की विभूति है। फिर आधार में अग्नि के सन्दीपन से दिव्या वाक् अथवा मन्त्र का स्फुरण होता है।[५] उसी से अग्नि 'नराशंस्' अथवा 'आयोः' शंस या केवल 'शंसः' हैं।[६] यह भावना कात्थक्य की उक्ति का सम्प्रसारण है – हम सब के भीतर अग्नि समिद्ध होने पर जब यज्ञ एवं मन्त्र की प्रेरणा जागती है, तब देव-प्रशस्ति के उद्दीपन के रूप में अग्नि नराशंस है।

से सन्तति का बोध होता है, किन्तु भिन्न अर्थ में। प्रजा से वंशधारा की अनुवृत्ति का बोध होता है और विजा से निवृत्ति का। 'विशिष्ट जातक' इस अर्थ में भी विजा सम्भावित। आधार में नराशंस ही जातक, किन्तु सिद्ध जातक – 'विजायते' पद की यही ध्वनि है।

१. नि. ८।६; नर + आस् + शंस।

२. वही, पाणिनि सूत्र ६।३।३७।

३. 'नरां शंसः' > प्रथम पद के अपभ्रंश में 'नराशंसः' (उभय स्वर, पदपाठ में अवग्रह नहीं)। संहिता में अन्य पद द्वारा अन्तरित, जिस प्रकार ऋ. 'नरा च शंसम्' ९।८६।४२, 'नरा वा शंसम्' १०।६४।३, 'नरां न शंसः' २।३४।६। 'नरां न शंसैः' १।१७३।९, १०, (इन्द्र) 'शंसो नराम्' ६।२४।२ उसी प्रकार समस्त पद 'नृशंस' (९।८१।५) उभय स्वर। प्रसङ्गतः तु. 'देवानां शंसः' (१।१४१।११, १०।३१।१) = प्रसाद। और भी तु. नाराशंसेन (नराशंस चमसगतेन सायण) सोमेन १०।५७।३, नाराशंसी (मनुष्य स्तुतिः सा.) १०।८५।६।

४. उसके विपरीत 'निद्' तु. २।२३।१४, ३।१६।५ ...। 'देवनिद्' २।२३।८।

५. तु. विराट् के मुख से अग्नि १०।९०।१३; श. वाग एवाग्निः ६।१।२।२८, ३।२।२।१३ ....। वेद की 'ऋक्' और अग्नि की अर्चिः सगोत्र हैं।

६. तु. नमस्यन्त उशिजः (उद्विग्न यजमान की) शंसम् आयोः ४।६।११; शं नो भगः शम् उ नः शंसो अस्तु .... शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः ७।३५।२।

इस दृष्टि से नराशंस बृहस्पति अथवा ब्रह्मणस्पति के सगोत्र हैं।[१५०७] इसलिए उनके अनन्यपर दो विशेषण 'ग्नास्पति' एवं 'चतुरङ्ग' हैं।[१] निघण्टु में वाक् का एक नाम 'ग्ना:' – अर्थात् विश्वमूला शाश्वती नारी के रूप में है।[२] वाक् के चार 'पद' सुप्रसिद्ध हैं।[३]

माध्यन्दिन संहिता में नराशंस को सविता के साथ एक मानकर बतलाया गया हैं, 'वे सुकर्मा विश्व वरेण्य ज्योतिर्मय सविता हैं।[१५०८]' भावना का यह अनुषङ्ग प्रणिधान योग्य है। विष्णु की सप्तपदी में सविता का तृतीय स्थान है। जिन सभी आप्री सूक्तों में तनूनपात् के साथ नराशंस भी है एवं इस सूक्त में भी हैं – वहाँ भी नराशंस का स्थान तृतीय है। यह स्थान साम्य आकस्मिक नहीं जान पड़ता। आदित्य के उदयन में सविता का स्थान कुछ नेपथ्य में है। उनके बाद ही भग में ज्योति का व्यापक प्रकाश है। यहाँ भी समिद्ध तनूनपात् एवं नराशंस के द्वारा मानो प्राण के उदयन की भूमिका रची गई है। इन्हीं तीनों देवताओं में सम्भवत: कात्थक्य की यज्ञ भावना का मूल यहीं है। नराशंस के बाद ही 'ईड्य' अग्नि में प्राण का प्रथम समर्थ प्रकाश या

१५०७. तु. ऋ. बृहस्पति सूक्त: 'नराशंसो नोऽवतु प्रयाजे शं नोऽस्तु अनुयाजो हवेषु १०।१८२।२ (प्रयानुयाज सम्पर्क लक्षणीय); नराशंसं सुधृष्टमम् अपश्यं सप्रथस्तमम् १।१८।९।' (देवता 'सदस्पतिर् नराशंसो वा'; सदस्पति बृहस्पति का नामान्तर है)। वाक् 'बृहती' श. १४।४।१।२२, वाक् 'ब्रह्म' ऐब्रा. २।१५, ४।२१, ६।३....। वाचस्पति, ब्रहस्पति, ब्रह्मणस्पति समानार्थक हैं। फिर वाक् 'शंस' ऐब्रा. २।४, ६।२७, ३२।

१. तु. ऋ. नराशसो ग्नास्पतिर् नो अव्या: २।३८।१०; नराशंसश् चतुरङ्ग: १०।९२।११।

२. निघण्टु १।११; तु. ऋ. वाक् सूक्त १०।१२५ विशेष रूप से ३, ७, ८; राष्ट्री देवानाम् ८।१००।१०।

३. १।१६४।४५; तु. चतुष्पदी ४१।...१।१०६।४ और १०।६४।३ में नराशंस और पूषा स्वतन्त्र।

१५०८. मा. 'सुकृद् देव: सविता विश्ववार:' १७।१३ (तु. शौ. ५।२७।३)। लक्षणीय – ऋक् संहिता में सावित्री-सूक्त में ही नराशंस ग्नास्पति। 'वाक् सावित्री' जैउ. ४।२७।१५।

प्रकटन होता है। लक्षणीय है कि इसी अग्नि के द्वारा ही ऋक् संहिता का आरम्भ हुआ है।

इसी भावना के सम्बन्ध में एक और भावना पाई जाती है। ऋक् संहिता में सोम के बारे में कहा जा रहा है : 'दिन के आरम्भ में ही सुवर्ण और सुकाम्य वहा उन्मादन अपनी चेतना द्वारा प्रचेतना जगाते हैं, नित्यप्रति। दो जनों को उद्यत करके (भूलोक और द्युलोक) के मध्य में चलते हैं – मनुष्यस्तुति और देवतास्तुति को (जगा कर चलते हैं) धृतिमानों, धैर्यवानों के अन्तर में।[१५०९]' अर्थात् सोम्य आनन्द के उन्मादन से सत्यव्रती, धीर पुरुष के भीतर उषा के प्रकाश में प्राचेतसी प्रज्ञा का स्फुरण होता है; और उसी से देवता और मनुष्य के परस्पर आप्यायन की आकूति सार्थक होती है, मनुष्य की वाणी देवता की वाणी को उद्योतित करती है। 'नराशंस:' और 'दैव्य: शंस:' अथवा 'देवानां शंस:' यहाँ एक वाक् के दो छोर हैं; जिनमें एक नर की प्रशस्ति का वाहन (वाहक) है और दूसरा उसके उत्तर में देवता के प्रसाद का ये दोनों वाक् ही आग्नेयी हैं।

तनून पात् की तरह नराशंस का भी मधु के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे मधुजिह्व हैं, मधुहस्त्य हैं, यज्ञ को मधुमय करते हैं।[१५१०] अग्नि की प्रेरणा से यदि मनुष्य की देव प्रशस्ति के देवता नराशंस होते हैं, तो फिर उनका मधुजिह्व विशेषण सार्थक होता है। प्रशस्ति मन्त्र देवताओं के निकट यज्ञ को सुस्वादु करेंगे, यह भी सङ्केत है। अन्यत्र देखते हैं 'जिह्वा में मधुमत्तमा' हो – यही प्रार्थना ब्रह्मवादियों की भी हैं।[१]

नराशंस मूलत: देव-प्रशस्ति है। इसलिए मनुष्य के प्रशस्तिवाचक मन्त्रों को 'नाराशंस' और ऋक् को 'नाराशंसी'

१५०९. ऋ. सो अग्ने अह्नां हरिर् हर्यतो मद: प्रचेतसा चेतयते अनुद्युभि:, द्वा जना यातयन्न् अन्तर् ईयते नरा च शंस दैव्यं च धर्तरि ९।८६।४२। दो जन मनुष्य और देवता। प्रचेतना चेतना का उन्मेष, उपचय या उच्छलन एवं व्याप्ति है – भोर के आकाश में ज्योति के कमल की पङ्खुड़ी खुलने की तरह।

१५१०. ऋ. १।१३।३, ५।५।२, १।१४२।३, १०।७०।२, शौ. ५।२७।३।

१. तै उ. १।४।१।

कहते हैं।[१५११] यह सब ऋभुओं, ऋषियों अथवा राजाओं की प्रशस्ति है – ऐतरेय ब्राह्मण की उक्ति के अनुसार 'मृदु इव छन्दः शिथिरम्' और तैत्तिरीय ब्राह्मण के कथानानुसार 'ब्रह्मण:शमलम' अर्थात् वेद का मलिन भाग है।[१] देव प्रशस्ति यज्ञाङ्ग है, अतएव कात्थक्य का निर्वचन आधियाज्ञिक दृष्टि से, और 'समस्त यज्ञ अग्नि का'[२] यह मानकर शाकपूणि का निर्वचन आधि दैविक दृष्टि से किया गया है। दोनों में कोई विरोध नहीं। नराशंस मन्त्रशक्ति के कारण ही देवता हैं – यही भावना दोनों के मूल में है।

विश्वामित्र के आप्रीसूक्त में नराशंस का उल्लेख नहीं है। यास्क ने वसिष्ठ मैत्रावरुणि के आप्री सूक्त से उनके मन्त्र का उद्धरण देकर व्याख्या की है। ऋषि का कथन है – 'इन्हीं (देवताओ के) अन्तर्गत नराशंस की ही महिमा का हम सब एकाग्रचित्त होकर स्तवन करते हैं – जो हमारे यज्ञ द्वारा यजनीय हैं और जो देवता सुक्रातु, शुचि, ध्यान के धाता होकर सुस्वादु करते हैं उभयविध हव्य।[१५१२]' – हम जिन देवताओं से घिरे हैं, वे अनघ एवं शुचि हैं, क्रान्तदर्शी प्रज्ञान में समर्थ हैं और हमारे भीतर ध्यान चेतना का आवेश आहित कर सकते हैं। प्रशस्ति और आहुति की सामग्री हम ले आए हैं उनके पास। उनको वे सोम्य-सुधा से सींच कर स्वदनीय करें। देखो तो उनकी प्रेरणा से

१५११. द्र. नि. ९।९; ऋ. 'नाराशंसी न्योचनी' (नववधू सूर्या के पितृगृह की दासी) १०।८५।६

१. ऐब्रा. ६।१६, तैब्रा. १।२।३।६ (सा. भाष्य द्र.); तु. तैब्रा. २।७।५।२ (सा.)। नर प्रशस्ति के समय 'नरां' कर्म में षष्ठी, द्रवप्रशस्ति के बोध के लिए कर्त्ता में।

२. ऋ. १०।५१।९।

१५१२. ऋ. नराशंसस्य महिमानम् एषाम् उप स्तोषाम यजतस्य यज्ञैः, ये सुक्रतवः शुचयो धियंधाः स्वदन्ति देवा उभयानि हव्या ७।२।२ (मा. २९।२७); नि. ८।७। 'एषाम्' निर्धारण में षष्ठी। देवगण 'धियंधाः' जिस प्रकार पहले इन्द्र को 'वयोधाः' रूप में पाया। 'स्वदन्ति' सुस्वादु करते हैं (अन्तर्भा वितार्थ) मधु अथवा अमृत चेतना के आनन्द द्वारा। नराशंस मधुमान् हैं; उनके सहचर देवता भी वहीं हैं। आनन्द द्वारा ही साधना का आरम्भ 'उभयानि हव्या'...प्रशस्ति और आहुति।

नरकण्ठ स्तुति-मुखर हुआ, और हम सब के अन्तर में अग्नि वर्ण वाचस्पति का आविर्भाव हुआ। उनके बिना और कौन होंगे हमारे यज्ञेश्वर? इसलिए उनकी ही महिमा के वन्दना-गीत में हमारे एकाग्रचित्त की भावना और साधना आनन्दित हो।

आप्री सूक्त के तृतीय देवता **ईल.** है। यह नाम केवल निघण्टु में और प्रैष सूक्त में प्राप्त होता है,[१५१३] इससे भिन्न संहिता में उन्हें ईड् अथवा इष धातु से निष्पन्न अनेक विशेषणों द्वारा सूचित किया गया है। वहाँ वे कहीं 'ईलित'[१] कहीं 'ईलेन्य'[२] कहीं 'ईडान,'[३] कहीं 'इड्'[४] अथवा कहीं 'इषित' हैं।[५] एक स्थान पर केवल ईड् धातु से[६], और एक स्थान पर केवल 'इडाभिः' से उनका सङ्केत मिलता है।[७]

यास्क ईल. संज्ञा की व्युत्पत्ति ईड् अथवा इन्ध धातु से देते हैं।[१५१४] किन्तु संहिता में ही जब इस संज्ञा का एक पर्याय 'इषित' है, तब मूल व्युत्पत्ति इष् धातु से ही मानना सङ्गत है। 'इष' धातु 'यज्' धातु से आ सकती है, और स्वतन्त्र भी हो सकती है। अर्थ की दृष्टि से दोनों धातु परस्पर जुड़ी हुई हैं, जिसके कारण 'इष्टि' से यज्ञ अथवा एषणा दोनों का ही बोध होता है। ईड् धातु भी इसी से आई है।[१] जिसका मूल अर्थ है 'खोजना'; पूजा और वन्दना अर्थ[२] प्रसङ्गतः

१५१३. निघ. ५।२, प्रैष ४।

१. ऋ. १।१३।४, १४२।४, २।३।३, ५।५।३ (प्रैष. ४) मा. 'ईडित' २०।३, २१।३२, २८।३।

२. ऋ. ७।२।३, ९।५।३; मा. २८।२६।

३. मा. २७।१३; तैसं. ४।१।८।१; शौ. ५।२७।३।

४. ऋ. ३।४।३।

५. ३।४।३; १०।११०।३; मा. २९।२८।

६. १०।७०।३।

७. मा. २०।५८।

१५१४. नि. ईल. ईट्टेः स्तुतिकर्मणः इन्धतेर् वा ८।७।

१. तु. नि. ईलिर् अध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा ७।१५। √ईड् < * √यजद्, द कार का मूर्द्धन्य परिणाम, उसके बाद अन्तरङ्ग सन्धि एवं यकार का

खोजने के साधन के रूप में आया है। नचिकेता की तरह अपने भीतर आग जलाकर सत्य को खोजना होगा, इस भावना से हम सुपरिचित हैं। निरुक्त की द्वितीय व्युत्पत्ति उसका ही सङ्केत देती है। अनेक व्युत्पत्तियों की भाँति ही यह शाब्दिक नहीं, बल्कि आर्थिक अथवा तात्पर्य से सम्बन्धित है। ऋक् संहिता में भी इन्ध् धातु के साथ-साथ ही ईड् धातु का प्रयोग प्राप्त होता है।[३] तो फिर इस धातु के अर्थ का परिणाम इस प्रकार होगा :- 'खोजना' (√इष्)।। भावना करना (√यज् < 'जलाना' (<√इन्ध 'ज्ञान यज्ञ से यहाँ द्रव्य यज्ञ की व्यञ्जना उभरती है') < 'पूजा करना, स्तुति करना')।[४] जब अग्नि को 'इडाभिर् ईड्य:'[५], 'इडेडित:'[६] 'घृतेनेडान:'[७] 'इडाभिर् ईडित:'[८], 'ईडाभिर् ईड्यम्',[९] किंवा 'इषित' कहा जाता है, तब मूल इष् धातु के साथ ईळ संज्ञा का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से उजागर हो जाता है।

तो फिर आप्री देवता जीव की ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा की दीपशिखा हैं – इसी आप्री सूक्त में ही जिसके देवता 'इला' हैं। उनको जीवन की वेदी में प्रज्वलित करना होगा (ईलेन्य:) प्रज्वलित किया जाता है (ईलान:) प्रज्वलित किया गया है, (ईलित:) अथवा वे प्रज्वल शिखा हैं (ईल:, इड़) – यही उनका परिचय है। अन्तर्दृष्टि में वे 'इडित' अर्थात् साधना के लक्ष्य या उसके आदि प्रवेग द्वारा प्रवर्तित हैं। सङ्क्षेप में वे अन्तिम परिणाम अथवा आदि प्रवर्तन दोनों ही हैं। संहिता में बतलाया जा रहा है कि वे मनुष्य के आधार में मन्त्र चेतना

सम्प्रसारण और दीर्घत्व। यास्क के विचार से सब मिलाकर इस धातु के पाँच अर्थ होते हैं (द्र. टीमू. १३५७....)।

२. तु. ईड्य एवं वन्द्य पास-पास १०।११०।३, मा. २९।३, २८।
३. ऋ. ३।२७।१३, १४, ७।८।१, १०।३०।४।
४. ऋ. ३।१।१५, २।२।
५. मा. २१।१४, तु. २०।५८।
६. २१।३२
७. २७।१४
८. २८।३
९. २८।२६।

के द्वारा बीजरूप में निहित एवं उद्बोधित होते हैं।[१५१५] आदिम प्राण की सुमङ्गल सिसृक्षा हैं वे, भूलोक और द्युलोक के बीच जारी है उनका दौत्य।[१] आधार में वे आवाहन करते हैं वृत्रहन्ता इन्द्र और मरुदगण का,[२] जो प्राण की ज्योति का अन्धड़ उठाकर ओजस्वी मन के दुर्द्धर्ष संवेग से अन्धतमिस्त्रा की पाषाण-प्राचीर को चूर-चूर कर देते हैं; अथवा वे ही गोत्रभित् वृत्रघाती वज्रबाहु पुरन्दर[३] हैं, सरपट दौड़ते हैं शीघ्रगामी घोड़ो की तरह।[४] वे अमृत चेतना के सुनिर्मल संवेग हैं और अजस्र मधुर धारा में विराट् होकर फैल जाते हैं आधार के चित्कूट अथवा चेतना के केन्द्र से[५] एवं अनन्तता की ऋद्धि अथवा ऐश्वर्य, अलौकिक शक्ति छीनकर ले आते हैं अलख के कल से।[६]

ऐतरेय ब्राह्मण में 'इड्' को इष् धातु से व्युत्पन्न मानकर उसमें अन्नदृष्टि का विधान किया गया है[१५१६] पहले ही हमने देखा है, इसके पूर्ववर्ती प्रयाज देवता 'तनूनपात्' प्राण हैं फिर परवर्ती देवता 'बर्हि' भी प्राण हैं। यहाँ समझना होगा कि एक प्राण विश्वगत है और एक आधारगत है। अन्न पहले प्राण का आश्रित और दूसरे का पोषक है। अन्न निश्चय ही यहाँ राहस्यिक अर्थ में प्राणधात्री भौतिक शक्ति है, जिसको हम सब का ही 'तनू' कहा जा सकता है।[१] शतपथ ब्राह्मण

१५१५. ऋ. असि होता मनर्हित: १।१३।४, मनुष्वद् अग्निं मनुना समिद्धम् ७।२।३।
१. असुरं सुदक्षम् अन्तर् दूतं रोदसी ७।२।३, १०।७०।३ (टी. १३३७(२))।
२. १।१४२।४, २।३।३, ५।५।३ मा. २८।३।
३. मा. २०।३८
४. २९।३
५. ऋ. ९।५।३ टी. १३५८(४)
६. अग्ने सहस्रसा असि १।१८८।३।
१५१६. ऐब्रा. अन्नं वा इल: २।४। अग्निषोमीय पशुयाग की व्याख्या हो रही है।
१. द्र. अन्नसूक्त ऋ. १।१८७। मूल में 'पितु' शब्द है, जो अन्न एवं पेय सोमरस दोनों का ही बोधक है। (तु. ऐब्रा. अन्नं वै पितु: १।१३)। अन्न का दिव्य रूप : 'त्वे पितो महानां देवानां मनोहितम्, अकारि चारु केतुना तवाहिम् अवसा वधीत्' – तुम में ही अन्न, महान् देवगण का मन निहित है, जो चारु है, ललित, सुदर्शन है, वह किया गया (तुम्हारी ही) चिति या चेतना की झलक में; तुम्हारे ही प्रसाद या अनुग्रह से अहि का वध

के अनुसार तनूनपात् ग्रीष्म होने पर 'इड्' उसके बाद वर्षा,[2] और रेतः होने पर प्रजा अथवा सन्तान हैं।[3]

अब हम उत्सर्ग-भावना के तृतीय सोपान पर आ पहुँचे। चिद् बीज अङ्कुरित हो गया, इस बार अभीप्सा के संवेग में उसका उत्तरायण शुरू हुआ। माध्यन्दिन संहिता का कथन है कि अब चार अक्षर और बढ़ने के कारण छन्द अनुष्टुप् हुआ बछड़ा हुआ अढ़ाई बरस का।[१५१७] इन्द्र का तारुण्य छलक पड़ा। विश्वामित्र के कण्ठ से स्वर फूटा, जिसे हम इस प्रकार सुनते हैं –

'जो ध्यानदीप्ति विश्वव्यापी है, आगे आगे चल रही है, वह एषणा के प्रथम होता को जगा देने के लिए, (चल रही है) उनकी ओर प्रणति देकर वीर्यवर्षी की वन्दना करने के लिए। वे देवगण का यजन करें (मेरी ही) प्रेषणा से – जो याजकवर हैं।[१५१८]' – अर्थात्

किया (इन्द्र अथवा त्रित ने १) ६। इस प्रसङ्ग में तु. छा. अन्न की 'अणिष्ठ धातु' मन, मन अन्नमय (६।५।१, ४), आहारशुद्धि से सत्त्वशुद्धि (७।२६।२)।

२. श. १।५।३।११; तु. शाङ्खायन ब्राह्मण ३।४।

३. श. १।५।४।३।

१५१७. मा. २१।१४; प्रैषः होता यक्षद ईडेन्यम् ईडितं वृत्रहन्तमम् इडभिर् सहः सोमम् इन्द्रं वयोधसम् अनुष्टुभं छन्द इन्द्रियं पञ्चारिं गां वयो दधद् वेत्व् आज्यस्य होतर् यज २८।२६।

१५१८. ऋ. प्र दीधितिर् विश्वारा जिगादि होतारम् इलः प्रथमं यजध्यै, अच्छा नमोभिर् वृषभं वन्दध्यै स देवान् यक्षद् इषितो यजीयान् ३।४।३। 'दीधितः' < √'ध्यान करना'। निघ. 'किरण' १।५, अङ्गुलि २।५; मूल ध्यान अर्थ से एक में प्रज्ञा एवं दूसरे में कर्म की व्यञ्जना (तु. ७।१।१ टी. १३६६(५), वहाँ दोनों ही अर्थ प्राप्त होते हैं)। **विश्ववार** – ऋक् संहिता में अग्नि, बृहस्पति, वायु, इन्द्र, अश्विद्वय, उषा, सविता और द्यावा पृथिवी का विशेषण है; इसके अलावा रयि, द्रविण का भी विशेषण है; एक ऋषि का नाम 'विश्ववार' (५।४४।११) है और एक ऋषिका हैं 'विश्ववारा' (५।२८ सूक्त)। अनुरूपः अग्निः विश्ववार्यः ८।१।११; फिर 'हवं विश्वप्सं विस्ववार्यम्' – वही देवहुति जो विश्वरूप अर्थात् विचित्र

मेरी एकाग्रभावना का चिन्मय प्रभास पूरे विश्व में फैल गया। उसकी शर जैसी तन्मयता ने सत्ता के मर्म में उस उत्तरवाहिनी अग्नि शिखा के कन्दमूल को विद्ध किया, जहाँ से मेरी अलख की एषणा का आरम्भ होता है। इसी चेतना में उस शिखा के अनिर्वाण दहन को मूर्त करना होगा, अजस्र प्रणति से स्वयं को उनमें अन्तर्हित व समर्पित करना होगा, जिनका अग्निवीर्य इस ऊसर या बञ्जर आधार का बन्ध्यात्व दूर करेगा। मेरी प्रणति, मेरा समर्पण ही उनके भीतर उत्तरायण का प्रवेग जगाए और चैतन्यस्वरूप चिन्मय, ज्ञानमय रूपायन के अनुत्तम शिल्पी के रूप में वे विश्वदेवता को मेरे भीतर उतार लाएँ। आप्री सूक्त के चतुर्थ देवता **बर्हिः** हैं। अधियज्ञ-दृष्टि से बर्हि कुशमय यज्ञाङ्ग है। अधि दैवत दृष्टि से वह अग्नि का ही प्रतीक है। यास्क की व्युत्पत्ति के अनुसार 'बर्हिः परिबर्हणात।[१५१९]' दुर्ग उसका अर्थ करते हैं 'उखाड़ना', उपारना अथवा 'वृद्धि पाना' बढ़ते जाना।

अथवा नाना वर्ण रूप है एवं विश्व देवगण की वरेण्य अथवा काम्य है ८।२२।१२। 'विश्ववार' के दो अर्थ हो सकते हैं – 'विश्व-वरेण्य' अथवा 'विश्व को जो आवृत करता है'। देवता के सन्दर्भ में दोनों ही अर्थ होते हैं। किन्तु 'दीधिति' के समय द्वितीय अर्थ ही सङ्गत। 'विश्वारा दीधिति' वह ध्यान चेतना जो विश्व को आवृत करती है (तु. स भूमि 'विश्वतो वृत्वा'ऽत्य अतिष्ठद दशाङ्गुलम् १०।९०।१)। ध्यान चेतना की इस व्याप्ति में ही औपनिषद् ब्रह्म का अनुभव। 'यजध्यै' – 'इड्' अथवा एषणा के 'प्रथम होता' अग्नि, क्योंकि वे ही हम सब के भीतर अमृत की 'एषणा जगाते हैं। 'दीधिति' अथवा ध्यानदीप्ति उनका यजन करने जा रही है अर्थात् उनको प्रबुद्ध करने जा रही है। ध्यान में देवता मूर्त होंगे, फिर उनके ही प्रीतिकर प्रसाद या अनुग्रह से एषणा शुरू होगी। 'इषितः' एवं 'इलः' (दोनों ही < √इष् 'चाहना' 'दौड़ना' बहुत तेज़ चलना) देवता की व्यञ्जना वहन करते हैं। अग्नि हमारे भीतर एषणा जगाते हैं, जिससे हम परम को खोजते हैं। फिर हमारी दीधिति उनके भीतर संवेग जगाती है। इस प्रकार ईल. (ईळ) मनुष्य और देवता के परस्पर आप्यायन अथवा अन्योन्य सम्भावन के देवता हैं।

१५१९. नि. ८।८।

वेद में उखाड़ने के अर्थ में बृह् धातु का अनेक प्रयोग है।[१] किन्तु बर्हि के मूल में स्पष्टत: ही बृह् धातु है, जिसका अर्थ है 'बढ़ते जाना'। ध्वनिसाम्य के कारण जान पड़ता है कि बर्हि: में इन दो धातुओं के अर्थ की ही व्यञ्जना है। कुछ उखाड़ने पर वह बढ़ जाता है (दुर्ग) यही भावना उसके पीछे है। मन्त्रतृण से इषीका की भाँति अपने शरीर से हृदय सन्निविष्ट अङ्गुष्ठ मात्र अन्तरात्मा के 'प्रवर्हण' अथवा उन्मूलन की चर्चा कठोपनिषद् में है।[२] उसके फलस्वरूप वहाँ आत्मा के 'महान्' अथवा 'बृहत्' होने की ध्वनि, प्रकरण से[३] समर्थित होती है। यास्क की व्युत्पत्ति के मूल में अनुरूप भावना का रहना बहुत ही सम्भव है। 'परि' (प्रत्येक दिशा में) यह उपसर्ग उसका सूचक है। यज्ञ-कार्य में देवताओं के लिए आसन बिछाने के उद्देश्य से कुश को उखाड़ा जाता है। छिन्न कुश यज्ञ का अङ्गीभूत होकर बृहत् होता है। उस समय वह 'बर्हि:' अर्थात् 'ब्रह्म' अथवा बृहत् की भावना का प्रतीक है। एक ही धातु से 'ब्रह्म' के अनुरूप 'बर्हि:' संज्ञा का निष्पादन सम्भवत: पारिभाषिक है। शतपथ ब्राह्मण में बर्हि: को 'भूमा' कहा गया है[४]; इस संज्ञा की व्युत्पत्ति के अनुकूल यह अर्थ है। लक्षणीय है कि संहिता में भी 'बर्हि:' के सम्बन्ध में 'प्रथन' अथवा विपुल होकर फैल जाने का उल्लेख बार-बार किया गया है।[५] इस प्रसङ्ग में बृहती छन्द का विधान भी व्यञ्जना वह है।[६]

फिर देखते हैं कि निघण्टु में बर्हि: 'उदक' अथवा 'अन्तरिक्ष' है।[१५२०] एक प्राण का प्रतीक है और दूसरा प्राणभूमि है। ऐतरेय ब्राह्मण में बर्हि: को 'पशु' बतलाया गया है : वह भी प्राण का ही प्रतीक है।

---

१. तु. वृह माया अनानत (इन्द्र) ६।४५।९, उद् वृह रक्ष: सहमूलम् इन्द्र ३।३०।१७, प्रवृहा पृणत: ६।४४।११....।

२. क. २।३।१७।

३. तु. क. २।३।१४, ३-४, ८, १४, १।३।१३...।

४. श. १।५।४।

५. तु. ऋ. व्यु उ प्रथते वितरं वरीय: १०।११०।४ (लक्षणीय. 'वरीय:' महावैपुल्य) ७०।४, ५।५।४; मा. २०।३९, २९।४, २९।

६. मा. २१।१५, २८।२७।

१५२०. निघ. १।१२; १।३।

लक्षणीय है कि बर्हि: 'उद-भिद्' अर्थात् भूमि फोड़ कर उगता है। उसको आसानी से निर्मूल नहीं किया जा सकता। उखाड़ लेने पर उसकी सुई जैसी तेज़ नोक द्युलोक की ओर उन्मुख रहती है। इसी से बर्हि: को नि:सङ्कोच द्युलोक का भिसारी अजर प्राण की एषणा कहा जा सकता है। और फिर, अन्तरिक्ष मध्यस्थान है। बृहती, सातों छन्दों के बीच का छन्द है; हृदय 'मध्य आत्मा'[१] अथवा योगासीज शरीर का मध्य देश है; छान्दोग्योपनिषद् की वैश्वानर-विद्या में पाते हैं कि 'वक्षस्थल ही वेदी है, उसका सारा लोम (रोयाँ) बर्हि: है और हृदय गार्हपत्य अग्नि है।'[२] इससे हम समझ सकते हैं कि हृदय में बिछा हुआ बर्हि: उन्मुख प्राण का आसन है, जो मूलाधार से समिद्ध होकर यहाँ उठ आया है।

बर्हि: के प्रसङ्ग में संहिता में इन दो धातुओं का प्रयोग उपलब्ध है – जिसमें 'स्तृ' धातु का अर्थ है फैलना, बिछाना एवं 'वृज' का टेढ़ा करना, झुकाना, मोड़ देना।[१५२१] देवता के लिए कुश का आस्तरण बिछाए जाने के अर्थ में स्तृ धातु का प्रयोग सहज साध्य है। किन्तु वृज् धातु का प्रयोग किस अर्थ में किया गया है? वह सुस्पष्ट नहीं। दुर्ग (अग्नि के पक्ष में) प्रच्छेदन, प्रस्तरण एवं प्रणयन ये तीन अर्थ देते हैं। छेदन के अर्थ की कल्पना सम्भवत: व्रश्च।। वृश्च धातु के साथ वृज् धातु के साङ्कर्य के कारण आई है।[१] किन्तु निघण्टु में ही वृज् धातु से बल के अर्थ में वर्ग:। **वृजनम्**।[२] उपलब्ध है। झुकाने, टेढ़ा करने अथवा मोड़ने में बल की ज़रूरत पड़ती है। वेद के अनेक स्थानों में सहचरित 'इष्' एवं 'ऊर्ज्' अर्थात् अभीप्सा एवं गोत्रान्तर की व्यञ्जना इस प्रसङ्ग में स्मरणीय है। दुर्ग द्वारा कल्पित प्रणयन अर्थ के

---

१. क. २।१।१२, ३।१७।

२. ५।१८।२। यह यज्ञ का आध्यात्मिक प्रतिरूप है।

१५२१. द्र. ऋ. १।१४२।५; जहाँ इन दो धातुओं का एक साथ प्रयोग है। यजमान का एक साधारण विशेषण है 'वृक्तबर्हि:' १।१२।३।, ३।२।५, ६, ५।२३।३....।

१. तु. निघ. वृणक्ति । वृश्चति वधकर्मा २।१९। किन्तु 'वृक्त बर्हि:' 'वृक्त < √वृज्, नहीं तो वृक्ण' होता।

२. निघ. २।९; तु. ऊर्ज्।

मूल में भी बल की ध्वनि है। यास्क द्वारा उदाहृत मन्त्र में बर्हिः का प्रवर्जन यदि आस्तरण अर्थ में भी ग्रहण किया जाता है, तो उसमें बल का प्रयोजन इस रूप में होता है। कुश के अग्रभाग को पूरब की ओर अथवा उत्तरमुखी करके – विशेषतः पूर्वमुखी करके बिछाया जाता है। इसलिए बर्हिः का एक विशेषण 'प्राचीन' है।[३] पूर्व दिशा आलोक की अर्थात् 'तिमिर विदार उदार अभ्युदय की' दिशा है और उत्तर व्याप्ति चैतन्य की विश्वोत्तीर्णता अथवा लोकोत्तरता की ओर ऊपर उठने की दिशा है। बर्हि का मूल अँधेरे में मिट्टी के नीचे रहे, इससे क्षति नहीं। किन्तु जब हम उसे उखाड़ कर लाएँगे और देवता का आसन बिछाएँगे तब शीर्ष आलोक के उदयन वा उत्तरायण की ओर रखेंगे। यही 'प्रस्वर्जन' हुआ अर्थात् प्राण की एषणा को अन्धकार के गुहाशयन से 'प्रवृढ़' अथवा उन्मूलित करके उसको ज्योतिर्मुख करना। उसके लिए 'ऊर्ज' अथवा मोड़ देने वाले या दिशा बदलने वाले बल की ज़रूरत होती है। जो ऐसा कर सकता है, वह 'वृक्त बर्हिः' है। उन्मुख प्राण को यदि हम इस प्रकार ज्योति की ओर देवता के आसन रूप में बिछा पाने में सक्षम हों, तभी वह 'प्रथित' होता है अर्थात् विपुल, बृहत् होकर फैलता है। प्राण का यह वैपुल्य ही 'ब्रह्म' है। उस के साथ 'बर्हिः' के व्युत्पत्ति-साम्य का मूल यहाँ है।

ऋक् संहिता का कथन है कि सहस्रवीर्य के आधार इसी प्राण का आसन ओजः शक्ति द्वारा दिव्य भाव में तन्मय होकर द्युलोक की नाभि में बिछाना पड़ता है।[१५२२] वसुगण, रुद्रगण एवं आदित्यगण यहाँ आकर आसन ग्रहण करते हैं।[१] मनीषी वहाँ अमृत का दर्शन करते हैं।[२] माध्यन्दिन संहिता में बतलाया गया कि इस बार छन्द के और चार अक्षर बढ़ने पर बृहती हुआ, और बछड़ा भी तीन बरस का हुआ।[३]

---

३. ऋ. १।१८८।४, ९।५।४, १०।११०।४; मा. २०।२९, २९।२९।

१५२२. तु. प्राचीन बहिर् ओजसा सहस्त्रवीरम् अस्तृणन्, यत्रादित्या विराजथ १।१८८।४; ९।४।, ३।४।४।

१. १।१८८।४, २।३।४; मा. २८।४....।

२. ऋ. स्तृणीत बहिर् ...मनीषिणः, यत्रा मृतस्य चक्षणम् १।१३।५।

३. मा. २१।१५, २८।२७।

अब हम उत्सर्ग-भावना के चतुर्थ सोपान पर आ गए। प्राण की एषणा ज्योतिर्मुख एकाग्रता द्वारा द्युलोक की ओर उन्मुख हुई। उसके ही द्वारा हृदय में परमदेवता का आसन रचा। विश्वामित्र ने कहा –

'तुम सब के निमित्त' धूर्तिहीन (अकुटिल) साधना द्वारा ऊर्ध्वगामी उन्नत पथ रचा गया। उन्मुख शुक्ल शिखाएँ पार कर गई कितने भुवन। द्युलोक की नाभि में आसीन हैं होता। हम बिछा देते हैं देवताओं द्वारा व्याप्त (मन लगाकर) बर्हिः को।[१५२३]' – अर्थात् सहज

१५२३. ऊर्ध्वो वा गातुर् अध्वरे अकार्य ऊर्ध्वा शोचींषि प्रस्थिता रजांसि, दिवो वा नाभान्य असादि होता स्तृणीमहि देवव्यचा वि बर्हिः ३।४।४। 'ऊर्ध्वः गातु' ऊर्ध्व उन्नत पथ। निघ. 'गातु' पृथिवी १।१। 'अध्वरे' सहज की साधना में स्रोत के प्रतिकूल उठने या ऊर्ध्वपथ की चर्चा परवर्ती युग के साधन शास्त्रों में नाना रूपों में हुई है। यहाँ का वर्णन कुण्डलिनी के ऊर्ध्वस्रोता होने के प्रसङ्ग की याद दिला देता है। 'वाम्' – अर्थात् तुम दोनों का, बर्हिः और अग्नि का (साः)। बर्हिः का ऊर्ध्व पथ मर्त्य प्राण का ऊर्ध्व स्रोत है। 'रजांसि – अर्थात् प्राणलोक समूह की ओर। लक्षणीय' इसके बाद ही है 'देवीर् द्वारः' अथवा ज्योति के द्वारों का प्रसङ्ग। ज्योति का ऊर्ध्वस्रोत एक के बाद बाद एक प्राणलोक तब तक पार करके चलता रहता है, जब तक कि ज्योति में ज्योति मिल नहीं जाती। 'दिवः नाभा' (= नाभौ) < √नभ ॥ नह 'बाँधना' नि. नाभिः सन्नहनात्, नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्ते ४।२१; तु. GK. omphalos, Lat. inbilicus Germ. nabel, Eng. navel, nave; also Lat. umbo 'knob, boss on a shield'। जहाँ सब मिलकर गाँठ पड़ जाये, उससे 'ग्रन्थि, मर्मस्थान' (तु. मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः ६।४७।२८)। चक्र (चक्का, पहिया) की नाभि प्रसिद्ध है, जहाँ अर या शलाकाएँ आकर मिलती हैं। आध्यात्मिक दृष्टि में इस कल्पना से नाड़ी-ग्रन्थि भी 'नाभि'। नाभि में अरसमूह (तीलियाँ) 'समर्पित' होता है, उससे नाभि चित्त एकग्रता का भी प्रतीक है। तु. अमी ये सप्त रश्मयस् तत्रा रश्मयस् तत्रा में नाभिर् आतता १।१०५।९; 'अयम् (इन्द्रः) ईयत ऋतयुगभिर् अश्वैः स्वर्विदा नाभिना चर्षणिप्राः' अर्थात् ये इन्द्र गमन करते हैं ऋतु युक्त अश्व और स्वज्योति की प्रथक नाभि के द्वारा उपलक्षित होकर, जो चरिष्णु या विचरणशील हैं, उन्हें आपूरित करके

के छन्द में हमारा चलना, उसमें कहीं भी कौटिल्य नहीं? अतएव, जीवन में मर्त्य की एषणा और गुहाहित अमर्त्य की अभीप्सा[१] दोनों के ही निमित्त आज हमने ऊर्ध्व, उन्नत पथ की रचना की है। उसी पथ से होकर समिद्ध अग्नि की उत्तरवाहिनी शिखाएँ कन्दमूल से निकल कर तीव्रगति से प्राणसमुद्र के कूलों-किनारों को पार करके बढ़ रही हैं। पथ के बीच-बीच में एक-एक ज्योति-ग्रन्थि है। हम वहाँ ही

(तु. क. 'सदश्व' एवं 'मन: प्रग्रह' १।३।६, ९ 'चर्षणी' उद्यमी साधक, तु. ऐब्रा. चरैव ७।१५) ६।३९।४। नाभि ज्योतिर्मय ग्रन्थि (तु. 'विवस्वति नाभा' १।१३९।१, अधियज्ञ दृष्टि में उत्तरवेदि, अध्यात्म-दृष्टि में हृदय) पृथिवी की नाभि अग्नि १।५९।२ (तु. १।१४३।४ टी. १२५७(२), ३।५।९, २९।४ टी. १३२२(१), १०।१।६; सोम भी पृथिवी की नाभि में ९।७२।७, ८२।३ पर्जन्य के रूप में ८६।८)। दैव्य होतागण के वर्णन के अनुसार पृथिवी की नाभि में जिस प्रकार अग्निग्रन्थि है, उसी प्रकार उसके ऊपर और भी तीन ग्रन्थि हैं (नाभा पृथिव्या अधि सनुष त्रिषु २।३।७; तु. चतस्रो नाभो (< 'नाभ्') निहिता अवो दिवो हविर् भरन्त्य् अमृतं घृतश्चुत: ९।७४।६ टी. १२४३(३) सोमस्रावी ग्रन्थि)। जिस प्रकार सब के नीचे पृथिवी की नाभि यह एक चिद् ग्रन्थि (तु. मणिपूर), उसी प्रकार द्युलोक की नाभि एक और ग्रन्थि (तु. सहस्त्रार)। दोनों के मध्य तीन या चार नाभि का क्रम बौद्ध तन्त्र की इन चार ग्रन्थियों अर्थात् नाभि में आनन्द, हृदय में परमानन्द, भ्रूमध्य में विरमानन्द और मस्तक में सहजानन्द का स्मरण करवा देता है। सोम ऋत् की नाभि एवं अमृत (९।७४।४) है उसे नाभि के नीचे नहीं उतरने देना है (९।१०।८ टी. १२५५(३); तु. 'दिवि ते नाभा परमो य आददे' द्युलोक की नाभि में बँधी है सोम की परमनाभि ९।७९।४)। 'बर्हि: वि स्तृणीमहि' – बर्हि: अग्नि का सहचर, अग्नि का एक और विभाग। प्रत्येक लोक अथवा चक्र में अग्नि के जाने पर उनको आवृत कर बर्हि का प्रवर्जन और विस्तरण करना होगा अर्थात् प्राण को समेट कर फैला देना होगा (तु. सूर्य के तेज का समूहन एवं रश्मि का व्यूहन – ई. १६)। 'देवव्यचा' < √व्यच् 'फैलाना, बिखराना, आच्छन्न, आच्छादित करना', जो देवता को आच्छादित किए हुए है; ऊह्य या अनुमेय 'मनसा'। पदपाठ: 'देवव्यचा:', किन्तु उससे अर्थसङ्गति होती नहीं।

१. तु. ऋ. १।१६४।३०, टी. १३८९।

देवता का आसन स्थापित करते हैं और ज्योतिरग्रा एषणा की कुशमुष्टि उसके ऊपर बिछा देते हैं। उस समय हमारा अन्तर देवता को आलिङ्गित करके देवमय हो जाता है।

उसके बाद पञ्चम आप्री देवता 'देवीर् द्वार:' अथवा ज्योतिर्मयद्वार हैं। कात्थक्य कहते हैं कि द्वार के अर्थ में यज्ञग्रह के द्वार का बोध होता है और शाकपूणि कहते हैं कि द्वार अग्नि है।[१५२४] ये द्वार अग्निशिखा के प्रतीक हैं, इसलिए यह संज्ञा बहुवचनान्त है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार अग्नि देवयोनि है, उससे यजमान 'वेदमय ब्रह्ममय अमृतमय....हिरण्य शरीर' होकर जन्म लेते हैं।[१] द्वार के सम्बन्ध में यास्क द्वारा उद्धृत मन्त्र[२] में इसी भावना की ध्वनि है।

प्रतीक रूप में संहिता में द्वार का प्रसङ्ग अनेक स्थलों पर है। द्वार जिस प्रकार किसी को या कुछ भी ओट में रखता है, उसी प्रकार फिर भीतर घुसने का रास्ता भी खोल देता है।[१५२५] अन्धकार का आवरण हट जाते ही रुद्ध द्वार हो जाता है 'देवीर् द्वार:' अथवा ज्योति का दुआर (दरवाज़ा)। उसकी आड़ में है अश्व (ओज:), गो (प्रातिभ संवित), यव (तारुण्य), वसु (ज्योति) रयि (प्राण संवेग) इष् (इष्टार्थ) अथवा सिन्धु (अमृत ज्योति की धारा)।[१] देवता उसे हमारे निकट अर्गला तोड़ कर अनावृत करते हैं। यह अर्गला तोड़ने अथवा

१५२४. नि. ८।१०।

१. ऐब्रा. १।१२, २।३।

२. ऋ. व्यचस्वतीर् (सुविपुला) उर्विया (विशाल होकर) वि श्रयन्ताम् (खुल जाते हैं) पतिभ्यो न जनय: (पत्नियाँ) शुम्भमाना: (स्वयं को शोभना करके) १०।११०।५। ज्योति के द्वार से यजमान के निष्क्रय के रूप में आहुतियाँ ऊपर उठ जाएँगी, देवगण नीचे उतर आएँगे, अथवा यजमान ही लौट आएँगे हिरण्यशरीर होकर। ज्योति के सब द्वार अग्नि रूप में इसी नवजातक की देवयोनि हैं।

१५२५. तु. नि. द्वारो जवतेर् वा वारयतेर् वा ८।९; आधुनिक व्युत्पत्ति <**IE.** dhuor, **GK.** thÊra 'door' ।

१. तु. दुरो अश्वस्य दुर इन्द्र गोर् असि दुरो यवस्य वसुन इनस्पति: १।५३।२, ७२।८, ८।५।२१, ९।४५।३, ६४।३।

दुआर खोलने का काम अग्नि, इन्द्र एवं सोम करते हैं।[२] इसके अलावा अश्विद्वय, उषा[३] एवं देवगन्धर्व विश्वासु अथवा सविता भी यही काम करते हैं।[४] प्रथम तीनों ऋग्वेद के तीन मुख्य देवता हैं और इनके बाद तीन देवता चित् सूर्य के उदयन के प्रथम तीन पर्व या सोपान के देवता है। इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि पृथिवी से द्युलोक तक वितत, व्याप्त देवयान का जो आलोकपथ है, उसके ही प्रत्येक सोपान या पड़ाव-पड़ाव पर ये ज्योति के तोरण हैं। इसकी आध्यात्मिक व्यञ्जना का उल्लेख संहिता में ही है: वहाँ कहा गया है कि यह द्वार 'ऋत् का द्वार' है, और भी स्पष्ट कहा गया है 'मति का द्वार' है और एक स्थल पर 'इन्द्र का द्वार' है।[५] शतपथ ब्राह्मण में इन छ: ब्रह्म द्वारों– 'अग्निर्, वायुर, आपश्, चन्द्रमा, विद्युद्, आदित्य इति' का उल्लेख प्राप्त होता है, जो स्पष्टत: चेतना के उत्क्रमण के एक विशेष

---

२. अग्नि १।६८।१०, ६९।५, १२८।६, २।२।७, ३।५।१ टी. १३४२(५), ७।९।२, उत द्वार उशतीर् वि श्रयन्ताम् उत देवाँ उशत आवहेह १७।२ टी. १३३८(१), ८।३९।६ टी. १४५७(१२); इन्द्र १।१३०।३, प्र सूनृता दिशमान ऋतेन दुरश् च विश्वा अवृणोद् अप स्वा: ३।३१।२१ (१०।१२०।८), ६।१७।६, १८।५, ३०।५; सोम् ९।४५।३ (६४।३)।

३. अश्विद्वय: दृलहस्य चिद् गोमतो वि व्रजस्य (गोष्ठ के, ग्रन्थि के) दुरो वर्त गृणते चित्रराती ६।६२।११, ८।५।२१; उषा: यद् अद्य भानुना वि द्वाराव् वृणवो दिव: १।४८।१५, ११३।४, व्य अव्रञ्छुचय: पावका: ४।५१।२, ७।७९।४

४. सविता: सस्विम् (<√ स्ना, सन, सोम का जयन्त अभिषेक) अविन्दच चरणे नदीनाम् (नदियों के प्रवाह में नाड़ी तन्त्र में) अपावृणोद दुरो' अश्म व्रजानाम् (पत्थरों से घिरे गोष्ठों का; सविता इन्द्र रूप में) १०।१३९।६।

५. अयम् उ ते सरस्वति वसिष्ठो 'द्वाराव् ऋतस्य' सुभगे व्य् आव: (विवृत किया है, उद्घाटित किया है), वर्ध शुभ्रे ७।९५।६; अप 'द्वारा मतीनां' प्रत्ना ऋण्वन्ति कारव: (कीर्तन करने वाले), वृष्णो: (वीर्यवर्षी सोम का) हरस (जल उठने के लिए) आयव: (जो 'आयु' अथवा प्राणाग्नि स्वरूप; मनन या चिन्तन का द्वार उन्होंने खोल दिया, जिससे उनके प्राण में सोम की धारा आग हो जाए) ९।१०।६, ८।६३।१ (तु. 'अन्तरेण तालुकेय एष स्तन इवावलम्बते, सेन्द्रयोनि:' तैउ. १।६।१)।

क्रम का बोधक है।[६] उपनिषद् में भी ब्रह्मद्वार का उल्लेख नाना रूपों में है।[७]

छान्दोग्योपनिषद् के लोकद्वार की व्याख्या में द्वारभावना का एक सुष्ठु परिचय प्राप्त होता है।[१५२६] सुत्या दिवस सोमयाग का प्रधान अनुष्ठान दिवस है। उस दिन प्रात:, दोपहर और सायङ्काल सोम कूटकर उसके रस की आहुति अग्नि में देनी पड़ती हैं (सवन)। ब्रह्मवादियों का कहना है कि प्रात: सवन वसुगण के, माध्यन्दिन सवन रुद्रगण के और तृतीय सवन आदित्य गण एवं विश्वेदेवगण के अधिकार में है। एक-एक देवगण का स्वधाम एक-एक लोक हुआ। पृथिवी लोक वसुदेवगण का, अन्तरिक्ष लोक रुद्रगण का, द्युलोक आदित्यगण एवं विश्वदेवगण का स्वधाम है। निश्चित रूप से प्रत्येक लोक देवाधिष्ठित होने के कारण ज्योतिर्मय अथवा चिन्मय है। यह समझा जाता है कि प्रत्येक लोक का एक-एक द्वार है, जो अविद्वानों के निकट 'परिघ' अथवा अर्गला से अर्गलित है, अवरुद्ध है। विद्वान् यजमान प्रत्येक सवन के पहले लोकपाल देवगण के निमित्त सामगान करते हुए कहते हैं, 'लोक द्वारा अपावृणु' अर्थात् आलोकलोक के द्वार खोल दो। एक-एक करके तीन द्वार खुल जाएँगे और यजमान को क्रमानुसार राज्य वैराज्य एवं अन्त में स्वाराज्य और साम्राज्य का अधिकार प्राप्त होगा। ये संज्ञाएँ पारिभाषिक हैं। पार्थिव प्रकृति के ऊपर अधिकार राज्य, विराट् प्राण प्रकृति के ऊपर अधिकार वैराज्य, चिन्मयी आत्मप्रकृति के ऊपर अधिकार स्वाराज्य एवं महाप्रकृति के ऊपर अधिकार साम्राज्य हुआ। आध्यात्मिक दृष्टि से इस ज्योति के द्वार को

---

६. श. ११।४।४।१। अग्नि पृथिवी स्थानीय आदित्य द्युस्थानीय दोनों के बीच उत्क्रमण के क्रम या धारा के अनुसार चार अन्तरिक्ष स्थान द्वारों का सन्निवेश या विन्यास। ब्रह्मद्वार की भावना में दोषयुक्त हवि भी समृद्ध (समिद्ध) होकर ब्रह्म का सायुज्य और सालोक्य उपलब्ध करवा देती है। समग्र ब्राह्मण ही द्रष्टव्य।

तु. मैत्र्युपनिषद् ४।४, ऐउ. नान्दन द्वार १।३।१२, छा. ब्रह्म के द्वारपाल हैं वाक्, चक्षु, श्रोत्र, वायु (प्राण), मन ३।१३।६; मु. सूर्यद्वार १।२।११, क. विवृतं सद्मं १।२।१३...।

१५२६. छा. २।२४, ८।५।६-६; द्र. वेमी. टीमू. प्रथमखण्ड।

पार करने की एक और व्याख्या इसी उपनिषद् में ही प्राप्त होती है। आदित्यलोक से हम सब के हृदय तक आदित्यरश्मि द्वारा रचित एक महापथ है उसी पथ से होकर आदित्यरश्मियाँ आदित्यमण्डल से हृदय के नाड़ी-चक्र में अनुप्रविष्ट होती हैं एवं नाड़ी चक्र से परावृत्त होकर पुन: आदित्य मण्डल में लौट जाती हैं। विद्वान् जब शरीर त्याग देते हैं, तब इसी रश्मि के सहारे ओङ्कार के उच्चारण के साथ ऊपर उठते जाते हैं एवं पलक गिरते ही आदित्य ज्योति के महावैपुल्य में उतर जाते हैं। यह आदित्यमण्डल ही लोकद्वार है; वह विद्वान् के लिए खुला रहता है, अविद्वान् के लिए अर्गला द्वारा अवरुद्ध होता है। हृदय के साथ एक सौ एक नाड़ियाँ ग्रथित हैं। उनमें जो एक मस्तक की ओर चली गई है, विद्वान् उसको ही पकड़ कर ऊपर उठ जाने पर अमृतत्व प्राप्त करते हैं। अन्य नाड़ियाँ सीधे न जाकर अनेक दिशाओं में गई हैं।[१]

उपनिषद् में जो लोकद्वार है, संहिता में वही 'देवीर् द्वार:' अर्थात् दोनों ही संज्ञाओं का व्युत्पत्तिगत अर्थ ज्योति का दुआर या द्वार है। हम पहले ही बतला चुके हैं कि शतपथ ब्राह्मण में उनके एक क्रम का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार 'वृष्टिर् वै दुर:' ये द्वार वर्षण हैं;[१५२७] अर्थात् एक-एक द्वार खुल जाते हैं और उत्तरलोक की ज्योति, इस आनन्द और शक्ति के धारावाही वर्षण से आधार प्लावित हो जाता है। इस भावना का बीज ऋक्संहिता में ही है। ऋषि ब्रह्मातिथि काण्व अश्विद्वय को सम्बोधित करते हुए कहते हैं 'तुम अहना (उषा) का पता जानते हो, द्युलोक की इष्टद्युति और अन्तरिक्ष की नदियों को झरने दो हम सब के ऊपर, द्वार खोल दो।'[१]

---

१. तु. क. २।३।१६; गी. ८।९-१३; इस प्रसङ्ग में और भी तु. पूर्वोक्त ब्रह्मद्वार, नान्दनद्वार, सूर्यद्वार, ब्रह्मरन्ध्र।

१५२७. ऐब्रा. २।४।

१. ऋ. उत नो दिव्या इष उत सिन्धूँर् अहर्विदा, अप द्वारेव वर्षथ:– ८।५।२१। मन्त्र का वर्षथ: √ वृ का लोट् अथवा √ वृष् का लट् दोनों ही हो सकता है। यह प्रयोग स्पष्टत: शिलष्ट। सायण ने वर्षण अर्थ ग्रहण किया है; तु. ५।८४।३।

संहिता के वर्णन में आप्रीसूक्त का यह 'देवीर् द्वार:' हिरण्मयी उशती अथवा उद्विग्न[१५२८] है। अवरोध का उन्मोचन करके वे जो वैपुल्य लाते हैं, उसकी सूचना इन सब विशेषणों–'विराट्, सम्राट्[१] विभ्वी:, प्रभवीर्, बह्वीश् च भूयसी;'[२]; 'व्यचस्वती:'[३] 'उरुव्यचस:',[४] 'बृहती:' के माध्यम से प्राप्त होती है,[५] माध्यन्दिनसंहिता के अनुसार यहाँ आकर छन्द के और चार अक्षर बढ़ जाने पर वह पंक्ति हुआ, और बछड़ा भी चार बरस का हुआ।[६]

अब हम उत्सर्ग–भावना के पञ्चम सोपान पर आए। विश्व चेतना का प्रभास उस पार से उतरा, उसके ही आलोक में देवयान के उत्तरापथ में हम ज्योति के सात तोरण अर्थात् अपनी अभीप्सा की उत्सर्पिणी शिखा का वितान या विस्तार देख पाए। उनकी प्रशस्ति हम विश्वामित्र के कण्ठ से सुनते हैं–'इन सात आहुतियों को अन्त:करण से वरण किया (विश्वदेवता ने), विश्वभुवन का अतिक्रमण करके (मेरी) ओर अग्रसरित हुए ऋत के छन्द में। पौरुषरञ्जिता (ज्योति की रक्षिकाएँ) विद्या की साधना पूर्वकालीन हैं'।[१५२९] अर्थात् उत्तरायण के पथ पर चेतना के अभियान में प्रत्येक

१५२८. ऋ. ९।५।५, मा. २८।२८; खि. १०।७०।५।

१. तु. छा. २।२४।

२. विराट्, सम्राट्....भूयसी: दरो घृतान्य अक्षरन् १।१८८।५। 'विभ्वी' विचित्र 'प्रभ्वी' समर्थ; शक्तिशाली; तु. १।९।५ संख्या में 'बह्वी', प्रसार में 'भूयसी'। तु. छा. भूमा ७।२३।१; ऋ. उरु अनिबाध ५।४२।१७, ४३।१६। 'घृत का क्षरण' ज्योति का निर्झरण।

३. ऋ. २।३।५, १०।११०।५; मा. २०।६०, २१।३४, २८।२८, २९।३०।

४. मा. २७।१५।

५. मा. २९।३०।

६. मा. पंक्तिश् छन्द:....तुर्यवाड् गौ: २१।१६, २८।२८।

१५२९. ऋ. सप्त होत्राणि वृणाना इन्वन्तो विश्वं प्रति यन्न ऋतेन, नृपेशसो विदथेषु प्र जाता अभीमं यज्ञं वि चरन्त पूर्वी: ३।४।५। **सप्तहोत्राणि**–'होत्र' <√ हु 'आहुति देना' अथवा ह्वे 'आह्वान करना'। 'होत्रम्' एवं 'होत्रा' ये दो रूप हैं। प्रकरण भेद से कहीं आहुति-मन्त्र अथवा कहीं होमकर्म का बोध होता है। होता का कार्य भी 'होत्र' (२।१।२, १०।९१।१०, ५१।४,

पर्व या सोपान पर सात बार स्वयं की आहुति दी जाती है, तब विश्वदेवता मेरे आह्वान का उत्तर देते हैं और मेरी आहुतियों को दिव्य मन के प्रकाश में वरण कर लेते हैं। उसका लक्ष्य व्यक्त होता है जीवन में छन्द-सुषमा के आविर्भाव में, उसके ऊपर उनकी उच्छलित ज्योति के प्लावन में।....न जाने कब से परम को प्राप्त करने की अविश्रान्त अविराम साधना चल रही है। आँखों के सामने बारी-बारी से एक-एक ज्योति के द्वार खुलते जाते हैं। मन के उस पार प्रज्ञान की भूमि पर चिरन्तनी होकर हैं जो ज्योति की अङ्गनाएँ, वे सब उसी द्वार-पथ से होकर मेरे उत्सर्ग की साधना में अपनी वीर्योद्दीप सुषमा के साथ उतर् आएँ।

आप्रीसूक्त के षष्ठ देवता उषासा-नक्ता अथवा 'नक्तोषसा' अर्थात् उषा और सन्ध्या हैं। संहिता में दोनों का अग्नि के

५३।४...); 'होता का पात्र' २।३६।१। निघ. 'वाक्' १।११, 'यज्ञ' ३।१७। 'सप्त होत्र' सात बार आह्वान करना एवं सात बार आहुति देना—दोनों का ही बोध हो सकता है (तु. द्रप्स्ं जुहोम्य् अनु सप्त होत्राः १०।१७।११, येभ्यो होत्रां प्रथमाम् आयेजे मनुः समिद्धाग्निः ... सप्त होतृभिः ६३।७ टीमू. १३५३)। यह पद वर्तमान ऋक् में श्लिष्ट है, आहुति के साथ आह्वान की व्यञ्जना जुड़ी हुई है। सात आहुतियों से ज्योति के सात द्वार खुल जाएँगे और सात नदियों का प्लावन आधार में उतर आएगा। रहस्य के अर्थ में वेद में सप्त सङ्ख्या का अनेक प्रयोग है। अवरार्ध के तीन तत्त्व एवं उसके ही मूल और आयतन रूप में परार्ध के तीन तत्त्व और दोनों के बीच सेतु के रूप में एक तत्त्व इसी से सप्त की कल्पना। 'वृणानाः'— विश्वेदेवाः' अह्वावा अनुमेय। 'ऋतेन प्रतियन्' — (तु. एम् एनं 'प्रत्येतन' सोमेभिः सोमपातमम् (इन्द्रम्) ६।४२।२) मेरे आह्वान पर देवता सामने आकर उपस्थित हुए। उनके आने का एक छन्द है, जो उस समय मेरे जीवन में भी व्यक्त होता है। 'नृपेशसः' पौरूष का रङ्ग लगा है जिनमें। ये सब 'देवीर् द्वारः हैं। अग्नि की शिखा ही एक भूमि से अन्य एक भूमि का पथ खोल देती है। यह कार्य साध्य है। अथ च देववीर्य में स्वाच्छन्द्रा का औज्जवल्य है।

साथ सम्बन्ध नाना रूपों में उल्लिखित होने पर भी[१५३०] यास्क अपनी व्याख्या में इसकी चर्चा नहीं करते हैं; किन्तु दुर्ग का कहना है कि किसी-किसी की दृष्टि में उषा अग्नि की दीप्ति है और नक्त आहुति की दीप्ति है। भावना की दृष्टि से यह व्याख्या अधिक प्राञ्जल नहीं। उसकी अपेक्षा शौनक संहिता की यह उक्ति ही बहुत गहरी है; ये 'अग्नेर् धाम्ना पत्यमाने' अर्थात् अग्नि की निरुढ़, सहज स्वभाविक ज्योति की शक्ति से सब कुछ पर शासन करती हैं, जो कुछ है सब पर इनका प्रभुत्व है।[१] कैसे? किस प्रकार? वह क्रमशः स्पष्ट होगा।

उषा वैदिक देवियों में सुषमा अथवा सौन्दर्य की दृष्टि से अनुपमा हैं। उनके वर्णन में ऋषियों की काव्य-प्रतिभा उत्कर्ष के चरम बिन्दु पर पहुँच गई है, जिसे यूरोपीय पण्डितों ने भी स्वीकार किया है कि विश्व के किसी भी धर्म-साहित्य में अद्भुत सुषमा की ऐसी मनोलोभा, मनोहारिणी छवि और कोई उभरी ही नहीं। नारीत्व के समस्त माधुर्य से मण्डित करके ऋषियों ने अन्य किसी देवता को हृदय के इतने निकट पाया ही नहीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने उषा के परिप्रेक्ष्य में निसर्गश्री या प्राकृतिकसौन्दर्य को भी किसी समय भुलाया नहीं। अतएव प्रकृति, नारी और देवी अर्थात् महाशक्ति के इन तीन रूपों का एक अद्भुत समन्वय वैदिक उषा के रूपायन में दिखाई देता है।

उषा द्युलोक की बेटी, भग की बहन, सूर्य की पत्नी, और अग्नि की माता है अर्थात् 'जननी, तनया, जाया, सहोदरा' के रूप में नारीत्य के सारे रूपों को ही ऋषियों ने उनमें उजागर किया है। तब भी नवयौवना भावोल्लासमयी कुमारी के रूप में ही उनको चित्रित करने

१५३०. ऋक् संहिता में अग्नि 'उषर्भुत्' (१।६५।९, १२७।१०, ४।६।८, ६।१५।१.....) एवं 'दोषावस्तृ' (प्रदोष=सायङ्काल को प्रदीप्त करते हैं १।१।७, ४।४।९, ७।१५।१५; तु. क्षपां वस्ता जनिता सूर्यस्य ३।४९।४ इन्द्र), और भी तु. १।९५।१ टी. १३९९४, अग्निहोत्री का सान्ध्यमन्त्र; द्र. टी. १५३३।

१. शौ. उरुव्यचसा ग्नेर .... ५।२७।८ (आप्री सू.)।

में उनका समस्त आनन्द केन्द्रित था। तब स्वाभाविक रूप में ही तन्त्र की त्रिपुर सुन्दरी षोडशी ललिता का प्रसङ्ग मन में उभर आता है। उषा के अनेक नाम हैं, तब भी निघण्टु में उनके सोलह नाम निर्धारित किए गए हैं; क्या वह यही सङ्केत वहन करता है? वैदिक भावना में अमृतचेतना की पूर्णता के साथ सोलह सङ्ख्या का रहस्यमय सम्बन्ध है। एक ओर षोडशकल सोम्य पुरुष, दूसरी ओर अमृतकलारूपिणी षोडशी कन्याकुमारी–दोनों भावनाएँ ओत-प्रोत हैं साधारण रूप में देखने पर भी वैदिक उषा का रूप इली षोडशी का रूप है। उनको वरुण की 'जामि'[१५३१] अथवा आत्मीया कहना भी अर्थपूर्ण है। अदिति के प्रसङ्ग में अदिति-वरुण के युगनद्ध रूप की चर्चा आगे चलकर करेंगे। लगता है, उषा-वरुण उसी सामरस्य का पूर्वाभास है अर्थात् रहस्यनिविड़ अकोषाय आकाश-चेतना में अरुण-राग का प्रथम रोमाञ्च है। इस कारण उषा की भावना में कवि हृदय का इतना उल्लास छलक पड़ा है। ज्योति की एषणा के प्रथम सोपान पर वे 'उर्वशी बृहद्दिवा' हैं,[१] जिनके लिए मर्त्य के पुरूरवा के क्रन्दन का विराम नहीं, जिनको बार-बार वह प्राप्त करता है और खोदता है। किन्तु एषणा के अन्त में सम्भवतः वे ही फिर 'माता बृहद्दिवा' अर्थात् विश्वशिल्पी त्वष्टा की स्वप्न-सङ्गिनी हैं।[२] दोनों स्थान पर वे 'बृहद्दिवा अथवा बृहत् की ज्योति हैं– जिसे वैदान्तिक 'ब्रह्मज्योतिरूपिणी' कहेंगे।

आध्यात्मिक दृष्टि से यही ज्योति प्रातिभ संवित् अथवा मानसोत्तर विज्ञान की सहज स्फुरत्ता या चेतना का स्वाभाविक स्पन्दन है। साधना उस समय अन्तरिक्ष की द्वन्द्व-भूमि से द्युलोक के स्वतःस्फुरण की आधार-भूमि पर उत्तीर्ण हुई। यदि तब भी उजाले और अँधेरे का द्वैत रहता है, तो आशङ्का का कोई कारण ही नहीं। क्योंकि उस समय तिमिरजयी उजाले की निश्चित सम्भावना प्रत्यक्षानुभूत एक सत्य है और अरुणराग का मध्याह्न-दीप्ति में रूपान्तरण ऋतच्छन्द की एक घटना मात्र है। यही कारण है कि

१५३१. ऋ. भगस्य स्वसा वरुणस्य जामिः १।१२३।५।

१. ५।४१।१९।

२. १०।६४।१०।

ऐतरेय ब्राह्मण उषा को 'अहन्' के प्रतीक के रूप में मानता है[१५३२] संहिता में भी उषा 'अहना' हैं।[१] उषा का सङ्क्षिप्त परिचय यहाँ समाप्त करते हैं, विस्तारपूर्वक विवेचन द्युस्थान देवता के प्रसङ्ग में किया जाएगा।

उषा की सहचारिणी **नक्ता** अथवा सन्ध्या[१५३३] है। उषा जिस प्रकार दिन का प्रतीक है, उसी प्रकार सन्ध्या रात्रि का प्रतीक है। ऋकसंहिता में उषा की वन्दना के प्रायः बीस सूक्त हैं, किन्तु रात्रि के प्रति रचित दशम मण्डल में मात्र एक सूक्त है।[१] परन्तु उसमें ही उनका वैशिष्ट्य उजागर हुआ है। वहाँ बतलाया गया है कि वे 'देवी' हैं– वे भी 'दिवो दुहिता' हैं, 'ज्योतिषा बाधते तमः' अर्थात् ज्योति द्वारा अन्धकार को दूर कर देती हैं। यह ज्योति चन्द्र की अथवा तारे की अथवा वारुणी-शून्यता की है। पृथिवी में अग्नि की ज्योति है, अन्तरिक्ष में विद्युत की ज्योति है और द्युलोक में सूर्य की ज्योति है। उसके भी ऊपर स्वर्लोक में पूर्णिमा और अमा की ज्योति है। उसके भी ऊपर की ओर ऐसा स्थान है, जहाँ दिन अथवा रात किसी की भी ज्योति नहीं रहती, किन्तु स्वधा में निष्पण्ण 'केवल' वही 'एक' हैं, जिनकी भाति या दीप्ति से इन सबकी अनुभा अथवा विच्छुरित आत्मदीप्ति है।[२] भोर के उजाले से अमानिशा के विवर तक एवं उसको भी पार करके इन सब में चेतना के उत्तरायण का स्पष्ट चित्र उभरता है।

१५३२. ऐब्रा. अहोरात्रे वा उषासानक्ता २।४।

१. ऋ. गृहं गृहम् अहना यात्य् अच्छा दिवे दिवे अधि नामा दधाना १।१२३।४।

१५३३. नि. नक्तेति रात्रिनामानक्ति (भिगो देती है) भूतान्य अवश्यायेन (ओस से) अपि वा नक्ता व्यक्तवर्णा ८।१०, **IE.** nogt, **Gr.** núkta] **Germ.** nacht 'night' पर्यायवाची शब्द 'दोषा' तु. दोषाम् उषासम् ईमहे, ५।५।६ (आप्री सू.)। और भी तु. 'य (अग्नि) उ श्रिया दमेष्व आ दोषोषसि प्रशस्यते २।८।३, (अग्निं) दोषा य उषसि प्रशंसात् ४।२।८, तम् इद् दोषा तम् उषसि ७।३।५।

१. १०।१२७।

२. द्र. ऋः १०।१२९।२; श्वे. ४।१८, क. २।२।१५।

आलोक और अन्धकार इन दोनों को लेकर सत्ता की पूर्णता है। इसलिए संहिता में कहा जा रहा है कि उषा और नक्ता ये दो बहनें हैं। उनमें जो रूप-वैषम्य[१५३४] है, उसे स्वीकार कर लेने पर भी वेद में बाद-बाद उनके रहस्यमय साम्य के ऊपर ही जोर दिया जा रहा है। एवं कहा जा रहा है कि वे दोनों ही सुरञ्जना, सुरूपा हैं, सुरुचिरा हैं और अनुत्तम या सर्वोत्तम श्री से दीप्ति हैं,[१] ये दोनों सुदर्शना महीयसी 'दिवो दुहिता' हैं;[२] वे वारुण्यचञ्चला हैं, सुशिल्पिनी हैं, यौवन के आनन्द से लबालब हैं।[३] वे फिर महीयसी जननी हैं; स्तन्यभावातुरा हैं, ऋत् की माता हैं, अग्निरूपी एकमात्र शिशु को दूध पिला रही हैं;[४] इन्द्र उनके वत्स हैं, तेज द्वारा उनको संवर्धित करती हैं।[५] वे अमृता हैं; यज्ञ के प्रारम्भ में वे दोनों ही आकर सङ्गत होती हैं, विश्व का सारा रहस्य जानने के कारण मर्त्य की चेतना में वे ही उत्सर्ग की भावना को लेकर आती हैं और उसका तन्तु-वितान बुनती रहती हैं।[६]

वैदिक-साधना में अग्निहोत्र एक सुसाध्य किन्तु मुख्य याग है। सन्ध्या और उषा इस याग के दो काल हैं। सब ओर पसरे अँधेरे की

१५३४. वे दानों 'विरूपे' : ऋ. 'नक्ता च चक्रुर उषसा विरूपे कृष्णं च वर्णम् अरुणं च सं धूः' १।७३।७, 'नक्तोषासा समनसा विरूपे ११३।३, ३।४।६, ५।१।४, टी. १३६६(२)....।

१. 'सुपेशसा' १।१३।७, १४२।७, १८८।६, १०।३६।१; २०।६१, २१।१७, ३५; प्रैष(७)। 'सुरुक्मे' ऋ. १।१८८।६, १०।११०।६, मा. २०।४१। 'अधि श्रिया विराजतः' १।१८८।६।

२. ७।२।६, ९।५।६, १०।११०।६; मा. २७।१७, २८।२९ (तु. दिवो दुहितरा १०।७०।६।(३)

३. यह्वी ऋ. ५।५।६, मा. २०।६१। 'सुशिल्पे' ९।५।६, १०।७०।६, मा. २९।६। 'वयोवृधा' ऋ. ५।५।६।

४. 'मातरा मही' मा. २८।६। 'सुदुघे' मां २०।४१, ऋ. 'सुदुघेव धेनुः' ७।२।६। 'ऋतस्य मातरा' १।१४२।७, ५।५।६; १।९६।५ टी. मू. १४५७।

५. २८।६।

६. ऋ. १।११३।२; मा. यज्ञानाम् अभि संविदाने २९।६; ऋ. उषासानक्ता विदुषी व विश्वम् आ हा वहतो मर्त्याय यज्ञम् ५।४१।७; तन्तुं सवयन्ती २।३।६ (मा. २०।४१)।

निःसङ्गता में याज्ञिक के हृदय में सन्ध्या नित्यजाग्रत अग्नि की भावना का सञ्चार करती हैं और उषा विश्व को सूर्य की ज्योति से प्लावित करती हैं। इस प्रकार इन दो दिव्य योषाओं अथवा नारियों के[१५३५] ज्योतिः सूत्र के वितान में यज्ञकर्त्ता के अहोरात्र व्यापी क्षणों के मणिबिन्दु गुँथ जाते हैं। यही कारण है कि कालव्याप्ति के इन दो प्रमुख प्रतान का इतना महत्त्व है। उषा मित्र (सूर्य) की दीप्ति और सन्ध्या वरुण की दीप्ति है। मित्र और वरुण के बीच तथा व्यक्त और अव्यक्त के बीच उनका आना-जाना नित्य हुआ करता है।[१] काल के इस युग्म छन्द के रहस्य को जो जानते हैं, वे ही अहोरात्रविद् हैं। और इसी से वे सृष्टि और प्रलय का रहस्य भी जानते हैं। जिसके कारण काल के आवर्तन के ऊर्ध्व में वे स्वयं को प्रतिष्ठित कर सकते हैं।[२]

इस प्रकार हम उत्सर्ग-भावना के षष्ठ सोपान पर आए। अँधेरे की अर्गला खुल गई, सामने एक के बाद एक ये सात द्वार देख रहे हैं, जो हिरण्यवर्णा सूर्य-योषा के अधिकार में हैं। किन्तु उससे भी ऊपर की ओर वर्णोत्तर तिमिर-सागर के तट पर देखो चिरकुमारी सन्ध्या हाथ हिलाकर इशारे से बुला रही है।[१५३६] वह हमें वरुण के अव्यक्त रहस्य के अतल में ले जाएगी। ज्योति अन्धकार दोनों की ही माया को जानने के बाद हम सत्ता के सत्य को जान पाएँ।

माध्यन्दिनसंहिता के अनुसार चार अक्षर और बढ़ने से इस बार छन्द त्रिष्टुप् हुआ है और बछड़ा भी छः बरस का हुआ। विश्वामित्र देख रहे हैं कि 'यही तो एक दूसरे के निकट आमने-सामने झिलमिला रही हैं उषा और (सन्ध्या) दोनों। फिर तनु में अननुरूपा दोनों मुस्करा रही हैं (वे हँस रही हैं) जिसके कारण मित्र व वरुण हमारा उपभोग करते हैं; और (उपभोग करते हैं) मरुत्सम

१५३५. ऋ. उत योषणे दिव्ये मही नः ७।२।६।

१. मा. अन्तरा मित्रा वरुणा चरन्ती मुखं यज्ञानाम् अभि संविदाने २९।६।

२. गी. ८।१७-२१।

१५३६. तु. सामविधान ब्रा. कन्यां ..... युवतीं कुमारिणीम् ३।८।२, जिसके कारण वे असम्भूति स्वरूपिणी। द्र. 'स्तरीर् ना. त्कं वसाना' टी. १२६६(५) ह्वयामि रात्रीं जगतो निवेशनीम् ऋ. १।३५।१ टी. १३८५।

इन्द्र ज्योतिः शक्ति की महिमा से'।[१५३७] अर्थात् उषा और सन्ध्या–एक ज्योतिवर्णा है और एक श्यामवर्णा है। किन्तु प्रपञ्चोल्लास और

१५३७. ऋ. आ भन्दमाने उपसा उपाके उत स्मयेते तन्वा ३ विरूपे, यथा नो मित्रो वरुणो जुजोषद् इन्द्रो मरुत्वाँ उत वा महोभिः ३।४।६। 'आ' – ('सीदाताम्' ऊह्य अथवा अनुमेय) तु. १।१४२।७, १३।७, आ नक्ता बर्हिः सदताम् उषासः ७।४२।५, उषासानक्ता सदतां नि योनौ १०।७०।६ (११०।६); मा. ऋतस्य योनाव इह सादयामि २९।६। उषा और सन्ध्या के लिए प्राण के मूल (बर्हिः, हृदय) में, ऋत, की गहराई में, सत्ता की गहनता में ('नि योनौ') आसन बिछाया गया है। वे आधार के पूरे आयतन पर उपविष्ट होंगी। **भन्दमाने–** <√ भन्द् <√ भद्।। भन् 'बात करना' नि. भन्दना भन्दतेः स्तुतिकर्मणः ५।२; निघ. 'जल उठना' १।१६, 'अर्चना करना, गान करना' ३।१४; तु. **IE.** bhad 'good', **Goth.** batiza 'better'। ऋ. भन्दते धामभिः कविः (अग्निः) ३।३।४। और भी तु. 'भद्र' उज्ज्वल; शोभन, सुमङ्गल) उज्ज्वला, प्रदीप्ता। **उपाके**–(विशेषण. आद्युदात्त, द्विवचन <'उपाका' : तु. ऋ. आ भन्दमाने उपाके नक्तोषासा सुपेशसा १।१४२।७, यजते उपाके उषासनक्ता १०।११०।६। अन्तोदात्तः सिन्धोर् ऊर्मा उपाके आ १।२७।६, प्रभर्ता रथं दाशुष 'उपाके' (इन्द्रः) १७८।३, 'तब स्वादिष्ठाग्ने संदृष्टिर् इदा चिद् अह इदा चिद् अक्तोः, श्रिये रुक्मो न रोचते उपाके ४।१०।५, भद्रं ते अग्ने सहसिन् अनीकम् उपाकआ रोचते सूर्यस्य ११।१ सूर उपाके तन्वं दधानः (इन्द्रः) १६।१४, २०।४, ७।३।६ टी. १३३४(९) ....। निघ. 'अन्तिक' २।१६, 'उपक्रान्ते' नि. ८।११ ('उपगम्य इतरेतरं क्रान्ते' दुर्ग)। < उप √ अच् चलना') सन्निकट, पास-पास। **स्मयेते**' (<√ स्मि 'मुस्कराना; **Eng.** smile, SWed. smile, **Lat.** mirari. 'to Wonder') तु. ऋ. उषा की (१।९२।६, १२३।१०), विद्युत् की (१।१६८।८; एवं मेघवाष्पोज्ज्वल आकाश की (२।४।६) (स्मिति; मुस्कराहट का सुन्दर वर्णन) उषा और सन्ध्या दोनों ही सुस्मिता। भोर की फूटती हुई ज्योति और सन्ध्या की म्लान दीप्ति दोनों के साथ ही स्मितहास की उपमा दी जा सकती है। एक आरम्भ और एक अन्त। दोनों की ही प्रशान्ति अग्निदीप्त चेतना के ऊपर एक स्निग्ध प्रसन्नता बिछा देती है। 'मित्र वरुणः मरुत्वान् इन्द्रः' – मित्र और वरुण बृहत् ज्योति के व्यक्त और अव्यक्त प्रभास। उषा और

प्रपञ्चोपशम की प्रसन्नता उनके अधरों पर तैरती मधुर मुस्कान में फूट पड़ी है – मेरी चेतना में वे दोनों नित्य सहचारी हैं। जिनमें एक आविर्भाव नेपथ्य में होता है और दूसरी की छवि अरुणिम कमनीयता में उजागर होती है। अपने नित्य जागरण के इन दोनों सन्धिक्षणों में हमें इन्हीं दो तरुणियों का आविर्भाव चाहिए। उनकी सुस्मिति' व्यक्त की (दीप्ति और अव्यक्त का रहस्य तथा वज्रवीर्य के झञ्झावात की

सन्ध्या में उनका पूर्वाभास। इन दोनों ज्योति-दुहिताओं की स्मिति से उत्तरपथिक की चेतना में उसी महावैपुल्य की ही प्रातिभद्युति प्रकट होती है। यह द्युलोक की अर्थात् अबाध, अपरिमित ज्योति के राज्य की घटना है। किन्तु उसके पहले अन्तरिक्ष की अनेक बाधाओं को पार करके आना पड़ता है। इन्द्र उन बाधाओं को दूर करते हैं। उनके वज्रवीर्य एवं मरुद्गण अथवा ज्योतिर्मय विश्वप्राण की सहायता से वृत्र की बाधा दूर होने पर ध्यानी की चेतना में फूटता है उषा और सन्ध्या की मुस्कान में मित्र का उदार आलोक और वरुण का अव्यक्त रहस्य। **महोभिः** – तु. ऋ. अख्यद् देवो (अग्निः) रोचमाना (उषसः) महाभिः ४।१४।१, उषो देवि रोचमाना महोभिः ६।६४।२; उभयत्र 'महः ' ज्योति है। फिर 'महत्' (< √मह्) बृहत् (निघ. ३।३)। दोनों को मिलाकर जो अर्थ प्राप्त होता है, वह है 'ज्योति का छिटकना, फैल जाना' और यह होता है अँधेरे को पराजित करके। इसलिए उससे शक्ति की व्यञ्जना का बोध होता है (तु. अधारयतं पृथिवीम् उत द्यां मित्र राजाना वरुणा महोभिः ५।६२।३)। उससे 'मघ' शक्ति। इन्द्र जब 'मघवान्' तब इशारा शक्ति की ओर; और उषा 'मघोनी' तब इशारा ज्योति की ओर। अतएव मनुष्य के भीतर 'मघवान्' कभी यजमान के ऐश्वर्य का बोध कराता है या फिर कभी ऋत्विक् का। यह 'मघवान्' सर्वत्र ही Patron, यह परिकल्पना सत्य नहीं। ज्योति, शक्ति और व्याप्ति तीनों के समावेश से 'महः'। उपनिषद् में 'महः' ब्रह्मवाचक 'चतुर्थी व्याहृतिः' (तै. १।५।१); निघ. 'उदक' १।१२, अन्तरिक्ष में प्राण का सभुद्रवत् विस्तार (तु. ऋ. महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना १।३।१२, – अन्तरिक्षखुरिणी सरस्वती अपने प्राण और प्रज्ञा की झलक से ज्योति के समुद्र को प्रचेतन करती हैं)। अतएव 'महः' < √मह 'बड़ा होना, उज्जवल होना, समर्थ होना' ।। मंह 'दान करना' निघ. ३।२० 'बड़ा करना' इसी अर्थ में। तु. नि. ३।१३। IE megh, GK. megas 'great'

मत्तता को प्रकाश के विपुल प्लावन में हमारे भीतर उतार ले आए। आत्म-सत्ता के अकुण्ठ समर्पण में देवता की कामना को तर्पण हो।

अनुक्रमणिका में आप्रीसूक्त के सप्तम देवता हैं 'दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ'। किन्तु निघण्टु में केवल 'दैव्यौ होतारौ' है। विशेषण के रूप में 'प्रचेतसौ' आदिम स्फुरण एवं बिन्दु से सिन्धु होने तक में उसके क्रमिक विस्फारण की सूचना देता है। यह केवल माध्यन्दिन-संहिता एवं प्रेष-सूक्त में है।[१५३८]

ये दैव्य होता कौन है? उसे लेकर वितर्क अथवा विकल्प की सृष्टि हुई है। यास्क के अनुसार वे 'अयं चाग्निर् असौ च मध्यमः'[१५३९] अर्थात् अग्नि एवं वायु हैं। ये एक 'होता' निश्चय ही अग्नि हैं, क्योंकि वेद में इस संज्ञा पर उनका ही एकाधिकार है– मुश्किल से कहीं इन्द्र, सोम अथवा अश्विद्वय 'होता' हैं। सूर्य को एक स्थान पर 'होता वेदिषत्'[१] कहा गया है, किन्तु वहाँ अग्नि-सूर्य की एकात्मता की ध्वनि सुस्पष्ट है। आङ्गिरस मूर्धन्वान ने सूर्य और वैश्वानर अग्नि दोनों को मिलाकर जिस सूक्त की रचना की है, उसमें 'यो होतासीत् प्रथमो देवजुष्टः' है: लक्ष्य करने योग्य है कि एकाधिक स्थानों पर 'दैव्या होतारा प्रथमा' का उल्लेख प्राप्त होता है।[२]

इस भावना से हम भलीभाँति परिचित हैं कि अग्नि होता के रूप में आधार में विश्वदेवता का आवाहन करते हैं। सामान्यतया सारे देवता ही 'होता' हैं अर्थात् जिस किसी भी इष्ट देवता की उपासना व्यक्ति चेतना को विश्व-चेतना में विस्फारित और विस्फुरित करती है–, यही वेदसम्मत बृहत् की साधना का मूल भाव है। देवता तब साधक के रूप में मेरे भीतर होता अग्नि हैं मेरी 'देवहूति' उनकी ही देवहूति अर्थात् मैं होकर उनका स्वयं ही स्वयं को बुलाना है। इस प्रकार मेरे भीतर पहले वे ही 'उशन्' अथवा उतावले होकर उतरते हैं।

१५३८. मा. २८।७, ३९; प्रैष. ८।

१५३९. नि. ८।११।

१. ऋ. ४।४०।५।

२. १०।८८।४; १।१८८।७, २।३।७, ३।४।७, १०।११०।७; मा. २९।७। तु. ऋ. दैव्या होतरो .... पूर्वे १०।१२८।३ टी. १५४०।

और वही मुझे भी उद्विग्न कर देता है, मैं उनके निकट पहुँचना चाहता हूँ। उनका पहले उतर आना देवयज्ञ- अर्थात् स्वयं को मेरे भीतर उड़ेल देना है। इसलिए अन्योन्यसम्भावन रूप इस यज्ञ में दो देवहूति– अर्थात् एक है अग्नि का आह्वान विश्वदेवता को, और एक है विश्व देवता का आह्वान अग्नि को। अतएव मनुष्य की ओर से अग्नि जिस प्रकार 'दैव्य होता' हैं, उसी प्रकार विश्वदेवता की ओर से वे भी 'दैव्य होता' हैं। ऋक् संहिता के इस एक मन्त्र में इसके कारण की सूचना मिलती है। विहृय आङ्गिरस कहते हैं, 'देवगण मेरे भीतर अग्निस्रोत ढाल दें, मुझ में आकाङ्क्षा रहे, देवहूति रहे। और दैव्य होता– जो पुरातन हैं (मेरा) उपभोग करें। हम सब सुवीर्य होकर तनु से निर्दोष-निखोट हों'।[१५४०]

दो दैव्य होता के रूप में एक तो साधक और एक साध्य है। एक जो पृथिवी स्थानीय अग्नि, जिन्हें आध्यात्मिक दृष्टि से तप अथवा अभीप्सा की शिखा कहते हैं, वह स्पष्ट ही समझ में आता है। तो फिर दूसरे को द्युस्थानीय कोई एक देवता कह सकते हैं। आप्रीसूक्त के अतिरिक्त 'दैव्य होतारा' का उल्लेख ऋक्संहिता में और दो स्थानों पर है।[१५४१] प्रथम मन्त्र में अग्नि से भिन्न 'होता' वायु हो सकते हैं, क्योंकि मन्त्र में वायु का अलग उल्लेख है। द्वितीय मन्त्र में सायण बतलाते हैं कि ये दो दैव्य होता अग्नि एवं आदित्य हैं। अग्नि के साथ सूर्य के पूर्वोल्लिखित सायुज्य[१] से सायण की इस परिकल्पना का समर्थन प्राप्त होता है। उसके अलावा आप्रीसूक्तों में एकाधिक बार दैव्य होता के साथ अश्विद्वय के सायुज्य का उल्लेख प्राप्त होता है।

१५४०. ऋ. मयि देवा द्रविणम् आ यजन्तां मय्य् आशीर् अस्तु मयि देवहूतिः, दैव्या होतारो वनुषन्त पूर्वे ऽरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः १०।१२८।३। शौ. पाठः दैवा होतारः सनिषन् एतत् ५।३।५। 'देवाः' विश्वे देवाः – वे सभी होता हैं। मेरे भीतर आग उड़ेल कर वे अनादिकाल से मेरा उपभोग करते हैं, यही उनकी 'हति' है। उसका ही नामान्तर है विश्वदेव गण द्वारा आधार में अग्निजनन, तु. ऋ. ३।१।४, २।३, १०।८८।९ टी. १४७७(१)....।

१५४१. ऋ. त्वष्टारं वायुं .... दैव्या होतरा ... ईमहे १०।६५।१०; दैव्या होतरा प्रथमा पुरोहिता ६६।१३।

१. ४।४०।५, १०।८८ सूक्त।

अश्विद्वय द्युस्थानीय देवताओं में आदि देवता हैं। इसी से दैव्य होता में एक को पृथिवी स्थानीय अग्नि एवं दूसरे को द्युस्थानीय आदित्य के रूप में मानना ही सही है। फिर एक बात और कि दोनों दैव्य होता के मनुष्य सदृश रूप ऋत्विकों में ये कौन हैं? दुर्ग बतलाते हैं कि ये होता एवं मैत्रावरुण हैं। ऋक् संहिता में मैत्रावरुण का प्राचीन नाम 'उपवक्ता' अथवा प्रशास्ता है। पशुयाग में वे होता को प्रैषमन्त्र द्वारा याज्या-पाठ की अनुमति देते हैं, होता के सामने दाहिनी ओर दण्ड धारण किए थोड़ा झुक कर खड़े रहते हैं। सोम, याग में द्युस्थानीय मित्रावरुण का शंसन करने के कारण, उनका नाम 'मैत्रावरुण' हुआ है। मनुष्य ऋत्विक् की यह सब विशेषताएँ यदि दैव्य ऋत्विक् में उपचरित होती हैं, तो मनुष्य होता के आदर्श स्थानीय एक दैव्य होता जिस प्रकार अग्नि होंगे, उसी प्रकार एक और कोई भी लोकोत्तर प्रशास्ता देव अथवा आदित्य मित्रावरुण होंगे।[२] इसलिए सायण की परिकल्पना ही इससे समर्थित होती है। यास्क ने अपनी व्याख्या में सम्भवतः अन्य किसी एक सम्प्रदाय से सम्बन्धित धारा का अनुसरण किया है। उपनिषद् के प्रमाण से जान पड़ता है यह सम्प्रदाय प्राणब्रह्मवादी है।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार 'दैव्यौ होतारौ' प्राण और अपान हैं।[१५४२] ऋक्संहिता में प्राण आकर्षण और अपान विकर्षण की शक्ति है।[१] इन दोनों में छन्द का एक दोलन है, जो पूर्वोक्त पारस्परिक आह्वान जैसा ही है। तो फिर ये दोनों देवता इस आधार में ही हैं।[२]

---

२. ऋक् संहिता में एक स्थान पर प्रशासन 'दिव्य कर्म' (दिव्यस्य प्रशासने १।१२२।३) है, और एक स्थान पर हिरण्यगर्भ का 'व्रत' (उपासते प्रशिषं यस्य देवाः १०।१२१।२) है, अन्यत्र अग्नि का प्रशासन ८।७२१....। उपनिषद् में अक्षर का प्रशासन प्रसिद्ध बृ. ३।८।९।

१५४२. ऐब्रा. २।४।

१. ऋ. १०।१८९।२।

२. आधुनिक साधनाशास्त्र की भाषा में कहा जा सकता है कि एक तो जीव शक्ति के रूप में मूलाधार में, नाभि में अथवा हृदय में हैं, और एक शिव रूप में सहस्रार में, परमव्योम में हैं। एक-दूसरें को बुला रहे हैं। रामकृष्ण देव कहा करते थें कि 'मेरे भीतर लगता है कोई बलाता है, चकवा। ठीक

संहिता में दैव्य होताओं का यही परिचय है। देवहूति जब उनका विशिष्ट 'व्रत' अर्थात् वह देवता का बुलाना अथवा देवता को बुलाना जिस किसी अर्थ में ही क्यों न हो– तब उनकी वाणी मधुक्षरा होगी। अतः वे 'सुजिह्वा' 'मन्द्रजिह्वा' 'सुवाचसा' हैं[१५४३] वे 'प्रचेतसौ'– अर्थात् अग्राभिसारी चेतना की क्रमिक व्याप्ति के निमित्त हैं।[१] वे 'विदुष्टरौ' अथवा सर्ववित्, सर्वज्ञ, 'कवी, अथवा क्रान्तदर्शी एवं 'नृचक्षसा' अर्थात् मनुष्य की ओर निहार रहे हैं, विश्वभुवन को देख रहे हैं।[२] मनुष्य को विद्या की साधना में वे ही प्रेरक हैं, 'प्राचीन ज्योति, के वे ही दिग्दर्शक हैं।[३] वे हमारी 'अध्वर' साधना को ऊर्ध्वगामी करते हैं,[४] भौमवायु के पथ पर चलकर जल उठते हैं,[५] और पार्थिव आधार की नाभि या केन्द्र में सही समय पर चित् शक्तियों को भलीभाँति अभिव्यक्त करते हैं, फिर उसके बाद उन्हें और भी तीन कूटों या शिखरों पर व्यक्त करते हैं।[६] मनुष्य के यज्ञ में वे ही प्रथम होता हैं, क्योंकि मनुष्य होतागण इनके प्रतिनिधि मात्र हैं और मनुष्य यज्ञ देवयज्ञ की ही अनुकृति है।[७] हमारे यज्ञ में वे ही ऋत्विक् हैं, वे ही पुरोहित हैं, उसे द्युलोक में विश्वचेतना के तट पर उत्तीर्ण करते हैं और उसके अन्त में मधुमयी अमृतचेतना का सञ्चार करते हैं।

वैसे ही ऊपर से कोई एक उत्तर देता है, चकवी!' यह तो जैसे रात के अँधेरे में चकवा-चकवी के जोड़े के बीच विरह का एक दुस्तर स्रोत बह रहा है। आसमान में उजाला फूटने पर ही वे मिल सकेंगे।

१५४३. ऋ. १।१३।८, १।१४२।८; १।१८८।७, १०।११०।७, मा. २०।४२।

१. मा. २८।३०, प्रैष, ८।

२. ऋ. २।३।७, १०।७०।७; १।१३।८, १४२।८, १८८।७, मा. २८।७, ३०, प्रैष, ८। ऋ. ९।५।७, मा. पश्यन्तौ भुवनानि विश्वा २९।७।

३. ऋ. प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता १०।११०।७ (तु. मा. २०।४२, २९।७)।

४. ऋ. ऊर्ध्वं नो, अध्वरं कृतं हवेषु ७।२।७ मा. २७।१८, शौ. ५।२७।८

५. ऋ. वातस्य पत्मन्न् ईलिता ५।५।७ (वात, द्र. १०।१६८ सू., तु. ऊपर की ओर नाड़ी स्रोत का उद्दीपन, उत्तेजन)।

६. नाभा पृथिव्या अधि सानुष् त्रिषु २।३।७ द्र. नाभ् टी. १५२३।

७. २।३।७, ३।४।७, १०।११०।७, मा. २९।७, ऋ. पुरोहिताव् ऋत्विजा यज्ञे अस्मिन् १०।७०।७; मा. मूर्धन् यज्ञस्य मधुना दधाना २०।४२।

अश्विद्वय की तरह वे भी भिषक् हैं, आधार की आधि-व्याधि [८]सब दूर करते हैं।

इस प्रकार उत्सर्ग-भावना के सप्तम सोपान पर आए। ज्योति का द्वार सामने खुल गया है, दृष्टि के मुक्तपथ में प्रकाश के ऊपर की ओर अँधेरे का निर्वाक् रहस्य देख रहे हैं। किन्तु उसमें छलाँग लगाने नहीं जा रहे हैं, अव्यक्त में प्रलय नहीं खोज रहे हैं। लोकोत्तर के शीर्ष पर खड़े होकर पृथिवी की ओर देखा तो देख रहे हैं कि अग्निशिखा जिस प्रकार ऊपर की ओर उठती जा रही है उसी प्रकार फिर ज्योति का प्लावन नीचे की ओर उतरता आ रहा है। भू-लोक और द्युलोक में निरन्तर दो देवहूति की ध्वनि-प्रतिध्वनि सुन रहे हैं। वे दोनों ही 'स्विष्टकृत' अर्थात् परम की कामना को इस विश्व में सिद्ध करती हैं। उसमें एक 'इषा' अथवा एषणा द्वारा और एक 'ऊर्जा अथवा कुण्डलीमोचन की शक्ति द्वारा सिद्ध करती है। उपचीयमान शक्ति के आनन्द में वे दोनों ही जगत्पावन हैं।[१५४४]

माध्यन्दिन संहिता का कथन है कि और चार अक्षर बढ़ने पर इस बार छन्द हुआ जगती और बछड़ा भी बड़ा होकर शकट वहन करने योग्य हो गया। इन दो प्रतीकों में विश्वभुवन के छन्द में गुम्फित प्राण के समर्थ सञ्चय की छवि उभरती है। ऋषि विश्वामित्र कहते हैं–

'प्रथम इन दो दिव्य होता को (अपने) अन्तर में सिद्ध करता हूँ। (देखता हूँ) सात मधुधाराएँ अपने आप में स्थित रहकर आनन्द-मग्न हैं। ऋत को स्वीकार करके ही ऋत की स्तुति करती हैं वे। व्रत के ही अनुकूल है उनका ध्यान'।[१५४५]

---

८. मा. २०।६१, २१।३६, २८।७; अग्नि-साधना का अन्तिम परिणाम मर्त्य देह को भी विजर विभृत्यु करना (श्वे. २।१२)।

१५४४. तु. प्रैष. होता यक्षद् दैव्या होतारा मन्द्रा पोतारा कवी प्रचेतसा, स्विष्टम् अद्या न्यः करद इषा स्वभिर्गूतम् अन्य ऊर्जा, संतवसे मं यज्ञं दिवि धत्ताम...८।

१५४५. ऋ. दैव्या होतारो प्रथमा न्य् ऋञ्जे सप्त पृक्षासः स्वधया मदन्ति, ऋतं शंसन्त ऋतम् इत् त आहुर् अनु व्रतं व्रतपा दीध्यानाः ३।४।७। नि.

'ऋञ्जे'– (√ ऋज् सीधे चलना, चलाना; तु. **Lat.** yegere 'to stretch, bad in a straight line, direct, conduct, rule < base reg[3] 'to straighten, direct'; > 'रजः' ज्योति (नि. रजो रजतेर्' ज्योतीरज उच्यते, उदकं रज उच्यते, लोका रजांस्य् उच्यन्ते, असृगहनी रजसी उच्येते ४।१९) 'राजा' सञ्चालक, शासक, 'ऋजु' सीधा। प्रकाश की रश्मि सीधे चलती है, उसी से √ ऋज् 'तीर की तरह सीधे चलना या चलाना, विद्युत् की तरह आलोकित होना या करना'; नि. √ ऋज् गहरे में या भीतर आकर्षित करना, नीचे की ओर टानना; वश में करना; सिद्ध करना' (नि. 'ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा' ६।२१)। देवता जहाँ कर्म, वहाँ आकर्षण करना एवं आलोकित करना इन दोनों अर्थों का सम्मिश्रण, जिस प्रकार यहाँ है) आधार के भीतर गहरे (नि) सिद्ध करता हूँ, विश्व से आकर्षित करके अपने भीतर उद्दीप्त करता हूँ। **सप्त पृक्षासः**– ('पृक्षः' <√ पृच् 'सम्पृक्त होना, युक्त होना, संयुक्त होना, संयुक्त होना'; तु. √ स्पृश्।। पृश्। ऋक् संहिता में पृक्ष के साथ अश्विद्वय का घनिष्ठ सम्बन्ध है (४।४५।१, २, १।३४।४, ४७।६, १३९।३, ४।४३।५, ४४।२, ५।७३।८, ७५।४, ७७।३, १०।१०६।१....)। फिर इनके साथ मधु का सम्बन्ध अनेक स्थानों पर है। अतः पृक्ष को मधु का नामान्तर कहा जा सकता है (निघ. 'पृक्षः' अन्न २।७; लक्ष्य करने योग्य विन्यास 'प्रयः। पृक्षः। पितुः। पितुः', आगे-पीछे दोनों शब्दों में ही आनन्द की व्यञ्जना है)। ऋक्संहिता में दो स्थानों पर 'पृक्षासो मधुमन्तः' का उल्लेख है (४।४५।२, ७।६०।४)। पूजा में 'मधुपर्क' का प्रयोग हम सब जानते हैं (तु. अग्नि 'मधुपृच्' २।१०।६)। मधु गोंद की तरह चिपचिपा, लसदार, इसलिए अनायास ही उसकी संज्ञा 'पृक्ष' हो सकती है। लक्षणीय, पञ्चामृत के उपादानों में एक गहरी संसक्ति का भाव क्रमशः ही उभरता है, जिससे अन्त में मधु खादार होकर शर्करा हो जाता है। उसी से 'पृक्ष') आनन्दमय आनन्द घन अमृतचेतना। पृक् के साथ तु. गीता का 'ब्रह्म संस्पर्श' ६।२८ (प्रतितुलनीय 'मात्रास्पर्श' २।१४, बाह्य ५।२१)= ऋक्संहिता में मित्रावरुण का 'पृक्षासो मधुमन्तः' जब 'आ सूर्यो अरुहच् छुक्रम् अर्णः, यस्मा आदित्या अक्रम् अर्णः, यस्मा आदित्या अध्वनो रदन्ति मित्रो अर्यमा वरुणः सजोषाः'– सूर्य उदित हुए देदीप्यमान लहर के रूप में, जिनके लिए रास्ता तैयार कर देते हैं आदित्यगण अर्थात् मित्र, वरुण और अर्यमा (७।६०।४; चित् सूर्य के उदय से व्यक्त और

अव्यक्त अनन्तता की आनन्द चेतना प्रगाढ़ हुई; अथ च अचित्ति के अन्धकार को चीरकर इस उदयन का पथ आनन्त्य के देवता हो रच देते हैं, जो अखण्ड सत्-चित्-आनन्द हैं)। आलोच्यमान् ऋक् के 'सप्तपृक्ष' का उल्लेख अन्यत्र भी है; 'एष स्य भानुर् उद् इयर्ति युज्यते रथः परिज्मा दिवो अस्य सानवि, पृक्षासो अस्मिन् मिथुना अधित्रयो दृतिस् तुरीयो मधुनो वि रप्शते। उद् वां पृक्षासो मधुमन्त ईरते रथा अश्वास् उषसो व्युष्टिषु, अपोर्णुवन्तस् तम आ परीवृतं स्वर् ण शुक्रं तन्वत आ रजः'– ये जो भानु उदित हो रहे हैं; जाता जा रहा है रथ जो चारों ओर सरपट दौड़ेगा इस द्युलोक की चोटी पर; उसमें रखवाया गया है तीन जोड़ा 'पृक्ष'; और चौथा है एक मधुरकोश जो छलक रहा है। (हे अश्विद्वय,) तुम्हारे मधुमय ये पृक्ष छलक-छलक जाते हैं, उछल-उछल जाते हैं, रथ और घोड़े– उषा की हँसी जब फूटती है; वह तब अपावृत करती है चारों ओर पसरा अँधेरा, और उज्ज्वल स्वर्ज्योति की तरह ढँक लेती है रजोलोक (४।४५।१-२; उदीयमान सूर्य अश्विद्वय का रथ है, उसका प्रकाश प्रत्येक दिशा में फैल जाता है; सूर्य जड़-चेतन की आत्मा हैं, इसलिए उनके भीतर सात भुवनों का आनन्द निर्झर है; अवम् भूमि और परमभूमि के एक-एक तत्त्व मिलाकर एक-एक युग्म हुआ; चौथा दोनों का सेतु हुआ, जहाँ से इस पार–उस पार दोनों ही दिखाई देता है)। **Geldner** की व्याख्या है कि अश्विद्वय के रथ में सूर्या, तीनों मिल कर, एक 'मिथुन' (जोड़ा), और चौथा मधुकोश। किन्तु सप्तपृक्ष का प्रसङ्ग अन्यत्र और भी है : अग्निं विश्वा अभिपृक्षः सचन्ते (संसक्त होता है), समुद्रं न स्रवतः सप्त यह्वीः (जैसे समुद्र में जा गिरे हैं सात चञ्चल स्रोत) १।७१।७। वस्तुतः 'सप्तपृक्ष' सात मधुनिर्झर हैं, सात मधुवन्ती धाराएँ हैं। पृथिवी और द्युलोक में दो दिव्य होता हैं; उनके बीच सात भुवनों में ये सात आनन्द निर्झर हैं। अनेक स्थानों पर इनको 'सप्तसिन्धु' कहा गया है– आधार में पत्थर के अवरोध को तोड़कर जिनको मुक्त करना वज्रधर इन्द्र का काम है। 'स्वधया मदन्ति' अपने आप में स्थित आनन्द में मत्त, जिस प्रकार 'विष्णुपद- १।१५४।४, 'अप्' अथवा प्राण की धाराएँ ७।४७।३, १०।१२४।८, पितृगण १०।१४।३....। 'ऋतं शंसन्त ऋतम् इत् ते आहुः'– ये मधुधाराएँ ऋताश्रयी एवं ऋतच्छन्दा हैं। आधार में अमृत चेतना की

अभीप्सा की अग्नि और लोकोत्तर ज्योति के प्रसादरूप में जो देवता द्युलोक-भूलोक में व्याप्त हैं, वे ही सबसे पहले आधार में परम ऋद्धि को उतारकर ले आते हैं। जिनकी व्याप्ति विश्वभुवन में है, उनको आज अपने भीतर अग्नि-मन्त्र से उद्‌बुद्ध करता हूँ और उनकी अन्योन्यसङ्गामिनी धारा की उत्तेजना का अनुभव करता हूँ। उनके स्पर्श से प्राण के पोर-पोर में आनन्द के सात निर्झर छलक उठे– जो स्वप्रतिष्ठ बल के वैभव से अस्थिर हैं, डगमग हैं। ऋतच्छन्दा होने के कारण वे यात्रा-पथ पर ऋतम्भरा वाणी को ही चुपचाप मेरे कानों में गुञ्जरित करती हैं। परम देवता का जो सत्य सङ्कल्प मेरा जीवन बीज है, वे उसकी ही संरक्षिका हैं, वे उनके ही अनुध्यान की आनन्द-मन्दाकिनी हैं।

आप्री सूक्त के अष्टम देवता हैं **तिस्रोदेव्यः** अथवा तीन देवियों का समाहार। ये देवियाँ हैं, इला, सरस्वती एवं भारती। माध्यन्दिन संहिता में उनका सामान्य परिचय इस प्रकार दिया गया– 'आदित्यगण के साथ भारती कामना करें हमारे यज्ञ को सिद्ध करने की, सरस्वती रुद्रगण के साथ हम सब की रखवाली करती रहें; इड़ा को निकट बुलाकर लाया गया है– वसुओं के साथ जिनकी समान तृप्ति; हमारे यज्ञ को ये देवियाँ अमर्त्यों में निहित करें'।[१५४६] यहाँ द्युस्थानीयदेवगण आदित्यों के साथ भारती, अन्तरिक्ष स्थान देवगण रुद्रों के साथ सरस्वती, एवं पृथिवी स्थानीयदेवगण वसुओं के साथ इला के सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।[१] ये तीन देवी तीन लोक में अवस्थित हैं। तन्त्र की भाषा में वे एक ही भुवनेश्वरी की त्रिधामूर्ति हैं। वैदिक भावना में यही भुवनेश्वरी 'अदिति वाक्' हैं– जो शत– वर्षीया इला के रूप में निर्माण प्रज्ञा की हेतुभूता, सरस्वती रूप में वृत्रघातिनी ज्योतिरीश्वरी, भारती रूप में आत्माहुति का मन्त्र

प्रतिष्ठा होने पर भीतर का आनन्द ऋतच्छन्दा होकर आचरण में भी प्रकट होता है।

१५४६. मा. आदित्यैर् नो भारती वष्टु यज्ञं सरस्वती सह रुद्रैर् न आवीत्, इडोप हूता वसुभिः सजोषा यज्ञं नो देवीर् अमृतेषु धत्त २९।८।

१. तु. नि. भारती....भरत आदित्यस् तस्य भाः (८।१३; 'इला पृथिवी स्थाना... सरस्वती मध्य स्थाना' दुर्ग)।

होकर धीरे-धीरे बढ़ती जा रही हैं। [२]इन्होंने ही अम्भृण कन्या के कण्ठ से वाणी के उद्दीपन में स्वयं की आदित्य, रुद्र और वसुगण की सहचारिणी के रूप में घोषणा की है।[३] ब्रह्म के साथ समव्याप्ता हैं[४] और परम व्योम में सहस्राक्षरा होने पर भी प्राणचञ्चला गौरी के रूप में अव्याकृत कारणसलिल को विश्व के आकार में नादशक्ति से व्याकृत करती हैं।[५] यही वाक् अध्यात्म-दृष्टि में मन्त्र चैतन्य है- अर्थात् आधार में अभीप्सा की अग्निशिखा के रूप में, तिमिर-विदारक शौर्य की वज्रशक्ति के रूप में, एवं सर्व आभासक दिव्य चेतना की दीप्ति के रूप में जिसका त्रिपर्वा स्फुरण होता है। वाङ्मयी त्रयी के इन रूपों का निरूपण क्रमश: सुस्पष्ट होगा।

इन तीन देवियों में पहले इला हैं। इस नाम का व्युत्पत्तिगत अर्थ 'एषणा' अथवा 'एषणा का साधन'[१५४७] है। एषणा अथवा अभीप्सा स्वरूपत: अग्निशक्ति है। इसलिए मनुष्य की एषणा का दिव्य रूप ही

२. ऋ. त्वम् अग्ने अदितिर् देव दाशुषे त्वं होत्रा भारती वर्धसे गिरा, त्वम् इला शतहिमासि दक्षसे त्वं वसुपते सरस्वती २।१।११। इला 'शतहिमा' मनुष्य भी 'शतहिम' अथवा शतवर्षजीवी (६।१०।७), अतएव इला पार्थिव शक्ति। 'वृत्रहा' अग्नि का विशेषण होते हुए सरस्वती में प्रयोज्य, क्योंकि सरस्वती 'वृत्रघ्नी' (६।६१।७)। उसी प्रकार 'वसुपति' के बारे में भी; तु. सरस्वती 'धियावसु:' ध्यानोज्ज्वला १।३।१०। अग्नि यहाँ अदिति एवं उनके ही ये तीन रूप हैं- इला, सरस्वती और भारती। अदिति = गो = वाक् ८।१०१।१५-१६; अदिति 'वाक्' निघ. १।११; तत्र इला भारती सरस्वती भी हैं।

३. ऋ. १०।१२५।१; तु. माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसा दित्यानाम् अमृतस्य नाभि: (=गो=अदिति=वाक्)- ८।१०१।१५।

४. १०।११४।८ टी. ११२५(६)।

५. १।१६४।४१-४२ टी. ११२५।४।

१५४७. <√ यज्।। इष् (द्र.'ईल्') > इड् > इष्।

इला है।[१] अग्नि पृथिवी स्थानीयदेवता तथा मर्त्य मानव के भीतर अमृत की आकूति है। अत: अग्निशक्ति इला भी 'पृथिवी' है।[२] एषणा का साधन यज्ञ है, जिसमें हमें स्वयं की हव्यरूप में अथवा देवता के अन्न के रूप में आहुति देनी होती है। इसलिए इला फिर अन्न भी है।[३] यह अन्न पुराजात है, पय: अथवा घृतरूप में गोजात है। अतएव इला जिस प्रकार पृथिवी है, उसी प्रकार 'गो' है।[४] फिर हम देखते हैं कि एषणा का साधन 'होत्रा' है, जो आहुति एवं देवहूति दोनों ही हो सकती है। इस दृष्टि से इला 'वाक्' है।[५] सब मिलकर इला पार्थिव अग्नि की वह शक्ति है, जो देवहूति एवं आत्माहुति के माध्यम से मनुष्य की द्युलोकाभिसारिणी एषणा के रूप में मूर्त होती है।[६]

इला के अध्यात्म एवं अधिदैवत दो रूप हैं। आध्यात्मिक इला हम सब की ज्योतिरग्रा एषणा है, जो उपनिषद् की भाषा में 'नचिकेता

१. तु. ऋ. ३।४।८ टीमू. १४२३। और भी तु. श ब्रा. इड़ा में श्रद्धादृष्टि का विधान ११।२।७।२०। श्रद्धा ने ही नचिकेता के अन्तर में सत्यैषणा जाग्रत की।

२. शा. ९।२; निघ. १।१।

३. निघ. २।७। तु. अग्नये दाशेम (दें) परी लाभिर् घृतवद्भिश् च हव्यै: (जो हव्य अग्नि के संस्पर्श से ही जल उठेगा, वह इला के साथ युक्त) ७।३।७; स (अग्नि) हव्या मानुषाणाम् इला कृतानि पत्यते (एषणा के साथ युक्त हव्य का ईश्वर) १।१२८।७।

४. श. गौर् वा इड़ा ३।३।१।४, १।८।१।२४, २।३।४।३४... निघ. २।११; तु. ऋ. धेनुमती इला। ८।३१।४; ऋतस्य सा पयसा पिन्वतेला (ऋज के क्षीर सञ्चय में स्फीत हो गईं अर्थात् ऋत् की आप्यायनी शक्ति से समृद्धा; इसीलिए धेनु की उपमा) ३।५५।१३। फिर अधियज्ञ दृष्टि में इला 'घृतपदी', १०।७०।८, 'घृतहस्ता' ७।१६।८; आनो मित्रावरुणा हव्यजुष्टिं घृतैर् गव्यूतिम् उक्षतम् इलाभि: (७।६५।४; 'गव्यूति' द्र. टी. १३३३; 'घृत' द्रव्ययज्ञ का उपकरण है, 'इला' ज्ञानयज्ञ का साधन है। उसी से अग्नि इला द्वारा समिद्ध होते हैं ३।२४।२।

५. निघ. १।११।

६. तु. ऋ. १०।११०।८, ९।१०८। १३, १।१८६।९, ६।१०।७, १।४८।१६, ८।३२।९, ३।२४।२, १।४०।४.....।

की विद्याभीप्सा' है।[१५४८] इस इला से ही आधार में अग्नि प्रज्वलित होती है,[१] जिससे आत्मोत्सर्ग सम्भव होता है,[२] और आधार में जाग उठती है मनु की मन्त्र चेतना।[३] यही इला सुवीर्या हैं, अप्रमत्ता हैं, और मुक्त अग्राभियान की प्रवर्तिका हैं,[४] तथा दैवी सम्पद् के प्रचय से हमारे भीतर संरम्भ अथवा उद्यम उत्सारित करती हैं।[५] उषा आधार को इला के द्वारा[६] अभिषिक्त करती है, सोम उसे उस पार[७] से लेकर आते हैं। एक प्रातिभ संवित् है और एक अमृत आनन्द का देवता, एक देवयान के आदि में है और एक अन्त में है।

देवी इला इसी एषणा की सिद्धिरूपिणी हैं। वे ज्योतिर्मयी हैं– उनके हाथ-पाँव ज्योतिर्मय हैं।[१५४९] आलोक यूथ की माता हैं वे,[१] मित्रावरुण की प्रेषणा द्वारा द्युलोक से निरन्तर निर्झरित होती हैं[२] अग्नि

१५४८. क. १।२।४।

१. ऋ. ३।२४।२ टी. १३५४।

२. १।१२८।७ टी. १५४६(३)।

३. आ नो यज्ञं भारती तूयम् एत्व् इला मनुष्वद् इह चेतयन्ती (१०।११०।८; मनु; मनुष्यों में सर्व प्रथम अग्नि प्रज्वलित करते हैं, इसलिए अग्नि 'मनुर्हित' ३।२।१५, १।१३।४ टी. १५ १५, १४।११, ६।१६।९... मनु मन्त्रचेतना)।

४. इलां सुवीरम् .... सुप्रतूर्तिम् अनेहसम् १।४०।४।

५. उत नो गोमतस् कृधि हिरण्यवतो अश्विनः, इलाभिः संरभेमहि (८।३२।९; गो, अश्व एवं हिरण्य क्रमशः श्रद्धा, वीर्य एवं प्रज्ञा के प्रतीक हैं; सं √ रभ् 'आरम्भ करना, उद्यमी होना' तु. सम् इषा रमेमहि १।५३।४, ५)।

६. सं नो राया वृहता विश्वपेशसा (विश्वरूप, बहुविचित्र) मिमिक्ष्वा सम् इलाभिर् आ १।४८।१६।

७. यो वसूनां यो रायाम् आनेता य इलानाम्, सोमो यः सुक्षितीनाम् (दिव्य भूमि) ९।१०८।१३।

१५४९. ऋ. ७।१६।८, १०।७०।८, द्र. टी. १५४६(४)।

१. इला यूथस्य माता ५।४१।१९, 'यूथ' (तु. 'गव्यूति' टी. १४४६, १५४६(४))

२. तु. इलां नो मित्रावरुणोत वृष्टिम् अव दिव इन्वतं जीरदानू ७।६४।२।

उनके पुत्र हैं,[३] रुद्र अथवा पूषा उनके पति हैं।[४] मनुष्य की प्रशास्त्री हैं।[५] अधियज्ञ-दृष्टि से 'इलायास् पदे' अथवा उत्तरवेदि में अग्नि का जन्म होता है– जो पृथिवी की नाभि है।[६] इसी इला के भीतर ही गुहाहित मित्रावरुण का आसन है– जो व्यक्त और अव्यक्त ज्योति की अनन्तता के देवता हैं।[७]

शतपथ ब्राह्मण में देवी इड़ा को हविरूपिणी बतलाया गया है। प्रलय के पश्चात् प्रजापति, मनु ने प्रजाकाम होकर जिस पाकयज्ञ का अनुष्ठान किया था, उसमें दी गई आहुति से कन्यारूप में उनका आविर्भाव होता है। मित्रावरुण उनकी कामना करते हैं। मनु की कन्या होने के कारण 'मानवी' फिर मित्रावरुण की सङ्गता (सहचरी) के रूप में वे 'मैत्रावरुणी'[१५५०] हैं। वे सृष्टि-यज्ञ की अन्तःस्था हैं, प्रजापति का 'आशीः' अथवा कामना हैं एवं उसकी सिद्धिरूपिणी हैं।[१] तैत्तिरीय

---

३. ३।२९।३ टी. १३६६(३)।

४. स्तनयन्तं रुवन्तम् इलस् पतिम् (५।४२।१४; रुद्र का वर्णन, अन्तरिक्ष में जो **झंझावात** का गर्जन है); पूषा सुबन्धुर् दिवे आ पृथिव्या इलस् पतिर् मघवा दस्मवर्चाः (जिनकी दीप्ति तिमिरनाशन) ६।५८।४। ल. इला पृथिवी स्थान, रुद्र अन्तरिक्ष स्थान, पूषा द्युस्थान; एषणा, प्राण और प्रज्ञा का दान।

५. इलाम् अकृण्वन् मनुषस्य शासनीम् (देवता गण) १।३१।११।

६. ३।२९।४ टी. १३२२(१); तु. १०।१।६, ९१।४ टी. १३४७(२), १।१२८।१, २।१०।१, ६।१।२ टी. १३५८(२), १०।९१।१ टी. १३५६।

७. अधिगर्ते मित्रा साथे वरुणेलास्व् अन्तः ५।६२।५ (तु. १।११५।१, अग्नि और मित्रावरुण के चक्षु सूर्य)।

१५५०. श. सो (मनुः) ऽर्चञ्छ्राम्यंश् चचार प्रजाकामः। तत्रापि पाकयज्ञेनेजे।.. ततः संवत्सरे योषित् सम्भवतः।....तया मित्रावरुणौ सङ्गम्यते।....सा मनुम् आजगाम। तां ह मनुर् उवाच, का. सीति। तव दुहतेति १।८।१।७, ८, ९; उत मैत्रावरुणीति, यद् एव मित्रावरुणाभ्यां समगच्छत २७। मनुर् ह्य एताम अग्रे ऽजनयत तस्माद् आह मानवीति १।८।१।२६। इड़ैव मे मानव्य् अग्निहोत्री ११।५।३।५; प्रसूति के प्रतिः 'इडासि मैत्रावरुणी' १४।९।४।२७....।

१. श. सा. शीर् अस्मि १।८।१।९; तयेमां प्रजाति प्रजातिं प्रजज्ञे।.... याम् वेनया का चा. शिषम् आशास्त्र, सास्मै सर्वा समाध्र्यत १०।

ब्राह्मण में वे 'मानवी यज्ञानुकाशिनी' अर्थात् मनुष्य की अभीप्सारूपिणी मनुकन्या हैं, उसकी उत्सर्ग-भावना की आद्यन्त विलसिता विद्युत् की उद्दीपना जैसी हैं।[२] जिससे संहिता में वे उर्वशी के प्रणयाकाङ्क्षी उस पुरूरवा की माता हैं– जो पुरूरवा मानवात्मा का प्रतीक है, जिसको दिवोदुहिता की क्षणिक दीप्ति ने सदा के लिए व्यग्र व बेचैन कर रखा है।[३]

सब मिलाकर इला पार्थिव चेतना की द्युलोकाभिमुखी एषणा एवं अमृत अनन्तता की चेतना में उसका रूपान्तर है। ईल अथवा इल. सन्दीप्त यज्ञाग्नि है; इला....एषणा, आहुति एवं सिद्धि के रूप में उसकी ही शक्ति है।

उसके बाद त्रयी की द्वितीय देवी **सरस्वती** हैं। इस संज्ञा के मूल में 'सरः' है। निघण्टु में उसका अर्थ 'उदक' एवं 'वाक्' दोनों ही[१५५१] है। जिसमें उदक अर्थ ही आदिम है। उससे सरस्वती का मौलिक अर्थ 'स्रोतस्वती', जल-धारा है। निघण्टु में सरस्वती से 'नदी'[१] एवं 'वाक्'[२] का बोध होता है। यास्क का कथन है कि 'नदीवद् देवतावच् च निगमा भवन्ति'[३] अर्थात् नदी एवं देवता इन दोनों रूपों में ही वेद में उनका उल्लेख है। यह चिन्मय प्रत्यक्षवाद का स्वाभाविक परिणाम है। आधिभौतिक दृष्टि से जो जल की धारा है, वही आध्यात्मिक दृष्टि से प्राण की धारा एवं आधिदैविक दृष्टि से विश्वजननी चित्शक्ति का प्रवाह है। ऋक्संहिता में सरस्वती के वर्णन में इन तीनों भावों का ही मिलन हुआ है– जैसे हमारे निकट गङ्गा एक ही साथ नदी, नारी एव माँ है। योगी के निकट गङ्गा का नारी रूप है, किन्तु साधारण लोगों के निकट नदी और माँ दोनों एक समान हैं।

२. तैब्रा. इडा वै मानवी यज्ञानुकाशिन्य् आसीत् (१।१।४।४ : इडा नाम गोरूपा काचिद् देवता....यज्ञ तत्व प्रकाशन समर्था सा)।

३. ऋ. १०।९५।८।

१५५१. निघ. १।१२ (<√ सृ 'सरकना, बहना' तु. 'सलिल') १।११।

१. निघ १।१३ (बहुवचन)

२. १।११।

३. नि. २।२३।

पहले सरस्वती के नदी रूप की ही चर्चा करते हैं, किन्तु याद रखना होगा कि इस अधिभूत रूप के पीछे और एक रूप की भी व्यञ्जना है, जो कभी न कभी अवश्य प्रकट होती है। ऋषि एक स्थान पर विगलित होकर सम्बोधित करते हैं 'तुम जैसी माँ नहीं, तुम जैसी नदी नहीं, तुम जैसी देवी नहीं, ओ, सरस्वती'।[१५५२] एक और स्थान पर उनके स्तन की प्रशस्ति में सरस्वती की मातृमूर्ति का अभूतपूर्व वर्णन प्रस्तुत किया है: 'तुम्हारा उच्छलित स्तन, जो आनन्दमय है, जिससे पुष्ट करती हो, जो कुछ वरेण्य है, जो निहित करता है रत्न और, ढूँढ़ लेता है ज्योति, जो मुक्त रूप से उँड़ेल देता है, ओ सरस्वती, उसे यहाँ बढ़ा दो पान करने के लिए।'[१] यहाँ माँ की छवि में नदी की छवि अन्तर्हित हो गई है।[२]

सरस्वती नदी के रूप में प्राणोच्छलता की दृष्टि से नदियों में परमा हैं,[१५५३] अकेले वे ही चेतनामयी हैं, उनमें– शुचि होकर उतर आती हैं (पृथिवी के) गिरि-शिखर और (अन्तरिक्ष के) समुद्र से, विश्वभुवन के विचित्र संवेगों की चेतना है उनमें, ज्योतिर्मय आप्यायन की धारा का उन्होंने दोहन किया है, नहुषतनय के लिए।[१] प्रबल उच्छ्वास और ऊर्मियों के उच्छलन से शैल-शिखरों को तोड़ती चलती हैं वे कन्द खोदने वालों की तरह-समुद्र का व्यवधान दूर करते हुए।[२]

१५५२. अम्बितमे नदीतमे सरस्वति .... अम्ब ....२।४१।१६।

१. १।१६४।४९ टी. १३६४(२)।

२. इस प्रकार बाह्य जगत् ऋषि कवि के चित्त में उत्तेजना जगाता है, उस समय जड़, फिर जड़ नहीं रहता। द्र. नीचे और परे 'पृथिव्यायतन वस्तु' की भूमिका, Geldner का मन्तव्य DR6६।६१, सूक्त।

१५५३. ऋ. असुर्या नदीनाम् ७।९६।१।

१. एका. चेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर् यती गिरिभ्य आ समुद्रात्, रायश् चेतन्ती भुवनस्य भूरेर् घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय (७।९५।२; 'नाहुष' ययाति १०।६३।१ टी. १४४६)।

२. इयं शुष्मेभिर् बिसखा इवा रुजत् सानु गिरीणां तविषेभिर् ऊर्मिभिः, पारावतघ्नीम्....(६।६१।२; 'परावत्' सुदूर >'पारावत'; 'बिसरवाः' जो बिस अथवा कन्द का खनन करते हैं; तु. 'त्रिकद्रुक' टी. १२६९; सरस्वती की धारा नाड़ी तन्त्र की ग्रन्थि विकीर्ण करती चलती है।

इस प्रकार कोई और नहीं आता हमारे निकट अन्तरङ्ग होकर जिस प्रकार सरस्वती आती हैं– नदियों द्वारा स्फीत होकर।[३] ओज की साधना से ओजस्विनी हैं वे, गर्त करती हुई चलती हैं पूषा की तरह हम सब की परम-प्राप्ति की दिशा में।[४] जिस प्रकार वे हम सब की प्रियतमा, सबसे अधिक प्रिय हैं, उसी प्रकार फिर घोरा है भीषणा हैं, वृत्रघातिनी हैं,[५] सुनहले (हिरण्मय) आवर्त रचते हुए चलती हैं;[६] देवनिन्दकों को निर्मूल करती हैं और मायावी बृसय (वृत्र के अनुचर) की सन्तानों का विनाश करती हैं; क्षिति अथवा क्षेत्र के लिए खोज लेती हैं प्रणालिका, फिर वे ओजस्विनी शक्तिशाली ढाल देती हैं विष देवनिन्दकों के भीतर।[७] यहाँ सरस्वती के आधिभौतिक रूप का अतिक्रमण करके उनका आध्यात्मिक रूप उजागर हुआ है।

वेद में अनेक स्थलों पर सप्तसिन्धु का उल्लेख है, जिनकी अवरुद्ध धारा को मुक्त करना इन्द्र का काम है। सरस्वती इन्हीं सिन्धुओं (नदियों) में 'सप्तथी' अथवा सप्तमी अर्थात् परमा हैं, सिन्धु

---

३. (इन्द्रो नेदिष्ठम् अवसा गमिष्ठः (आनेवालों में निकटतम)) सरस्वती सिन्धुभिः पिन्वमाना (६।६२।६; 'चिन्मय प्राण की शुभ्र धारा प्रचेतना के समुद्र की ओर जितनी अग्रसर होती है, उतनी ही आगन्तुक और भी धाराओं के मिलन से स्फीत होती रहती है; उद्दीप्त में बाहर का समस्त अनुभव भी विपुल और महत् हो जाता है; तु. १।३।१२ टी.)।

४. तु. त्वं देवि सरस्वत्य् अवा वाजेषु वाजिननि, रदा पूषे व नः सनिम् (६।६१।६; तु. पूषा के हिरण्मय पात्र का आवरण हटाना ई. १६)।

५. ऋ. उत नः प्रिया प्रियासु ६।६१।१०

६. घोरा हिरण्यवर्तनिः वृत्रघ्नी ७

७. तु. सरस्वती देवनिदो नि बर्हय प्रजां विश्वस्य बृसयस्य मायिनः, उत क्षितिभ्योऽवनीर् अविन्दो विषम् एभ्यो अस्रवो वाजिनीवति (३; 'बृसय' वृत्र के अनुचर, तु. १।९४।६ टी. १२३१, १३२७(४); 'क्षिति' आधार अथवा 'क्षेत्र', जिसके भीतर से सरस्वती की धारा प्रवहमान है, तु. ६।६२।६ टी. ११४५(३); 'अवनी' गर्त, नाली अथवा अन्यान्य नाड़ी, उपनदी की तरह; 'वाजिनी' उषा की संज्ञा, क्योंकि उनमें है अँधेरा चीरने वाली वज्रशक्ति; उसी भाषा की ज्योतिर्मय प्रसन्नता सरस्वती में भी है, इसलिए वे 'वाजिनीवती'।

उनकी माता हैं,[१५५४] फिर वे सातों एक-दूसरे की बहनें हैं।[१] ऋक्संहिता के नदी-सूक्त में इक्कीस सिन्धु (नदी) का उल्लेख प्राप्त होता है,[२] उसमें एक स्थल पर एक के बाद 'गङ्गे यमुने सरस्वति'[३] अर्थात् हम सब की सुपरिचित त्रिवेणी का उल्लेख है। एक और स्थान पर सरस्वती के साथ 'सिन्धु' और 'सरयू' का उल्लेख है– जो आर्यावर्त के दो छोर पर हैं। एक समय सरस्वती के किनारे-किनारे ही जिस वैदिक संस्कृति का प्रचार-प्रसार हुआ था, उसका उल्लेख ऋक् संहिता में ही है।[४] लगता है, इसके उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही आर्य मानस में– सरस्वती की अध्यात्म-भावना सुप्रतिष्ठित होती है। फिर एक स्थान पर प्राचीन त्रयी–'दृषद्वत्याम्.....आपयायां सरस्वत्याम्' का उल्लेख प्राप्त होता है।[५] दृषद्वती अन्यत्र अश्मन्वती है।[६] दोनों में ही 'वज्र' की ध्वनि है, जो सहज में ही तन्त्र की वज्राणी नाड़ी की याद दिला देती है। इन तीन नदियों अथवा नाड़ियों में आग जलने की व्यञ्जना इस स्थल पर सुस्पष्ट है।[७]

१५५४. ऋ. सरस्वती सप्तथी सिन्धुमाता ७।३६।६।

१. ६।६१।१०। सात 'अप्' अथवा 'सिन्धु' (तु. ८।९६।१, ८९।४, १०।१०४।८) सातधामों अथवा भुवनों में सात प्राण की धाराएँ। वे अपने-अपने धाम में एक दूसरे की बहने हैं। किन्तु ऊपर की ओर प्रवाहित होने में सबके ही पारम्य (परमता) की सम्भावना है : तब वे माता हैं। फिर सिन्धु जब व्यक्तिवाचक, तब सभी नदियों की मुख्या अतएव माता (१०।७५।१-४, ७)।

२. प्र सप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमुः १०।७५।१, ६४।८। 'त्रेधा' वे जिस प्रकार पृथिवी में हैं, उसी प्रकार अन्तरिक्ष और द्युलोक में हैं।

३. १०।७५।५।

४. सरस्वती सरयुः सिन्धुर ऊर्मिभिः ....यन्तु १०।६४।९। संस्कृति का विस्तार तु. चित्र इद् राजा राजका (छोटामोटा राजा) इद् अन्यकेयके (वही जो सब) सरस्वतीम् अनु ८।२१।१८।

५. ३।२३।४।

६. १०।५३।८ टी. १४३७।

७. द्र. टी. १३४९(३)।

सरस्वती के नदीरूप के अतिरिक्त वेद में और दो भावरूप की परिकल्पना है– एक रूप में वे चिन्मय प्राण हैं और दूसरे रूप में वे वाक् हैं। उनके नदी रूप से ही प्राणरूप की कल्पना विकसित हुई है, क्योंकि नदियाँ इन्द्रवीर्य का प्रवाह हैं, इन्द्र की पत्नी हैं, हम सब के आधार में स्थित, ऋभुगण के शिल्पनैपुण्य की सृष्टि हैं और सरस्वती उन नदियों में 'नदीतमा' हैं।[१५५५] उनके उच्छलित, सर्वव्याप्त प्राण का परिचय हमें उनके 'अप' अथवा स्वधावीर्य में मिलता है जो अनन्त अकुटिल प्रज्वल और चरिष्णु है, जो तरङ्गायित है मुखर होकर।[१] इसीलिए जो कर्मकुशलता हैं उनमें वे कुशलतमा हैं, रथ की भाँति (प्रधाविता) हैं बृहती होकर, विभूति वैचित्र्य में व्याकृत विश्लेषित हैं।[२] विश्वप्राण के नित्य अथवा शाश्वत सहचर के रूप में इन्द्र जिस प्रकार मरुत्वान् हैं, उसी प्रकार सरस्वती भी मरुत्वती हैं, आक्रमण द्वारा विजय प्राप्त की है शत्रुओं पर[३] वृत्रघातिनी के रूप में।[४]

मरुद्गण के साथ सरस्वती का विशेष सम्बन्ध ध्यातव्य है। अन्य नदियों की तरह सरस्वती भी 'मरुद्वृधा'[१५५६] हैं– उनकी छाती फूल

१५५५. ऋ. दमूनसो अपसो ये (ऋभुगण) सुहस्ता-वृष्ण: (वीर्यवर्षी इन्द्र की) पत्नीर् नद्यो विभ्वतष्टा:, सरस्वती बृहद्दिवा उत राका दशस्यन्तीर् (मुक्तहस्ता होकर) वरिवस्यन्तु (सभी विपुल, बृहत् हो) शुभ्रा: (५।४२।१२) प्रथम पाद में ऋभुगण की ओर सङ्केत; 'विभ्वा' ऋभुगेण में मध्यम, इद्रवीर्य की प्रणालि का को उन्होंने ही रचा है; 'राका' पूर्णिमा की देवी; बृहद्दिवा सरस्वती और राका दोनों का ही विशेषण है; आधार में मनुष्य की शिल्पप्रतिभा सक्रिय हुई है, प्रत्येक नाड़ी में ज्योति की धारा प्रवहमान है, पूर्णिमा ढरक पड़ी' चेतना बृहत्, प्रशस्त होकर फैलती जा रही है– यह उसीका चित्रण है।

१. यस्या अनन्तो अह्रुतस त्वेषस चरिष्णुर् अर्णव: अमश् चरति रोरुवत् ६।६१।८।

२. अपसाम् अपस्तमा रथ इव बृहती विभ्वने कृता १३।

३. मरुत्वती घृणतो ग्रेषि शत्रून् २।३०।८।

४. २।१।११ टी १५४६(२)।

१५५६. ऋ. १०।७५।५; 'मरुद्वृधा' सामान्यत: प्रधान नदियों का विशेषण है अथवा स्वतन्त्र नदी भी हो सकती है। यह शब्द और एक बार

उठती है झञ्झावात के झकोरों से 'मरुत्सखा' होकर उनकी महिमा का प्रसाद लेकर वे जाग उठती हैं हमारे भीतर बहुत गहरे, और दो अन्ध, असंस्कृत धाराओं के मध्य में बहती हुई उनकी शुभ्र धारा प्रचोदित, प्रेरित करती रहती है महानों, महापुरुषों की ऋद्धि को।[१] .... एक स्थल पर देखते हैं कि सरस्वती 'वीरपत्नी हैं।'[२] यह 'वीर' कौन है? मरुद्गण को अनेक स्थानों पर 'वीरा: कहा गया है।'[३] एवं ये सब ही एक स्थान पर 'वीरास्....मर्यासो भद्रजानय:' हैं।[४] और सरस्वती भी 'भद्रम् इद् भद्रा कृणवत्'।[५] इससे सरस्वती और मरुद्गण के बीच पत्नी-पति के सम्बन्ध की कल्पना की जा सकती है। तब वे दोनों एक चिन्मय प्राण के दो रूप होते हैं। उनके युगनद्ध होने के कारण ही सरस्वती मरुत्सु देवेष्व् अर्पिता' हैं।[६]

ऋकसंहिता में अग्नि का विशेषण है, ३।१३।६। हवा से आग ज़ोर पकड़ती है। आध्यात्मिक दृष्टि से नदियाँ नाड़ियों में प्राणग्नि का स्रोत हैं।

१. उभे यत् ते महिना शुभ्रे अन्धसी अधिक्षियन्ति पूरव:, सा नो बोध्य् अवित्री मरुत्सरवा चोद राधो मघोनाम् ७।९६।२। वाजपेय में सोमग्रह और सुराग्रह का विधान है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार– 'प्राजापतेर् वा एते अन्धसी यत् सोमश् च सुरा च। तत: सत्यं श्रीर् ज्योति: सोमो ऽनृतं पाप्मा तम: सुरा।' ५।१।२।१०। सौत्रमणी में 'अन्धसो विपानम्' है, उसमें सोम के साथ सुरा मिलाई जाती है (वही १२।७।३।४-५; ता. १४।११।२७)। सोम एवं सुरा दोनों ही 'अन्ध:' अर्थात् तामस। सुरा तो निश्चय ही तामस है, सोम भी यदि संस्कार के द्वारा 'पूत' न हो, तो फिर वह भी 'अन्ध:' है। शतपथ ब्राह्मण में दोनों के 'उज्जय' की बात कही जा रही है। पुरु अर्थात् सारे मनुष्य इन दो अन्ध: अथवा असंस्कृत धाराओं के तट पर वास करते हैं। सरस्वती अपनी शुभ्र धारा के अनुग्रह से इन धाराओं के ही ऊपर की ओर उनको ले जाती हैं। अत्र. तु. Geldner।

२. ऋ. ६।४९।७।

३. १।८५।१, ६।२६।७, ६६।१०, १०।७७।३....।

४. ५।६१।४।

५. ७।९६।३।

६. १।१४२।९ (उसी प्रकार इला और भारती भी)।

पुन: देखते हैं कि सरस्वती वीरपत्नी होकर भी 'वज्रजाता कुमारी हैं, चिन्मय प्राणशक्ति का आधार हैं'।[१५५७] वे ही फिर 'बृहत्द्युलोक से आविर्भूत' होने के कारण[१] बृहद्दिवारूप में विश्व की माता हैं, जिस प्रकार त्वष्टा विश्व के पिता हैं।[२] उस समय सरस्वती भरपूर पूर्णिमा की देवी राका के साथ युक्ता[३]– अर्थात् सरस्वती राका एवं इन्द्रपत्नी नदीगण सभी शुभ्रा एवं महावैपुल्य की विधात्री हैं।[४] वहाँ हम केवल

१५५७. ऋ. पावीरवी कन्या चित्रायु: सरस्वती वीरपत्नी धियं धात् ६।४९।७। **पावीरवी** < पवीरु।। पवीर 'इन्द्र का प्रहरण, वज्र; तु. शेषन् (वृत्र के सारे अनुचर सो जाएँ) नु त इन्द्र सस्मिन् यौनौ (एक ही उत्स में, जहाँ से वे उठकर आए थे अर्थात् अन्धतमिस्रा में) प्रशस्तये (जिसके फलस्वरूप तुम्हारी ही प्रशस्ति) पवीरवस्य (वज्र युक्त तुम्हारी) मह्ना (शक्ति से, महिमा से) १।१७४।४; यो (इन्द्र) जनान् महिषाँ इवा (वे चाहे जितने शक्तिशाली क्यों न हों) अतितस्थौ (अतिक्रमण कर गए) पवीरवान् उता पवीरवान (हाथ में उनके वज्र रहे यान रहे) युधा (युद्ध करके) १०।६०।३; और भी तु. इन्द्रोपासक की संज्ञा है 'रुशम पवीरु' ८।५१।९।

१. ५।४३।११।

२. 'माता बृहद्दिवा' 'पिता त्वष्टा' के साथ तु. १०।६४।१०। ये बृहद्दिवा सरस्वती भी हो सकती हैं, क्योंकि गर्भाधान् सूक्त में देखते हैं कि गर्भकर्तृत्व दोनों का ही है, लक्ष्य करने योग्य है-वहाँ जीवसत्ता का आधान सरस्वती करती हैं और रूप गढ़ते हैं त्वष्टा यह जैसे माता और पिता की सामान्य व्याप्रिया या क्रिया का व्यतिक्रम है। किन्तु देवपत्नियाँ त्वष्टो की नित्य सहचरी हैं (द्र. टी. १५६९(३)), त्वष्टा निश्चित रूप से इन मातृकाओं की सहायता से ही रूप गढ़ते हैं। वाक्सूक्त में माता जिस प्रकार पिता को भी पीछे छोड़ गई है(१०।१२५।७), यहाँ भी वह होना सम्भव। किन्तु इस मन्त्र में बृहद्दिवा का परिचय अस्पष्ट है, द्र. टी. ११७९(२)।

३. ५।४२।१२ द्र. टी. १५५३

४. यहाँ 'बृहद्दिवा' विशेषण न होकर विशेष्य होने से इन तीन देवियों को पाते हैं– जिस प्रकार हम दुर्गा के अगल-बगल में लक्ष्मी और सरस्वती को पाते हैं।

ज्योति की छवि का दर्शन करते हैं और अन्यत्र भी देखते हैं कि सरस्वती शुभ्रा हैं,[५] शुचि हैं।[६]

बृहत्ज्योतिरूपा ये कुमारी कन्या सब की ईश्वरी हैं–अपनी महिमा या कीर्त्ति द्वारा अन्य जो वेगवती, प्राणप्रवाहिणी हैं, उनमें महीयसी होकर चेतना में कौंध जाती हैं सबका अतिक्रमण करते हुए।[१५५८] वे त्रिलोक व्यापी, त्रिकूटस्था हैं, सात धामों में सात रूपों में विराजिता हैं अर्थात् पार्थिव भूमि को प्रशस्त, द्युलोक और अन्तरिक्ष को आपूरित कर रखा है; पञ्चजन की संवर्धयित्री होने के कारण ओज की साधना के प्रत्येक सोपान पर उनका आवाहन किया जाता है।[१] पृथिवी में अग्नि और अन्तरिक्ष के समीपवर्ती इन्द्र हैं; किन्तु ये दोनों ही 'सरस्वतीवान्' हैं अर्थात् सरस्वती के ओज की शक्ति इनमें निहित है।[२] इस प्रकार देवयान के आलोक-पथ को आच्छादित किए रहने के कारण वे हमें नित्य ले जाती हैं उत्तर ज्योति की ओर,[३] और समस्त विद्वेषियों के अवरोधों को दूर करके हमें उसी तरह बिखेर देती हैं, अपनी अन्य बहनों का अतिक्रमण करके जिस प्रकार सूर्य बिखेर देते हैं दिन का प्रकाश।[४]

सरस्वती बृहद्दिवा रूप में जिस प्रकार परमा हैं, उसी प्रकार फिर ये प्राणरूपिणी चिन्मयी ही जीव के जन्म के मूल में हैं। इसलिए सिनी वाली और अश्विद्वय के साथ उनका आवाहन इस प्रकार किया

५. ७।९५।६, ९६।२।

६. ७।९५।२, १।१४२।९।

१५५८. ऋ. प्र या महिम्ना महिनासु चेकिते द्युम्नेभिर् अन्या: ६।६१।१३।

१. आपप्रुषी पार्थिवान्य् उरु रजो अन्तरिक्षम्....त्रिषधस्था सप्तधातु: पञ्चजाता वर्धयन्ती, वाजे-वाजे हव्या भूत् ६।६१।११-१२।

२. तु. आहं सरस्वतीवतोर् इन्द्राग्न्योर् अवो वृणे ८।३६।१०

३. सरस्वत्य् अभि नो नेषि वस्य: ६।६१।१४।

४. सा नो विश्वा अति द्विष: स्वसॄर् अन्या ऋतावरी, अतन् अहेव सूर्य: ६।६१।९। 'अन्या: स्वसृ:' अन्य नाड़ियों के, क्योंकि सरस्वती सप्तथी, अथवा परमा हैं (टी. १५५२) वे हमारे भीतर प्रचेतना का समुद्र उद्वेलित कर देती हैं (१।३।१२)।

जाता है : 'भ्रूण को आहित करो सिनीवाली, भ्रूण को आहित करो सरस्वती! अश्वी दोनों देवता तुम्हारे भीतर भ्रूण को आहित करें कमल की माला पहन कर'।[१५५९] सिनीवाली में पूर्व अमावस्या का निविड़ अन्धकार, और सरस्वती में राका की पूर्ण ज्योत्सना का प्लावन दोनों मानो वारुणी शून्यता में अस्तित्व के कुमेरु और सुमेरु के सङ्केत हैं। उसके ही भीतर आलोक स्पन्दन के देवता अश्विद्वय का तिमिरविदारक अभियान उदयतीर्थ की पद्मराग सूचना के साथ शुरू होता है अर्थात् सब मिलकर जीव के जन्म-रहस्य की एक अपरूप व्यञ्जना है। सरस्वती यहाँ राका की प्रतिनिधि हैं अर्थात् गर्भाशय में आहित चिदाभास् के क्रमिक उपचय या पुष्टि, वृद्धि की नेपथ्यचारिणी विधात्री हैं।[१]

किन्तु प्राणरूपिणी सरस्वती वामदेवी कैसे हुईं? यास्क का कहना है कि निरुक्तकारों की दृष्टि में, सरस्वती माध्यमिका वाक् हैं।[१५६०] पृथिवी में सरस्वती नदी रूपिणी; किन्तु तत्त्वत: वे प्राण का शुभ्र स्रोत हैं।[१] प्राण का स्वधाम अन्तरिक्ष है। यहीं वज्र और विद्युत् का प्रहरण लेकर वृत्र् के साथ इन्द्रशक्ति का सङ्ग्राम, प्राण के अवरोध को मुक्त करने के लिए हुआ करता है। उस सङ्ग्राम का कोलाहल ही 'माध्यमिका वाक्' अथवा अन्तरिक्ष् लोक का शब्द है। झञ्झावात का गर्जन और वज्रनाद इसी वाक् के ये दो रूप हैं। इनमें एक के अधिष्ठाता मरुदगण हैं, वे तेज़ आँधी के देवता हैं; और एक की अधिष्ठात्री सरस्वती हैं, वे 'पावीरवी' अथवा वज्रकन्या हैं। वज्रबाहु इन्द्र 'सरस्वतीवान्' हैं। नीचे गूँगी पृथिवी और ऊपर निस्तब्ध आकाश

१५५९. ऋ. गर्भं धेहि लिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति, गर्भं ते अश्विनौ देवाव् आ धत्तां पुष्कर स्रजा १०।१८४।२।

१. वे ही आहित, स्थापित गर्भ की आत्मा हैं। इसीलिए पौराणिक सरस्वती हंसवाहिनी। इस प्रसङ्ग में तु. सरस्वती का पुरूप 'सरस्वान्' है; (१।१६४।५२, ७।९५३, ९६।४-६)। प्रथम मन्त्र में वे दिव्य सुपर्ण बृहत् वायस'–जो अग्नि अथवा सूर्य दोनों ही समझे जा सकते हैं। अग्नि जीवात्मा है, सूर्य परमात्मा। सरस्वती का हंस दोनों का ही प्रतीक है।

१५६०. नि. ११।२७।

१. ऋ. त्वे विश्वा सरस्वति श्रितायूंषि देव्याम् २।४१।१७।

है। जड़ और चैतन्य के बीच यही प्राण का कुरुक्षेत्र है, सङ्ग्राम का कोलाहल है। सङ्ग्राम में जब कूद पड़ते हैं, तब मरुद्गण और सरस्वती दोनों ही घोर् विकराल हो जाते हैं।[२] किन्तु सङ्ग्राम के अन्त में मरुद्गण कान्त हो जाते हैं और सरस्वती कल्याणी हो जाती हैं। झञ्झावात और वज्रनाद के ठहर जाने पर पर्जन्य का मूलसाधार वर्षण और लगातार रिमझिम से सुमङ्गल मातृत्व की आसन्न् सम्भावना में पृथिवी रोमाञ्चित हो जाती है। उस समय सङ्ग्राम का कोलाहल मरुद्गण के कण्ठ से गीत के रूप में फूटता है – वे 'अर्किण:' हैं[३]; और हम सब की कल्पना में सरस्वती वीणा वादिनी।[४] इस प्रकार अधिदैवत दृष्टि से सरस्वती माध्यमिका वाक् हैं।

पुन:, आध्यात्मिक दृष्टि से प्राण की आकूति मनुष्य द्वारा उच्चारित वाक् में फूटती है। देवकाम की वह वाक् मन्त्र है। मन्त्र चित्त की एकाग्रता का परिणाम है, इसलिए उसकी एक और संज्ञा 'धनी' हुई। यह वाक् अथवा मन्त्र अथवा धी जिनकी प्रेरणा से स्फुरित होती है, वे ही वाग्देवी सरस्वती हैं। उनका पूर्णरूप अम्भृण कन्या वाक् से सूक्त में प्रस्फुटित हुआ है।[१५६१] वहाँ हम उनको सर्वदेवमयी, विश्व-जननी और ईश्वरी तथा प्राण और प्रज्ञा के समाहार रूप में पाते हैं। वे जब जिसको चाहती हैं, उसको वज्रतेजा, बलवान् बना सकती हैं, ब्रह्मविद् ऋषि एवं सुमेधा अथवा मेधावान्, ज्ञानवान् बना सकती हैं।[१] तब सरस्वती सावित्री शक्ति हैं, 'धी' का प्रचोदन, प्रेरण उनका विशेष कार्य है। वे ध्यानलभ्य ज्योति हैं,[२] वीर-पत्नी होकर हमारे भीतर धी को निहित करती हैं,[३] ध्यान को सिद्ध करती हैं,[४] समस्त

२. सरस्वती ६।६१।७; मरुद्गण १।१६७।४, १६९।७।

३. १।३८।१५।

४. उनका यह रूप ऋग्वेद में नहीं है, किन्तु उसका बीज वहाँ ही है।

१५६१. ऋ. १०।१२५ सूक्त।

१. तु. यं कामये तं तम् उग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तम् ऋषिं तं सुमेधाम् १०।१२५।५।

२. धियावसु: १।३।१०।

३. ६।४९।७।

४. साधयन्ती धियं न: २।३।८।

ध्यानवृत्तियों में विराजमान हैं,[५] धी की संरक्षिका हैं,[६] धी समूह से जुड़ी हुई हैं,[७] हमारे भीतर लोकमङ्गल, कल्याण चिन्तन अथवा सौमनस्य की चेतना विकसित करती हैं,[८] चित्ति या चिन्तन की दीप्ति में ज्योति-तरङ्ग की प्रचेतना ले आती हैं।[९] यहाँ हम देखते हैं कि धी, चित्ति और प्रचेतना के साथ उनका नित्य सम्बन्ध है। इस प्रकार वाग् देवी सरस्वती प्रज्ञा की भी देवता हैं।

माध्यन्दिन संहिता ऐतरेय ब्राह्मण एवं शतपथ ब्राह्मण इत्यादि के अनुसार कुछ विद्वानों का कहना है कि वाग् देवी के रूप में सरस्वती की कल्पना परवर्ती समय में की गई है।[१५६२] किन्तु सरस्वती और वाक् के तादात्म्य की सूचना ऋक् संहिता में ही है। मनुसंहिता में ब्रह्मयज्ञ के फलस्वरूप दूध, दही, घृत और मधु के क्षरण का उल्लेख है। ऋक्संहिता में भी हम पाते हैं कि 'पावमानी ऋचाओं का जो अध्ययन करता है, सरस्वती उसके लिये दोहन करती हैं दुग्ध, धृत, मधु एवं उदक।'[१] यहाँ वेदाध्ययन के साथ सरस्वती का सम्बन्ध सुस्पष्ट है।

---

५. धियो विश्वा वि राजति १।३।१२।

६. धीनाम् अवित्री ६।६१।४।

७. शं सरस्वती सह धीभिर् अस्तु ७।३५।११, १०।६५।१३।

८. चेतन्ती सुमती नाम् १।३।११।

९. महो अर्णः सरस्वतीः प्रचेतयति केतुना १।३।१२।

१५६२. तु. मा. वाचा सरस्वतीभिषक् १९।१२, ऐ. वाक् तु सरस्वती ३।१, २, ३७, ६।७; श. ७।५।१।३१, ११।२।४।९, २।५।४।६.....; तै. १।३।४।५, १।६।२।२..., ता. ६।७।७, १६।५।१६; ....।

१. ऋ. पावमानीर् यो अध्येत्य् ऋषिभिः सम्भृतं रसम्, तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर् मधूदकम् ९।६७।३२। नदी सरस्वती यज्ञ के साथ विशेष रूप से जुड़ी है, क्योंकि उसके किनारे-किनारे ही याज्ञिकी संस्कृति का विस्तार (तु. १।३।१०-११, ८।२१।१८ टी. १५५२(४), ३।२३।४; और भी तु. ऐब्रा. २।१९ कवषोपाख्यान)। यज्ञ मन्त्रसाध्य है, वस्तुतः मन्त्र मनुष्य के मन में देवी वाक् का स्फुरण है। अतएव परम्परा के क्रम में वाक् के साथ सरस्वती का अन्वित या युक्त होना नितान्त ही स्वाभाविक है।

उसके पश्चात् देवी **भारती** का कुछ विशेष परिचय संहिता में नहीं प्राप्त होता। केवल् यही दिखाई पड़ता है कि आप्रीसूक्त के अतिरिक्त ऋक्संहिता में जहाँ भी उनका उल्लेख किया गया है, वहाँ ही उनका विशेषण 'होत्रा'[१५६३] है। पहले ही हमने देखा है कि 'होत्रा' का व्युत्पत्तिगत् अर्थ आहुति अथवा आह्वान दोनों ही हो सकता है।[१] निघण्टु में भी होत्रा यज्ञ एवं वाक् दोनों का ही बोधक है।[२] इससे भारती का यज्ञ के साथ सम्बन्ध मात्र सूचित होता है, किन्तु उनका स्वरूप क्या है? वह स्पष्टतः समझ में नहीं आता। इस संज्ञा के मूल में 'भारत' एवं 'भरत' ये दो शब्द हैं। ये दोनों शब्द अत्यन्त प्राचीन एवं प्रसिद्ध हैं और ऋक् संहिता के प्रत्येक आर्षमण्डल में ही 'जन' अथवा अग्नि के बोध के लिए उनका उल्लेख है।[३] जान पड़ता है आर्यों में जो वेदपन्थी थे और यज्ञ-साधना करते थे, 'भरत' उनके ही आदि पुरुष हैं। भरत जन यज्ञाग्नि वहन करते अथवा यज्ञाग्नि के निकट हव्य वहन करते थे, अतः उनकी संज्ञा के ये दो अर्थ ही हो सकते हैं।[४] यज्ञ साधक के

१५६३. ऋ. १।२२।१०, २।१।११, ३।६२।३; आप्रीसूक्त में १।१४२।९।

१. द्र. टी. १५२८।

२. निघ. ३।१।१।११।

३. द्र. 'भारत' अग्नि २।७।१, ५; 'भरत' जन अथवा यजमान ३६।२; 'भारत' जन ३।५३।१२; भारत अग्नि ४।२५।४; 'भरत' जन अथवा यजमान ५।११।१, ५४।१४; बार्हस्पत्य भरद्वाज स्वयं को 'भरत' कहते हैं ६।१६।४; 'भारत' अग्नि ६।१६।१९, ४५; 'भरत' जन अथवा यजमान ७।८।४, ३३।६। उसके अतिरिक्त भी 'भरत' अग्नि १।९६।३।

४. भरत गण अग्नि और सूर्य दोनों के उपासक। पृथिवी की अग्नि सूर्य में समापन्न होगी, वैदिक साधना का यही मूल तत्त्व है। एक ही पृथिवी में अग्नि, अन्तरिक्ष में विद्युत्, और द्युलोक में सूर्य-'वे त्रिषधस्थ वैश्वानर' हैं (६।८।७) इस दृष्टि से भरतगण के इष्टदेवता 'भारत' अग्नि और उनकी शक्ति 'भारती' भी त्रिषधस्था हैं (६।६१।१२)। तत्त्वतः वे अदिति – अर्थात् शतहिमा इला, सरस्वती है, एवं होत्रा भारती उनकी त्रिधा मूर्ति है (२।१।११)। भरतजन के सम्बन्ध में विद्वानों का अनुमान है कि भरत एवं त्रित्सु एक ही व्यक्ति का नाम है (Ludwig) अथवा तृत्सुजन भरत जन

रूप में वे अग्निहोत्री,[५] और उनके मुख्य देवता भी वही 'भारत' अथवा 'भरत' हैं। ब्राह्मण में भी देखते हैं कि अधिदेवता दृष्टि से इन दोनों संज्ञाओं की व्याख्या अग्नि के पक्ष में की गई है एवं अध्यात्म दृष्टि से 'प्राण' कहा गया है।[६] तो फिर भारती स्वरूपतः अग्निशक्ति हैं।

आप्रीदेवगण की संरचना या ढाँचा अत्यन्त प्राचीन है, उसमें 'त्रिस्रो देव्यः' के अन्तर्गत भारती को भी तो अति प्राचीन काल से ही स्थान दिया गया है। 'इला' यज्ञ का हव्य, यज्ञ का अनुष्ठान न होता 'सरस्वती' के किनारे, और 'भारती' होत्रा अर्थात् मन्त्र अथवा आहुति – इन तीनों में ही अग्नि का सम्बन्ध सुस्पष्ट है। द्रव्य यज्ञ में हव्यमात्र ही पार्थिव, अतएव इला पृथिवी स्थाना, प्राण की धारा के रूप में सरस्वती अन्तरिक्ष स्थाना; इसलिए परिशेष न्याय से भारती द्युस्थाना हुई; क्योंकि याज्ञिक की अग्नि 'त्रिषधस्थ' है, और अग्नि साधना का लक्ष्य ही सूर्य में पहुँचना होता है। वह जिस प्रकार हव्य के चिन्मय विपरीत् परिणाम से,[१५६४] प्राण की ऊर्ध्वस्रोता धारा में, उसी प्रकार देवकाम् मन्त्र अथवा मनन की शक्ति से वहाँ पहुँचती है।[१] इसलिए भारती , देवहूति अथवा दिव्या वाक् हैं – दोनों अर्थ में ही।

के राजा (Geldner) एक समय पुरुओं के साथ भरतों का कलह होते हुए भी तृत्सुओं, भरतों एवं पुरुओं को मिलाकर 'कुरु' नाम से जन का निर्माण होता है। उनका जनपद ही कुरुक्षेत्र है, जो ब्राह्मण्य धर्म का आदिक्षेत्र कहा जा सकता है।

५. द्रष्टव्य. निघ. में 'भरताः'। कुरवः' ये दो जन ऋत्विक् अर्थ रूढ़ (३।१८)।

६. शाङ्खायन ब्राह्मण की व्युत्पत्तिः 'अग्निर् वै भरतः, स वै देवेभ्यो हव्यं भरति ३।२। श. ब्रा. १।४।२।२, १।५।१।८; ऐ. प्राणो भरतः २।२४, श. एष (अग्निः) उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा विभर्ति ... १।५।१।८, १।४।२।२। यहाँ 'भरत' पहले देवता का नाम, उसके बाद जन का नाम है।

१५६४. तु. मु. आहुतियाँ यजमान को सूर्यरश्मि की सहायता से वहन करके ब्रह्मलोक में ले जाती हैं १।२।५-६।

१. तु. गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन् सत्यमन्त्रा अजनयन् उषासम् ७।९६।४ टी. १३९७(३)।

अतएव वे द्युस्थाना हैं, वे आदित्य की भाति या दीप्ति हैं।[२] ऋक् संहिता में ही देखते हैं कि वे अदिति रूपी अग्नि का ही एक विभाव हैं और होत्रा के रूप में वर्धित होती रहती है उद्बोधिनी वाणी द्वारा[३] वे 'विश्वतूर्ति'[४] अथवा तीव्र संवेग से सब का अतिक्रमण कर जाती हैं[५], वे सर्वव्याप्त ध्यान चेतना हैं, वे सुदक्षिणा हैं।[६] सङ्क्षेप में वे हमारे भीतर बीजरूपी मन्त्र चेतना को आदित्य भास्वर विश्वचेतना में विस्फारित करती हैं एवं सिद्धि के सम्प्रसाद अथवा निरभ्रता में हृदय को उषा की ज्योति में छितरा देती हैं।

आप्री सूक्तों में इन तीन देवियों के सामान्य वर्णन में देखते हैं कि वे यज्ञिया हैं।[१५६५] हमें प्रेरित करती हैं परम कल्याण की ओर;[१] वे

---

२. तु. नि. भारती....भरत आदित्यस्तस्य भाः ८।१३। द्र. श. स है.ष (सूर्यः) भर्ता ४।६।७।२१।

३. २।१।११। टी. १५४६(२)।

४. २।३।८; ना. २०।४३।

५. ऋ. आ ग्ना (देवपत्नियों का) अग्न इहावसे होत्रां यविष्ठ भारतीं वरुत्रीं धिषणां वह १।२२।१०। यहाँ लगता है भारती सब देवियों की अधिनायिका हैं, वे धिषणा के साथ एक हैं। धिषणा वाक् (निघ. १।११)।। ध्यान शक्ति।

६. ऋ. अस्मान् वरूत्रीः शरणैर् अवन्त्व् अस्मान् होत्रा भारती दक्षिणाभिः ३।६२।३। 'वरूत्रीः' तु. 'ग्नाः' अथवा देवपत्नियाँ १।२२।१०। 'दक्षिणा' द्र. दक्षिणा सूक्त १०।१०७; १।१२५। दक्षिणा केवल यजमान का दान नहीं, बल्कि देवता का भी दान है– अर्थात् उनकी शक्ति और ज्योति का प्रसाद है (तु. सा ते .... इन्द्र दक्षिणा मघोनी २।११।२१)। इसलिए उषा भी 'दक्षिणा' (१।१६४।९; द्रष्टव्य-दक्षिणा सूक्त के आरम्भ में भी सूर्योदय की यह एक सुन्दर छवि है– यज्ञ के अन्त में यजमान, ऋत्विक् और विश्वप्रकृति सब के भीतर मानो उषा का दाक्षिण्य प्रस्फुटि हुआ)।

१५६५. ऋ. १।१४२।९।

१. ता नश् चोदयतश्रिये १।१८८।८।

कल्याणरूपा हैं,[२] कल्याण कर्मा हैं,[३] वे इन्द्र पत्नी हैं,[४] तीव्र सोम की धारा निचोड़ दे रही हैं इन्द्र के लिए।[५]

इस बार उत्सर्ग-भावना के अष्टम सोपन पर आए। जहाँ ऊपर-नीचे की मिलन भूमि पर खड़े होकर अग्नि और सूर्यरूपी दो मेरुओं या ध्रुवों के बीच विद्युद्-विसर्पिणी शक्ति की मुक्तधारा का अनुभव करते हैं। माध्यन्दिन संहिता के अनुसार सप्तम सोपान पर ही अक्षर प्रचय की बारी जगती-छन्द में समाप्त हो गई, इसलिए इस बार छन्द 'विराट्';[१५६६] और शकट बहन योग्य बृषभ के पार्श्व में धेनु के रूप में पयस्विनी महाशक्ति को देखते हैं।[१] 'त्रिभुवन चित् शक्ति का विच्छुरण' है, अब इसी शक्ति के अनुभव के ऐश्वर्य के साथ ऊपर-नीचे को एक करके उतर आने की बारी है। विश्वामित्र कहते हैं :[२] –

'आओ भारती, भारती गण के साथ लेकर समरस होकर, (आओ) इला देवताओं को लेकर, मनुष्यों को लेकर अग्नि आओ।' सरस्वती सारस्वतों को लेकर (आओ) यहाँ। तीनों देवी इस बर्हि पर आसन ग्रहण करो।[१५६७] अर्थात् इस आधार में अदिति चेतना की

---

२. ९।५।८; तु. मा. २८।३१।

३. ऋ. १०।११०।८; तु. प्रै. ९।११०।८; तु. प्रै. ९।

४. मा. २०।४३, २८।८।

५. मा. २०।६३। वृत्रहन्ता इन्द्र के लिए इन तीन देवियों के तीन लोक में सोमधारा के निचोड़ देने के साथ तुलनीय तन्त्र का ग्रन्थिभेद।

१५६६. तु. विराड् वै छन्दसां ज्योतिः ता. ६।३।६, १०।२।२; 'बृहद् विराट्' तैब्रा. १।४।४।९, ऋक् संहिता में 'तस्माद् विराल् अजायत १०।९०।५।

१. मा. २१।१९, २८।३१।

२. यही ऋचा सप्तम मण्डल के आप्रीसूक्त की आठवीं ऋचा है। ऐसा साम्य सूक्त के अन्त तक है। इससे विश्वामित्र और वसिष्ठ की सगोत्रता की सूचना मिलती है।

१५६७. ऋ. आ भारती भारतीभिः सजोषा इला देवैर् मनुष्येभिर् अग्निः, सरस्वती सारस्वतेभिर् अर्वाक् तिस्रो देवीर् बर्हिर् एदं सदन्तु ३।४।८। 'भारतीभिः' भारती आदित्यदीप्ति अथवा अद्वैत चेतना। एक, किन्तु उनकी अनेक

दीप्ति,[१] अपनी त्रिधामूर्ति की सहस्र किरण सुषमा के छन्द में फैल जाए। मेरे मर्त्य-शरीर को इन्धन बनाकर अनन्तता की एषणा अग्निशिखा होकर प्रज्वलित हो जाए और विश्वचेतना की ज्योति ले आए। पूर्व पुरुषों की अभीप्सा के अविराम प्रवाह के रूप में आग जलती रहें। चिन्मय प्राण का प्रवाह उतर आए और साधन-सम्पदा की शक्ति प्रदान करे। देखो यह उन्मुख, उत्सुक हृदय का आसन उन तीन ज्योतिष्मती देवियों के निमित्त बिछा दिया। वे मेरे आधार में अधिष्ठित हों, आविष्ट हों।

आप्रीसूक्त के नवम देवता त्वष्टा हैं। नाम की निरुक्ति देते हुए यास्क कहते हैं कि 'निरुक्तकारों की दृष्टि में वे शीघ्रव्यापी होने के कारण त्वष्टा' हैं। फिर दीप्त्यर्थक 'त्विष्' धातु अथवा करणार्थक 'त्वक्ष्' धातु से भी व्युत्पत्ति हो सकती है। ...उनके कथानानुसार त्वष्टा माध्यमिक देवता हैं; क्योंकि उनका पाठ अन्तरक्षि स्थानीय देवताओं के अन्तर्गत है। शाकपूणि का कहना है कि वे अग्नि हैं।[१५६८] इस त्वष्टा

रश्मियाँ हैं। वे भी भारती हैं अर्थात् एक ही अद्वय तत्त्व का बहुधा विच्छुरण। 'सजोषाः' अर्थात् एक भारती अन्य सभी भारती के साथ सुष्ठु रूप में ग्रथित होकर। जो एक अनेक को कमल के शतदल की तरह धारण कर सकता है, वही यथार्थ अद्वैत है। 'इला' पृथिवी स्थाना, अनन्तता की एषणा। किन्तु उनके साथ रहें विश्वदेवता ('देवैः') क्योंकि वह एषणा विश्वचेतना की ही एषणा है। 'अग्निः मनुष्यभिः' ये मनुष्य पितृपुरुष। उनकी अभीप्सा की ही अनुवृत्ति होती रहती है हमारे भीतर 'सारस्वतेभिः'– अर्थात् चिन्तन में प्राण की विचित्र धारा की व्यञ्जना को लेकर।

१. तु. २।१।११।

१५६८. नि. 'त्वष्टा तूर्णम् अश्नुते इति नैरुक्ताः। त्विषेर् वा स्याद् दीप्ति कर्मणः, त्वक्षतेर् वा स्यात् करोतिकर्मणः। माध्यमिकस् त्वष्टा इत्य् आहुः मध्यमे च स्थाने समाम्नातः। अग्निर् इति शाकपूणिः' ८।१४। यास्क की अनेक व्युत्पत्ति की तरह इन व्युत्पत्तियों में प्रथम दो शब्दगत नहीं, बल्कि अर्थगत हैं। पहले ही बतलाया है कि शब्दविज्ञान की दृष्टि से असङ्गत होने पर भी ये किस भाव के वाहक हैं? वह समझने में सहायता करते हैं। वह उपेक्षणीय नहीं। यास्क की व्युत्पत्ति से यह बोध हुआ कि त्वष्टा एक

के तीन लक्षण प्राप्त होते हैं – वे सर्वव्यापी हैं, दीप्तिमान् हैं और कर्ता हैं। आकाश सर्वव्यापी है, उसी आकाश में सूर्य दीप्यमान् प्रकाशमान् हैं एवं विश्व के कर्त्ता हैं – उस समय यही छवि मन में उभरती है। ऐसा कहा जा सकता है कि यह त्वष्टा का दिव्य रूप है। वायु अथवा विद्युत रूप में वे माध्यमिक हैं फिर अग्नि के रूप में पृथिवी स्थानीय हैं। यास्क की व्याख्या में हम देखते हैं कि आदित्य वायु अथवा विद्युत् एवं अग्नि रूप में तीनों लोकों में ही त्वष्टा का अधिष्ठान है।

वस्तुत: तक्ष् अथवा त्वक्ष् धातु से ही त्वष्टा की व्युत्पत्ति शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियों से ही सही है।[१५६९] बढ़ई जिस लकड़ी को काट-छाँटकर मूर्ति गढ़ता है, उसी प्रकार त्वष्टा भी विश्व के अरूप उपादान से रूप गढ़ते हैं,[१] उपनिषद् की भाषा में अव्याकृत को व्याकृत करते हैं। इसी अर्थ में वे यास्क की दृष्टि में 'कर्त्ता' अर्थात् रूपकृत हैं, रूपकार हैं। संहिता में बार-बार इस बात का उल्लेख किया गया है।[२] अतएव त्वष्टा स्पष्टत: स्रष्टा, ईश्वर अथवा 'प्रजापति' हैं।[३] किन्तु

विशाल ज्योति का समर्थ उद्भास हो जैसे। इतना जानना मर्मज्ञ के लिए लाभदायक है।

१५६९. त्वक्ष्।। AV. thwaks।– ऋक् संहिता में है, इन्द्र का 'त्वक्ष:' १।१००।१५, ६।१८।९. मरुद्गण का ८।२०।६; त्वक्षीयसा वयसा २।३३।६; त्वक्षसा वीर्येण ४।२७।२। निघ. 'त्वक्ष:' बल २।९। उसके साथ तुलनीय 'ऊर्ज्' चेतना का रूपान्तरण और अरूप से रूप को प्रस्फुटित करना– ये दोनों बलक्रियाएँ एक प्रकार की हैं।

१. तु. ऋ. गौरी:.....सलिलानि तक्षती १।१६४।४१ किं स्विद् वनं (काठ, लकड़ी) क उ स वृक्ष आस यते द्यावा पृथिवी निष्टतक्षु: १०।८१।४।

२. य इमे द्यावा पृथिवी जनित्री (जनक जननी) रूपैर् अपिंशद् भुवनानि विश्वा (१०।११०।९ यहाँ तलिका से रूप उभारने की ध्वनि है, = मा. २९।३४); अयं (अग्नि) यथा न आभुवत् (आविष्ट हुए) 'त्वष्टा' रूपेव तक्ष्या (जिनका तक्षण करना होगा उन सब रूपों में) ८।१०२।८; त्वष्टारूपाणि हि प्रभु: (ईश्वर(१।१८८।९; मा. २८।३२, त्वेष्टेदं विश्वं भुवनं जजान बहो: कर्त्तारम् इह यक्षि होत: २९।९ ऋ. त्वष्टा रूपाणि पिंशतु १०।१८४।१।

वे सृष्टि करते हैं 'होकर'; इसलिए वे 'विश्वरूप' हैं।[४] इसके अलावा वे बाहर विश्वरूप हैं, किन्तु अन्तर में सविता हैं।[५] ऋक् संहिता में यही उनका लक्षणीय परिचय है।

पुन: विश्वरूप त्वष्टा को 'विश्वकर्मा' के साथ मिलाकर देखना होगा।[१५७०] सृष्टि के सम्बन्ध में विभूतिवाद और निर्माणवाद ये दो वाद सम्भव हैं। विभूति बाद के ईश्वर विश्वरूप हैं – वे यह सब कुछ हुए हैं; और निर्माणवाद के ईश्वर विश्वकर्मा हैं – उन्होंने सब कुछ किया है। परवर्ती युग में एक धारा का अवतरण वेदान्त में हुआ है और एक का न्याय में।[१] किन्तु वेद में इन दो धाराओं में किसी प्रकार के विरोध की सृष्टि नहीं की गई है। वहाँ हम देखते हैं कि विश्वरूप त्वष्टा के हाथ में लोहे का बसूला है;[२] फिर विश्वकर्मा की चारों ओर आँखें हैं, हर ओर बाँहें हैं और हर ओर पैर हैं; किन्तु उन्होंने दो बाहों से और अनेक डैनों से फूँक मारी, जब भूलोक और द्युलोक को रचा एक देव होकर।[३] त्वष्टा जिस प्रकार विश्वरूप हैं,[४] उसी प्रकार फिर

---

३. तु. 'इन्दुर् इन्द्रो वृषा हवि: पवमान: प्रजापति:' अर्थात् त्वष्टा ही वीर्यवर्षी इन्द्र और स्वर्ण-वर्ण पवमान इन्दु हैं, वे ही प्रजापति हैं ९।५।३।

४. १।१३।१०; मा. त्वष्टारं पुरुरूपम् २८।९ प्रै. १०।

५. ऋ. जनिता .... देवस् त्वष्टा सविता विश्वरूप: १०।१०।५, देवसृत्वष्टा सविता विश्वरूप:, पुपोष प्रजा: पुरुधा जजान्, इमा च विश्वा भुव नान्य् अस्य। ३।५५।१९।

१५७०. ऋ. १०।८१।८२ सूक्त।

१. तु. साङ्ख्य की 'प्रकृति' कर्त्री।। 'विश्वकर्मा' कर्त्ता; किन्तु वे फिर 'विश्वशम्भू:' १०।८१।७, विश्व के आँख-मुँह, हाथ-पाँब वे ही हैं ३।

२. वाशीम् एको विभर्ति हस्त आयसीम् (लोहे का) अन्तर देवेषु निध्रुवि: (गहरे निश्चल) ८।२९।३ विश्वरूप त्वष्टा का मन्त्र है किन्तु नाम नहीं। पूरे सूक्त में नाम न देकर प्रधान देवताओं का वर्णन किया गया है।

३. विश्वतश्चक्षुर् उत विश्वतोमुखो विश्तोबाहुर् उत विश्व तस्पात्, सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर् द्यावाभूमी जनयन् देव एक: १०८१।३। लोहार की उपमा प्रच्छन्न रूप में: ये दो बाँहें लोहार की और पङ्खे या डैने धौंकनी के भीतर से लोहार की ही फूटकार (फूँक), और उसी से विश्वभुवन की विसृष्टि;

'सुकृत् सुपाणिः स्ववाँ ऋतावा' हैं[५] – अर्थात् वे सब कुछ कर रहे हैं, सब कुछ हो रहे हैं तथा अपने आप में स्वयं अवस्थित हैं। स्रष्टा ईश्वर के सर्वप्राचीन एवं सर्वाङ्गीण रूप की कल्पना हमें त्वष्टा में प्राप्त होती है। तत्त्व-चिन्तन के फलस्वरूप रूप से परे वे ही ब्रह्मणस्पति, वाचस्पति एवं प्रजापति रूप में दिखते हैं।

संहिता में त्वष्टा का यही परिचय प्राप्त होता है। वे जिस प्रकार विश्वरूप में सब कुछ हुए हैं, उसी प्रकार उसके भी पहले समस्त रूपों के उस पार अवस्थित हैं।[१५७१] वहाँ से वे सबके पहले जन्म लेते हैं और सब के पुरोधा के रूप में ज्योति के रक्षक होकर चलते हैं : उस समय वे प्रजापति हैं, पवमान इन्दु की स्वर्ण-धारा, इन्द्रवीर्य से आन्दोलित, अस्थिर।[१] सृष्टि के उस आदि लग्न से सभी देवताओं और देवशक्ति के वे गणपति हैं।[२] बृहद्दिवा विश्व की माता हैं और वे पिता हैं – देवपत्नियाँ उनकी नित्य सङ्गिनी, शाश्वत सहचरी हैं।[३] वे विश्वकर्मा हैं, इसलिए 'सुपाणि' हैं[४] कर्मियों में सर्वापेक्षा मङ्गलमय हैं

रूपायन। अथ च वह विश्व वे ही हैं। लोहार अथवा कर्मकार की स्पष्ट उपमा: ब्रह्मणस् पतिर् एता सं कमरि इवा धमत् १०।७२।२।

४. और भी विश्वरूप का वर्णन १०।९०।१; उस समय वे 'पुरुष'– विशेष कोई देवता नहीं। वे ही सब कुछ हुए हैं– 'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच् च भव्यम्' २। फिर इन्द्र विश्वरूप ३।५३।८ टी. १५००, ६।४७।१८, ३।३८।४; वैश्वानर छा. ५।१८।१...।

५. ऋ. ३।५४।१२।

१५७१. ऋ. इह त्वष्टारम् अग्नियं विश्वरूपम् उप ह्वये १।१३।१०।

१. त्वष्टारम् अग्रजां गोपाम् पुरोयावानम् .... ९।५।९; द्र. टी. १५६९(३)।

२. त्वष्टर् देवेभिर् जनिभिः सुमद्गणः २।३६।३, (तु. ६।५०।१३)। जैसे पिता त्वष्टा और माता बृहद्दिवा अनेक देवयुग्मों में परिकीर्ण हो रहे हैं।

३. तु. उत माता शृणोतु नस् त्वष्टा देवेभिर् जनिभिः पिता वचः १०।६४।१०। त्वष्टा और देवपत्नीगण तु. १।१६१।४ (द्र. 'ऋभुगण') २।३१।४, ७।३५।६, १०।६६।३।

४. ३।५४।१२, प्रथमभाजं (आदि देव के रूप में गण्य होने के योग्य) यशसं (ईशान) वयोधां (तारुण्य के आधाता) सुपाणि देवं सुगभस्तिम् ('गभस्ति' किरण और कर दोनों का ही बोध होता है; सूर्य के साथ साम्य) ऋभ्वम्

कल्याणयुक्त हैं, क्योंकि वे 'माया' जानते हैं।[५] उनकी इस निर्माण प्रज्ञा और कौशल का परिचय विश्व का रूप गढ़ने में नहीं, बल्कि इन्द्र के वज्र और ब्रह्मणस्पति के परशु या कुठार के तक्षण, में भी है – जिसके द्वारा वे अन्धकार का आवरण विदीर्ण करते है।[६] माता बृहद्दिवा के साथ पिता होकर विश्वभुवन को वे तो गले लगाए[७] हुए हैं ऐसी बात नहीं, बल्कि वे सविता होकर हम सब के अन्तर में भी हैं[८] – अचित्ति के नेपथ्य से कीर्णरश्मि होकर हम सबका मूर्द्धन्य महाकाश उद्भासित करते हैं। तब वे हमारे देवयान मार्ग के दिग्दर्शक हैं और इस देहरथ को उन्होंने ही अमृत की खोज में दौड़ाया है।[९] हमारी अभीप्सा की अग्नि तब उनका पुत्र[१०] हमारी प्रतिभा चेतना अथवा सरण्य उनकी कन्या,[११] हमारा प्राण अथवा वायु उनका जामाता,[१२] हम

(कुशली), होता यक्षद् यज तं पस्त्यानाम् (घर-घर में उनका यजन, क्योंकि वे सुप्रजनन के देवता हैं) अग्निस् त्वष्टारं सुहवं विभावा (विभावशाली अग्नि) ६।४९।९, ७।३४।२०।

५. १०।५३।९ टी. १४३८।

६. इन्द्र. अहन् अहिं पर्वते शिश्रियाणां (आधार की गहराई में कुण्डलीमारे वृत्र अथवा अविद्या) त्वष्टां स्मै वज्रं स्वर्यं (ज्योति की तैयारी) ततक्ष १।३२।२, ५२।७, ६१।६, ८५।९, ५।३१।४, ६।१७।१०, १०।४८।३; ब्रह्मणस्पतिः १०।५३।९ टी. १४३८

७. भुवनस्य सक्षणिः २।३१।४।

८. जनिता सविता १०।१०।५, पोष्टा ३।५५।१९।

९. उतस्य देवो भुवनस्य सक्षणिस् त्वष्टा ग्नाभिः सजोषा जुजुवद् (दौड़ा देते है) रथम्, इला भगो बृहद्दिवो. त रोदसी पूषा पुरन्ध्रिसर् अश्विनाव् अधा पती (वे दो, जो सूर्या के पति हैं) २।३१।४। भूलोक से द्युलोक तक ज्योति के सभी देवता दिग्दर्शक हैं। फिर पाते हैं त्वष्टा, बृहद्दिवा एवं देवशक्ति गण।

१०. १।९५।२, त्वष्टा यं त्वा सुजनिमा जजान १०।२।७, ४६।९।

११. तु. १०।१७।१-२, सरण्यू।। सूर्यपत्नी संज्ञा (द्र. 'सरण्यू')।

१२. ८।२६।२१-२२। किन्तु विवस्वान् भी त्वष्टा के जामाता १०।१७।१। विवस्वान् प्रज्ञा, वायु प्राण। प्राण। प्रतिभ संवित दोनों की ही जाया अथवा शक्ति। वस्तुतः प्रज्ञा और प्राण एक ही तत्त्व के अगले पिछले भाग हैं

सब का मन्त्र चैतन्य अथवा ब्रह्मणस्पति उनका जातक, जिनको वे प्रत्येक साम से कवि होकर जन्म देते हैं।[१३] हम जिस मधु अथवा अमृतचेतना के प्यासे हैं, वह उनका ही मधु है।[१४] उनके ही दिव्य धाम में हमारी वृत्रघाती इन्द्रचेतना पान करती है शतधाराओं में निर्झरित सौम्य मधु।[१५] इसी आधार में इसी चन्द्र के घर में उनकी ही एक गुप्त किरण सुषुम्ण रश्मि होकर उतर आती है।[१६]

यहाँ हमने देखा कि त्वष्टा परमपुरुष, विश्वपिता, विश्वरूप, चेतना के उत्क्रमण में सविता के रूप में हमारी धी के प्रचोदयिता हैं, प्रेरक हैं; हमारा परमार्थ जो सौम्य आनन्द है, वे ही उसके शतधार उत्स हैं, किन्तु इस सोमपान को लेकर ही संहिता में कहीं-कहीं इन्द्र के साथ विरोध का उल्लेख है। संहिता में एक स्थान पर हम कुछ इस प्रकार पाते हैं 'जिस दिन जन्मे तुम हे इन्द्र!, उस दिन ही अपनी इच्छा से गिरिस्थित सोमांशु का पीयूष पान किया; वह तुम्हारी जन्मदात्री तरुणी माता ने महान् पिता के घर में अजस्र उँड़ेल दिया था सब से पहले, स्तन्यदान के पूर्व। .... त्वष्टा को इन्द्र ने जन्मते ही अभिभूत करके उनका सोमपान किया था चमसस्थित।[१५७२], तैत्तिरीय

(कौउ. 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इन्द्र की उक्ति ३।२; या वै प्राण: सा प्रज्ञा... ३)। सूर्य 'जीवो असु:' ऋ. १।११३।१६ टी. १२८९, १३१३।

१३. विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस् परि त्वष्टा जनत् साम्न: साम्न कवि: २।२३।१७ (तु. दा. वाच ऋग् रस: ऋच: साम रस: १।१।२)।

१४. ऋ. 'त्वाष्ट्रं मधु' १।११७।२२ (तु. ११६।१२; बृ. २।५।१६-१८)।

१५. ऋ. त्वष्टुर गृहे अपिबत सोमम् इन्द्र: शतधन्यम् ४।१८।३ टीमू. १५७०(४)।

१६. १।८४।१५ टी. १२४८।

१५७२. ऋ. यज् जायथास् तद् अहर् अस्य कामे अंशो: पीयूषम् अपिबो गिरिष्ठाम्, तं ते माता परि योषा जनित्री मह: पितुर दम आ असिंञ्चद अग्ने। ... त्वष्टारम् इन्द्रा जनुषा, भिभूया सोमम् अपिबच् चमूषु ३।४८।२, ४। **अंशु** > आँश (आँस) सोमलता के तन्तु, रेशे; तन्तु साम्य में 'किरण', क्योंकि सोम उज्जवल (तु ९।७४।२ टी. १२१०(३))। इसी अंशु अथवा सोमतन्तु अथवा अमृत किरण का **पीयूष** (तु. २।१३।१, १०।९४।८) आप्यायनी धारा (<√प्यास + (उ) स)। द्युलोक के साथ ही उसका सम्बन्ध है।

संहिता के अनुसार इन्द्र त्वष्टा के पुत्र की हत्या करते हैं, इसलिए उनको छोड़ कर ही त्वष्टा ने सोम का आहरण किया था; किन्तु इन्द्र ने बलपूर्वक उनके सोम का पान कर लिया।[१] त्वष्टा जिस प्रकार विश्वरूप हैं, उसी प्रकार उनके पुत्र का नाम भी 'त्वाष्ट्र विश्वरूप' है। वह 'त्रिशीर्षा सप्तरश्मि' है। यही विशेषण अग्नि का भी है।[२] इसी 'त्वाष्ट्र विश्वरूप का इन्द्र की प्रेरणा' से त्रित इन्द्र ने स्वयं वध करके उसके चङ्गुल से आलोक यूथ को मुक्त किया था।[३] त्वष्टा के साथ इन्द्र के विरोध का सूत्र यही हो सकता है। किन्तु ऋक् संहिता में ही हम फिर देखते हैं कि त्वष्टा के घर में इन्द्र शतधार सोमपान करते हैं।[४] किन्तु वहाँ विरोध का कोई आभास नहीं, एक ही क्रिया की दो प्रकार की विवृति - यह भी एक विरोध है। उसका समाधान क्या है?

ऋक् संहिता में हम देखते हैं कि त्वष्टा जगत् पिता हैं : वे स्वयं विश्वरूप हैं एवं उनका पुत्र भी विश्वरूप। उनमें एवं उनके पुत्र में कोई अन्तर नहीं। जिस प्रकार त्वष्टा देवता हैं, उसी प्रकार उनका पुत्र विश्वरूप भी देवता। अर्थात् अग्नि, बृहस्पति अथवा इन्द्र की तरह वे भी 'सप्तरश्मि' हैं। दर्शन की भाषा में इसका तात्पर्य यह है कि यदि परमपुरुष ही इस जगत् के रूप में हैं, तो फिर उनमें और जगत्

(९।५१।२, ८५।९, ११०।८; अन्यान्य प्रयोग सोम के समय)। यही पीयूष **गिरिष्ठा** (प्राय: सोम का विशेषण ९।१८।१, ६२।४, ८५।१०, ९५।४)। आध्यात्मिक दृष्टि से 'गिरि' मूर्धा, सोम का निवास 'मूजवान्' गिरि उसका रूपक (१०।३४।१)। दिव्य सोम्य धारा वहाँ से झर रही है।

१. तैसं. २।४।१२।१; विस्तृत वर्णन शब्रा. १।६।३।१....।

२. ऋ. १।१४६।१ टी. १३०७(४); बृहस्पति सप्तरश्मि ४।५०।४। इन्द्र भी २।१२।१२; किन्तु यह इन्द्र ही फिर वृत्रहन्ता। सप्तरश्मि वृत्र सप्तशती के शुभ की तरह बनावटी शुम्भ।

३. त्रिशीर्षाणं सप्त रश्मिं जघन्वान् त्वाष्ट्रस्य चिन् नि: ससृजे त्रितो गा: १०।८।८; इन्द्र: ....त्वाष्ट्रस्य चिद् विश्वरूपस्य गोनाम् आचत्तणस् त्रीणि शीर्षा परा वर्क्।

४. अस्मभ्यं तत् त्वाष्ट्रं विश्वरूपम् अरन्धय: (अधीन कर दिया था) साख्यस्य (सख्य हेतु, हमारे साथ तुम्हारा सक्ष्य है इस कारण) त्रिताय (यहाँ ऋषि, सायण) २।११।१९।

में भेद हो नहीं सकता। यूरोपीय विद्वान् इस मत को Pantheism कहते हैं एवं यह उनके निकट एक आतङ्क है। इस प्रकार का कठिन दुर्बोध Pantheism तो हमारे दर्शन में कहीं नहीं है, यह बात हम पहले ही बतला चुके हैं। निस्सन्देह वे ही सब हुए हैं, किन्तु होकर समाप्त नहीं हुए हैं। विश्वरूप में वे ही सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष एवं सहस्रपात् हैं, तब भी वे इस भूमि को 'विश्वतोवृत' करके दश अङ्गुल ऊपर अवस्थित रहते हैं। यह विश्वभूत उनका एक पाद मात्र है, उनका त्रिपाद द्युलोक में अमृत रूप में है।[१५७३] जितना उनका अमृत है, अमरणशील है उसके साथ आपातत: इस मर्त्य का विरोध है। किन्तु तत्त्व की दृष्टि से 'अमर्त्यो मर्त्येना सयोनि:' – अर्थात् अमर्त्य और मर्त्य का एक ही उत्स है।[१] त्वष्टा विश्वरूप अमृत हैं, किन्तु त्वाष्ट्र विश्वरूप अमृतकल्प मर्त्य है। आधुनिक वेदान्त की भाषा में इस भावना का तर्जुमा या भाषान्तर यह है कि ब्रह्म अमृत हैं, वे ही जगत् हुए हैं; किन्तु जगत् माया है, यद्यपि वह सन्मूल, सदायतन और सत्प्रतिष्ठ है। अतएव त्वाष्ट्र विश्वरूप परम देवता का पुत्र होकर भी असुर है, वह वृत्र है।[२] वह त्रिशीर्षा है, उसके तीन मुँह हैं। वह एक मुँह से सोमपान करता है, एक मुँह से सुरापान करता है और एक मुँह से साधारण खाद्य पदार्थ खाता है। अर्थात् त्वाष्ट्र एक ही साथ असुर एवं मनुष्य है। हमने असुरों के सोने, चाँदी और लोहे के इन तीन पुरों का उल्लेख अन्यत्र पाया है।[३] सर्वत्र वही एक बात है कि विश्वमूल

१५७३. ऋ. १०।९०।१, ३। लक्षणीय, 'वृत्वा' जिससे 'वरुण' एवं 'वृत्र' दोनों ही निकलते हैं। इनमें एक ज्योति का आवरण है और एक अँधेरे का। एक ने सब आच्छादित कर रखा है और एक ढँके है। तु. ईशोपनिषद् का 'हिरण्मय पात्र' १५।

१. १।१६४।३०।

२. तु. नि. तत को वृत्र:? मेघ इति नैरुक्ता:। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्य् ऐतिहासिका:। ... अहिवत् तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश् च। विवृद्धया शरीरस्य स्त्रोतांसि निवास्याञ्चकार। तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिरे आप: २।१६।

३. तु. श. तस्य सोमपानम् एवै. कं मुखम् आस, सुरापानम् एकम्, अन्यस्मा अशनायै: कम् १।६।३।२। ततो असुरा एषु लोकेषु पुरश चक्रिरे। अयस्मयीम् एवान स्मिल लोके, रजाताम् अन्तरिक्षे, हरिणीं दिवि ३।४।४।३

अमृत शुद्ध और अपापविद्ध है; किन्तु विश्व मृत्युस्पष्ट, व्यामिश्र एवं पापविद्ध है। अथ च उसके अन्तर में अमृत की प्यास है। इस मर्त्यरूप को नष्ट करके अमर्त्य विश्वरूप के धाम में हमें जाना होगा, वहाँ जाकर, अमृत-पान करना होगा। बलपूर्वक करना होगा।[४] जो इस माया के मूल मायी हैं, वे ही हमारे प्रतिद्वन्द्वी हैं। उनको पराजित करके उनके पास से अमृत छीन कर लाना होगा। यह भी उनकी ही इच्छा है। अतएव सप्तशती में देवी के मुख से सुनते हैं कि 'जो मुझे सङ्ग्राम में जीतेगा, मुझको पराजित करेगा, जो मेरे दर्प को दूर करेगा, जगत् में जो मेरा प्रतिस्पर्द्धी होगा, वही मेरा भर्ता होगा।'[५]

विश्वरूप की हत्या करके त्वष्टा के घर में जाकर अमृतपान करना होगा। इसी भावना की अभिव्यञ्जना उपनिषद् के नेतिवाद में है। याज्ञवल्क्य उसके विशिष्ट प्रवक्ता हैं और बुद्ध उनके उत्तराधिकारी हैं। किन्तु यह भी सम्यक् दर्शन नहीं है। पुराणकार कहते हैं, विश्वरूप के वध के बाद इन्द्र को ब्रह्मवध का अभिशाप झेलना पड़ता है।[१५७४] यह एक गहरी बात है। अखण्ड दर्शन की दृष्टि से जगत् को खारिज कर देने पर ब्रह्म को भी खारिज कर दिया जाता है। इसलिए विश्वरूप का वध ब्रह्मवध के अन्तर्गत है। किन्तु इसी विश्वरूप ने ब्रह्म को आवृत कर रखा है। उस आवरण को दूर करने में इन्द्रवीर्य को प्रकट करना ही पड़ता है और बल-पूर्वक ही त्वष्टा के घर में जाकर सोमपान करना पड़ता है। किन्तु संहिता में देखते हैं कि इन्द्र के सोमपान का केवल यह एक प्रकार ही नहीं हैं। अन्तत: ये तीन प्रकार हैं। देखते हैं कि जन्म के दिन ही इन्द्र माँ की कृपा से 'महान् पिता के घर में' सब से पहले इच्छानुसार सोमपान करते हैं।[१] इस अमृतपान में उनका

---

४. तु. ऋ. ३।४८।४।

५. "यो मां जयति सङ्ग्रामे यो मे दर्प व्यपोहति। यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति (५।१२०)।"

१५७४. जान पड़ता है इसका आभास् ऋक् संहिता में भी है। तु. किम् उ स्वित् .. ..इन्द्रस्या वद्यं (निन्दनीय; अन्याय) दिधिषन्त (पकड़ा था) आप: (जिनको उन्होंने मुक्त किया वृत्र का वध करके)? ४।१८।७। उनकी मुक्त धारा में वह पाप बह गया – यही ध्वनि है।

१. ३।४८।२ टीमू. १५७०।

सहज अधिकार है। यह 'पान' 'अग्रे' अर्थात् विश्वातीत भूमि पर है।[२] उसके बाद 'विश्वरूपी' पृथिवी पर[३] विश्वरूप त्वष्टा को पराजित करके वे सोमपान करते हैं।[४] इस अभिभव या पराजय की शक्ति भी उनकी जन्मगत (जनुषा) है। उसके बाद फिर इसी विश्वरूप त्वष्टा के घर में ही वे 'शतधन्य' अथवा शतधाराओं में सोमपान करते हैं।[५] यहाँ फिर अभिभव का उल्लेख नहीं है। यह फिर उसी आदिम सहज अधिकार को आसानी से वापस प्राप्त करना है। हमारे अध्यात्म जीवन में भी एक जैसी ही रीति है।[६]

आप्री सूक्तों में त्वष्टा का जो रूप उभर कर सामने आया है, उसमें उनकी सृजनशक्ति के ही ऊपर अधिक बल देते हुए कहा गया है कि वे 'वृषा' 'भूरिरेता:', 'सुरेता वृषभ', एवं 'रेतोधा:' हैं।[१५७५] गर्भाधान-मन्त्र में त्वष्टा का आवाहन है, यह हम पहले ही बतला चुके हैं। आप्री सूक्तों में भी सुप्रजनन के साथ उनके सम्बन्ध का अनेक बार उल्लेख किया गया है।[१] यही त्वष्टा का लौकिक रूप है।

---

२. महः पितुर् दम आ सिञ्चद् अग्ने (वही)।

३. तैब्रा. १।७।६।७।

४. ३।४८।४ टीमू. १५७०।

५. ४।१८।३ टी. १५७१(१५)।

६. इसी कहानी के त्वष्टा को किसी-किसी ने इन्द्र के पिता के रूप में कल्पना की है। ३।४८।२ के 'महान् पिता' सायण के अनुसार 'कश्यप' (।। कच्छप, महाकाश)। उसके बाद चतुर्थी ऋक् के त्वष्टा के पूर्वोक्त 'महान् पिता' होने पर पूर्वापर सङ्गति नहीं बैठती। ४।१८।१२ के 'पिता' के साथ इन्द्र के विरोध का उल्लेख स्पष्ट है एवं यही 'पिता' त्वष्टा हो सकते हैं – साधारण रूप में। किन्तु वे इन्द्र के पिता हैं, यह परिकल्पना संशयरहित नहीं। याद रखना होगा कि त्वष्टा रूपकार हैं, उनका स्वरूप सम्भूति की ओर प्रवृत्त है। और 'महान् पिता' उसके ऊपर हैं, वे ही इन्द्र के पिता हैं। इस पिता के साथ इन्द्र का कोई विरोध हो नहीं सकता। उनका विरोध त्वष्टा के साथ है, जो उनके पिता नहीं हैं।

१५७५. व१षा ऋ. ९।५।९, मा. २०।४४, भूरिरेता: मा. २०।४४; सुरेता वृषभ: मा. २१।३८, २८।९, ३२; रेतोधा प्रै. १०।

१. ऋ. १।१४२।१०, २।३।९, ३।४।९; मा. २१।२०, २९।९।

सृष्टि एवं पुष्टि दोनों के साथ ही वे युक्त हैं।[२] और यह भी ध्यातव्य है कि आप्री सूक्तों में त्वष्टा के साथ इन्द्र के विरोध का कोई सङ्केत तो नहीं ही है, बल्कि बार-बार दोनों देवताओं के सायुज्य की बात ही कही गई है।[३] सभी देवता 'सजोषा:' हैं।, उनके बीच विरोधाभास किसी आध्यात्मिक रहस्य का ही अभिद्योतक है।

ऐतरेय ब्राह्मण की विवृति में हम देखते हैं कि त्वष्टा वाक् हैं।[१५७६] गौरीरूप में वाक् 'सलिलानि तक्षती' हैं और उसी के कारण समुद्र चारों ओर छलक पड़ता है एवं 'तत: क्षरत्य अक्षरम्।'[१] वाक् भी सृष्टि की आदि प्रवर्तिका हैं त्वष्टा की तरह। कौशिक सूत्र में त्वष्टा सविता एवं प्रजापति हैं; मार्कण्डेय पुराण में वे विश्वकर्मा एवं प्रजापति हैं, अन्यत्र आदित्य हैं तथा महाभारत एवं भागवत में सूर्य हैं।

हम दिव्य-भावना के नवम सोपान पर आ गए। इस बार सिद्धचेतना में सिसृक्षा का प्रवेग, आत्मरूप को विसृष्टि का उद्वेलन जागा अर्थात् उत्तरसत्य को पृथिवी के वक्ष पर मूर्त करने की साधना में कहीं भी त्रुटि न हो, इस तरह की अबन्ध्य अनिवार्य कामना जाग्रत हुई। माध्यन्दिन संहिता के अनुसार इस बार का छन्द 'द्विपदा विराट्' हुआ और वृषभ को 'उक्षा:' अथवा वीर्यवर्षण में समर्थ रूप में देखते हैं।[१५७७] विश्वामित्र कहते हैं – 'वही जो है हमारा त्वरित स्रोता और पोषक (वीर्य) हे ज्योतिर्मय त्वष्टा, आकृपण होकर उसका बन्धन खोल दो – जिससे वीर कर्मण्य, सुदक्ष सोमकामी (पुरुष) जन्म ले, जो देवकाम, देवाभिलाषी हो।[१५७८]' जो समस्त जगत् के रूपकार या

---

२. ऋ. १।१४२।१०, ३।४।९, ५।५।९; मा. २७।२०, २८।३२ प्रै. १०।

३. तु. ऋ. ९।५।९; मा. २०।४४, ६४, २१।३८, २८।९, ३२।

१५७६. ऐ ब्रा. वाग् वे त्वष्टा, वाग्. घी. दं सर्व त्वाष्टी २।४।

१. १।१६४।४२-४२ टी. १२६४(४)।

१५७७. मा. २१।२०, २८।३२।

१५७८. ऋ. तन् नस् तुरीपम् अध पोषयित्नु देव त्वष्टर् वि रराणः स्यस्व, यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामः ३।४।९। तुरीपम – (तु. १।१४२।१०; < √तुर।। त्वर् त्वरा + √अप् 'बहते रहना'; तु. अन्तरीय, प्रतीप, अनूप इत्यादि।। खरस्रोता। सा. रेत: (अनुमेय)। 'कर्मण्य:' – तु.

शिल्पी हैं, वे अकृपण दाक्षिण्य की मुक्त धारा वन कर हम सब के भीतर छलक पड़े इतने समय तक उनकी जो शक्ति आधार को पुष्ट करती आई है, उसकी तेज़ धारा को मुक्त करें उस धारा से जन्म ले वही वीर साधक, जो कर्म-कुशल हो, सुकर्मी हो, जिसका सङ्कल्प अबन्ध्य हो, जो सोमयाग का रहस्य जानता है और जिस के भीतर परमदेवता को पाने की अनिर्वाण अभीप्सा हो।

आप्री सूक्त के दशम देवता **वनस्पति** हैं। यास्क की व्युत्पत्ति के अनुसार 'जो वनों की रक्षा करते हैं', पालन करते हैं, वे वनस्पति हैं।[१५७९] वन के साथ कामना अथवा आकूति के सम्बन्ध की कल्पना करने पर वनस्पति का रहस्यमय अर्थ होता है 'जो उच्छ्रित ऊँची अभीप्सा का नायक' है। शाकपूर्ण के मतानुसार वनस्पति 'अग्नि' है।[१] आध्यात्मिक दृष्टि से ऐतरेय का कथन है कि 'प्राण ही वनस्पति' है।[२] इन दोनों मतों को मिलाकर हम पाते हैं कि वनस्पति प्राण की वह आग है, जो मर्त्य चेतना की जड़ता तो तोड़कर हज़ारों शिखाओं में लपलपाती हुई द्युलोक की ओर उठ गई है : यह एक आश्चर्यजनक अद्भुत कविदृष्टि है। ऋषि वनस्पति को इस प्रकार देख रहे हैं जैसे पृथिवी का वक्ष 'उद्भेद' कर या फोड़कर जरारहित, हरित प्राण की सहस्रशाख एक ऐसी महिमा उजागर हुई है, जो स्वर्णिम ज्योति से दमक रही है।[३] वनस्पति जिस प्राण का प्रतीक है, वह माध्यन्दिन संहिता के एक स्थान पर 'अश्व' का बोधक बतलाया गया है।[४]

१।९१।२०। कर्म का पारिभाषिक अर्थ है, देवोद्दिष्ट कर्म। 'युक्तग्रावा' सोम कूटने-पीसने के पत्थरों से जो युक्त हैं, सोमभिषवकारी सोमयाजी। 'देवकामः'– तु. य उशता मन सा सोमम् अस्मै सर्वहृदा देवकामः सुनोति १०।१६०।३। उद्विग्न आत्म निवेदन की सुन्दर छवि।

१५७९. नि. वनानां पाता वा पालयिता वा ८।३। द्र. टीमू. १३६७।

१. नि. ८।१८।

२. ऐ ब्रा. २।४, १०।

३. ऋ. ९।५।१० टी. १२३१(१)।

४. मा. २९।१०।

किन्तु देवता वनस्पति केवल अग्नि ही नहीं, बल्कि वे सोम भी हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'सोमो वै वनस्पतिः'[१५८०] इस उक्ति का समर्थन ऋक् संहिता में है – जहाँ सोम को एक स्थान पर प्रियस्तोत्रा वनस्पतिः'[१] और एक स्थान पर 'नित्यस्तोत्रा वनस्पतिः' कहा जा रहा है।[२] साधक की चेतना में जब प्राण की धारा ऊपर की ओर प्रवाह के प्रतिकूल प्रवाहित होती है, तब वनस्पति अग्नि है और सिद्धचेतना में वह प्राण ही फिर जब दिव्य चेतना की भूमि से सहस्र धाराओं में नीचे की ओर आता है, तब वनस्पति सोम है।

ऊर्ध्वमूल अवाक् शाख 'अश्वत्थ' के वर्णन में वनस्पति का एक और परिचय प्राप्त होता है। कठोपनिषद् के अनुसार 'यह अश्वत्थ ही शुक्र ज्योति है, वही ब्रह्म है; उसे ही अमृत कहते हैं, सारे लोक उसी के आश्रित हैं। कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता।[१५८१]' ऋक् संहिता में ही हमें इस ब्रह्म-वृक्ष का परिचय प्राप्त होता है। वहाँ इसका वर्णन इस प्रकार है – 'बोध हीन (शून्यता में) राजा वरुण ने वृक्ष के ऊर्ध्व पुञ्ज को (स्थान) दिया है पूत संकल्प होकर वे नीचे की ओर उतर आये हैं, जिनका बोध है ऊपर – हमारे भीतर ही जिससे निहित रह सकती है चिति (-रश्मियाँ)'[१] एक स्थान पर इसे 'सुपलाश वृक्ष' कहा गया है, जिस के नीचे यम देवताओं के साथ

१५८०. श. ३।८।३।३३।

१. ऋ. १।९१।६।

२. ९।१२।७।

१५८१. क. ऊर्ध्वमूलो अवाक् शाख एषो अश्वत्थः सनातनः तद् एव शुक्रं तद् ब्रह्म तद् एवामृतम् उच्यते २।३।१।

१. ऋ. अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्व स्तूपं ददते पूतदक्षः, नीचीनाः स्थुर् उपरि बुध्न एषाम् अस्मे अन्तर् निहिताः केतवः स्युः १।२४।७। महाशून्य 'अबुध्न' – जैसे अप्रकेत, अस्पष्ट नीला आकश। उसके ही भीतर उलटे – औंधे वृक्ष का मूल – एक स्तूप, पुञ्ज अथवा गुच्छे की तरह। वही है 'बुध्न' – जैसे उसी आकाश में सौरमण्डल। वहाँ से रश्मियाँ नीचे की ओर उतर आई हैं (तु. १०।१८९।२; श ब्रा. २।३।३।७)। यह सोमवृक्ष का वर्णन है। वरुण के साथ सोम का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

सोमपान करते हैं।[२] और एक स्थान पर वर्णन के अनुसार जान पड़ता है कि यह एक ज्योतिर्मय पीपल का वृक्ष है।[३] शौनक संहिता में एक 'देव सदन अश्वत्थ' वृक्ष का उल्लेख है, जिस का अवस्थान तृतीय द्युलोक में है, उसमें अमृत का दर्शन होता है।[४] ऋक् संहिता के मूल वर्णन का अनुसरण करने पर विष्णु सहस्र नाम में विष्णु का एक नाम 'वारुणो वृक्षः' है। गोभिल सूत्र मे वारुणवृक्ष अथवा ब्रह्मवृक्ष अश्वत्थ नहीं, बल्कि 'न्यग्रोध' अथवा वटवृक्ष है, जिसकी जटा नीचे की ओर उतरती है।[५] ऋक्संहिता में अश्वत्थ भी दिव्य वृक्ष है।[६] विष्णुसहस्र नाम में न्यग्रोध, उदुम्बर (गूलर) एवं अश्वत्थ ये तीनों अगल-बगल पाए जाते हैं।[७]

ब्रह्मवृक्ष का पीपल अथवा अश्वत्थ रूप ही सम्भवतः प्राचीनतम कल्पना है; वही आदिम वनस्पति है। वनस्पति जब अग्नि, तब उसका मूल नीचे रहेगा और डालें, पत्ते ऊपर की ओर फैल जाएँगे। किन्तु ब्रह्म वृक्ष का मूल ऊपर की ओर है और डाल-पात नीचे की ओर उतर आए हैं। यह वर्णन या व्याख्या सन्धा भाषा में सोमात्मक वृक्ष का वर्णन है। न्यग्रोध अथवा वटवृक्ष ही ऐसा वृक्ष है, जिसमें हम देखते हैं कि जिस प्रकार शाखाएँ ऊपर की ओर फैलती हैं, उसी प्रकार जटाएँ भी नीचे की ओर उतरती हैं। अर्थात् वैदिक-भावना के अनुसार यह वृक्ष अग्नि सोमात्मक है। वारुण वृक्ष इस कारण अश्वत्थ को छोड़ कर न्यग्रोध हुआ कि नहीं, यह विवेच्य है। गीता में संसार वृक्ष का वर्णन है।[१५८२], वहाँ उस का नाम अश्वत्थ है। किन्तु वहाँ कहा जा रहा हैं कि उसकी शाखाएँ ऊपर-नीचे दोनों ओर ही गई हैं।

---

२. ऋ. यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे दे वैः संपिबते यमः १०।१३५।१ (द्र. वे मी. प्रथम खण्ड)

३. ५।५४।१२ टी. १२९९(३) तु. १।१६४।२२ टी. १३८९।

४. शौ. अश्वत्थो देवसदनस तृतीयस्याम् इतो दिवि ५।४।३ (= ६१९५।१, १९।३९।६)।

५. गोभिल मृ. ४।७।२०....।

६. तु. ऋ. १।१३५।८, १०।९७।५(७)

७. महा. अनुशासन १४९।१०१।

१५८२. गी. १५।१-३ ऋक्संहिता का 'स्तूप' क्या शाखा भी है?

जान पड़ता है, यहाँ न्यग्रोध की कल्पना का छायापात हुआ है। किन्तु बौद्धशास्त्र का बोधिद्रुम न्यग्रोध है। यह 'न्यग्रोध' और ऋक्संहिता का -'नैचाशाख' सगोत्र हैं।[१] वेद के ऋषि नैचाशाख के प्रति अप्रसन्न, असन्तुष्ट दीखते हैं, यह ध्यातव्य है। उसमें ऋषि पन्था और मुनिपन्था के चिरप्रचलित विरोध का सङ्केत प्राप्त होता है।

जिस प्रकार ब्रह्मवृक्ष एवं संसारवृक्ष की कल्पना है, उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से देह वृक्ष की कल्पना है। इस कल्पना या भावना का मूल ऋक्संहिता में है। वहाँ हम देखते हैं कि एक ही वृक्ष पर दो पक्षियों का निवास है, उनमें एक पिप्पलाद है, मीठे फलों का भोक्ता है और एक अभोक्ता है, द्रष्टा मात्र है। यह वृक्ष पिप्पल (पीपल) है।[१५८३] बौद्ध चर्यापद का 'काआ तरुवर' स्मरणीय। साधारण देखने पर हाथ-पाँव के साथ मानव-देह एक उलटे हुए वृक्ष जैसी है। सूक्ष्म दृष्टि से देह-वृक्ष का स्वरूप नाड़ी-जाल में प्रस्फुटित होता है, जहाँ मूर्द्धा अथवा मस्तिष्क उसका ऊर्ध्वमूल है, वहाँ से नाड़ियों की शाखाएँ-प्रशाखाएँ नीचे की ओर फैल रही हैं। उसी ऊर्ध्वमूल से सोम की धारा नीचे उतरकर आधार को प्लावित करती है। किन्तु उस समय मेरुदण्ड के भीतर से होकर एक अग्निस्रोत ऊपर की ओर भी प्रवाहित होता रहता है। अर्थात् इन दो वनस्पतियों के अग्नि सोमात्मक अन्योन्य सङ्गम का अनुभव चेतना में एक साथ प्रस्फुटित होता है। वनस्पति के भावना प्रसङ्ग में इस बात को ध्यान में रखना होगा।

शाकपूर्णि वनस्पति को 'अग्नि' कहते हैं और कात्थक्य याज्ञिकों की दृष्टि से 'यूप' कहते हैं।[१५८४] यूप अग्नि का ही उच्छ्रित, उत्थित रूप है। ऋक्संहिता के यूपसूक्त में प्रकारान्तर से 'द्रविणोदा' के रूप में उसका वर्णन करने में इस भावना की सूचना प्राप्त होती है।[१]

---

१. ऋ. ३।५३।१४ टी. १२०४(३)।

१५८३. ऋ. १।१६४।२० टी. १३८९; तु. ११६४ टी. वही।

१५८४. नि. ८।१८।

१. ऋ. अञ्जन्ति त्वाम् अध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन, यद ऊर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणे.ह धत्ताद् यद् वा क्षयो (निवास) मातुर अस्या (पृथिवी के) उपस्थे ३।८।१। वस्तुतः 'आज्य' द्वारा अञ्जन (लेप) अथवा यूप को घी से मलने

आध्यत्मिक दृष्टि से जब यजमान यूप के साथ एकात्मता का अनुभव करते हैं[२], तब वह उनका मेरुदण्ड है। इसी यूप में बाँधकर पशुओं का 'संज्ञपन' किया जाता है अर्थात् उनके अल्प प्राण को महाप्राण में मिला दिया जाता है।[३] उस समय पशु या प्राण चेतना सम्पूर्ण विश्व में फैलकर 'परम सधस्थ' अथवा सर्वदेवायतन परम व्योम में उतर जाती है।[४] जिस यूप के माध्यम से यह घटित होता है, उस समय वह 'शतवल्श अथवा शतशाख वनस्पति' अर्थात् ऊर्ध्वस्रोता प्राणग्नि का मूर्त विग्रह होता है और उसके साथ-साथ हम सब भी 'सहस्र वल्श-होते हैं।[५] ऋक्संहिता में अनेक स्थानों पर वनस्पति से साधारणतया वृक्ष का बोध होता है।[१५८५] किन्तु अनेक क्षेत्रों में ही साधारण वृक्ष के साथ अग्नि अथवा दिव्य वृक्ष की व्यञ्जना जुड़ी हुई है।[१] एक स्थान

की विधि है। किन्तु उसको 'दैंव्य मधु' कहा जा रहा है, जिससे अग्नि-सोम की ध्वनि आती है। फिर ब्राह्मण में यूप आदित्य है (तु. ऐ. असौ वा अस्य (अग्नि होत्रस्य कर्तुः) आदित्ये यूपः ५।२८; तै. २।१५।२) अग्निस्तम्भ का लक्ष्य। द्र. टी. १३७०(२)।

२. तु. ऐ ब्रा. यजमानो वै यूपः २।३; तै ब्रा. १।३।७।३, ३।९।५।२; श. ३।७।१।११ ......। बैठा हुआ यजमान् उच्छित यूप जैसा। उसकी मूर्द्धा के ऊपर आदित्य मधुमय आज्य-लेपन से शरीर योगाग्निमय, प्रत्येक नाड़ी में अग्नि-स्रोत।

३. तु. ऋ. न वा उ एतन म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इद् एषि पथिभिः सुगेभिः १।१६२।२१।

४. तु. उप प्रागात् परमं यत् सधस्थम १।१६३।१३; तु. अश्वमेध का अश्व विश्वव्याप्त बृ. १।१।१

५. ऋ. वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम् ३।८।११। तु. द्रविणोदाः = वनस्पति २।३७।३; फिर यूप भी वनस्पति ३।९?८!१, ३, ६, ११; अतएव यूप भी द्रविणोदाः।

१५८५. ऋ. १।३९।५, १६६।५, ५।७।१, ६।४८।१७; ८।९।५, २०।५, १०।६०।९, ६५।११।

१. १।९०।८, १५७।५, ३।३४।१०, ५।४१।८, ४२।१६, ८४।३, ६।१५।३, ४७।२७, ७।३४।२३, ८।२३।२५, २७।२, ५४।४, १०।६४।८।

पर रहस्यपूर्ण अर्थ में उलूखल-मुसल को वनस्पति कहा गया है।[२] और एक स्थान पर वनस्पति के विस्फारण में 'सप्तवध्रि' की मुक्ति का उल्लेख है।[३] – सप्तवध्रि अविद्या से अपहत पुरुष है। इसके साथ प्रयुक्त उपमा से जान पड़ता है कि यह नाड़ी का मुँह खुल जाने की व्याख्या है।[४]

आप्री सूक्त के वनस्पति में अग्नि एवं सोम दोनों की ही व्यञ्जना है। इसके अतिरिक्त सूक्तों का विनियोग पशुयाग में किया जाता है, इसलिए उसमें यूप का प्रसङ्ग भी आया है। अनेक स्थानों पर स्पष्टतया अग्नि के रूप में उनका उल्लेख किया गया है।[१५८६] उनके पक्ष में विशेष रूप से क्षरण वर्षण या झरने के अर्थ में 'अससृज' धातु का प्रयोग अग्नि के साथ सोम का सम्बन्ध सूचित करता है। हव्य को वे सुस्वादु करते हैं, बार-बार यह कथन भी उनके आनन्ददायक स्वभाव की ओर सङ्केत करके सोम सम्बन्ध का परिचय दे रहा है।[१] इसके अलावा 'शमिता'[२] के रूप में यूप में साथ उनका सम्बन्ध सुस्पष्ट है। वृक्ष के रूप में वे सहस्रशाख, हिरणमय एवं हिरण्यपर्ण हैं।[३]

---

२. १।२८।६, तु. श. ब्रा. योनिर् उलूखलं .... शिश्नं मुसलम् ७।५। १।३८।

३. ऋ. ५।७८।५-६।

४. वि जिहीष्व (फैल जाओ) वनस्पति योनिः सुष्यन्त्या (प्रसति) इव श्रुतं में अश्विना हवं सप्त वध्रिं च मुञ्चतम् ५। अनुक्रमणिका में गर्भस्राविण्युपनिषत् इसी से। यह विनियोग परवर्ती।

१५८६. ऋ. १।१८८।१०, २।३।१०, ३।४।१०, १०।११०।१०; मा. २७।२१, २९।३५।

१. ऋ. १।१३।११, १४२।११, २।३।१०, ३।४।१०, १०।११०।१०; मा. २७।२१, २९।३५। ऋ. १।१४२।११, १८८।१०, २।३।१०, ३।४।१०, १०।७०।१०, १०।११०।१० मा. २०।४५, २७।२१, २८।१०, ३३, २९।३५; प्रैष ११ (तु. ऋक् संहिता के 'सुपर्ण' जो 'पिप्पलं स्वाद्व अत्ति' १।१६४।२०; क. मध्वद जीवत्मा २।१।५।)

२. ऋ. २।३।१०, ३।४।१०, १०।११०।१०; मा. २०।४५, ६५, २१।२१, ३९, २७।२१, २८।१०, ३३, २९।३५; प्रै. ११।

३. ऋ. ९।५।१०; मा. २८।३३।

अब हम दिव्य-भावना के दशम सोपान पर आए। सम्बुद्ध सिद्ध चेतना यहाँ वनस्पति की भाँति है। जिस प्रकार उसके भीतर पृथिवी के रस का सञ्चय अग्नि स्रोत में ऊपर की ओर प्रवाहित होता है, उसी प्रकार द्युलोक की सोम्य आनन्द धारा निरन्तर निर्झर रूप में झरती रहती है। ज्वार-भाटे की इन दो धाराओं के बीच 'दैव्य शमिता' का प्रज्ञान है– जो देवताओं का जन्म-रहस्य और उनके गुह्य नाम जानता है।[१५८७] इसी प्रथम को लक्ष्य करके ही माध्यन्दिन संहिता में बतलाया गया है कि इस बार छन्द 'ककुभ' हुआ, जिससे व्याप्ति एवं उत्तुङ्गता का बोध होता है और धेनु हो गई 'वशा' अथवा बन्ध्या या 'वेहत्', जिससे गर्भ होने पर भी गर्भ नहीं रहता। सत्ता के भीतर यही निस्तरङ्ग प्रथम की अवस्था है। किन्तु चेतना तब परिव्याप्त एवं उत्तुङ्ग तथा विसृष्टि के आनन्द में नित्य निर्झरित होती रहती है। विश्वामित्र ने कहा–

'हे वनस्पति! निर्झर की तहर उतार दो इस आधार में देवताओं को। जो अग्नि प्राण के) प्रशमिता हैं (मेरे) हवि को सुस्वादु करें वे। वहीं तो होता हैं सत्यतर, (मेरा) यज्ञ वे (उसी प्रकार) करें, जिस प्रकार उन्हें देवताओं के जन्म की जानकारी है[१५८८]।' अर्थात् हे दिव्य

१५८७. ऋ. ३।४।१०, यत्र वेत्थ वनस्पते देवानां गुह्या नामानि, तत्र हव्यानि गामय ५।५।१० (सोम भी वही करते हैं ९।९५।२)।

१५८८. ऋ. वनस्पते अव सृजो प देवान् अग्निर् हविः शमिता सूदयाति, से. द. उ होता सत्यतरो यजाति यथा देवानां जनिमानि वेद ३।४।१०। **शमिता** (<√शम् 'उपशान्त करना'; द्र. टी. १४११(१)) शमिता पशुघातक। पशु के गले में फन्दा डालकर उसका दम घोट कर बलि दी जाती है। यह क्रिया प्राण के प्रशमन का अनुकरण है। इसे 'संज्ञपन' कहा जाता है। बाहर का शमिता मनुष्य (व्यक्ति), किन्तु भीतर का शमिता अग्नि अथवा अभीप्सा है। **सूदयाति** - (<√सूद।। स्वद् ☼ स्वन्द् 'सुस्वादु करना, रोचक करना' तु. GK. hedus, Lat. suavis, Goth. suts, Eng. sweet । अग्नि के साथ इस धातु का विशेष सम्बन्ध है, तु. ऋ. ४।४।१४, १।७१।८, ७।१६।८) लौकिक अग्नि अपक्व को पक्व और सुस्वाद करती है। उसी प्रकार दिव्य अग्नि अपने तेज द्वारा आधार को दग्ध और निर्मल करके रूपान्तरित करते हैं। उपनिषद् की भाषा में तब शरीर योगाग्निमय हो जाता

कामना की ऊर्ध्वशिखा, अपने प्राणों की सारी प्रवृत्तियों को तुम्हारे निकट निवेदित किया है। तुम उन्हें प्रशान्त करो, देव भोग्य करो। उस प्रशान्त चिन्मय प्राण के ऊपर विश्वदेवता की चित्शक्ति की मुक्तधारा को उतार लाओ। मैं नहीं, बल्कि तुम ही उनके यथार्थ होता या आवाहनकर्ता हो। तुम ही जानते हो कि उत्सर्ग की भावना किस प्रकार सत्य होगी? और कैसे इसी आधार में विश्वचेतना की अबन्ध्या दीप्ति विचित्र रूपों में कौंध उठेगी?

आप्री सूक्त के एकादश अथवा अन्तिम देवता 'स्वाहा कृतयः' हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में प्रश्न किया जाता है कि 'ये सारे स्वाहाकृति देवता कौन हैं? उत्तर में बतलाया जाता है कि वे 'विश्वेदेवगण हैं[१५८९]'। पुनः अन्यत्र देखते हैं कि सारे स्वाहाकृति यज्ञ की प्रतिष्ठा हैं' अर्थात् उनमें ही यज्ञ का अवसान एवं अविकृत पूर्णता है।[१] स्वाहा का अर्थ आवाहन एवं आत्मोत्सर्ग दोनों ही है।[२]

अन्तिम प्रयाज में विश्वदेवता का ही आवाहन किया जाता है[१५९०]। तब भी विशेष रूप से इन्द्र का आवाहन अनेक मन्त्रों में ही पाया जाता है।[१] इन्द्र के अतिरिक्त विशेष उल्लेख वरुण का है, जो अव्यक्त आनन्त्य के देवता हैं।[२] उसके अतिरिक्त अदिति वायु, मरुद्गण,

है। (श्वे. २।१२।) आहुति मेरी अपनी ही आत्माहुति, अपने देह-प्राण-मन की आहुति। प्रथम द्वारा अग्नि उनमें दिव्य आनन्द का आविर्भाव करवाएँगे।

१५८९. ऐब्रा. 'का देवताः स्वाहाकृतयः? विश्वे देवा इति' २।१२। सारे देवता ही एक की विभूति हैं – इस ओर दृष्टि रखकर हम 'विश्वेदेवाः' के अर्थ में विश्वदेवता अथवा विश्वदेवगण समझेंगे।

१. ऐब्रा. २।४। द्र. वहाँ सायण।

२. द्र. टी. १५९३।

१५९०. द्र. १।१३।१२☼, ३।४।११☼, ५।५।११☼, ७।२।११☼, १०।७०।११☼, १०।११०।११ मा. २०।४६☼, २७।२२☼; शौ. ५।२७।१२☼।

१. ताराङ्कित के अतिरिक्त भी ऋ. १।१४२।१३, ९।५।११, मा. २०।६६, २१।४०, २८।११, ३८।

२. ५।५।११, १०।७०।११; मा. २१।२२; ४०, २८।३४।

बृहस्पति, सूर्य और सोम का भी उल्लेख है। किन्तु, सारे आप्री देवता अग्नि के रूप हैं– इस मूलभूत तथ्य को हमेशा याद रखना होगा। यजमान की अभीप्सा की आग ही विश्वेदेवता को लेकर आधार में उतर रही है– यह भाव प्रत्येक मन्त्र में है। इस अग्नि के सम्बन्ध में विशेष रूप से 'पुरोगा:'[३] अथवा जो सबके आगे चलते हैं एवं सद्योजात:'[४] इन दो विशेषणों का प्रयोग किया गया है। वे प्रजापति की तप:शक्ति से संवर्धित होते हैं– इसका उल्लेख भी एक स्थान पर है।[५] हिरण्यगर्भ की तप:शक्ति, उनके सत्यसङ्कल्प एवं हम सबकी अभीप्सा के रूप में सहसा जल उठती है एवं आधार में विश्वचेतना का आवेश उतार कर ले आती है– उसी सत्य की व्यञ्जना इन विशेषणों में है।

आप्रीसूक्त के देवता विश्वचेतन अग्नि हैं और स्वाहा आहुति का मन्त्र है। उनको क्या देंगे आहुति के रूप में? हव्य एवं सूक्त दोनों ही।[१५९१] हव्य द्रव्ययज्ञ का, सूक्त ज्ञानयज्ञ का उपकरण है।[१] स्वाहाकृति का हव्य क्या है? पहले ही हमने बतलाया है[२] कि पशुयाग के दश प्रयाज देवताओं के समय हव्य आज्य है, केवल अन्त के इस याग में ही हव्य, पशु की 'वपा' या नाभि के पास का भेद (चरबी) है एवं अशरीरत्व के द्योतक के रूप में वपाहुति एक अमृताहुति है। वपा रेत: (वीर्य) की तरह ही शरीर के भीतर शुभ्र अशरीर का चिद् बीच है। इस वपा की आहुति पाँच भागों में देनी होगी। क्योंकि पुरुष स्वयं पांक्त अथवा पञ्चपर्वा है अर्थात् लोग, त्वक्, मांस, अस्थि एवं मज्जा यही पाँच उसके उपादान हैं। पशु की वपा उसकी सत्ता की रहस्यमय

३. ऋ. १।१८८।११, १०।११०।११; मा. २९।११।

४. ऋ. १०।११०।११।

५. मा. २९।११।

१५९१. द्र. मा. २८।११ प्रैष १३।

१. देवताओं में कोई हविर्भाक् और कोई सूक्तभाक् है; फिर कोई दोनों ही हैं (नि. ७।१३)।

२. द्र. टीमू. १४८८।

धातु मज्जा का स्थानपन्न है। अतएव वपाहुति देवजन्म के लिए यजमान की आत्मसत्ता की निगूढ़ धातु की आहुति देना है।[३]

ब्राह्मण ग्रन्थों की विवृति से पशुयाग का तात्पर्य समझा जा सकता है। पशु प्राण का प्रतीक है। अतएव पशुयाग अन्नप्राणमय आधार को हिरण्य ज्योतिर्मय करने की साधना है। आधार यदि यज्ञ का वेदिस्वरूप हो, तो फिर उसका मध्य भाग नाभि अग्निस्थान देवयोनि अथवा चित्कुण्ड हुआ। और यही वपा अथवा चिद्बीज है। इसी बीज को अग्नि में निषिक्त करना होगा। योग में निषेक की पद्धति एक प्रकार का मुद्रा-साधन है। उसमें क्रमश: लोभ से मज्जा की ओर शरीर बोध की गति अन्तर्मुखी होती है। साधक इसी शरीर में ही हिरण्मय पुरुष का सायुज्य प्राप्त करते हैं। ब्राह्मण में सङ्केतित इसी साधना का प्रचार उपनिषद् एवं तन्त्र में है।

अब हम दिव्यभावना के एकादश सोपान पर आए, जहाँ देवता के साथ यजमान के सायुज्य में अध्यात्म-सिद्धि की पूर्णता है। जो हिरण्यगर्भ अथवा चिद्बीज उनके भीतर अन्तर्गूढ़ था, वह उनकी ही अभीप्सा की अग्नि में निषिक्त होकर पड़ा उनका हिरण्य शरीर। इसी आधार में ही विश्व चेतना का उल्लास छलक पड़ा। उनके लोकोत्तर के महाकाश में अदिति-वरुण की रहस्यपूर्ण स्तब्धता प्रस्फुटित हुई, उसके ही वक्ष में सोम-सूर्य की युगनद्ध चिन्मय दीप्ति और सविता की प्रेरणा उजागर हुई, द्युलोक के अन्तिम छोर पर गोत्रभित् इन्द्र बृहस्पति का वज्र निर्घोष मन्द्रित हुआ, अन्तरिक्ष में मरुद्गण और वायु के अनिरुद्ध प्राण का प्लावन प्रवाहित हुआ और पृथिवी में सद्योजात अग्नि की प्रच्छटा निखर गई।[१५९२] उस समय यजमान विश्वरूप हो गया। यही उनकी देवताति और सर्वताति है अर्थात् देवता होकर सब कुछ होना है। विश्वामित्र के कण्ठ से सुनते हैं –

'आओ, हे अग्नि! समिद्ध होते-होते इस आधार में – इन्द्र को लेकर और त्वरित गति से विश्वे देवगण को लेकर एक ही रथ में।

३. ऐब्रा. २।१४। तु. श. मज्जानो ज्योति: १०।२।६।१८।

१५९२. तु. ऋ. ३।४।११, ५।५।११, ७।२।११, ९।५।११, १०।७०।११, ११०।११; मा. २१।२२, ४०, २९।३६।

हम सब के (प्राण के) बर्हि पर आसीन हों अदिति के सुपुत्रों को लेकर। स्वाहा। विश्व देवता मृत्युहीन होकर मत्त हो उठें और मत्त कर दें (मुझे)[१५९३] – हमने अपनी आकूति में तुम्हें प्रज्वलित कर लिया है हे, तपोदेवता! इस बार इस आधार को दीप्त करो अपनी शिखाओं से तुम्हारे आने से ही आएगी वज्र की दीप्ति और क्षण भर में चित् शक्तियाँ सहस्रदल की सुषमा के साथ फूट पड़ेंगी। यह जो भूमानन्दमय प्राण का आसन अदिति के निमित्त बिछा दिया है, उनकी दिव्य विभूति का कल्याणमय आविर्भाव हो हमारे भीतर। आओ, आओ, हे

१५९३. ऋ. आ याह्य् अग्ने समिधानो अर्वाङ् इन्द्रेण देवैः सरथं तुरेभिः, बर्हिर् न आस्ताम् अदितिः सुपुत्रा स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम् ३।४।११। 'तुरेभिः' <√तॄ 'अभिभूत करना' अथवा < त्वर् 'तेज़ दौड़ना'। स्वाहा – निघण्टु में स्वाहा 'वाक्' (१।११)। नि. स्वाहेत्य एतत् सु आह इति वा, स्वा वाग् आह इति वा, स्वं प्राह इति वा, स्वाहुतं हविर् जुहोती ति वा ८।२१। स्वाहा 'वाक्' अथवा एक विशिष्ट मन्त्र है। निरुक्त व्याख्या के द्वितीय विकल्प में दुर्ग ब्राह्मणोक्त व्युत्पत्ति का उद्धरण देते हैं – 'तं स्वा वाग् अभ्यवदत् जुहूधीति। तत् स्वाहाकारस्य जन्म'। इस व्याख्या से जान पड़ता है कि स्वाहा उत्सर्ग का मन्त्र है। किन्तु इस शब्द की व्युत्पत्ति में √हू उपयुक्त नहीं लगता। 'स्वाहा' और 'स्वधा' यदि युग्म समान मन्त्र हों (तु. ऋ. याँश् च देवा वा वृधुर ये च देवान् स्वाहा न्ये स्वधयान्ये मदन्ति १०।१४।३), तो फिर स्वधा की तरह स्वाहा का भी विश्लेषण होगा 'स्व + आहा'। गत्यर्थक √हा है, 'आ' के जुड़ जाने पर वह आगमन का बोधक होगा। तो फिर स्वाहा का एक और अर्थ हो सकता है 'अपने आप आना'। जिस प्रकार स्वधा 'आत्म प्रतिष्ठा'। तब मन्त्र का एक और तात्पर्य आवाहन :- 'तुम स्वयं आओ; क्योंकि तु "सुहव" हो।' और फिर आवाहन के साथ जुड़ी है अभ्यर्थना। उससे 'सु + आहा' यह विश्लेषण भी हो सकता है, जिस का अर्थ है 'तुम्हारा आगमन सुमङ्गल हो'। आवाहम, अभ्यर्थना, उत्सर्ग ये तीनों भावनाएँ ओत-प्रोत हैं। ... 'स्वाहा' देवगण का मन्त्र है और 'स्वधा' पितृगण का मन्त्र है। इन में एक आत्मोत्सर्ग के मार्ग को और एक आत्मा प्रतिष्ठा के मार्ग को सूचित करता है। एक से देवता मनुष्य के भीतर उतर रहे हैं और एक मनुष्य देवता की ओर ऊपर उठ रहा है।

देवता! – अपना सर्वस्व तुमको दिया। इस बार मृत्युजित् चित् शक्ति का पुञ्जद्युति आनन्द मेरे अन्तर में छलक उठे।

आप्री सूक्तों में जिस भावना और साधना का सङ्केत है, अब उसकी एक सङ्क्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत है।

पशुयज्ञ द्रव्ययज्ञ है, किन्तु उसकी भित्ति ज्ञानयज्ञ में है। जिस किसी भी क्रिया के मूल में भाव होता है, पहले भाव फिर उसके अनुसार क्रिया। वैदिक ऋषियों में भाव की अभिव्यक्ति जिस क्रिया में होती है, उसके दो रूप हैं अर्थात् एक वाचिक कवि कृति है और एक आङ्गिक अनुष्ठान है। प्राचीन परिभाषा में एक का परिणाम सूक्त-प्रवचन में है और दूसरे का परिणाम यज्ञ में है – जिसका मुख्य अङ्ग हव्य की आहुति है। देवताओं में कोई सूक्तभाक्, कोई हविर्भाक् और फिर कभी-कभी तो दोनों ही हैं।

यज्ञानुष्ठान बाहर की साधना है और मन्त्र भावना आन्तर साधना है। मन्त्र का विनियोग इन दोनों ही साधनाओं में होता है। अर्थज्ञान दोनों के पक्ष में ही आवश्यक है। अतएव दोनों क्षेत्रों में ही भावना अथवा ज्ञानयोग प्रधान है एवं वह निश्चित रूप से सार्वजनीन भी है। विशेष किसी भी अनुष्ठान के अधिकार को लेकर तर्कवितर्क हो सकता है, किन्तु भावना का अधिकार सब के लिए ही है। यह व्यवस्था चिरकालीन है। दुर्गा-पूजा के अनुष्ठान के लिए अभिज्ञ अथवा विशेषज्ञ को बुलाना पड़ता है, किन्तु देवी की भावना के लिए किसी को बुलाना नहीं पड़ता। पशुयाग के समय भी वही होगा। बाह्य याग आनुष्ठानिक है, उसके लिए साधन, उपकरण चाहिए, सूक्ष्मतः उसका विधि-निषेध पालन करना चाहिए। अन्तर्याग का मार्ग सीधा है, वह सब के लिए खुला है।

पशुयाग अति प्राचीन एवं सार्वजनीन है और वैदिक साधना का मूल स्तम्भ है। देखने में आता हैं कि प्रत्येक विशिष्ट ऋषि कुल के ही आप्री सूक्त हैं। उनमें देवता-विन्यास का क्रम भी एक ही है। अतएव अति प्राचीन काल से ही वैदिक समाज में इस उपलक्ष्य में जिस एक विशिष्ट साधन पन्था या साधना-मार्ग का साधारणतः अनुसरण किया जाता था, वह भलीभाँति समझ में आता है।

इस साधना का लक्ष्य प्राण का ऊर्ध्वायन अथवा उदात्तीकरण है। पशु प्राण का प्रतीक है। सूक्ष्म दृष्टि से प्राण नाड़ी सञ्चारी है। शरीर के नाड़ी-संस्थान अथवा स्नायु-तन्त्र का आश्रय लेकर अग्निशक्ति की सहायता से प्राण को ऊर्ध्वस्त्रोता किया जाता है। वही पशुयाग का अध्यात्म-रूप है।

आप्री सूक्तों में प्राण को ऊपर की ओर प्रवाहित करने के ग्यारह सोपानों का वर्णन है। सङ्क्षेप में हम उनका पुनः उल्लेख करते हैं। सर्वत्र ही समझना होगा कि यह प्राण का स्रोत शरीर में स्पष्ट अनुभूत तरल अग्नि का स्रोत है। देवता सर्वत्र ही अग्नि अर्थात् साधक के श्रद्धापूत आधार में अभीप्सा की शिखा हैं। और इस साधना का मुख्य आलम्बन मन्त्र अथवा मनन की शक्ति है।

पहले अग्नि समिन्धन अथवा आधार में सर्वतो दीप्त एक ताप की सृष्टि करनी होगी। आधार में ताप है ही; वह धी अथवा एकाग्र मनन के फलस्वरूप उद्दीप्त होता है। उसके बाद उसी उद्दीप्त तपोज्योति के परिमण्डल में नक्षत्र बिन्दु जैसे चित् सत्त्व अथवा चिन्मय सूक्ष्म उपादान के एक भ्रूण का या आशा और प्रकाश के एक अणु का अनुभव करना होगा। उसी बिन्दु चेतना से एक ऊर्ध्वमुखी शिखा का आविर्भाव होगा। वह शिखा ज्योतिरग्र एषणा के सूच्यग्र (सुई के नोक) के रूप में हृदय में प्रतिष्ठित होगी, वहीं देवता का आसन बिछाना होगा। उस समय हार्दज्योति के आलोक में देवयान-मार्ग पर सात ज्योतितोरण दिखाई देंगे। उसके बाद उस ज्योति के ऊपर की ओर अव्यक्त विश्रान्ति का कृष्ण **छायापथ** दिखाई देगा। तब ज्योति के सहारे अँधेरे के सन्धि-स्थल पर खड़े होकर देवहूति की निरन्तर ध्वनि और प्रतिध्वनि सुनने को मिलेगी। उस अनाहत ध्वनि के स्पन्द के परिणामस्वरूप त्रिधा मूर्ति चित् शक्ति के विच्छुरण के रूप में त्रिभुवन का अनुभव होगा। उस समय शक्ति सिद्धचित्त में रूपकृत सिसृक्षा का विपुल प्रवेग जगाएगी। उस प्रवेग के साथ सिद्धचेतना प्राण के ऊर्ध्वस्रोतवाही वनस्पति की भाँति पृथिवी के ही हृदय में प्रतिष्ठित होगी। उसके ही अन्तराल में स्वाहाकृति की फल्गुधारा, अन्तः सलिला प्रवाहित होगी, परम आत्मनिवेदन में देवता के साथ मनुष्य के सायुज्य

में यहाँ ही उसका देवजन्म सिद्ध होगा और उसका विश्वरूप प्रस्फुटित होगा।

जिसका आरम्भ अग्नि समिन्धन द्वारा होता है, उसका अन्त स्वाहाकृति में होता है। उसी में प्राण की तपस्या का परम उद्यापन अथवा समापन होता है।[१५९४]

पृथिवी स्थानीय देवताओं में प्रमुख अग्नि का परिचय यहाँ समाप्त हुआ। अब पृथिवी और पृथिव्यायतन वस्तु पर प्रकाश डाला जाएगा।

१५९४. आप्री सूक्तों में अग्निष्वात्त जीवन के आरोह-अवरोह का सुन्दर चित्रण किया गया है। अग्नि की दिव्य, विभावनाओं का विन्यास तीन सोपनों में विभाजित किया जा सकता है। 'समिद्ध' से 'बर्हि' तक व्यक्ति चेतना का विकास। उसके बाद 'देवीर् द्वारः' से 'दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ' तक उस चेतना का विश्वचेतना में फैलाव एवं उसकी विश्वपरिक्रमा, फिर अन्त में 'त्वष्टा से स्वाहाकृतयः' तक उसकी शक्ति का उल्लास। अथच शक्ति वहाँ अनिःशेष आत्मसमर्पण के माधुर्य से कमनीया है। अग्निष्वात्त जीवन की रमणीयता इसी स्वाहाकृति में अर्थात् अग्नायी के कान्तोज्ज्वल चिद्विलास में है।